प्राकृत भारती प्रकाशन : १९ :

जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन

भाग १

(सैद्धान्तिक पक्ष)

लेखक
डा० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

प्रकाशक

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

प्राप्तिस्थान

१. नरेन्द्रकुमार सागरमल सराफा, शाजापुर (म० प्र०)

२. मोतीलाल बनारसीदास, चौक वाराणसी–१

३. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी–५

४. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर–३०२००२

प्रकाशन वर्ष

सन् १९८२

वीर निर्वाण सं० २५०९

मूल्य : सत्तर रुपये

Rs. 70.00

मुद्रक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

महावीर प्रेस,

भेलूपुर, वाराणसी–५

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, (राजस्थान) के द्वारा 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग (सिद्धान्त-पक्ष)' नामक पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आज के युग मे जिस सामाजिक चेतना, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की आवश्यकता है, उसके लिए धर्मो का समन्वयात्मक दृष्टि से निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है, ताकि धर्मो के बीच बढती हुई खाई को पाटा जा सके और प्रत्येक धर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध हो सके। इस दृष्टिबिन्दु को लक्ष्य मे रखकर पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक एवं भारतीय धर्म-दर्शन के प्रमुख विद्वान् डा० सागरमल जैन ने जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों पर एक बृहद्काय शोध प्रबन्ध आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व लिखा था। उसी के सैद्धान्तिक पक्ष से सम्बन्धित अध्यायो से प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री का प्रणयन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ के पाँच अध्यायों मे पाश्चात्य नैतिक चिन्तन की समस्याओं के सन्दर्भ मे भारतीय दृष्टकोण और विशेषरूप से जैन दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। परवर्ती अध्यायों मे समालोच्य आचारदर्शनों के तत्त्व-ज्ञान, कर्म-सिद्धान्त और मनोविज्ञान पर भी गम्भीरतापूवक विचार किया गया है। लेखक की दृष्टि निष्पक्ष, उदार, संतुलित एवं समन्वयात्मक है। आशा है विद्वज्जन उनके इस व्यापक अध्ययन से लाभान्वित होंगे।

प्राकृत भारती द्वारा इसके पूर्व भी भारतीय धर्म, आचारशास्त्र एवं प्राकृत भाषा के १८ ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है, उसी क्रम मे यह उसका १९वाँ प्रकाशन है। इसके प्रकाशन मे हमे विभिन्न लोगो का विविध रूपो मे जो सहयोग मिला है उसके लिए हम उन सबके आभारी है। महावीर प्रेस, भेलूपुर ने इसके मुद्रण कार्य को सुन्दर एव कलापूर्ण ढंग से पूर्ण किया, एतदर्थ हम उनके भी आभारी है।

देवेन्द्रराज मेहता — सचिव
विनयसागर — संयुक्त सचिव

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

पुरोवाक्

युगों से मानव मस्तिष्क इस प्रश्न का समाधान खोजता रहा है कि उसके जीवन का परम श्रेय क्या है? मानवीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो-जो उत्तर सुझाये उन्ही से समग्र पूर्व एवं पश्चिम के आचार दर्शनो का निर्माण हुआ है। आचार के सम्बन्ध में इन विभिन्न दृष्टिकोणों की उपस्थिति ने चिन्तनशील मानव-मस्तिष्क के सामने एक नयी समस्या प्रस्तुत की कि आचार सम्बन्धी इन विभिन्न विचार परम्पराओ मे सत्य के अधिक निकट कौन है? फलस्वरूप उन सबका सुव्यवस्थित रूप से तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन आवश्यक हुआ।

भारत मे तुलनात्मक अध्ययन की स्थिति

पाश्चात्य नैतिक विचारणाओं के सन्दर्भ मे ऐसा प्रयास बहुत पहले से होता रहा है और वर्तमान युग तक वह काफी व्यवस्थित और विकसित हो गया है। लेकिन जहाँ तक भारतीय नैतिक विचार-परम्परा का प्रश्न है, यह पारम्परिक तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन गहराई से नही हो पाया है। यह तो हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण हमने विभिन्न साम्प्रदायिक नैतिक-मान्यताओं के मध्य रही हुई एकरूपता को प्रकट करने का कभी प्रयास ही नही किया। सगीत सब वही गा रहे थे फिर भी अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग था, जो सब मिलकर इतना बेसुरा हो गया था कि सामान्य एव विद्वत्-जन संगीत के उस सम-स्वर की मधुरता का रसास्वादन नही कर सके। कृष्ण, बुद्ध और महावीर आदि महापुरुषो एव भारतीय ऋषि-महर्षियो के नैतिक उपदेशों की वह पवित्र धरोहर जिसे उन्होंने अपनी बौद्धिक प्रतिभा एवं सतत साधना के अनुभवों से प्राप्त किया था, जो मानव जाति के लिए चिर-सौख्य एवं शाश्वत् शाति का सदेश लेकर अवतरित हुई थी, मानव उसका सही मूल्याकन नही कर सका। मानव ने यद्यपि उनके इस महान् वरदान को धर्मवाणी या भगवद्वाणी के रूप मे श्रद्धा से देखा, उसकी पूजा-प्रतिष्ठा की, उसे सुनहले वस्त्रो मे आबद्ध कर भव्य मन्दिरों और मठो मे सुरक्षित रखा। कुछ ने श्रद्धावश उसका नित्य पाठ किया लेकिन हरिभद्रसूरी और गाधी जैसे बिरले ही थे, जिन्होंने उसके समस्वरों को सुना, उसके मर्म तक पहुँचने की कोशिश की और उसकी एकरूपता का दर्शन कर, उसे जीवन मे उतारा।

सद्भाग्य से पाश्चात्य विचार परम्परा की जिज्ञासु वृत्ति के कारण वर्तमान युग मे असाम्प्रदायिक आधारो पर भारतीय धर्मों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। यह प्रयास

भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार के विद्वानों द्वारा किया गया। जिन पाश्चा विचारकों ने भारतीय आचार दर्शन का समग्ररूप से तुलनात्मक और समालोचनात्म अध्ययन किया उनमे मेकेन्जी और हापकिन्स प्रमुख है। मेकेन्जी ने 'हिन्दू एथिक्स' त हापकिन्स ने 'दि एथिक्स आफ इण्डिया' नामक ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थकारों के दृष्टिको मे भारतीय सम्प्रदायों के साम्प्रदायिक व्यामोह का तो अभाव था लेकिन एक दूसरे प्रक का व्यामोह था, और वह था ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य विचार परम्परा की श्रेष्ठता का दूसरे उपरोक्त विचारक भारतीय आचार परम्परा के स्रोत ग्रन्थों के इतने निकट न थे, जितना उनका अध्येता एक भारतीय हो सकता था।

जिन भारतीय विचारकों ने इस सन्दर्भ मे लिखा उनमे श्री शिवस्वामी अय्यर व 'दि इव्होल्यूशन आफ हिन्दू मारल आइडियल्स' नामक व्याख्यान ग्रथ है, जिसमे भारती नैतिक-चिन्तना के आचार नियमो का सामान्य रूप मे विवेचन है, किन्तु जैन और बौ दृष्टिकोणों का इसमे अभाव-सा ही है। भारतीय आचार दर्शन के अन्य ग्रन्थों सुश्री सूरमादास गुप्ता का 'दि डेव्हलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इण्डिया' नाम शोध प्रबन्ध उल्लेखनीय है। इसमे विभिन्न दर्शनो के नैतिक सिद्धान्तो का विवरणात्म संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण है। लेखिका की दृष्टि मे समालोचनात्मक और तुलनात्म विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण नही रहा है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ श्री सुशीलकुमार मैत्र का 'एथिक्स आफ दि हिन्दूज' है; इस ग्रंथ में विवेचन शैली की काफी नवीनता है औ तुलनात्मक और समालोचनात्मक दृष्टिकोण का निर्वाह भी सन्तोषप्रद रूप मे हुआ है आदरणीय तिलकजी का गीता रहस्य यद्यपि गीता पर एक टीका है लेकिन उसके पू भाग मे उन्होंने भारतीय नैतिकता की जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की है वे वस्तुतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश मे प्रकाशित पद्मभूषण डॉ० भीखनलालजी आत्रेय का 'भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास' नामक विशालकाय ग्रंथ भी इस दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है, यद्यपि इसमे भी विद्वान् लेखक ने तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक दृष्टि एवं सैद्धान्तिक विवेचना को अधिक महत्त्व नही दिया है। ग्रन्थ के अधिकांश भाग में विभिन्न भारतीय विचारकों के नैतिक उपदेशो का सकलन है, फिर भी ग्रन्थ के अन्तिम भाग मे विद्वान् लेखक द्वारा जो कुछ लिखा गया है वह युगीन सन्दर्भ में भारतीय नैतिकता को समझने का एक महत्त्वपूर्ण साधन अवश्य है। इसी प्रकार लन्दन मे प्रकाशित (१९६५) श्री ईश्वरचन्द्र का 'इथिकल फिलासफी आफ इण्डिया' नामक ग्रंथ भी भारतीय नीतिशास्त्र के अध्ययन का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जा सकता है। लेकिन उपरोक्त दोनों ग्रन्थों मे भी तुलनात्मक दृष्टि का अधिक विकास नही देखा जाता है। जहाँ तक जैनाचार के विवेचन का प्रश्न है उसे इन समस्त ग्रंथों मे सामान्यतया १५-२० पृष्ठों से अधिक का स्थान उपलब्ध होना सम्भव ही नही था। दूसरे जैन आचारदर्शन और बौद्ध आचारदर्शन मे निहित समानताओं की चर्चा तो

शायद ही कभी उठी हो। इसी प्रकार गीता की नैतिक मान्यताओं का जैन और बौद्ध परम्परा से कितना साम्य है यह विषय भी अछूता ही रहा है।

जहाँ तक जैन आचार दर्शन के स्वतन्त्र एवं व्यापक अध्ययन का प्रश्न है कुछ प्रारम्भिक प्रयासों को छोडकर यह क्षेत्र भी अछूता ही रहा है। जैन दर्शन की तत्त्वमीमासा और ज्ञानमीमासा पर आदरणीय सातकाडी मुकर्जी, डॉ० टाटिया, डॉ० पद्मराजे, डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य के ग्रन्थ उपलब्ध है। जैन मनोविज्ञान पर भी डॉ० मोहनलाल मेहता और डॉ० कलघाटगी के ग्रंथ उपलब्ध है। जबकि जैन आचार दर्शन पर स्वतन्त्र रूप से किसी भी ग्रन्थ का अभाव ही था, यद्यपि डॉ० शान्ताराम भालचन्द्र देव का जैन मुनियों के आचार पर एक विशाल-काय शोध प्रबन्ध अवश्य उपलब्ध था, लेकिन उसमे भी आचार दर्शन की सैद्धान्तिक समीक्षाओ का अभाव ही है। सयोग से जब कि यह ग्रन्थ अपनी पूर्णता की ओर था तभी डॉ० मेहता का 'जैन आचार' नामक ग्रन्थ भी प्रकाश में आया, यद्यपि इसमें भी आचार दर्शन की सैद्धान्तिक समस्याओ पर विशेष विचार नही हुआ है। ग्रन्थकार ने अपने को आचार के सामान्य नियमो की विवेचना तक ही सीमित रखा है। यद्यपि यह प्रसन्नता का विषय है कि इस ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने के पूर्व ही डॉ० सागानी का 'एथिकल डाक्ट्रिन इन जैनिज्म (१९६७)', एव डॉ० भार्गव का 'जैन एथिक्स' (१९६८) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो गये है। यद्यपि उनमे भी नैतिकता की सैद्धान्तिक समस्याओ पर विस्तृत रूप से कोई विवेचन उपलब्ध नही होता है। साथ ही तुलनात्मक दृष्टि से भी कुछ विशेष विचार उपलब्ध नही होते है।

पाश्चात्य विचारणा मे नैतिक प्रमापक के प्रश्न को लेकर जिस ढग से विभिन्न नैतिक धारणाओं का विकास हुआ है उसी ढंग पर हमारे यहाँ की नैतिक धारणाओ का अध्ययन नही हुआ है, मात्र श्री सुशील कुमार मैत्रा ने अपने ग्रन्थ के परिशिष्ट मे इस ढंग से एक प्रयास अवश्य किया है। इस प्रकार तुलनात्मक एव समन्वयात्मक परिप्रेक्ष्य मे भारतीय आचार दर्शनो के अध्ययन की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी दिशा मे एक प्रयास है।

समन्वयात्मक परिप्रेक्ष्य मे तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता

भारतीय चिन्तको ने जीवन के विभिन्न पहलुओ को काफी सूक्ष्म दृष्टि से परखा है। पाश्चात्य परम्परा के विभिन्न नैतिक सिद्धान्त जो आज अपनी मौलिकता का दावा करते है भारतीय नैतिक चिन्तन मे बिखरे हुए पड़े है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन आचार दर्शन के अध्ययन के साथ-साथ उसकी निकटवर्ती दो आचार प्रणालियो से तुलना करने का भी यथासम्भव प्रयास किया गया है।

हमारे समन्वयात्मक दृष्टि से किये गये इस तुलनात्मक अध्ययन का प्रमुख दृष्टिकोण, जैन आचार दर्शन की, गीता और बौद्ध आचार दर्शन से जो सन्निकटता और

सायता है, उसे अभिव्यक्त करना है। अध्ययन की इस समन्वयात्मक दृष्टि के कार
ही मूलभूत दार्शनिक विरोध विवेचना की दृष्टि से उपेक्षित से रहे हैं। यद्यपि स
लोच्य विचार परम्पराओ मे दार्शनिक दृष्टि-भेद हैं, फिर भी उन विभिन्न आधा
पर निकाले गये नैतिक निष्कर्ष इतने समान है कि वे अध्येता का ध्यान अपनी ओ
आकर्षित किये बिना नही रहते है। यही कारण था कि समन्वयात्मक दृष्टि से अध्यय
करने के लिए हमने इनकी तत्त्वमीमासा के स्थान पर आचारमीमासा का चयन कि
है। क्योंकि यह एक ऐसा पक्ष है जहाँ तीनो धाराएँ एक दूसरे से मिलकर उस पवि
त्रिवेणी सगम का निर्माण करती है जिसमे अवगाहन कर आज भी मानव जाति अप
चिर-सतापो मे परिनिवृत हो शान्तिलाभ कर सकती है।

अध्ययन दृष्टि के सम्बन्ध मे एक बात और भी कह देना आवश्यक है वह यह कि
समग्र अध्ययन मे जैन आचार दर्शन को मुख्य भूमिका में एवं गीता और बौद्ध आचा
दर्शन को परिपार्श्व मे रखा गया है। अतः यह स्वाभाविक है कि बौद्ध एव गीता
आचार दर्शन का विवेचन उतनी गहराई और विस्तार से न हो पाया है जितनी कि
उनके बारे मे स्वतन्त्र अध्ययन की दृष्टि मे अपेक्षा की जा सकती है। लेकिन इसक
कारण भी हमारी उपेक्षावृत्ति नही होकर अध्ययन की सीमा एव दृष्टि ही है।

विषय के चयन के सम्बन्ध में

सम्भवतः यह प्रश्न उठता है कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बौद्ध और गीता के आचार दर्शनो को ही क्या चुना गया ? इस चयन के पीछे मुख्य दृष्टिकोण यह है कि भारत के सास्कृतिक परिवेश के निर्माण मे जिन परम्पराओ का मौलिक योगदान रहा हो तथा जो आज भी जीवन्त परम्पराओ के रूप मे भारतीय एव अन्य देशो के जन-जीवन पर अपना प्रभाव बनाये हुए है, उन्हे ही अध्ययन का विषय बनाया जाय। ताकि तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से उनकी आचार-निष्ठ एकरूपता को अभिव्यक्त किया जा सके, जो उन्हे एक दूसरे के निकट लाने मे सहायक हो। प्राचीन काल की निवृत्ति प्रधान श्रमण और प्रवृत्ति प्रधान वैदिक परम्पराएँ ही भारतीय सास्कृतिक परिवेश का निर्माण करने वाली प्रमुख परम्पराएँ है। इन दोनो के पारस्परिक प्रभाव एव समन्वय मे ही वर्तमान भारतीय सस्कृति का विकास हुआ है। इनके पारस्परिक समन्वय ने निम्न तीन दिशाएँ ग्रहण की थी :—

१. समन्वय का एक रूप था जिसमे निवृत्ति प्रधान और प्रवृत्ति गौण थी। यह 'निवृत्यात्मक-प्रवृत्ति' का मार्ग था। जीवन्त आचार दर्शनो के रूप मे इसका प्रतिनिधित्व जैन परम्परा करती है।

२. समन्वय का दूसरा रूप था जिसमें प्रवृत्ति प्रधान और निवृत्ति गौण थी। यह 'प्रवृत्यात्मक निवृत्ति' का मार्ग था, जिसका प्रतिनिधित्व गीता मे प्रभावित वर्तमान हिन्दू परम्परा करती है।

३. समन्वय का तीसरा रूप था प्रवृत्ति और निवृत्ति की अतियों से बचकर मध्यम मार्ग पर चलना; इसका दिशानिर्देश भगवान् बुद्ध ने किया। उनके आचार दर्शन में परिवार के त्याग के अर्थ में निवृत्ति का स्थान था तो सामाजिक कल्याण के अर्थ में प्रवृत्ति का।

वस्तुतः उपरोक्त तीनों विचारणाएँ ही अपने समन्वित रूप में समग्र भारतीय आचार परम्परा की पृष्ठभूमि तैयार करती हैं। वर्तमान युग तक इनके बाह्य रूप में अनेक परिवर्तन होते रहे फिर भी इनकी पृष्ठभूमि बहुत कुछ वही बनी रही है। आज भी ये तीनों परम्पराएँ भारतीय नैतिक चिन्तन के एक पूर्ण स्वरूप का प्रतिपादन करने में समर्थ हैं। यही नहीं तीनों परम्पराएं अपने आन्तरिक रूप में एक दूसरे के इतनी निकट हैं कि अपने अध्येता को तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने को प्रेरित कर देती हैं।

अध्ययन सामग्री एवं क्षेत्र

उपरोक्त तीनों परम्पराओं में से जैन परम्परा में आचार दर्शन की दृष्टि से भी सैद्धान्तिक रूप में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। यद्यपि आगमों की अपेक्षा पश्चकालीन ग्रन्थों में आचार सम्बन्धी नियमों में थोड़े-बहुत व्यावहारिक परिवर्तन अवश्य परिलक्षित होते हैं। फिर भी जैन परम्परा की यह विशिष्टता है कि इतनी लम्बी समयावधि में वह अपने मूल केन्द्र से अधिक दूर नहीं हो पायी। आज भी वह निवृत्यात्मक प्रवृत्ति के अपने मूल स्वरूप में इधर-उधर कहीं नहीं भटकी है। पश्चकालीन ग्रन्थों में भी आगम के विचारों का ही विकास देखा जाता है। अतः अध्ययन की दृष्टि से मूल आगमों के साथ-साथ परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों एवं दृष्टिकोणों का उपयोग भी किया गया है।

ईशावास्योपनिषद एवं गीता की मूलभूत धारणा पर जिस हिन्दू आचार परम्परा का विकास हुआ उसमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से वर्तमान काल तक अनेक परिवर्तन हुए और परिणामस्वरूप विभिन्न मान्यताएँ बनी, जो एक दूसरे के विरोध में भी खड़ी रहीं। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में उन सबको सम्मिलित करना सम्भव नहीं था। इसलिए हिन्दू आचार परम्परा के प्रतिनिधि के रूप में गीता का चयन करना ही उचित प्रतीत हुआ, क्योंकि हिन्दू परम्परा के आधारभूत ग्रन्थों में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एव गीता की प्रस्थानत्रयी ही प्रमाण भूत है। चाहे हिन्दू परम्परा में कितने ही पारस्परिक विरोध हों, चाहे हिन्दू आचार की परिधियां अनेक हों, फिर भी केन्द्र सबका एक ही है। सभी अपने पक्ष का समर्थन प्रस्थानत्रयी के आधार पर करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार गीता आज भी सभी की श्रद्धेय है और हिन्दू आचार दर्शन का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है। डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं, "यह (गीता) हिन्दू धर्म के किसी एक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करती वरन् समग्र रूप में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करती

है ।[1]" अतः तुलनात्मक दृष्टि से गीता का ही उपयोग अधिक किया गया है फिर भी गीता के संक्षिप्त ग्रन्थ होने के कारण तुलनात्मक साम्यता को स्पष्ट करने के लिए यथावसर उपनिषदों, स्मृतिग्रन्थों तथा महाभारत का भी उपयोग किया है।

बौद्धाचार परम्परा ने जिस मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था, वह उचित समाधान तो था, लेकिन व्यावहारिक जीवन में निवृत्ति और प्रवृत्ति के मध्य उस समतौल को बनाये रखना सहज नही था। परिणाम यह हुआ कि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद वह समतौल विचलित हो गया। एक पक्ष का झुकाव निवृत्ति की ओर अधिक हुआ और वह हीनयान (छोटा वाहन) कहलाया है क्योंकि निवृत्यात्मक साधना में अधिक लोगों को लगा पाना सम्भव नहीं था। दूसरी ओर जो पक्ष प्रवृत्ति की ओर झुका एवं जिसने जन कल्याण के मार्ग को अपनाया, वह महायान (बडा वाहन) कहलाया। एक बार इस समतौल का विचलन होने के बाद बौद्ध परम्परा विभिन्न अवान्तर सम्प्रदायों (निकायों) मे विभाजित होती चली गयी। प्रस्तुत तुलनात्मक विवेचन मे बौद्ध दर्शन को उस विस्तृत समग्र रूप में समेट पाना असम्भव था। दूसरे उन निकायों की पारस्परिक दूरी इतनी अधिक है, कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से वे अधिक उपयोगी नही रह जाती; अतः प्रस्तुत ग्रन्थ मे बौद्ध दर्शन मे तात्पर्य प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन मे ही है। प्राचीन पालि त्रिपिटक साहित्य ही हमारी इस विवेचना का मूल आधार रहा है यद्यपि हमने यथावसर विसुद्धिमग्ग, लंकावतारसूत्र, बोधिचर्यावतार आदि परवर्ती ग्रन्थों का भी उपयोग किया है।

ग्रन्थ परिचय

लगभग ११०० पृष्ठों का यह बृहद्काय शोध-ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में आचार दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष का और दूसरे भाग में आचार के व्यावहारिक पक्ष का विवेचन किया गया है। सैद्धान्तिक विवेचन के प्रथम भाग मे तीन खण्ड हैं—

१. नैतिक सिद्धान्त खण्ड।

२. दार्शनिक सिद्धान्त खण्ड।

३. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त खण्ड।

व्यावहारिक विवेचना के दूसरे भाग में भी तीन खण्ड हैं—

१. साधना मार्ग खण्ड।

२. सामाजिक नैतिकता खण्ड।

३. नैतिक नियम खण्ड

प्रथम नैतिक सिद्धान्त खण्ड के भारतीय आचारदर्शन का स्वरूप नामक प्रथम

१. भगवद्गीता (राधाकृष्णन्), पृ० १४।

अध्याय में नैतिकता की परिभाषा और नैतिक प्रत्ययों के विवेचन के साथ ही समालोच्य आचार दर्शनों की विशेषताओं, उनका पाश्चात्य परम्परा से अन्तर, उन पर पाश्चात्य-विचारकों के आक्षेप और उन आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय में आचार दर्शन की अध्ययन विधि के रूप में पारमार्थिक और व्यावहारिक विधियों की विवेचना और भारतीय तथा पाश्चात्य परम्परा के साथ उनकी तुलना की गई है। तीसरे अध्याय मे नैतिकता के निरपेक्ष और सापेक्ष स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है और उस आधार पर उत्सर्ग और अपवाद की समस्या को भी समझने का प्रयास किया गया है। चौथे अध्याय में नैतिक निर्णय के स्वरूप एवं विषय के सन्दर्भ मे जैन दृष्टिकोण और पाश्चात्य परम्परा के विचारों को तुलनात्मक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। पाँचवें अध्याय में नैतिकता के प्रतिमान की समस्या का पाश्चात्य आचार दर्शन और जैन दृष्टिकोण के आधार पर सविस्तार निरूपण किया गया है। इसी अध्याय में पुरुषार्थ चतुष्टय का विवेचन भी भारतीय मूल्य-सिद्धान्त के रूप मे किया गया है। इसप्रकार प्रथम खण्ड में ५ अध्याय हैं।

दूसरे खण्ड मे अध्याय छः से पन्द्रह तक दस अध्याय हैं। छठे अध्याय मे आचार दर्शन के तात्त्विक आधार के रूप में नैतिकता की दृष्टि से सत् के स्वरूप की समीक्षा की गई है और समालोच्य आचार दर्शनों की तात्त्विक मान्यताओं पर विचार एवं तुलना की गई है। सातवें अध्याय में आत्मा के स्वरूप की नैतिक दृष्टि से समीक्षा और बौद्ध एवं गीता के दृष्टिकोणों से उसकी तुलना की गई है। आठवें अध्याय में आत्मा की अमरता के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध और गीता के दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया गया है। नवें अध्याय में आत्मा की स्वतन्त्रता पर नियतिवाद और पुरुषार्थवाद के सन्दर्भ में विचार किया गया है। दसवें अध्याय में कर्म-सिद्धान्त पर समालोच्य आचार दर्शनों के दृष्टिकोणों का विश्लेषण किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में कर्म के शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। बारहवें अध्याय में बन्धन एवं दुःख के कारणों का विश्लेषण तथा इस सम्बन्ध में जैन और बौद्ध मन्तव्यों की सविस्तार तुलना प्रस्तुत की गई है। तेरहवें अध्याय में बन्धन से मुक्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे संयमात्मक जीवन-दृष्टि से संवर और निर्जरा पर विचार किया गया है। चौदहवें अध्याय मे नैतिक जीवन के साध्य वीतराग, अर्हत् या स्थितप्रज्ञ की अवस्था तथा मोक्ष के स्वरूप पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में नैतिकता, धर्म और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना की गई है।

तीसरे मनोवैज्ञानिक खण्ड में सोलह से उन्नीस तक चार अध्याय हैं। सोलहवें अध्याय में आचार दर्शन और मनोविज्ञान का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए कर्म-प्रेरकों, क्रियाओं और ऐन्द्रिक व्यापारों के सम्बन्ध मे समालोच्य आचार दर्शनों के दृष्टिकोणों का विवेचन किया गया है। सत्रहवें अध्याय मे मन के स्वरूप, नैतिक जीवन में उसके

स्थान तथा मनोनिग्रह के प्रत्यय की जैन, बौद्ध और गीता और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से समीक्षा की गई है। अठारहवें अध्याय में मनोवृत्तियों के रूप मे कषाय एवं लेश्या सिद्धान्त की विवेचना एवं बौद्ध दर्शन तथा पाश्चात्य दार्शनिक 'रास' के विचारों से उसकी तुलना की गई है।

ग्रन्थ का दूसरा भाग व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित है और अलग जिल्द मे प्रकाशित हुआ है। इसके साधना-मार्ग खण्ड में एक से आठ तक आठ अध्याय है। प्रथम अध्याय मे जैन नैतिक साधना के केन्द्रीय सिद्धान्त समत्वयोग की विवेचना तथा बौद्ध दर्शन और गीता मे उसकी तुलना की गई है। दूसरे अध्याय में मानवीय चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक एव संकल्पात्मक पक्षो के आधार पर त्रिविध साधना पथ की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान एवं चारित्र के पारस्परिक सम्बन्धो को स्पष्ट किया गया है। तीसरे अध्याय मे मिथ्यात्व (अविद्या) के स्वरूप की विवेचना की गई है। चौथे से सातवें अध्याय तक क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्-तप एव योग-मार्ग का विवेचन किया गया है। आठवें अध्याय मे निवृत्ति और प्रवृत्ति की समस्या पर उसके विभिन्न पहलुओ सहित विवेचन किया गया है। इन सभी अध्यायो मे जैन दृष्टिकोण की बौद्ध एव गीता के आचार-दर्शनो से तुलना की गई है।

सामाजिक नैतिकता खण्ड के सम्बन्ध मे नौ से चौदह तक चार अध्याय है। नवें अध्याय मे भारतीय दर्शन मे सामाजिक चेतना के विकास के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। दसवे अध्याय मे स्वहित और लोकहित के प्रश्न पर तथा ग्यारहवे अध्याय में वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-सिद्धान्त पर तथा बारहवे अध्याय मे स्वधर्म के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। तेरहव अध्याय मे सामाजिक नैतिकता के तीन केन्द्रीय सिद्धान्त अहिंसा, अनाग्रह और अनासक्ति की चर्चा की गई है। चौदहवें अध्याय मे सामाजिक धर्म एव दायित्व पर प्रकाश डाला गया है तथा इस सम्बन्ध में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा के विचारो को स्पष्ट किया गया है।

व्यावहारिक नैतिक-नियम खण्ड मे पाच अध्याय है, जिनकी क्रम संख्या पन्द्रह से उन्नीस तक है। पन्द्रहवे अध्याय मे गृहस्थ धर्म के नियमो का सविस्तार विवेचन करते हुए जैन विचार की बौद्ध वैदिक एव गाधी के विचारो से तुलना भी की गई है। सोलहवे अध्याय मे जैन मुनि के आचार-विचार का विवेचन किया गया है और बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओ मे प्रतिपादित मुनियो के आचार-विचार से उसकी तुलना की गई है। सत्रहवे अध्याय मे जैन आचार के सामान्य नियमो की चर्चा की गई है। साथ ही उन नियमो का बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के आचार नियमो से तुलना की गई है। अठारहवे अध्याय मे आध्यात्मिक और नैतिक विकास की चर्चा की गई है और इस सम्बन्ध में जैन परम्परा के गुणस्थान सिद्धान्त को बौद्ध परम्परा की विकासात्मक भूमियो और

गीता के त्रिगुण सिद्धान्त से तुलना की गई है। अन्तिम उन्नीसवें अध्याय में जैन आचार का प्राचीन एवं अर्वाचीन संदर्भों में मूल्यांकन किया गया है।

कृतज्ञताज्ञापन

प्रस्तुत गवेषणा में जिन महापुरुषों, विचारकों, लेखकों, गुरुजनों एवं मित्रों का सहयोग रहा है उन सबके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ।

कृष्ण, बुद्ध और महावीर एवं अनेकानेक ऋषि-महर्षियों के उपदेशों की यह पवित्र धरोहर, जिसे उन्होंने अपनी प्रज्ञा एवं साधना के द्वारा प्राप्त कर मानव-कल्याण के लिए जन-जन में प्रसारित किया था, आज भी हमारे लिए मार्गदर्शक है और हम उनके प्रति श्रद्धावनत् हैं।

लेकिन महापुरुषों के ये उपदेश, आज देववाणी संस्कृत, पालि एवं प्राकृत में जिस रूप में हमे संकलित मिलते हैं, हम इनके संकलनकर्ताओं के प्रति आभारी है, जिनके परिश्रम के फलस्वरूप वह पवित्र थाती सुरक्षित रहकर आज हमें उपलब्ध हो सकी है।

सम्प्रति युग के उन प्रबुद्ध विचारकों के प्रति भी आभार प्रकट करना आवश्यक है जिन्होंने बुद्ध, महावीर और कृष्ण के मन्तव्यों को युगीन सन्दर्भ में विस्तारपूर्वक विवेचित एवं विश्लेषित किया है। इस रूप में जैन दर्शन के मर्मज्ञ पं० सुखलालजी, उपाध्याय अमरमुनि जी, मुनि नथमलजी, प्रो० दलमुखभाई मालवणिया, बौद्ध दर्शन के अधिकारी विद्वान् धर्मानन्द कोसम्बी एवं अन्य अनेक विद्वानों एवं लेखकों का भी मैं आभारी हूँ, जिनके साहित्य ने मेरे चिन्तन को दिशा-निर्देश दिया है।

मैं जैन दर्शन पर शोध करने वाले डॉ० टाटिया, डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, डॉ० पद्म राजे, डॉ० मोहनलाल मेहता, डॉ० कलघटगी, डॉ० कमल चन्द सोगानी एवं डॉ० दयानन्द भार्गव आदि उन सभी विद्वानों का भी आभारी हूँ, जिनके शोध ग्रन्थों ने मुझे न केवल विषय और शैली के समझने में मार्गदर्शन दिया वरन् जैन ग्रन्थों के अनेक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों को बिना प्रयास के मेरे लिए उपलब्ध भी कराया है। इन सबके अतिरिक्त मैं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के उन लेखकों के प्रति भी आभारी हूँ, जिनके विचारों से प्रस्तुत गवेषणा में लाभान्वित हुआ हूँ।

उन गुरुजनों के प्रति, जिनके व्यक्तिगत स्नेह, प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन ने मुझे इस कार्य में सहयोग दिया है, श्रद्धा प्रकट करना भी मेरा अनिवार्य कर्तव्य है। सर्वप्रथम मैं सोहार्द्र, सौजन्य एवं संयम की मूर्ति श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० सी० पी० ब्रह्मों का अत्यन्त ही आभारी हूँ। अपने स्वास्थ्य की चिन्ता नही करते हुए भी उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ के अनेक अंशों को ध्यानपूर्वक पढ़ा या सुना एवं यथावसर उसमे सुधार एवं संशोधन के लिए निर्देश भी किया। मैं नहीं समझता हूँ कि केवल शाब्दिक आभार प्रकट करने मात्र से मैं उनके प्रति अपने दायित्व से उऋण हो सकता हूँ।

डॉ० सदाशिव बनर्जी का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनकी आत्मीयता, सहयोग एवं निर्देशन से लाभान्वित हुआ हूँ और जिनका मृदु, निश्छल एवं सरल स्वभाव सदैव ही उनके प्रति मेरी श्रद्धा का केन्द्र रहा है। मित्रवर डॉ० अशोक कुमार लाड एवं प्रो० गोविन्ददास माहेश्वरी का भी मैं आभारी हूँ, उनके बहुविध सहयोग को भुलाया नहीं जा सकता है।

प्राकृत भारती संस्थान के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता एवं श्री विनयसागरजी का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिनके सहयोग से यह प्रकाशन सम्भव हो सका है। महावीर प्रेस ने जिस तत्परता और सुन्दरता से यह कार्य सम्पन्न किया है, उसके लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करना भी मेरा कर्तव्य है। मित्रवर श्री जमनालालजी जैन ने इसकी प्रेस कापी तैयार करने में सहयोग प्रदान किया है अतः उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। मैं पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार के डॉ० हरिहर सिंह, श्री मोहनलाल जी, श्री मंगल प्रकाश मेहता तथा शोध छात्र, श्री रविशंकर मिश्र, श्री अरुण कुमार सिंह, श्री भिखारी राम यादव और श्री विजयकुमार जैन का आभारी हूँ, जिनसे विविधरूपों में सहायता प्राप्त होती रही है। अन्त में पूज्य पिता श्री राजमलजी शक्कर वाले, मातु श्री गंगाबाई, भाई कैलाश एवं पत्नी श्रीमती कमला जैन का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे विद्या की उपासना का अवसर दिया।

श्रमण विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् प्रोफेसर पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर एवं ग्रन्थ का समग्रतया अवलोकन कर भूमिका लिखने की कृपा की, एतदर्थ हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

इस सम्पूर्ण प्रयास में मेरा अपना कुछ भी नहीं है, सभी कुछ गुरुजनों का दिया हुआ है, इसमें मैं अपनी मौलिकता का भी क्या दावा करूँ? मैंने तो अनेकानेक महापुरुषों, ऋषियों, सन्तों, विचारकों एवं लेखकों के शब्द एवं विचार-सुमनों का संचय कर माँ सरस्वती के समर्पण के हेतु इस माला का ग्रथन किया है, इसमें जो कुछ मानव के लिए उत्तम हितकारक एवं कल्याणकारक तत्त्व हैं, वे सब उनके हैं। हाँ, यह सम्भव है कि मेरी अल्पमति एवं मलिनता के कारण इसमें दोष आ गये हों, उन दोषों का उत्तरदायित्व मेरा अपना है।

यदत्र सौष्ठवं किंचित्तद्गुर्वोरेव मे न हि।
यदत्रासौष्ठवं किंचित्तन्ममैव तयोर्न हि॥

वीर निर्वाण दिवस—दीपावली
१५ नवम्बर, १९८२

सागरमल जैन

भूमिका

डॉ० सागरमल जैन ने जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत कर धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन को एक नवीन सार्थकता प्रदान की है। आज-कल बहु-आयामिता तुलनात्मक अध्ययन की दिशा बन चुकी है। अवश्य ही एक सीमा तक उसकी भी उपयोगिता है, किन्तु उसमें विषय की मात्र पल्लवग्राहिता और ज्ञान का सतहीपन बना रहता है। इसके विपरीत डॉ० जैन ने उसे विषय की दृष्टि से नीति एवं आचार केन्द्रित तथा क्षेत्र की दृष्टि से विशेषतः जैनागम, पालि त्रिपिटक और गीता केन्द्रित किया है। इसमें उन्होंने अध्ययन के अपने निष्कर्षों को गम्भीर एवं दिशा-निर्देशक बना दिया है। अवश्य ही तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में यह ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन प्रस्तुत करता है।

आज की सम्पूर्ण वैश्विक परिस्थिति में शिक्षा का उद्देश्य मानव-संस्कृति का अध्ययन ही हो सकता है। इस प्रकार के अध्ययन में भारतीय संस्कृति के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष में हजारों-हजार वर्षों से अनेकानेक मानव जातियों ने अपनी प्रज्ञा, प्रतिभा, शील-सदाचार, कलाएँ और सौन्दर्य भावनाओं को, जो विविध और व्यापक आयामों में विकसित किया है, वह सम्पूर्ण मानव जाति की धरोहर है। इस प्रसंग में यह कहना भी गलत न होगा कि कालसागर के ज्वारभाटे में हमारे सांस्कृतिक इतिहास के जितने तत्त्व विलीन हो गये, उनके भी विविध अवशेष हमारे वर्तमान विराट् जातीय जीवन के अन्तस्तल में कहीं न कहीं अपने निजी स्वरूप में या कुछ रूपान्तरित होकर हमारी वासनाओं, भावों, प्रवृत्तियों एवं रागात्मक सम्बन्धों के बीच अंगीकृत रहते हुए अर्ध निद्रित या जाग्रत रूप में वर्तमान हैं। इस विराट् संस्कृति का जैसे-जैसे चतुर्दिक् एवं पुंखानुपुंख अध्ययन बढ़ेगा, वैसे-वैसे यह तथ्य स्पष्ट होगा कि भारतीय संस्कृति की वास्तविक अर्हता उसके विश्व-संस्कृति होने में है। इस पूरी गरिमा के बावजूद यह भी एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि इतिहास के क्रूर आघातों ने उस गरिमा को वहन करने की क्षमता को हमसे आज छीन ली है। यह सम्भव नहीं है कि विराट् भारतीय संस्कृति की संवेदनशीलता क्षुद्र भारतीय हृदय और अनुदार मन में समा सके। यही कारण है कि हमने सांस्कृतिक अध्ययन के राजमार्ग को भी आज एक पगडंडी बना दी है। फलतः विश्वविद्यालयों और उच्च-शिक्षासंस्थानों में भारतीय संस्कृति के नाम पर विद्वानों द्वारा जो कुछ अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, उसकी एक घिसी-पिटी लीक है, जो वेद, उपनिषद्, सूत्र, स्मृति, रामायण, महाभारत एवं पुराणों को स्पर्श करती हुई गुजरती है। उनकी दृष्टि में भारतीय संस्कृति के अध्ययन

की मात्र इतनी ही इयत्ता है। फलतः इतने मात्र से वे अपने को कृतकृत्य और अपने अध्ययन को परिपूर्ण मान लेते हैं। पालि और प्राकृतों के बीच बहुजन भारतीय समाज का हजारों-हजार वर्षों का सांस्कृतिक वैभव सुरक्षित है। उसके माध्यम से ही विश्व के गोलार्ध तक भारतीयों का मानवीय सन्देश पहुँच सका था। अध्ययन एवं अनुसंधान के क्षेत्र मे उन धाराओं के प्रति उपेक्षा की वृत्ति कितनी आत्मघाती है, यह कहने की बात नही है। इस परिप्रेक्ष्य में लेखक ने जैन, बौद्ध और गीता के अध्ययन मे भारतीय संस्कृति के त्रिविध स्रोतों का प्रत्यक्षतः उपयोग कर भारतीय आचारदर्शन की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का पूरा ध्यान रखते हुए प्रामाणिकता के साथ गम्भीर तथ्यों को उजागर किया है। यही उनके ग्रन्थ की विशेषता है।

डॉ० जैन पाश्चात्य नीतिशास्त्र के सफल अध्यापक रहे हैं, इसलिए उन्होंने जगह-जगह पर नीतिसम्बन्धी उन प्रमुख प्रश्नों को भी स्थान दिया है, जिनके समाधान एवं विवेचन की नई पाश्चात्य पद्धति को ध्यान मे रखकर प्राचीन भारतीय शास्त्रों द्वारा होना चाहिए था। वस्तुतः इस दिशा मे उनके विश्लेषण और निष्कर्ष उनके गम्भीर अध्ययन और चिन्तन के परिणाम है। इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण वक्तव्य का प्रमुख केन्द्रबिन्दु समता या समत्वयोग है, जिससे अनुप्राणित इनके समस्त विश्लेषण और निष्कर्ष हैं, जिनका आवश्यक सन्निवेश ग्रन्थ मे किया गया है। समतामूलक आचारपक्ष की प्रामाणिकता के लिए यह आवश्यक था कि सम्यक्त्व क्या है? और उसके निर्धारक तत्त्व क्या है? उनका विवेचन किया जाए। मिथ्या, भ्रम या अन्धविश्वास से सम्यक्त्व को व्यावृत्त करने के लिए यह भी अनिवार्य हो जाता है कि एक ओर तो मिथ्या दृष्टियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण हो और दूसरी ओर सम्यक्त्व का सत्य की अवधारणा के साथ जो अकाट्य सम्बन्ध है, उसका स्पष्टीकरण किया जाये। सम्यक्त्व का सत्य के साथ जैसे अविसंवाद आवश्यक है, वैसे ही सम्यक्त्व के कारण या साधनों की विशुद्धि और उनकी तथ्यात्मकता के साथ सुसंगति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दिशा में तपस् और योग-साधना का विश्लेषण एवं परीक्षण आवश्यक हो जाता है। लेखक ने बड़ी कुशलता से इन मूलभूत मुद्दों पर जैन, बौद्ध तथा गीता के दार्शनिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये है।

मूलतः नीति का प्रश्न आध्यात्मिक या भावात्मक नही है, अपितु सामाजिक एवं व्यावहारिक है। कम से कम उसकी परीक्षा की भूमि अवश्य ही समाज है। भारतीय संस्कृति के वैराग्यवाद के सम्बन्ध मे ऐसी धारणा बन गई है कि वैराग्यवाद का पर्यवसान सामाजिक समस्याओं से पलायन में होता है। यद्यपि यह आक्षेप सम्पूर्ण भारतीय जीवनदृष्टियों पर है, तथापि विशेषकर श्रमणधाराओं और वेदान्त पर इसका समर्थन आधुनिक विचारकों द्वारा भी किया गया है। भारतीय नीति एव आचार-दर्शन के क्षेत्र मे अध्ययन करनेवाले सभी लोगों के समक्ष यह एक बड़ी चुनौती है, जिसका समाधान

पक्षपात और आवेश से नही, अपितु तथ्य और विवेक मे ही सम्भव होगा। डॉ० जैन ने इस प्रश्न को महत्त्व दिया है और उसके समाधान के लिए अपरिचित एवं अल्प परिचित तथ्यों को प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है। इसके लिए उन्होने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति धाराओं के क्षेत्र और उनकी सीमाओं को रेखांकित किया है। उनके बीच की अविरोधी तात्त्विक मान्यताओं को भी उजागर किया है। भारतीय धर्मो मे सामाजिकता और सामाजिक नैतिकता का उत्स क्या है ? वह कौन-सा केन्द्रीय तत्त्व है, जिस बिन्दु के चतुर्दिक् नीति या नैतिक व्यवहार आत्मलाभ करते है ? इन प्रश्नों के निर्णय के लिए डॉ० सागरमल जैन ने सामाजिकता और सामाजिक चेतना का विशद् विश्लेषण किया है। इसी दिशा में उन्होंने अहिंसा की केन्द्रियता को, उसके निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों रूपों को स्पष्ट किया है।

भारतीय चिन्तन की विशिष्टता को प्रकट करने के लिए सामाजिक चेतना का विश्लेषण करते हुए डॉ० जैन ने 'अति सामाजिकता' के स्तर की चर्चा की है। अवश्य ही इनकी अति सामाजिकता का अर्थ असामाजिकता नही है। यह मात्र वैयक्तिकता और सामाजिकता के द्वन्द्व मे उबारने के लिए उनमे अतीत तथा उनको अपने मे आत्मसात् करने वाला, उनसे भी उत्कृष्ट अध्यात्मप्रधान नैतिक स्तर बताने मात्र के लिए अंगीकृत है। प्रायः सभी भारतीय विचारधाराओं मे इस उच्च स्तर की ओर अनेकधा संकेत किया गया है 'को विधिः को निषेधः'। सभी भारतीय चिन्तन धाराएँ व्यक्तिवादी हैं, यह भी एक प्रचलित धारणा है। डॉ० जैन ने इसके निराकरण के लिए वैयक्तिकता और सामाजिकता को परिभाषित किया है और उन्हे एक ही व्यक्तित्व के दो पक्ष बतायें है। उनका उद्गम राग और द्वेष की वृत्तियो की क्रिया-प्रतिक्रिया के बीच माना है। इसी आधार पर वह यह निष्कर्ष फलित करते है कि वीतराग एव वीतद्वेष अति-सामाजिक होता है, असामाजिक नही। सामाजिकता और वैयक्तिकता के विरोधपरिहार के लिए यह आवश्यक था कि स्वहित एवं लोकहित तथा स्वधर्म और परधर्म को खुलकर व्याख्यायित किया जाय। लेखक ने भारतीय धर्मो की तीनो शाखाओ मे स्वहित और लोकहित का समन्वय दिखाया है। हित की अवधारणा का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है, विशेषकर प्राचीन धर्म-संस्कृति वाले देशों में, जैसा कि भारतवर्ष। यदि स्वधर्म वैयक्तिक है तो वह लोकहित के लिए कितनी मात्रा में प्रेरणाप्रद होगा ? इसी प्रकार साधना के स्तरों के आधार पर भी विचार किया जाए, जैसा डॉ० जैन ने किया है, तब भी वह व्यक्ति के क्षेत्र से बाहर नही जाता। गीता मे परधर्म की भयावहता की जो मान्यता है, वह भी कैसे सामाजिक होगी। स्वधर्म के रूप मे वर्णधर्म को क्या लोकहित के अर्थ मे सामाजिक कहा जा सकता है ? इस पर गहराई से विचार किया जाना चाहिए।

इस ग्रन्थ में विचारार्थ जितने विषयों का समावेश किया गया है, उनका प्रस्थान

बिन्दु है—जैन धर्म-दर्शन। उसे मुख्यता प्रदान कर बौद्ध मान्यताओं और गीता के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस स्थिति में प्रस्तावित विचारों को जैनदृष्टि की पूर्व मान्यताओं ने प्रभावित किया है। इस ग्रन्थ की यह एक स्वाभाविक सीमा है। किन्तु इन प्रतिबद्धताओं के बीच कुछ ऐसे प्रश्न उठते है, जिनकी ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए।

प्राचीन भारतीय दर्शनों की प्रतिबद्धता है—नित्यवाद। बौद्धदर्शन एक प्रकार से इसका अपवाद है। नित्यवादी दृष्टि का एक भरा-पूरा परिवार होता है, जिसमे आत्मवादी एवं ईश्वरवादी मान्यताएँ भी होती है। इस मान्यता के अनुसार नित्य आत्मा ही मनुष्य का अपना स्वभाव है। राग-द्वेष आदि कषायों के कारण वह स्वभावच्युत या केन्द्रच्युत है। समत्व आत्मा का स्वरूप है। इस सत्य का ज्ञान न होने से ही वह बाह्य विषमताओं से प्रभावित होकर अनेकानेक द्वन्द्वों के बीच उलझा रहता है। नीति की चरितार्थता इसमे है कि वह द्वन्द्वों, विषमताओं से जनित संघर्षों से बचाकर व्यक्ति को आत्मसमता मे यथावत् प्रतिष्ठित कर दे। इस पूरी मान्यता की पृष्ठभूमि मे यदि यह प्रश्न किया जाये कि नैतिक मूल्यों का उत्स क्या है ? तो इसका सहज उत्तर होगा—समत्व प्राप्त करना अर्थात् आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त कर लेना। इसीलिए वे व्यवहार नैतिक कहे जायेंगे, जो आत्मसमता प्राप्त करा दें। द्वन्द्वों के जगत् मे रहनेवाला व्यक्ति क्यों आत्मसमता की प्राप्ति के लिए प्रेरित होगा ? इस प्रश्न का आत्मसमतावादी उत्तर है कि व्यक्ति का मूलभूत स्वभाव यतः आत्मसमता है, अतः अपने स्वभावगत साम्यावस्था की दशा मे जाने के लिए वह चेष्टा करता है। यदि यह प्रश्न किया जाए कि आपके उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता का आधार क्या है ? तो उत्तर होगा सम्यग्ज्ञान। ज्ञान के सम्यक्त्व के निर्धारण का क्या आधार है ? सत्य। सत्य क्या है ? आत्मसमता। आत्मा ध्रुव सत्य है, जो न साध्य है और न साधन। प्रश्नोत्तर का यह चक्रक नित्यवाद के विश्वास-बिन्दु के चारों ओर घूमता रहता है। इन पूरी प्रतिज्ञाओं का परीक्षण या प्रामाण्य सामाजिक एव व्यावहारिक भूमि पर सम्भव नही है।

स्पष्ट है कि नीतिगत प्रश्न सामाजिक एवं धार्मिक है, जिसे व्यवहार एव तर्क की कोटि मे आना चाहिये। इसलिये विषमताओं और द्वन्द्वो के बीच उसकी वरणीयता एवं वरीयता का निर्धारण करना होता है। उसका उत्स समाज है और उसका आदर्श भी सामाजिक मान्यताएँ ही है, जिनकी समाज में श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। यह सब परिवर्तनशील परिस्थितियों और अपेक्षाओं में उत्पन्न होते है और उन्हीं के द्वारा अच्छे या बुरे निर्धारित भी होते है। नैतिक और सामाजिक मूल्यों की तात्त्विकता का अर्थ मात्र इतना ही है कि वह छोटे-छोटे स्वार्थो से प्रेरित एवं तात्कालिक नही है। नित्यवाद के साथ नैतिक प्रश्नों को जोड़ने का एक दुष्परिणाम यह भी है कि एक स्थिति में पापी एवं दुराचारी भी नैतिक हो जाता है, यदि वह ईश्वर का अनन्य भक्त है या

यह ज्ञात हो कि व्यक्ति—आत्मा अपने प्रयासों से परमात्मा में विलीन होता है। इन सबके बावजूद नित्यवादी अवधारणा मे भी यम, नियम, आत्मौपम्य, करुणा, सेवा, त्याग आदि गुणो को महत्त्व दिया गया है और उसके पक्ष मे विपुल शास्त्रों की रचना भी की गई है। किन्तु इन्हे परम पुरुषार्थ या परमार्थ स्वीकार नही किया गया है। इन गुणों को सामान्य धर्म या नीति की कोटि मे रखा जाता है। वास्तव मे इन गुणों का ऐहिकता मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। भारतीय सन्दर्भ मे उन्हे कथंचित् आध्यात्मिकता मे भी जोड़ा गया है और उसे मूल्य प्रदान किया गया है किन्तु ऐसा करने मे इसकी पूरी सावधानी रखनी होगी कि नीति कही अध्यात्म मे डूब न जाय और अपने स्वय का महत्त्व न खो दे। इसके लिए नीति के सन्दर्भ मे अध्यात्म की चरितार्थता ऐहिकता के क्षेत्र मे मानी जानी चाहिए। यदि अध्यात्म का ऐहिकता-निरपेक्ष स्वतन्त्र अस्तित्व है तो विवेकपूर्वक उसे नीति और कर्म से पृथक् रखना होगा।

कर्मवाद भी एक दूसरी मान्यता है जो नित्यवादी धारणाओं से प्रभावित है, यद्यपि उसकी निर्बाध व्याख्या नित्यवाद मे सम्भव नही होती। नित्यवाद के विरुद्ध कर्मवाद नीतिनिर्धारक मान्यता है, जिससे आत्मा और ईश्वर न मानने पर भी बौद्ध कर्मवादी है। परलोकवाद को स्वीकार करने के कारण नीति की ऐहिकतावादी व्याख्या कर सकना बौद्ध के लिए कठिन है। कर्म एवं कर्मफल की ऐहिकतावादी व्याख्या न कर सकने के कारण ही कर्म परलोकवाद से मिल कर रहस्य एव विश्वास बन गया। वह मनुष्य के लिए भार बन चुका है। यही कारण है कि अध्यात्मवादियो के लिए कर्म बन्धन बन गया, क्योकि उसका समाधान कठिन था, फलतः उससे निवृत्त हो जाने को ही पुरुषार्थ माना जाने लगा।

कर्मवाद का घनिष्ठ सम्बन्ध कार्यकारणभाव से है। कार्यकारण के बीच जितनी मात्रा में स्थिर एवं नित्य तत्त्व सन्निविष्ट किये जायेगे, उतनी मात्रा मे ही कर्मवाद का नीति निर्धारक रूप कम होता जायेगा। इस प्रसग मे व्यक्ति और समाज के बीच के सम्बन्धों का यदि विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होगा कि आत्मा, ईश्वर और परलोक आदि की मान्यताएँ किस प्रकार उन दोनों के बीच तार्किक आधार पर स्वतन्त्र सम्बन्ध नही बनने देते। पूर्ण एवं अपूर्ण किसी प्रकार के नित्य तत्त्वो के न मानने के कारण बौद्ध तथा नित्य के साथ अनित्य को भी स्थान देने के कारण जैन इस स्थिति मे है कि वे यथा-सम्भव कर्म की स्वतन्त्र व्याख्या कर सके। यही कारण है कि इन धाराओं मे एतत्-सम्बन्धी विपुल साहित्य का निर्माण हुआ, जो वैदिको मे सम्भव नही हो सकता था। व्यक्तित्व के निर्माण मे यदि सामाजिक उपादान कारण नही है या आवश्यक मात्रा से कम है, तो नित्यवाद एवं परलोकवाद के प्रभाव मे व्यक्ति क्यो समाजनिरपेक्ष एव उससे स्वतन्त्र नही होता जाएगा? इस दार्शनिक स्थिति मे भी नित्यवादियो द्वारा

विधि निषेध से अतीत आत्मवेत्ता महापुरुष के द्वारा लोकसग्रह या लोककल्याण का आदर्श प्रस्तुत कराया जाता है, किन्तु वह उनकी व्यक्तिगत श्रेष्ठता अथवा व्यक्तिगत मौज या लीला से अधिक नही माना जा सकता। वास्तव में उस निष्प्रयोजन व्यक्ति को प्रयोजन देना तार्किक नही रह जाता। बौद्धो के बोधिसत्त्व आदर्श में अन्यो से जो कुछ भिन्नता दिखाई पडती है, उसके पीछे बौद्धो की सम्पूर्णत: अनित्यवादी परिवर्तन-शील कार्यकारण की व्याख्या है, किन्तु वहाँ भी कुछ विश्वासो के कारण परिवर्तनवादी कार्यकारण सिद्धान्त के बावजूद उस आधार पर नीति की अपेक्षित व्याख्या नही की जा सकी है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है भारतीय आदर्शो का, जो सम्पूर्ण जीवन को प्रयोजनवत्ता प्रदान करते है। उसमे श्रेष्ठतम है निर्वाण या मोक्ष। संक्षेप मे निर्वाण प्रापचिक द्वन्द्वो एव दु खो मे विमुक्ति है। इसका घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्ति के साथ है, जो महत्त्वपूर्ण है; किन्तु सब कुछ नही है। इसका निर्णय लेना होगा कि मोक्ष की प्रचलित अवधारणा कितनी सामाजिक है। जितनी मात्रा में वह सामाजिक होगा, उतनी मात्रा मे ही व्यव-हार का नैतिक मूल्य प्रदान करने मे समर्थ होगा। यदि मोक्ष समाज-निरपेक्ष है तो उसका स्तर नितान्त भिन्न होगा। इस स्थिति मे स्वयं चाहे वह उत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किन्तु वह नैतिकता की समस्याओ से व्यक्ति मे उदासीनता लायेगा। इसी परिप्रेक्ष्य मे भारतीय दर्शनो पर पलायनवादी होने का आक्षेप किया जाता है। यह आक्षेप निर्मूल नही है, अतः उपेक्षणीय भी नही है। कम से कम बौद्ध और जैन दर्शनों की मान्यताओ के बीच नवीन दृष्टि से नीति सम्बन्धी अध्ययन करने की अधिक सम्भा-वना है, आवश्यकता है उस दिशा मे चिन्तन की। इसी अर्थ मे डॉ० जैन का ग्रन्थ दिशा-निर्देशक है।

जगन्नाथ उपाध्याय
भूतपूर्व श्रमण विद्या संकायाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

विषय सूची

१

भारतीय आचारदर्शन का स्वरूप

●

२

भारतीय आचारदर्शन में ज्ञान की विधाएँ

३

निरपेक्ष और सापेक्ष नैतिकता

४

नैतिक निर्णय का स्वरूप एवं विषय

५

भारतीय और पाश्चात्य नैतिक मानदण्ड के सिद्धान्त

६

आचारदर्शन का तात्त्विक आधार

७

आत्मा का स्वरूप और नैतिकता

८

आत्मा की अमरता

९

आत्मा की स्वतन्त्रता

१०

कर्म-सिद्धान्त

११

कर्म का अशुभत्व, शुभत्व एवं शुद्धत्व

१२

कर्म-बन्ध के कारण, स्वरूप एवं प्रक्रिया

१३

बन्धन से मुक्ति की ओर (संवर और निर्जरा)

१४
नैतिक जीवन का साध्य (मोक्ष)

●

१५
नैतिकता, धर्म और ईश्वर

१६
जैन आचारदर्शन का मनोवैज्ञानिक पक्ष

१७

मन का स्वरूप तथा नैतिक जीवन में उसका स्थान

१८

मनोवृत्तियाँ (कषाय एवं लेश्याएँ)

१

भारतीय आचारदर्शन का स्वरूप

§ २. आचारदर्शन के अध्ययन की आवश्यकता

मानव मे निहित चिन्तन की प्रक्रिया जब उसके सामने जीवन के परमश्रेय एव आचरण के औचित्य-अनाचित्य के निर्धारण के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न खडे कर देती है, तो उनके उत्तर हमे आचारदर्शन के अध्ययन से ही प्राप्त होते है। वही परमश्रेय के विषय मे हमे दिशा-निर्देश करता है। मानव मे अपने और अपने साथियो के आचरण को तौलने की जो प्रवृत्ति है, उसका सम्यक् समाधान भी आचारदर्शन के अध्ययन द्वारा ही पाया जा सकता है। आचारदर्शन ही औचित्य-अनौचित्य का बोध कराता है, वही साध्य और उसकी प्राप्ति के साधना-पथ का निर्देश करता है और शुभाशुभ के प्रतिमान को भी निश्चित करता है। इस तरह आचारदर्शन के बहुमुखी अध्ययन की उपयोगिता अपने मे महत्त्वपूर्ण है, जिसे निम्नलिखित आधारो पर जाना जा सकता है—

१ आचारदर्शन साध्य और उसकी उपलब्धि के मार्ग का निर्देशक है— सामान्यतया गति जड और चेतन दोनो मे होती है। जड की गति अन्धी होती है जबकि चेतन की गति लक्ष्योन्मुख होती है। लक्ष्योन्मुख दिशा मे आचरण करना ही चैतन्य-जीवन की विशिष्टता है। आत्म-चेतना एव विवेकशीलता के कारण मनुष्य मे स्वत अपने लक्ष्य का निर्धारण करने और उसको उपलब्ध करने की क्षमता निहित है। मनुष्य के लिए अपने जीवन-लक्ष्य के निर्धारण का कार्य महत्त्वपूर्ण है। जीवन का परमश्रेय या आदर्श क्या है ? क्या भूख, प्यास, मैथुन आदि की पूर्ति ही जीवन का लक्ष्य है अथवा इनसे ऊपर भी जीवन का कोई महान् एव व्यापक आदर्श है ? यदि है तो वह क्या है ? इन प्रश्नो के उत्तर आचारदर्शन के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त हो सकते है। उसी के द्वारा परमश्रेय या परमशुभ को जाना जा सकता है और वही हमे परमश्रेय की उपलब्धि का मार्ग बता सकता है। आचारदर्शन के सम्यक् अध्ययन के अभाव मे न तो जीवन के आदर्श का बोध सम्भव है, न उसकी उपलब्धि का मार्ग मिल सकता है। आचार्य भद्रबाहु का कथन है कि अन्धा चाहे कितना ही बहादुर हो, वह शत्रु-सेना को पराजित नही कर सकता, उसी प्रकार अज्ञानी या लक्ष्यबोध से विहीन साधक भी विकारो पर विजय प्राप्त नही कर सकता।[१] आचार्य वट्टकेर भी मूलाचार मे लिखते है कि जिनशासन मे केवल दो ही बाते बतायी गयी है—मार्ग (साधनापथ) और मार्ग का फल (साधना का आदर्श)।[२] इस प्रकार जैन विचारको की दृष्टि मे मनुष्य के लिए परमश्रेय और उसकी प्राप्ति का मार्ग, दोनो का ज्ञान आवश्यक है जो आचारदर्शन के अध्ययन से ही मिल सकता है। जहाँ बौद्ध आचारदर्शन मे तृतीय आर्यसत्य दुःखनिरोध (निर्वाण) के रूप मे परमश्रेय और चतुर्थ आर्यसत्य अष्टागिक मार्ग के रूप मे साधनापथ का बोध कराया गया है, वही जैन आचारदर्शन मे भी रत्नत्रय को जीवन के आदर्श, पूर्णता या मोक्ष की

---

१. आचारांगनिर्युक्ति, २१९.

२. मूलाचार, २०२.

उपलब्धि का साधन बताया गया है। गीता में श्रीकृष्ण ने भी परमश्रेय और उसके साधनामार्ग के रूप में ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग का उपदेश दिया है। इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का अध्ययन जीवन के परम श्रेय और उसकी उपलब्धि के मार्ग का निर्देशक बन सकता है, और इसलिए उनका अध्ययन भी अपेक्षित है।

२. **आचारदर्शन आचरण के औचित्य और अनौचित्य का विवेक सिखाता है**—जीवन कर्ममय है। कर्मशून्य जीवन जड़ता है। जीवन और आचरण में इतना निकटतम सम्बन्ध है कि दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक ओर आचरण की सम्भावना जीवन के अस्तित्व के साथ जुड़ी है, तो दूसरी ओर आचरण ही जीवन का लक्षण है। जैनदर्शन में आचरण को जीव का लक्षण[1] और कर्म को संसार का मूल[2] माना गया है। जगत् के सभी प्राणी कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं से युक्त होते हैं। वे निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। गीता कहती है कि जगत् के प्राणी किसी भी क्षण क्रिया (कर्म) से विरत नहीं होते हैं।[3] बौद्ध विचारधारा के अनुसार तो क्रियाशीलता ही जीवन है, क्रिया से भिन्न कर्ता का अस्तित्व ही नहीं है। क्रिया ही कर्ता है।[4] पाश्चात्य चिन्तक मैथ्यू आर्नाल्ड के अनुसार, आचरण जीवन का तीन-चौथाई भाग है।[5] मैकेंजी का कथन है कि प्रयोजनयुक्त क्रियाशीलता की दृष्टि से देखा जाये तो आचरण ही जीवन है।[6] इस प्रकार यदि जीवन आचरणमय है, तो प्रश्न उठता है कि क्या आचरण के सभी रूपों की उपयोगिता समान है ? उत्तर स्पष्टरूप से नकारात्मक है। आचरण के सभी रूपों की उपयोगिता समान नहीं मानी जा सकती। आचरण के कुछ प्रारूप व्यक्ति एवं समाज के लिए कल्याणकारी होते हैं और कुछ प्रारूप अकल्याणकारी। अतः स्वाभाविक ही यह जिज्ञासा होती है कि आचरण के कौन से प्रारूप वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिए हितकर है और कौन से अहितकर ? दूसरे शब्दों में कौन सा आचरण उचित एवं कौन सा अनुचित है ? आचारदर्शन आचरण के विज्ञान के रूप में आचरण के औचित्य एवं अनौचित्य का निर्देश करता है। दशवैकालिक में कहा गया है कि श्रुत के अध्ययन के द्वारा ही कल्याणकारी और पापकारी प्रवृत्तियों का बोध होता है।[7] गीता के अनुसार, कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाणभूत है।[8] इस प्रकार पुण्य-पाप, उचित-अनुचित या कर्तव्य-अकर्तव्य के बोध के लिए आचारदर्शन का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

---

१. उत्तराध्ययन, २८।११.
२. आचारांगनिर्युक्ति, १८९.
३. गीता, ३।५.
४. विसुद्धिमग्ग, उद्धृत—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (प्रथम भाग), पृ० ५११.
५. देखिए—नीतिप्रवेशिका, पृ० २१.
६. वही, पृ० २१.
७. दशवैकालिक, ४।११.
८. गीता, १६।२४.

३. आचारदर्शन आचरण का मूल्यांकन और नैतिक प्रतिमान की समीक्षा करता है—चेतना के साथ जब विवेक प्रस्फुटित होता है तब मनुष्य अपने और अपने साथियो के आचरण को हर कदम पर तौलता है, निर्णय करता है और विचार करता है कि वह आचरण मानवजीवन के लक्ष्य की दिशा मे है या नही। युगो से मानव अपने आचरण का मूल्याकन करता रहा है। चेतन अथवा अचेतन रूप मे हर विचारशील मनुष्य के समक्ष उचित और अनुचित का एक मानदण्ड रहता है। फिर चाहे उसका यह मानदण्ड तर्कविरुद्ध और अस्थिर ही क्यो न हो, वह अपने इसी मानदण्ड के आधार पर औचित्य और अनौचित्य का निर्णय देता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी मानदण्ड का उपयोग करता है, फिर भी विरले ही ऐसे है जो सोचते है कि नैतिकता के मानदण्डो या प्रतिमानो की विभिन्न अवधारणाएँ क्या है और वास्तविक नैतिक प्रतिमान कौन सा है ? नैतिक मानदण्ड का बोध और उसकी समीक्षा आचारदर्शन के अध्ययन के द्वारा ही सम्भव है। उत्तराध्ययनसूत्र मे गणधर गौतम कहते है कि प्रज्ञा के द्वारा धर्म (नैतिकता) की समीक्षा करो और और तर्क के द्वारा तत्त्व का विश्लेषण करो[1] तथा वैज्ञानिक समीक्षा के आधार पर धर्म के साधनो अर्थात् आचार के प्रारूपो का निर्णय करो।[2] आचारदर्शन का अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि हमारे नैतिक निर्णय सत्य बन सके।

प्रश्न चाहे उचित-अनुचित के विवेक का हो, चाहे आदर्श के निर्धारण का अथवा नैतिक निर्णय की समस्या का, आचारदर्शन का अध्ययन अनिवार्य है। जैन दार्शनिको के अनुसार समूचा साधना-मार्ग ज्ञान की प्राथमिकता पर अवस्थित है। प्रथम ज्ञान, और तदनुसार आचरण, यही जैन आचारदर्शन का स्वर्णिम सूत्र है। अज्ञानी आत्मा क्या साधना करेगा ? वह शुभ और अशुभ, श्रेय और प्रेय अथवा कल्याण और पाप के मार्ग को कैसे जानेगा ?[3] इसलिए जैन आचार्यों का स्पष्ट निर्देश है कि पहले श्रुत के अध्ययन के द्वारा शुभ और अशुभ के स्वरूप को समझो और उन्हे ठीक-ठीक जानकर श्रेय का आचरण करो।[4] आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि जो श्रेय और अश्रेय के सम्बन्ध मे विज्ञ है वही दुराचरण से निवृत्त होकर सदाचारी बनता है और उसी सदाचार की साधना के द्वारा आत्मविकास करता हुआ परमसाध्य निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।[5] गीता का भी कहना है कि शुभ (कर्म), अशुभ (विकर्म) और शुद्ध कर्म (अकर्म) के स्वरूप को जानना

१. उत्तराध्ययन, २३।२५.
२. वही, २३।३१.
३. दशवैकालिक, ४।१०.
४. वही, ४।११.
५. दर्शनपाहुड, १६.

चाहिए[1] तथा शास्त्र के द्वारा विहित कर्म को जानकर ही विद्वान् पुरुष को आचरण करना चाहिए।[2] क्योंकि जो पुरुष शास्त्र-विधि को छोड़कर इच्छानुसार आचरण करता है, वह न तो सुख प्राप्त करता है और न ही परमगति को प्राप्त होता है।[3]

§ २. विभिन्न नैतिक मान्यताओं की समीक्षा के लिए आचारदर्शन के अध्ययन की आवश्यकता—मानव में नैतिक विवेक की अपरिहार्य उपस्थिति ही, उसके ज्ञान की अपूर्णता और परमार्थ के स्वरूप की जटिलता के कारण, अनेक नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना का आधार बनी है। व्यक्ति की मूलभूत समस्या यह है कि वह किस आधार पर यह निर्णय करे कि क्या शुभ है और क्या अशुभ है। उसके नैतिक निर्णयों का आधार क्या हो? व्यक्ति के पास ऐसा कौन-सा प्रतिमान या निकष है जिसके आधार पर वह किसी कर्म को शुभ अथवा अशुभ कहे? वह दृष्टिकोण क्या है जिसके आधार पर कर्मों की शुभता और अशुभता का निश्चय किया जाता है? इन प्रश्नों ने सदैव मानवीय चिन्तन को प्रभावित किया है और विचारकों ने इन प्रश्नों के समाधान के विभिन्न प्रयास किये हैं। किसी ने कर्ता के संकल्प या कर्म प्रेरक को कर्मों की शुभाशुभता का आधार माना, तो किसी ने कर्मों के परिणामों को ही उनकी शुभाशुभता का आधार माना। इसी प्रकार 'कर्मों की शुभाशुभता की कसौटी क्या है?' इस प्रश्न के विविध उत्तरों के आधार पर नैतिक प्रतिमानों के अनेक सिद्धान्त अस्तित्व में आये। एक ओर, किसी ने 'नियम' को तो किसी ने 'सुख' को नैतिक प्रमापक कहा, दूसरी ओर, कुछ विचारकों ने 'आत्मपूर्णता' को ही नैतिक प्रमापक माना, तो कुछ ने 'मूल्य' के नैतिक प्रतिमान की स्थापना की; इतना ही नहीं, इन विभिन्न धारणाओं के अन्तर्गत भी अनेक सिद्धान्त अस्तित्व में आये। अतः वर्तमान स्थिति में इन विभिन्न सिद्धान्तों के गुण-दोषों की समीक्षा किये बिना ही नैतिक निर्णय दे पाना सम्भव नहीं है। नैतिकता के सैद्धान्तिक अध्ययन के अभाव में व्यक्ति अपने नैतिक विवेक का यथार्थ उपयोग नहीं कर सकता।

§ ३. सैद्धान्तिक अध्ययन का व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध

नैतिकता के सैद्धान्तिक अध्ययन का नैतिक आचरण से सीधा सम्बन्ध नहीं है। व्यक्ति नैतिक सिद्धान्तों के बिना भी नैतिक आचरण कर सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक सदाचारी व्यक्ति नीतिशास्त्र का गहन अध्ययन करे। एक ओर नीतिशास्त्र के सैद्धान्तिक अध्ययन के बिना भी एक व्यक्ति सदाचारी हो सकता है, दूसरी ओर नीतिशास्त्र का एक मर्मज्ञ विद्वान् भी दुराचारी हो सकता है। अतः यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि नैतिक सिद्धान्तों के अध्ययन का व्यावहारिक दृष्टि से क्या

१. गीता, ८।१७.
२. वही, १७।२४.
३. वही, १७।२३.

लाभ है ? क्या नैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन हमारे व्यावहारिक जीवन को प्रभावित कर सकता है ? एक ओर, महाभारत स्पष्ट कहता है कि धर्म को जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्म को जानते हुए भी उससे निवृत्ति नहीं होती।[१] जैनागम सूत्रकृतांग में भी कहा गया कि जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति प्रकाश होते हुए भी नेत्रहीन होने कारण कुछ भी नहीं देख पाता, उसी प्रकार कुछ प्रमत्त मनुष्य शास्त्र के समक्ष रहते हुए भी सम्यक् आचरण नही कर पाते।[२] किन्तु दूसरी ओर, जैन दर्शन और गीता यह भी स्वीकार करते है कि नैतिकता का सैद्धान्तिक अध्ययन व्यावहारिक जीवन के लिए आवश्यक है। गीता के अन्तिम अध्याय में गीता के पठन और श्रवण का महत्त्व इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर बताया गया है।[3] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ज्ञानसम्पन्न होकर आत्मा विनय, तप और सच्चरित्रता को प्राप्त करता है।[४] इस प्रश्न को लेकर कि 'नीतिशास्त्र का व्यावहारिक जीवन से क्या सम्बन्ध है' पाश्चात्य विचारकों के तीन दृष्टिकोण हैं—

१. **विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण**—इस दृष्टिकोण के अनुसार नैतिक सिद्धान्तों के अध्ययन का हमारे व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नही है। नैतिक सिद्धान्त मात्र व्याख्याएँ हैं, वे यह बताते है कि आदर्श के सम्बन्ध में मानवीय प्रकृति क्या है ? उसे कैसी होना चाहिए, इस बात से उसका कोई सम्बन्ध नही है। नैतिक नियम आदेश नहीं, मानवीय प्रकृति की आदर्श के सम्बन्ध में व्याख्या है। स्पिनोजा इस वर्ग के प्रमुख प्रतिनिधि है। आधुनिक विचारकों में बोसांके और ब्रैडले को भी इसी परम्परा का माना जाता है। आचारदर्शन की सहज ज्ञानवादी परम्परा भी यह मानती है कि शुभाशुभ का विवेक स्वतः हो जाता है, अतः आचारदर्शन का सैद्धान्तिक अध्ययन व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं है।

२. **विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टिकोण**—इसके अनुसार नैतिक विवेचनाओं का सीधा सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से ही है। पाश्चात्य दर्शन में अरस्तू के पूर्ववर्ती सभी विचारक, स्टोइक, सुखवादी, उपयोगितावादी, विकासवादी आदि इसी वर्ग में आते हैं।

३. **समन्वयवादी दृष्टिकोण**—इस मान्यता के अनुसार नैतिक विवेचना का सीधा सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से नहीं है, फिर भी उसका प्रभाव व्यावहारिक जीवन पर पड़ता है और वह जीवन के आदर्श को हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है, जिससे उस आदर्श की ओर गति की जा सके। सिद्धान्त और व्यवहार अलग-अलग होते हुए भी परस्पर सम्बन्धित हैं। मैकेंजी लिखते हैं, "एक बुरा सिद्धान्त कभी-कभी एक पीढ़ी की अभिरुचि को विकृत कर देता है, जबकि एक अच्छा

१. महाभारत, उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ३६०.
२. सूत्रकृतांग, १।१२।८.
३. गीता, १८।६८–७१.
४. उत्तराध्ययन, २९।५९.

सिद्धान्त उस अभिरुचि को सुधारने में सहायक भी हो सकता है।"[१] ग्रीक दार्शनिक अरस्तू एव कुछ मध्यकालीन विचारक एव स्वय मैकेजी भी इस मत को ठीक मानते है।

प्रारम्भिक बौद्ध-दर्शन एवं जैन-दर्शन नैतिकता के प्रति शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि-कोण को अपनाकर ही आगे बढे थे, यद्यपि इसके बाद दार्शनिक जटिलताओं ने उन्हे भी इस समन्वयवादी धारणा मे लाकर खडा कर दिया है। फिर भी इतना निश्चित है कि किसी भी भारतीय परम्परा ने अपने आचारविज्ञान की विवेचना को जीवन के व्यावहारिक पक्ष से पूर्णत असम्बन्धित मानने का प्रयत्न नही किया।

जैन विचारको के अनुसार नीतिशास्त्र का सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन मे है। एक ओर, उत्तराध्ययन और दशवैकालिकसूत्र मे ज्ञान या सैद्धान्तिक अध्ययन को व्यावहारिक जीवन के लिए आवश्यक माना गया है, किन्तु दूसरी ओर, इस तथ्य को भी स्वीकार किया गया है कि सैद्धान्तिक अध्ययन-मात्र मे ही जीवन की व्यावहारिक गुत्थी पूरी तरह सुलझती नही। आचार्य भद्रबाहु का कथन है कि मात्र ज्ञान मे कार्य की निष्पत्ति नही हो जाती है।[२] जैसे तैरना जाननेवाला व्यक्ति भी तैरने की क्रिया न करने पर डूब जाता है, उसी प्रकार जो साधक आचरणशील नही है वह बहुत-से शास्त्र पढ लेने पर भी संसार-समुद्र मे डूब जाता है।[3] आचार्य सैद्धान्तिक अध्ययन की तुलना दीपक से और व्यावहारिक विवेक की तुलना आख से करते हुए कहते है, "शास्त्रो का बहुत-सा अध्ययन भी किस काम का? क्या करोडो दीपक जला देने से भी अन्धे को कोई प्रकाश मिल सकता है? शास्त्र का थोडा-सा अध्ययन भी आचरणशील साधक के लिए उपयोगी होता है, जैसे, जिसकी आँख खुली है उसके लिए एक दीपक का प्रकाश भी पर्याप्त है।"[४] इस प्रकार जैन दृष्टि के अनुसार सैद्धान्तिक अध्ययन हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए मात्र दिशा-निर्देशक है। नैतिक विवेचनाएँ प्रत्यक्ष रूप मे व्यावहारिक नही है, लेकिन वे जीवन के आदर्श को स्पष्ट कर आचरण का मार्ग प्रशस्त करती है। हमारे व्यवहार पर उनका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। जिस प्रकार आँख के लिए प्रकाश और प्रकाश के लिए आँख आवश्यक है, उसी प्रकार सिद्धान्त के लिए व्यवहार और व्यवहार के लिए सिद्धान्त आवश्यक है। दोनो के पारस्परिक सहयोग से ही जीवन के आदर्श की दिशा मे बढा जा सकता है।

पाश्चात्य परम्परा में रेशडाल और मूर भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते है। रेशडाल का कथन है कि नीतिशास्त्र के व्यावहारिक मूल्य पर अविश्वास करना उन लोगो के लिए भी कठिन है जो इसके अव्यावहारिक स्वरूप को प्रकट करने मे

१. नीतिप्रवेशिका, पृ० २२३.
२. आवश्यकनिर्युक्ति ११५१.
३. वही, ११५४.
४. वही, ९८–९९.

रुचि रखते हैं।[1] मूर का कहना है कि कर्तव्यमीमांसा समग्र नैतिक गवेषणाओं का लक्ष्य है।[2]

नैतिक आचरण के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि व्यक्ति यह जाने कि क्या शुभ है और क्या अशुभ; वही यह भी अपेक्षित है कि वह क्यों शुभ है और क्यो अशुभ, इसका भी उसे समुचित ज्ञान हो। यह बात नैतिकता के सैद्धान्तिक अध्ययन से ही सम्भव है। साथ ही नैतिक आचरण का मार्ग भी इतना निरापद नही है। कभी-कभी व्यक्ति ऐसी द्विविधा की स्थिति में फँस जाता है कि सामान्यतः उचित और अनुचित का निर्णय करना कठिन हो जाता है। गीता मे कहा गया है कि कर्म की शुभाशुभता का निर्णय करना अत्यन्त गहन विषय है।[3] व्यक्ति के जीवन मे ऐसे अनेक अवसर उपस्थित हो जाते है जहाँ उसे दूसरे व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध मे शुभाशुभता का निर्णय लेना होता है, किन्तु ऐसा निर्णय नैतिकता के सैद्धान्तिक अध्ययन के आधार पर ही अधिक अच्छे ढंग मे लिया जा सकता है। जब कर्तव्य एवं अकर्तव्य के मध्य द्विविधा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब नैतिकता का सैद्धान्तिक अध्ययन ही हमारा मार्गदर्शक बन सकता है। इस सब के अतिरिक्त विभिन्न आचारदर्शनो की देश-कालगत विशेषताएँ एवं विभिन्नताएँ स्वय हमें नैतिक सिद्धान्तों के अध्ययन के लिए आकर्षित करती है।

§ ४. आचारदर्शन की परिभाषा

आचारदर्शन या नीतिशास्त्र को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है। पाश्चात्य परम्परा में आचारदर्शन की परिभाषाएँ अनेक दृष्टिकोणों के आधार पर की गयी है। किसी ने उसे रीतिरिवाजो और नियमों का विज्ञान माना, तो किसी ने उसे चरित्र का विज्ञान बताया। दूसरे कुछ विचारकों ने उसे कर्तव्यशास्त्र और औचित्य-अनौचित्य के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया, तो अन्य कुछ विचारकों ने उसे परमशुभ (श्रेय) या मानवजीवन मे सन्निहित आदर्श का विज्ञान बताया। संक्षेप में नीतिशास्त्र की पाश्चात्य परिभाषाओं के इन विभिन्न दृष्टिकोणों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है[4]—

१. नीतिशास्त्र रीतिरिवाजों अथवा सामाजिक नियमों का विज्ञान है।
२. नीतिशास्त्र आचरण या चरित्र का विज्ञान है।
३. नीतिशास्त्र उचित एवं अनुचित का विज्ञान है।
४. नीतिशास्त्र कर्तव्य का विज्ञान है।
५. नीतिशास्त्र मानवजीवन में सन्निहित आदर्श या परमश्रेय का विज्ञान है।

१. दि थ्योरी आफ गुड एण्ड एविल, पृ० ४१८.
२. वही, पृ० १९.
३. गीता, ४।१७.
४. देखिए—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, मंगमलाल पाण्डे, पृ० २–११.

६. नीतिशास्त्र मूल्यांकन का विज्ञान है।
७. नीतिशास्त्र नैतिक प्रत्ययों के विश्लेषण का विज्ञान है।

भारतीय परम्परा मे धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनो अलग-अलग शास्त्र माने गये है, फिर भी हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय परम्परा मे नीतिशास्त्र शब्द का प्रयोग भले ही हो, लेकिन उसका अर्थ पाश्चात्य परम्परा से भिन्न है। भारत मे नीतिशास्त्र का प्रयोग राजनीति के अर्थ मे हुआ है, फिर भी उसमे सामाजिक जीवन-व्यवस्था के नियमो का विचार अवश्य मिलता है। पाश्चात्य परम्परा मे नीतिशास्त्र को 'एथिक्स' कहा जाता है। एथिक्स शब्द इथोस (ethos) से बना है, जिसका अर्थ रीतिरिवाज है। इस सन्दर्भ मे नीतिशास्त्र सामाजिक नियमो या आदेशो से सम्बन्धित माना जाता है। पाश्चात्य परम्परा मे जिसे नीतिशास्त्र कहा जाता है, उसे भारतीय परम्परा मे धर्मशास्त्र कहा गया है। अत भारतीय सन्दर्भ मे नीतिशास्त्र की परिभाषा को समझने के लिए हमे धर्म की परिभाषाओ की ओर जाना होगा। भारतीय परम्परा मे धर्म को अनेक रूपो मे परिभाषित किया गया है, उनमे से कुछ प्रमुख दृष्टिकोण इस प्रकार है—

१ धर्म नियमों या आज्ञाओं का पालन है—जैन परम्परा मे धर्म आज्ञापालन के रूप मे विवेचित है। आचारागसूत्र मे महावीर ने स्पष्ट कहा है कि मेरी आज्ञाओ के पालन मे धर्म है।[1] मीमासादर्शन मे धर्म का लक्षण आदेश या आज्ञा माना गया है, उसके अनुसार वेदो की आज्ञा का पालन ही धर्म है।[2] जैन परम्परा मे लौकिक नियमो या सामाजिक मर्यादाओ को भी धर्म कहा गया है। स्थानागसूत्र मे ग्रामधर्म, नगरधर्म, सघधर्म आदि के सन्दर्भ मे धर्म को सामाजिक विधि-विधानो के पालन के रूप मे ही देखा गया है।[3] इस प्रकार आचारदर्शन को नियमो अथवा रीतिरिवाजो का शास्त्र माना गया है। धर्म की ये परिभाषाएँ पाश्चात्य परम्परा मे नीति की उस परिभाषा के समान है जिसमे नीतिशास्त्र को रीतिरिवाजो का विज्ञान कहा गया है।

२ धर्म चारित्र का परिचायक है—पाश्चात्य विचारक मैकेंजी ने नीतिशास्त्र को चरित्र का विज्ञान कहा है। जैन परम्परा मे धर्म की दूसरी परिभाषा चारित्र के रूप मे दी गयी है। स्थानागसूत्र की टीका मे आचार्य अभयदेव ने धर्म का लक्षण चरित्र माना है।[4] प्रवचनसार मे आचार्य कुन्दकुन्द ने भी चारित्र को ही धर्म कहा है।[5] आचारागनिर्युक्ति के अनुसार, शास्त्र एव प्रवचन का सार आचरण है।[6]

१. आचारांग, १।६।२।१८१.
२. मीमांमादर्शन, १।१।२.
३. स्थानांग, १।१०।१।७६०.
४. स्थानांगटीका, ४।३।३२०.
५. प्रवचनमार, १।७.
६. आचारांगनिर्युक्ति, १६–१७.

वैदिक परम्परा में मनु ने आचार को परमधर्म कहकर धर्म का लक्षण चारित्र या आचरण बताया है।[१] आचार को स्पष्ट करते हुए मनु ने यह भी बताया है कि आचरण का वास्तविक अर्थ रागद्वेष से रहित व्यवहार है। वे कहते हैं कि रागद्वेष से रहित सज्जन विद्वानों द्वारा जो आचरण किया जाता है और जिसे हमारी अन्तरात्मा ठीक समझती है वही आचरण धर्म है।[२]

३. **धर्म कर्तव्य की विवेचना करता है**—लोकमंगल की साधना में व्यक्ति के दायित्वों की व्याख्या करना धर्म का काम है। जैन परम्परा में धर्म को उत्कृष्ट मंगल के रूप में परिभाषित किया गया है। इस प्रकार धर्म को विश्वकल्याणकारक बताया है।[३] महाभारत में धर्म की परिभाषा इस रूप में की गयी है कि जो प्रजा को धारण करता है अथवा जिससे समस्त प्रजा (समाज) का धारण या संरक्षण होता है वही धर्म है।[४] गीता में धर्मशास्त्र को कार्याकार्य अथवा कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था देनेवाला बताया गया है।[५]

४. **धर्म परम श्रेय की विवेचना करता है**—दशवैकालिकनिर्युक्ति में धर्म को भाव मंगल और सिद्धि (श्रेय) का कारण कहा है। आचारांगनिर्युक्ति में भी धर्म का अंतिम लक्ष्य निर्वाण बताया गया है। उसमें कहा गया है कि लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम (सदाचार) है और संयम का सार निर्वाण है।[६] इस प्रकार धर्म को परमश्रेय का उद्‌बोधक माना गया है। कठोपनिषद् में भी श्रेय और प्रेय के विवेचन में बताया गया है कि जो श्रेय का चयन करता है, वही विद्वान् है।[७] आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म को भौतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युदय का साधक बताया है।[८] जैन परम्परा में धर्म की एक परिभाषा वस्तुस्वभाव के रूप में भी की गयी है।[९] जिससे स्वस्वभाव में अवस्थिति और विभावदशा का परित्याग होता है वह धर्म है, क्योंकि स्वस्वभाव ही हमारा परमश्रेय हो सकता है और इस रूप में वही धर्म कहा जाता है। धर्म का लक्षण यह भी बताया गया है कि जो आत्मा का परिशुद्ध स्वरूप है और जो आदि, मध्य और अन्त सभी में कल्याणकारक है वही धर्म है।[१०] वैशेषिकसूत्र में धर्म का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जिससे अभ्युदय और श्रेय की सिद्धि होती है वह धर्म है।[११]

---

१. मनुस्मृति, २।१०८.
२. वही, २।१.
३. दशवैकालिक, १।१; योगशास्त्र ४।१००.
४. महाभारत, कर्णपर्व, ६९।५९.
५. गीता, १६।२४.
६. आचारांगनिर्युक्ति, २४४.
७. कठोपनिषद, २।१।२.
८. अमोल-सूक्ति-रत्नाकर, पृ० २७.
९. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० २६६३.
१०. वही, पृ० २६६९.
११. वैशेषिकसूत्र, उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ६.

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय परम्परा में भी धर्म को अनेक रूपों में विवेचित किया गया है। फिर भी भारतीय परम्परा की यह विशेषता है कि उसमें धर्म की किसी एकांगी परिभाषा पर ही बल नहीं दिया गया, वरन् धर्म अथवा नीति के विविध पक्षों को उभारते हुए उनमें एक समन्वय ही खोजने का प्रयास किया गया है। मनु ने धर्म के लक्षणों की व्याख्या करते हुए इन सभी पक्षों को समन्वित करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं कि वेद एवं स्मृति की आज्ञाओं का परिपालन, सदाचार और आत्मवत् व्यवहार धर्म का लक्षण है।[1] वस्तुतः जहाँ पाश्चात्य परम्परा में इन विविध परिभाषाओं का आग्रह देखा जाता है वहाँ भारतीय परम्पराओं में ऐसा आग्रह नहीं है, वरन् वे इन सभी पक्षों को समान रूप से स्वीकार करती हैं। यही कारण है कि प्रत्येक परम्परा में धर्म की विविध व्याख्याएँ उपलब्ध हो जाती हैं। जैन परम्परा में भी धर्म की इन विविध परिभाषाओं को स्वीकार किया गया है—

> धम्मो वत्थु सहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
> रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥
>
> —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८

अर्थात् वस्तुस्वभाव धर्म है, क्षमादि दशविध धर्म है, रत्नत्रय धर्म है और जीवों की रक्षा करना धर्म है। यह धर्म या नैतिकता की व्यापक परिभाषा है। नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में इन परिभाषाओं की व्याख्या इस प्रकार होगी—स्वस्वभाव परमश्रेय के रूप में नैतिक साध्य है और रत्नत्रयरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उस परमश्रेयरूप साध्य के साधन हैं। स्वभावदशा की उपलब्धि पारमार्थिक नैतिकता है और सम्यग्दर्शन आदि व्यावहारिक नैतिकता है। पुनः क्षमादि दशविध धर्मों को वैयक्तिक नैतिकता और दया, करुणा आदि को सामाजिक नैतिकता कहा जा सकता है।

§ ५. भारतीय परम्परा में आचारदर्शन (नीतिशास्त्र) की प्रकृति

पाश्चात्य परम्परा में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है कि नीतिशास्त्र की प्रकृति क्या है? वह विज्ञान है या कला? अथवा दर्शन का एक अंग है?

विज्ञान का व्यापक अर्थ किसी भी विषय का सुव्यवस्थित अध्ययन है और इस अर्थ को स्वीकार करने पर नीतिशास्त्र भी विज्ञान है, क्योंकि वह कर्तव्य, श्रेय या परमार्थ का सुव्यवस्थित अध्ययन करता है।

म्यूरहेड के अनुसार विज्ञान के तीन लक्षण हैं—सम्यक् निरीक्षण, निरीक्षित तथ्यों का वर्गीकरण और उन तथ्यों की व्याख्या। इन लक्षणों के आधार पर भी नीतिशास्त्र विज्ञान है क्योंकि वह नैतिक तथ्यों का निरीक्षण, वर्गीकरण और उनकी व्याख्या करता है।

१. मनुस्मृति, २।१२.

नीतिशास्त्र को विज्ञान माननेवाले विचारकों में इस आधार पर मतभेद है कि नीतिशास्त्र तथ्यात्मक विज्ञान है या आदर्शात्मक विज्ञान? जो विचारक नीतिशास्त्र को समाजविज्ञान या मनोविज्ञान का ही एक अंग समझते हैं उनके अनुसार नीतिशास्त्र भी अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान या विधिशास्त्र के समान एक तथ्यात्मक विज्ञान है, जबकि दूसरे कुछ विचारक उसे आदर्शात्मक विज्ञान मानते हैं जिनके अनुसार नीतिशास्त्र का कार्य तथ्यों की व्याख्या करना नहीं, वरन् आदर्श का निर्देशन है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध 'है' से नहीं, वरन् 'चाहिए' से है। वह यह बताता है कि 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं करना चाहिए'। नीतिशास्त्र के निर्णय तथ्यात्मक नहीं, वरन् मूल्यात्मक होते हैं और इस रूप में वह आदर्शमूलक विज्ञान ही सिद्ध होता है।

१. क्या नीतिशास्त्र कला है?

विज्ञान और कला में प्रमुख अन्तर इस आधार पर किया जाता है कि विज्ञान का सम्बन्ध 'ज्ञान' या विचार से, और कला का सम्बन्ध कर्म या कृति से होता है। भारतीय परम्परा में शुक्राचार्य ने विद्या (विज्ञान) और कला में प्रमुख अन्तर इस आधार पर माना है कि जो विचारविनिमय का विषय है वह विद्या है, और जो क्रिया का विषय है वह कला है।[1] कुछ विचारकों की दृष्टि में नीतिशास्त्र आचरण की कला है। जिस प्रकार रेखाओं, बिन्दुओं और रंगों का सुन्दर विन्यास चित्रकला है, स्वरों की सुव्यवस्था गायनकला है; उसी प्रकार मनोभावों एवं आचरण का सुन्दर अभियोजन, सन्तुलन और सुव्यवस्थापन आचरण की कला है। कला रचनात्मक होती है लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका विवेचनात्मक पक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्या या विज्ञान विवेचनात्मक होता है, लेकिन अनेक विज्ञान ऐसे भी है जो अपने निर्णयों की क्रियान्विति के अभाव में अपूर्ण रहते हैं; जैसे, शिल्पविज्ञान या चिकित्साविज्ञान। आचारशास्त्र का सम्बन्ध जहाँ एक ओर कर्तव्य, श्रेय या परमार्थ के विवेचन से है, वहीं दूसरी ओर क्रियान्विति से भी है।

नीतिशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें कलात्मक पक्ष का अभाव है। यद्यपि मैकेंजी प्रभृति कुछ पाश्चात्य नीतिवेत्ताओं ने नीतिशास्त्र को कला मानने से इनकार किया है। मैकेंजी अपने नीतिप्रवेशिका नामक ग्रन्थ में बताते हैं, "आचरण की कला हो ही नहीं सकती।" वे अपने पक्ष के समर्थन में दो तर्क देते हैं (१) आचरण आदत है न कि क्षमता, जबकि कला नैपुण्य-क्षमता है। सदाचारी व्यक्ति वह है जो सदाचरण करता है, जबकि अच्छा कलाकार वह है जो अच्छा चित्र बना सकता है। सदाचरण के अभाव में एक व्यक्ति सदाचारी नहीं रहता है, अथवा सदाचरण करने की क्षमता-मात्र से कोई सदाचारी नहीं हो

१. शुक्रनीति, ४।६५.

जाता है। (२) कला का सम्बन्ध निर्मिति की सिद्धि से है, जबकि आचरण का सम्बन्ध आन्तरिक उद्देश्य से है। दूसरे शब्दों में, कला का सम्बन्ध साध्य की उपलब्धि से है जबकि आचरण का सम्बन्ध साधन की शुद्धि या सद्भावना से है।

भारतीय परम्परा की दृष्टि से मैकेंजी का यह दृष्टिकोण समुचित नहीं है। जैन परम्परा और गीता के अनुसार, जिसका दृष्टिकोण अथवा जिसकी श्रद्धा सम्यक् है वह सदाचरण की क्रिया के अभाव में भी सदाचारी माना गया है। जैन परम्परा के अनुसार अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि अशुभाचरण से विरत नहीं होता है फिर भी आचारांगसूत्र में यह कहकर कि सम्यग्दृष्टी कोई पाप नहीं करता है,[1] क्षमता के आधार पर उसे नैतिक व्यक्ति मान लिया गया है। गीता में यह कहकर कि भगवान् के प्रति सम्यक् श्रद्धा से युक्त दुराचारी को भी सदाचारी ही मानना चाहिए,[2] इसी बात को स्पष्ट किया गया है कि नैतिक आचरण की क्षमता से युक्त होने पर आचरण के अभाव में भी किसी को सदाचारी माना जा सकता है। दूसरे यह मानना कि नीतिशास्त्र केवल साधन-शुद्धि और सद्-उद्देश्य पर बल देता है, समुचित नहीं है। भारतीय परम्परा में नैतिक जीवन का परमलक्ष्य मात्र साधन की शुद्धि या सद्-उद्देश्यता नहीं है, वरन् मोक्ष के साध्य की सिद्धि भी है। भारतीय परम्परा में नीतिशास्त्र को योगशास्त्र भी कहा गया है, और योग वही है जो 'साध्य' से जोड़ता है। गीता में योग को 'कर्मकौशल्य' भी कहा गया है और इस रूप में नीतिशास्त्र प्रवीणता पर उसी प्रकार बल देता है जिस प्रकार कला। भारतीय परम्परा में नीतिशास्त्र आचरण की कलाओं में महत्त्वपूर्ण कला है। कहा गया है—

सकलापि कला कलावतां विकला पुण्य कला विना खलु।
सकले नयने वृथा यथा तनु भाजां हि कनीनिका विना॥

भारतीय चिन्तन में आचारशास्त्र पुण्य कला है, और पुण्य कला के अभाव में सभी कलाएँ वैसे ही व्यर्थ है जिस प्रकार कनीनिका के बिना नयन व्यर्थ है। जैनाचार्यों का कथन है, 'सव्वकला धम्मकला जिणेइ' (गौतमकुलक) अर्थात् धर्मकला सभी कलाओं में श्रेष्ठ है।

२. नीतिशास्त्र की दार्शनिक प्रकृति

आचारशास्त्र न केवल विज्ञान या कला है, वरन् वह दर्शन का अंग भी है। यदि विज्ञान का अर्थ मानवीय अनुभव के किसी सीमित भाग का अध्ययन है तो नीतिशास्त्र विज्ञान की अपेक्षा दर्शन ही अधिक है। इस अर्थ में उसे दर्शन का एक अंग ही मानना चाहिए क्योंकि वह अनुभूति का पूर्ण रूप से अध्ययन करता है। मैकेंजी ने स्वयं इसे इस अर्थ में दर्शन का अंग माना है। कुछ विचारकों की दृष्टि में विज्ञान का सम्बन्ध यथार्थ से होता है। यदि विज्ञान यथार्थमूलक शास्त्रों तक सीमित है तो हमें नीतिशास्त्र को 'दर्शन' के क्षेत्र में रखना होगा। यद्यपि नीति-

---

१. आचारांग, १।३।२.

२. गीता, ९।३०.

शास्त्र दर्शन से इस अर्थ में भिन्न है कि दर्शन की कोई पूर्वमान्यता (postulate) नहीं होती है जबकि नीतिशास्त्र की कुछ पूर्वमान्यताएं होती हैं। यदि हम नैतिक मान्यताओं की समीक्षा को भी नीतिशास्त्र का अंग मान लेते हैं तो नीतिशास्त्र वस्तुतः 'दर्शन' ही बन जाता है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि नीतिशास्त्र या आचारदर्शन कोरा बुद्धिविलास नहीं है; उसका सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से है, वह व्यावहारिक दर्शन है।

जैन नीतिशास्त्र में सम्यग्दर्शन उसके दार्शनिक पक्ष को, सम्यग्ज्ञान उसके वैज्ञानिक पक्ष को और सम्यक्चारित्र उसके कलात्मक पक्ष को अभिव्यक्त करते हैं।

साध्य (आदर्श) के निर्देशन एवं नैतिक मान्यताओं की समीक्षा के रूप में नीतिशास्त्र दर्शन है, जबकि आचरण के विश्लेषण के रूप में वह विज्ञान है, और चरित्रनिर्माण के रूप में वह कला है। भारतीय आचारशास्त्रीय परम्परा में नैतिक मान्यताओं का तान्विक विवेचन, आचरण का विश्लेषण और आचरणमार्ग का निर्देशन सभी समाविष्ट हैं, और इस रूप में उसमें दर्शन, विज्ञान और कला के पक्ष उपस्थित हैं। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में हमें नीतिशास्त्र का एक व्यापक स्वरूप दृष्टिगत होता है, उसे सम्पूर्ण जीवन का आधार और लोकस्थिति का व्यवस्थापक माना गया है। उसे धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का मूल और मोक्ष का प्रदाता कहा गया है—

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥ —शुक्रनीति, १।२

§ ६. नैतिक प्रत्यय और उनके अर्थ

पाश्चात्य आचारदर्शन की विभिन्न परिभाषाओं में हमने यह देखा कि वे परिभाषाएं नीतिशास्त्र के किसी प्रत्ययविशेष पर जोर देती हैं। लेकिन नीतिशास्त्र में किसी प्रत्यय विशेष को ही महत्त्व देना एकांगी दृष्टिकोण होगा। यद्यपि नीतिशास्त्र के विभिन्न प्रत्ययों में एक क्रम या व्यवस्था हो सकती है, तथापि किसी भी प्रत्यय को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। नीतिशास्त्र के प्रमुख प्रत्यय परम शुभ, शुभ, उचित, कर्तव्य, चारित्र आदि हैं। भारतीय आचारदर्शनों में यद्यपि उपर्युक्त सभी नैतिक प्रत्यय उपस्थित हैं, तथापि भारतीय परम्परा में उनकी परिभाषाएं अनुपलब्ध हैं। इस सन्दर्भ में हमें पाश्चात्य दृष्टिकोण का ही सहारा लेना होगा, फिर भी हम उन्हें भारतीय सन्दर्भ में ही परखने का प्रयास करेंगे।

१. **परमशुभ**—भारतीय परम्परा में जीवन का परमश्रेय दुःखों का आत्यन्तिक विनाश और अक्षय आनन्द की उपलब्धि है। एक अन्य अपेक्षा से आत्मपूर्णता को भी जीवन का परमश्रेय माना गया है। तात्त्विक दृष्टि से परमश्रेय हमारी सत्ता का सारतत्त्व है, उसे जैन परम्परा में स्वभावदशा की उपलब्धि और गीता में परमात्मा की उपलब्धि कहा गया है। संक्षेप में इसे निर्वाण कहा जाता है और

विस्तारपूर्वक विचार करने पर यह हमारी सत्ता का सारतत्त्व, अक्षय आनन्द की अवस्था और दुःखों से आत्यन्तिक विमुक्ति सिद्ध होता है। भारतीय परम्परा में परमश्रेय, निर्वाण, परमात्मदशा, स्वभावदशा आदि पर्यायवाची शब्द ही माने जाते हैं। परमश्रेय का विवेचन करना या उसे परिभाषित करना सम्भव नहीं है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में उसे अनिर्वचनीय अर्थात् अविश्लेष्य एवं अपरिभाष्य ही बताया गया है। पाश्चात्य परम्परा में मूर ने भी शुभ को अविश्लेष्य एवं अपरिभाष्य माना है।

२. शुभ—भारतीय दृष्टिकोण से शुभ और परमशुभ में अन्तर है। परमशुभ एक आध्यात्मिक आदर्श है जबकि शुभ लौकिक आदर्श। भारतीय परम्परा में इसे पुण्य भी कहा गया है। पुण्य या परोपकार एक ऐसा आदर्श है जिसका लक्ष्य दूसरों का हित करना है। इसे हम सामाजिक जीवन का आदर्श भी कह सकते हैं।

३. **औचित्य और अनौचित्य के प्रत्यय**—औचित्य और अनौचित्य के प्रत्यय शुभ या परमशुभ के प्रत्यय पर निर्भर हैं। जो आचरण शुभ अथवा परमशुभ की दिशा में ले जाता है वह उचित कहा जाता है। इसके विपरीत जो आचरण शुभ अथवा परमशुभ से विमुख करता है वह अनुचित कहा जाता है। संक्षेप में औचित्य और अनौचित्य का आधार शुभ और परमशुभ के प्रत्यय ही है। यद्यपि कुछ लोगों ने उचित और अनुचित को सामाजिक अनुमोदन और अननुमोदन से भी जोड़ने का प्रयास किया है। जिन कर्मों के पीछे सामाजिक अनुमोदन है वे उचित हैं और जिन कर्मों के पीछे सामाजिक अनुमोदन नही है वे अनुचित कहे जाते हैं।

४. **कर्तव्य**—कर्तव्य का प्रत्यय यह बताता है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में किसी विशेष कार्य का करना हमारा दायित्व है। कर्तव्य का उद्भव सामाजिक एवं बौद्धिक जीवन मे होता है। कर्तव्य का भाव या तो अधिकारों की धारणा से या बुद्धि से निर्गमित होता है।

५. **चारित्र**—चरित्र व्यक्ति की आदतों से निर्मित होता है और वह व्यक्ति की जीवनदृष्टि को स्पष्ट करता है। चारित्र, जीवन जीने का एक ढंग-विशेष है। व्यक्ति की जो जीवनदृष्टि होती है वैसा ही उसके जीवन जीने का ढंग होता है और वही उसके चारित्र का परिचायक होता है। चारित्र कर्म करने की स्वेच्छार्जित स्थायी प्रवृत्तियों का संगठित रूप है।

नीतिशास्त्र के उपर्युक्त प्रमुख प्रत्यय स्वतन्त्ररूप में नही रहकर एक व्यवस्था में रहते हैं। उनमें एक निकटतम पारस्परिक सम्बन्ध भी है। भारतीय परम्परा में निर्वाण परमश्रेय की, पुण्य और पाप शुभाशुभ की, एवं वर्णाश्रमधर्म कर्तव्यभाव की अभिव्यक्ति करते हैं।

§ ७. भारतीय आचारदर्शनों की सामान्य विशेषताएँ

धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ, कुशल-अकुशल, श्रेय-प्रेय और उचित-अनुचित के सम्बन्ध में विचार करने की प्रवृत्ति मानव में प्राचीन काल से ही रही है। पश्चिम में पाइथा-

गोरस, सुकरात, प्लेटो और अरस्तू आदि से लेकर रसल, मूर, पेटन आदि वर्तमान युग के विचारको तक और पूर्व मे वेद और उपनिषद् के काल के ऋषिगणो एवं कृष्ण, बुद्ध और महावीर की परम्परा से लेकर तिलक और गाधी के वर्तमान युग तक नैतिक चिन्तन का यह प्रवाह सतत रूप मे प्रवाहित होता रहा है, फिर भी देश-कालगत परिस्थितियो के कारण नैतिक चिन्तन की यह धारा पूर्व और पश्चिम मे कुछ भिन्न रूपो में प्रवाहित होती रही है।

प्रत्येक देश की अपनी भौगोलिक परिस्थिति होती है। जिन देशो मे व्यक्ति को अपने जीवनयापन के साधनो की उपलब्धि सहज नही होती वहाँ जीवन के उच्च आदर्शो का विकास भी नही हो पाता, लेकिन जहाँ जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति सहज एव सुलभ होती है वहाँ चिन्तन की दिशा भी बदल जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक देश की पूर्ववर्ती परम्पराएँ भी उस देश की चिन्तन की धारा को विशेष दिशा की ओर मोड देती है। अत प्रत्येक देश मे जीवन के मूल्यो के सम्बन्ध मे अपना विशेष दृष्टिकोण होता है। आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन ने हमे यह भी बताया है कि जलवायु भी विचारो को प्रभावित करती है। उसका प्रभाव व्यक्ति की वासनाओ और स्वभावो पर पडता है। उसके परिणामस्वरूप भी देश की चिन्तनधारा एक नयी दिशा ले लेती है। मात्र यही नही, कभी-कभी देश मे कुछ ऐसे प्रबुद्ध व्यक्तित्वो का जन्म हो जाता है जो उस देश के चिन्तन को नया मोड दे देते है।

भारत की अपनी भौगोलिक परिस्थिति, अपना जलवायु, अपनी पूर्ववर्ती परम्पराएँ और अपने महापुरुष है, अत यह स्पष्ट है कि उसकी नैतिक चिन्तन की अपनी विशेषताएँ है। जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन भारतभूमि में विकसित हुए है और इस रूप मे उनकी कुछ सामान्य अभिस्वीकृतियाँ है जो हमे उनके व्यवस्थित और तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रेरित करती है। भारतीय नैतिक चिन्तन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है—

१ जागतिक उपादानों की नश्वरता—भारतीय चिन्तन मे जो कुछ भी ऐन्द्रिक अनुभवो के विषय है, वे सभी परिवर्तनशील, विनाशशील और अनित्य माने गये है। जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराएँ जागतिक उपादानो की इस नश्वरता को स्वीकार करके चलती है।[१]

२. आत्मा की अमरता—यद्यपि शरीर, इन्द्रियाँ और उनके विषय नश्वर माने गये है, लेकिन आत्मा या जीव को नित्य कहा गया है। जैन दर्शन और गीता दोनो ही आत्मा को नित्य और शाश्वत मानते है। दोनों के अनुसार शरीर के नाश हो जाने पर भी आत्मा का नाश नही होता।[२] जहाँ तक बौद्ध विचारधारा का प्रश्न है वह नित्य आत्मा की सत्ता को स्वीकार नही करती है, फिर भी वह यह

१. भावपाहुड, ११०; गीता, २।१८; धम्मपद, १५१.
२. नियमसार, १०२; गीता, २।२०.

मानती है कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विज्ञान-प्रवाह या चेतना-प्रवाह बना रहता है।

३. कर्म-सिद्धान्त में विश्वास—कर्मसिद्धान्त भारतीय आचारदर्शन की विशिष्ट मान्यता है। जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन इस कर्मसिद्धान्त मे अटूट श्रद्धा रखते है। सभी यह स्वीकार करते है कि कृत कर्मों का फलभोग आवश्यक है।[१]

४. मरणोत्तर जीवन एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में आस्था—जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन मरणोत्तर जीवन एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करके चलते है।[२] कर्मसिद्धान्त और आत्मा की अमरता यह अनिवार्यतः पुनर्जन्म की मान्यता को स्थापित करते है।

५. स्वर्ग-नरक के अस्तित्व में विश्वास—पुनर्जन्म के सिद्धान्त की धारणा के साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार मरणोत्तर अवस्था मे स्वर्ग या नरक को प्राप्त करता है।[3] शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप स्वर्ग और अशुभ कर्मो के परिणामस्वरूप नरक की प्राप्ति होती है।

६. जीवन की दुःखमयता—जीवन की दुःखमयता भारतीय दर्शनों का एक प्रमुख प्रत्यय रही है। जैन और बौद्ध दोनो ही परम्पराओं में जीवन को दुःखमय माना गया है।[४] दुःख की अभिस्वीकृति भारतीय आस्था का प्रथम चरण है। बुद्ध ने इसे प्रथम आर्यसत्य कहा है। वस्तुतः दुःख और अभाव की वेदना जीवन की वह प्यास है जो पूर्णता के जल से परिशान्त होना चाहती है। दुःख भारतीय नैतिकता का प्रवेशद्वार है। पाश्चात्य सत्तावादी विचारक किर्कगार्ड ने भी दुःख को नैतिक जीवन का प्रथम चरण कहा है। भारतीय चिन्तन में समग्र नैतिकता इसी दुःख से विमुक्ति का प्रयास कही जा सकती है। बुद्ध और महावीर की प्रवचनधारा जनसमाज को इसी दुःखमयता से उबारने के लिए प्रवाहित हुई। दुःख भारतीय चिन्तन का यथार्थ है और दुःखविमुक्ति आदर्श।

७. निर्वाण : जीवन का परमश्रेय—निर्वाण या मुक्ति भारतीय नैतिकता का परमश्रेय है। दुःख से विमुक्ति को ही नैतिक जीवन का साध्य बताया गया है और दुःखों से पूर्ण विमुक्ति को ही निर्वाण या मोक्ष कहा गया है। भारतीय आचारदर्शनों की दृष्टि में भौतिक एवं वस्तुगत सुख वास्तविक सुख नहीं हैं। सच्चा सुख वस्तुगत नहीं, अपितु आत्मगत है। उसकी उपलब्धि तृष्णा या आसक्ति के प्रहाण द्वारा सम्भव है। वीतराग, अनासक्त और वीततृष्ण होना ही उनकी दृष्टि में वास्तविक सुख है।

---

१. सूत्रकृतांग २।१।४; गीता, ५।१५; धम्मपद, १२७.

२. उत्तराध्ययन, ३।३–५; गीता, ८।१; मज्झिमनिकाय, १।३।१.

३. सूत्रकृतांग, २।५।१२–२९; गीता, २।३७, १६।१६; अंगुत्तरनिकाय, २।३।७–८

४. उत्तराध्ययन, १९।१६; धम्मपद, १४६.

§ ८. नैतिक चिन्तन की भारतीय एवं पाश्चात्य परम्पराओं में प्रमुख अन्तर

१. पाश्चात्य आचारदर्शन में नैतिकता का सम्बन्ध पारलौकिक जीवन की अपेक्षा वर्तमान जीवन से अधिक माना गया है जबकि भारतीय चिन्तन में पारलौकिक जीवन के सन्दर्भ मे ही नैतिकता का विचार अधिक विकसित हुआ है। यद्यपि एकान्त रूप मे न तो पाश्चात्य परम्परा को पूर्णतया लौकिक जीवन से और न भारतीय नैतिक चिन्तन को पूर्णतया पारलौकिक जीवन से ही सम्बन्धित माना जा सकता है।

२. भारतीय नैतिक चिन्तन, नैतिक सिद्धान्तों का विश्लेषणात्मक अध्ययन न होकर, व्यावहारिक नैतिक जीवन से सम्बन्धित है। भारतीय नैतिक विचारणा यह बताती है कि क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए, कौन-सा आचार उचित है और कौन-सा आचार अनुचित है। इस प्रकार भारतीय नैतिकता में मुख्यतया नैतिक सिद्धान्तो की अपेक्षा नैतिक जीवन पर अधिक विचार किया गया है। वह उपदेशात्मक है। उसका सम्बन्ध व्यावहारिक नैतिकता से अधिक है। दूसरे शब्दो में, पाश्चात्य आचारदर्शन आचार का विज्ञान है जबकि भारतीय आचारदर्शन जीने की कला है। यही कारण है कि भारतीय विचारकों ने आपात्कालीन एवं सामान्य आचार के नियमों का गहराई से विवेचन तो किया लेकिन नैतिकता के प्रतिमान एवं नैतिक प्रत्ययों की सैद्धान्तिक समीक्षा भारत में उतनी गहराई मे नही हुई जितनी कि पश्चिम में। फिर भी यह मानना कि भारतीय नैतिक चिन्तन मे केवल आचार-नियमों का प्रतिपादन है और नैतिक समस्याओं पर कोई चिन्तन नही हुआ है, एक भ्रान्त धारणा ही होगी। अनेक नैतिक समस्याओं का सुन्दर हल भारतीय चिन्तन ने दिया है, जो उसकी मौलिक प्रतिभा को अभिव्यक्त करता है।

३. भारतीय नैतिक चिन्तन प्रमुख रूप से अध्यात्मवादी है जबकि पाश्चात्य नैतिक चिन्तन में भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास अधिक देखा जाता है। भारतीय नैतिक चिन्तन में परमश्रेय निर्वाण, मोक्ष या आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति है, जबकि पाश्चात्य नैतिक चिन्तन में परमश्रेय व्यक्ति एवं समाज का भौतिक कल्याण है। वैयक्तिक या सामाजिक हितों की उपलब्धि एवं सुरक्षा तथा व्यवस्थित और सामंजस्यपूर्ण सामाजिक जीवन को ही अधिकाश पाश्चात्य विचारकों ने नैतिकता का साध्य माना है। यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिम में भी ब्रैडले प्रभृति कुछ आध्यात्मिक विचारकों ने नैतिक साध्य के रूप में जिस आत्मपूर्णता एवं आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक दूर नही है। इसी प्रकार, भारतीय चिन्तकों ने भी जीवन के भौतिक पक्ष की पूरी तरह से अवहेलना नहीं की है।

४. भारतीय और पाश्चात्य नैतिक चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि भारतीय आचारपरम्परा निर्वाणवादी होने के कारण व्यक्तिपरक रही, जबकि

पाश्चात्य परम्परा समाजपरक। व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास निर्वाणलक्षी भारतीय नैतिकना का प्रमुख ध्येय है, जबकि सामाजिक सन्तुलन, सामाजिक प्रगति और सामाजिक सामञ्जस्य पाश्चात्य नैतिक चिन्तन का प्रमुख साध्य रहा है। यद्यपि थोड़ी गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि जहाँ भारत में निर्वाण-लक्षी महायान बौद्ध परम्परा समग्र साधना को समाजपरक बना देती है वहीं पश्चिम में स्पिनोजा और नीत्से नैतिकता को व्यक्तिपरक बना देते है। अतः इस सम्बन्ध में कोई भी एकांगी दृष्टिकोण भ्रान्तिपूर्ण ही होगा।

§ ९. पाश्चात्य विचारकों के भारतीय आचारदर्शन पर आक्षेप और उनका प्रत्युत्तर

पाश्चात्य विचारकों ने भारतीय नैतिक चिन्तन पर कुछ आक्षेप लगाये हैं। डॉ० राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक 'प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार' में श्वेट्जर के द्वारा लगाये गये कुछ आक्षेपों का उल्लेख किया है। यहाँ हम उन्हीं आक्षेपों के सन्दर्भ में जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों की दृष्टि से विचार करेंगे। क्योंकि ये आक्षेप न केवल हिन्दू विचारणा पर लागू होते हैं वरन् जैन और बौद्ध परम्पराओं पर भी लागू होते हैं, इसलिए इनपर विचार अपेक्षित है। डॉ० श्वेट्जर ने भारतीय परम्परा पर निम्न आक्षेप किये हैं—

१. हिन्दू विचारणा में परमानन्द (मोक्ष) पर जो बल दिया जाता है, वह स्वाभाविक तौर पर मनुष्य को संसार और जीवन के निषेध की ओर ले जाता है।

२. हिन्दू विचारणा अनिवार्यतः पारलौकिक है और मानवतावादी आचार-नीति और पारलौकिकता ये दोनों परस्पर असंगत है।

३. 'माया'-सम्बन्धी हिन्दू सिद्धान्त में जीवन को मरीचिका बतलाया गया है। इसमें एक त्रुटि वह है कि यह संसार और जीवन का निषेध करता है। फलतः हिन्दू विचारणा आचारनीतिपरक नहीं है।

४. विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हिन्दू धर्म जो बड़ी से बड़ी बात कह सकता है, वह यह है कि यह भगवान् की लीला है।

५. मोक्ष का साधन ज्ञान या आत्मसाक्षात्कार है। यह बात नैतिक विकास से भिन्न है, इसलिए हिन्दू धर्म नीतिपरक नहीं है।

६. मानव-प्रयासों का लक्ष्य पलायन (निवृत्ति) है, समन्वय या समझौता नहीं। यह तो ससीम के बन्धनों से आत्मा की मुक्ति हुई, असीम के आत्मप्रकाश और उसके साधन के रूप में ससीम को परिवर्तित करने की बात इसमें नहीं आयी। धर्म जीवन और उसकी समस्याओं से बचने की एक आड़ है, उससे सुखद भावी जीवन के लिए मनुष्य को कोई आशा नहीं बँधती।

७. हिन्दू धर्म का आदर्श व्यक्ति अच्छाई और बुराई के नैतिक अन्तर से परे होता है।

८. हिन्दू विचारणा आन्तरिक पूर्णता के लिए जिस शीलाचार पर जोर देती है, उसका सक्रिय आचारनीति और अपने पड़ोसी को सहृदय प्रेम देने की बात से विरोध है।[१]

डा० श्वेट्जर का यह प्रथम आक्षेप कि भारतीय चिन्तन जीवन का निषेध सिखाता है, भ्रान्तिपूर्ण है। भारतीय परम्परा जीवन का निषेध नही, वरन् जीवन की पूर्णता सिखाती है। डा० राधाकृष्णन् कहते हैं कि हिन्दू मतावलम्बी आध्यात्मिकता को मानव-प्रकृति का आधारभूत तत्त्व मानता है। आत्मिक साक्षात्कार जीवन की समस्याओं का कोई चामत्कारिक समाधान नहीं, अपितु जीवन को अपनी पूर्णता की ओर पहुँचाने का क्रमिक प्रयास है।[२] भारतीय परम्परा में, और विशेषकर जैन परम्परा में मोक्ष की जो धारणा स्वीकार की गयी है वह जीवन का निषेध नही, वरन् जीवन की पूर्णता है। चेतना की विभिन्न शक्तियों का पूर्ण विकास ही मोक्ष माना गया है। महावीर नैतिकता को जीवन-सापेक्ष मानते हैं। वह तो जीवन जीने की एक कला है, जीवन-प्रक्रिया से भिन्न उसका कोई अर्थ नहीं रहता। महावीर यह स्वीकार करते है कि धर्म का आचरण और नैतिक पूर्णता की उपलब्धि तथा तज्जनित आध्यात्मिक आदर्श अर्थात् मोक्ष की उपलब्धि सभी जीवन-प्रक्रिया में ही समाहित हैं। महावीर का स्पष्ट निर्देश है कि जबतक वृद्धावस्था शरीर को जर्जरित नहीं करे, व्याधियों से शरीर आक्रान्त न हो, जबतक इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं तभी तक धर्म का आचरण सम्भव है।[३] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जबतक जीवन है, सद्गुणों की आराधना कर लेनी चाहिए।[४] हिन्दू परम्परा में भी महावीर के इसी दृष्टिकोण को समर्थन प्राप्त है। उसमें कहा गया है कि जबतक शरीर स्वस्थ है, वृद्धावस्था दूर है, सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार में संलग्न हैं, जबतक आयुष्य का क्षय नहीं होता तबतक विद्वान् को आत्म-लाभ (परमश्रेय) के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।[५] यदि जीवन-साध्य की उपलब्धि जीवन-प्रक्रिया में ही निहित है तो फिर जैन और वैदिक परम्परा के आचारदर्शनों को जीवन का निषेधक कैसे माना जा सकता है। पूर्णता की दिशा में गति जीवन के विकास में है, उसके निषेध में नही। जीवन के एक छोर पर अपूर्णता है, सीमितता है; और दूसरे छोर पर पूर्णता और अनन्तता है। जीवन इन दोनों छोरों के मध्य स्थित है। जीवन का काम है इस अपूर्णता से पूर्णता की ओर, ससीम से असीम की ओर बढ़ना। भारतीय परम्परा में जीवन की जिस अपूर्णता को स्वीकार किया गया है वह जीवन का निषेध नहीं है। वस्तुतः जीवन की इस अपूर्णता के बोध में ही पूर्णता के लिए

१. इण्डियन थाट ऐण्ड इट्स डेवलपमेण्ट, उद्धृत—प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ९३.
२. वही, पृ० ९४.
३. दशवैकालिक, ८।३६.
४. उत्तराध्ययन, ४।१३.
५. देखिए—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ३३६.

अभीप्सा जाग्रत होती है और उसी अभीप्सा से व्यक्ति पूर्णता की दिशा में प्रयत्न करता है। पूर्णता की अभीप्सा ही समग्र भारतीय नैतिक एवं आध्यात्मिक साधनाओं का सारतत्त्व है। पूर्णता का प्रत्यय जीवन का निषेधक नहीं, वरन् उसके विकास का ही परिचायक है।

डा० श्वेट्जर का दूसरा आक्षेप है कि हिन्दू विचारणा अनिवार्यतः पारलौकिक है, और मानवतावादी आचार-नीति और पारलौकिकता (ये दोनों परस्पर असंगत हैं) भारतीय विचारणा के गहन अध्ययन पर आधारित प्रतीत नहीं होता है। यद्यपि भारतीय नैतिक चिन्तन में पारलौकिक जीवन के सन्दर्भ में नैतिकता का विचार किया गया है और नैतिक आचरण का सम्बन्ध भूत और भावी जीवन से जोड़ा गया है (जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों में भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया है) फिर भी यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि भारतीय नैतिक चिन्तन में वर्तमान जीवन की उपेक्षा की गयी है। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि वर्तमान जीवन के प्रति भी हमेशा सजग रही है। जैन और बौद्ध दर्शनों के अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह के नैतिक सिद्धान्त पारलौकिक जीवन की अपेक्षा वर्तमान जीवन एवं समाज-व्यवस्था से अधिक सम्बन्धित हैं। गीता जब वर्णाश्रम धर्म और निष्काम कर्मयोग का उपदेश देती है तो उसकी दृष्टि वर्तमान व्यावहारिक जीवन पर भी केन्द्रित है, ऐसा मानना भी युक्तिसंगत है। जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन भी इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय पर खड़ी हुई नैतिकता वास्तविक नैतिकता नहीं है, वरन् वह नैतिकता का आभास-मात्र है। जैन आगम दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि नैतिक आचरण न तो इस जीवन में सुख-साधनों की उपलब्धि के लिए करना चाहिए और न पारलौकिक जीवन के लिए। जैन आचारदर्शन में सम्यग्दृष्टी या ज्ञानी की पहचान ही यह मानी गयी है कि जो न भूत की चिन्ता करता है और न भविष्य की आकांक्षा, वही वास्तविक ज्ञानी है।[१] गीता में इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि पण्डितजन भूत और भविष्य की चिन्ता नहीं करते हुए जो भी कर्तव्य सामने उपस्थित होता है उसका पालन करते हैं।[२] बुद्ध का कथन है कि बीते हुए का शोक नहीं करते, आनेवाले पर मन्सूबे नहीं बाँधते, जो उपस्थित है उसी से गुजारा करते हैं वे शान्त भिक्षु सदैव प्रसन्न रहते हैं।[३] बुद्ध की दृष्टि में सच्चा साधक न लोक की आशा करता है और न परलोक की।[४]

वस्तुतः जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों ने नैतिकता अथवा धर्म को प्रलोभन एवं भय के आधार पर खड़ा करना कभी भी उचित नही समझा। उनकी

१. दशवैकालिक, ९।४।७, ९।३।४.
२. गीता, २।११.
३. संयुत्तनिकाय, १।१।१०.
४. वही, २।३।६.

दृष्टि में जो आचरण परलोक की अपेक्षा से किया जाता है, वह बन्धनकारी कारण माना गया है। जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों में स्वर्ग और नरक के जो पारलौकिक प्रत्यय उपस्थित किये गये हैं, उनका सम्बन्ध जनसाधारण से है। जो व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व नही है और जिनका जीवन भय और प्रलोभन के आधारों पर ही चल रहा है उन्हें अनैतिक जीवन से विरत करने और नैतिक जीवन के प्रति आकर्षित करने के लिए यद्यपि स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय उपस्थित किया गया है, लेकिन यह भारतीय नैतिकता की अन्तिम दृष्टि नही है। भक्तों का श्रेणी-विभाजन करते हुए गीता यह स्पष्ट कर देती है कि जो साधक भय या प्रलोभन के निमित्त से भक्ति (सदाचरण) करता है वह निम्न कोटि का है। गीता में भक्तों की जो चार कोटियाँ कही गयी हैं उनमें आर्त्त और अर्थार्थी (स्वार्थी) भक्त, जो कि क्रमशः भय अथवा प्रलोभन के आधार पर नैतिक जीवन जीते हैं, निम्न कोटि के माने गये हैं।[1] बुद्ध ने भी श्रामण्य का फल इसी जीवन में माना है। अतः भारतीय नैतिकता केवल परलोक के भय और प्रलोभनों पर खड़ी हुई नही है। परलोक के प्रलोभन एवं भय के आधार पर जिस नैतिकता का उपदेश दिया गया है उसका सम्बन्ध मात्र अपरिपक्व साधकों से है।

डा० श्वेट्जर का यह दृष्टिकोण भ्रान्तिपूर्ण है कि मानवतावादी नीति एवं पारलौकिकता परस्पर असंगत है। वस्तुतः इस दृष्टिकोण के पीछे भौतिकवादी धारणा ही अधिक प्रबल दिखाई देती है। मानवतावादी दृष्टिकोण ऐहिक जीवन तक ही अपना ध्यान सीमित रखना चाहता है। उसके अनुसार, प्रकृति के सिद्धान्तों के अनुरूप ही अपने आचरण को ढाल लेना ही मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है। मानवतावादी आचारदर्शन मनुष्य को एक मनोभौतिक एवं सामाजिक प्राणी के रूप में देखता है। उसकी दृष्टि में नीतिशास्त्र या तो समाजशास्त्र की एक शाखा है या मनोविज्ञान का एक विभाग। लेकिन यदि मनुष्य प्राकृतिक नियमों के अधीन है तो नैतिक सद्गुणों को और आत्मत्याग एवं आत्मबलिदान के प्रत्ययों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में, भौतिक आधार अनिवार्य होते हुए भी वह वास्तविक जीवनयापन के लिए बहुत ही संकुचित प्रतीत होता है। मनुष्य क्या केवल शरीर है जिसे खिलाया-पिलाया, ओढ़ाया-पहनाया और आवासित किया जा सकता है, या वह आत्मा भी है जिसकी कुछ उच्च आकांक्षाएं हैं? जिन लोगों को भौतिक सभ्यता की नियामतें, सारी सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं उन लोगों को भी जब हम हताश और कुण्ठित देखते हैं, तब यह समझ में आ जाता है कि मनुष्य केवल रोटी या भावनात्मक उत्तेजना पर ही जीवित नहीं रह सकता। यदि शुभेच्छा, विशुद्ध प्रेम और वैराग्य हमारे आदर्श हैं तो हमारी आचारनीति की जड़ पारलौकिकता की भावना में होनी चाहिए।[2] वस्तुतः आचारदर्शन एक आदर्शात्मक

१. गीता ७।१६–१७; तुलनीय–चाणक्यनीति, १३।२.

२. प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ९७–१००.

विज्ञान है। यदि हम 'जो है' उसी से सन्तुष्ट है तो हमे 'जो होना चाहिए' इसका कोई अर्थ हमारे लिए नही रह जायेगा। दृश्य जगत् से परे भी कोई जीवन और जगत् है यह आस्था ही हमे नैतिक पूर्णता की दिशा मे ले जा सकती है। भारतीय आचारदर्शनो ने पारलौकिकता एव आध्यात्मिकता को नैतिक जीवन के लिए जो स्वीकृति दी है, उसके पीछे उनकी यही गहन दृष्टि रही है कि हमारा परमश्रेय केवल इसी जगत् और जीवन तक सीमित नही है। हमे वर्तमान जीवन की अपूर्णताओ और सीमितताओ से ऊपर उठ कर किसी साध्य को प्राप्त करना है।

डा० श्वेट्ज़र का तीसरा आक्षेप मायावाद से सम्बन्धित है। उन्होंने मायावाद के सिद्धान्त को जीवन और जगत् का निषेधक मान लिया है। उनकी दृष्टि मे मायावाद का सिद्धान्त जीवन और जगत् को भ्रम या मरीचिका मानता है। वे लिखते है कि एक ऐसे ससार मे जिसका कोई अर्थ नही है, मनुष्य नैतिक कार्यो मे नही जुट सकता। माया के सिद्धान्त मे विश्वास करनेवाले व्यक्ति के लिए आचार-नीति का केवल सापेक्षिक महत्त्व ही हो सकता है।[1] वस्तुत डा० श्वेट्ज़र की यह भ्रान्त धारणा कि मायावाद जीवन और जगत् का निषेधक है, माया के सही अर्थ को नही समझ पाने के कारण उत्पन्न हुई है। वे प्रातिभासिक सत्य और व्यावहारिक सत्य मे अन्तर को नही समझ पाये है। डा० राधाकृष्णन् ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दुओ की जीवनदृष्टि' तथा 'प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार' मे इसे विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है कि मायावाद का सिद्धान्त जीवन और जगत् का निषेधक नही है। दूसरे, शकर का मायावाद समग्र भारतीय दर्शन का प्रतिनिधि नही है। विस्तारभय से यहाँ उस समग्र चर्चा मे जाना सम्भव नही है। जहाँ तक जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनो का प्रश्न है, वे मायावाद के सिद्धान्त के समर्थक नही माने जा सकते। जैन दर्शन तो एक यथार्थवादी दर्शन है और इसलिए उसमे मायावाद के सिद्धान्त का कोई स्थान ही नही है। बौद्ध परम्परा मे भी शून्यवाद और विज्ञानवाद के अतिरिक्त सभी ने जीवन और जगत् की वस्तुगत वास्तविक सत्ता को स्वीकार किया है। गीता की तत्त्वमीमासा को भी मायावाद का समर्थक सिद्ध नही किया जा सकता। अत यह आक्षेप उनपर लागू ही नही होता।

डा० श्वेट्ज़र का चौथा आक्षेप है कि हिन्दूधर्म के अनुसार यह जगत् भगवान् की लीला है। वस्तुतः यह सही है कि जगत् को भगवान् की लीला मानने पर नियतिवाद का सिद्धान्त आ जाता है और जिसमे नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या सम्भव नही होती है। किन्तु जैन और बौद्ध परम्पराएँ इस बात को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करती है कि जगत् ईश्वर की लीला है। यद्यपि गीता की विचारणा मे इस सिद्धान्त का कुछ समर्थन और तज्जनित नियतिवाद के तत्त्व अवश्य उपस्थित है। इस प्रकार हम देखते है कि जहाँ तक जैन और बौद्ध परम्पराओ का प्रश्न है, यह आक्षेप उनपर लागू नही होता।

१. इण्डियन थाट ऐण्ड इट्स डेवलपमेण्ट, पृ० ५९–६०.

डा० श्वेट्जर का पाँचवाँ आक्षेप है कि भारतीय परम्परा में मोक्ष का साधन ज्ञान या आत्म-साक्षात्कार है। यह बात नैतिक विकास से भिन्न है, इसलिए हिन्दू धर्म आचार या नीति विषयक नही है। उनके इस आक्षेप में उनकी एकांगी दृष्टि का ही परिचय मिलता है। प्रथम तो सभी भारतीय आचारदर्शनों ने ज्ञान को ही एकमात्र मुक्ति का साधन माना हो, यह कहना यथार्थ नही है। भारतीय धर्मों में ज्ञान के साथ-साथ ही कर्म, ध्यान और भक्ति के तत्त्व भी उपस्थित है। जिन विचारकों ने ज्ञान को ही मोक्ष का साधन माना है उन्होंने भी सदाचार या नैतिकता को अस्वीकार नही किया, वरन् सदाचार या नैतिक जीवन को ज्ञानप्राप्ति के लिए अनिवार्य साधन बताया है। मात्र यही नही, जैन और बौद्ध परम्पराओं ने अपने साधना-पथ में ज्ञान को जो स्थान दिया है वही स्थान शील या आचरण को भी दिया है। उनकी साधना-पद्धति मे ज्ञान के साथ-साथ आचरण का तत्त्व भी समाहित है, अतः उन्हें अनिवार्य रूप से आचारमार्गी दर्शन स्वीकार करना पड़ेगा। गीता के निष्काम कर्मयोग सिद्धान्त मे भी ज्ञान के साथ-साथ आचरण का महत्त्व स्वीकार किया गया है। अतः यह मानना पड़ेगा कि भारतीय परम्परा मे आचार-शास्त्र या नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारतीय परम्परा पर छठा आक्षेप पलायनवादिता का लगाया गया है, लेकिन यदि हम विचारपूर्वक देखें तो भारतीय दर्शन पलायनवादी सिद्ध नही होता। डा० श्वेट्जर का यह कहना नितान्त भ्रामक है कि भारतीय परम्परा में मानव प्रयासो का लक्ष्य पलायन है, समन्वय या समझौता नही। भारतीय परम्परा में समन्वय और सहयोग के तत्त्व प्रारम्भ से ही रहे है। क्या वेदों का 'संगच्छध्वं संवदध्वं' का गान, औपनिषदिक ऋषियों की 'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै' की मंगलकामना तथा बुद्ध और महावीर की परम्परा का संघीय जीवन सामाजिक क्षेत्र से पलायनवादिता है? भारतीय परम्परा का संन्यासधर्म भी जीवन-क्षेत्र से पलायन नही है, वरन् स्वार्थो से ऊपर उठने का प्रयास है। अतः भारतीय चिन्तन पर पलायनवादिता का यह आक्षेप उचित नही है। संन्यास जीवन और जगत् से पलायन नही, वरन् एक उच्च व्यक्तित्व और उच्च जगत् का निर्माण है। वह वासनाओ और क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर निष्काम एवं विशुद्ध प्रेममय जीवन जीने की एक कला है। वासनाओं एवं क्षुद्रताओं से ऊपर उठने के प्रयास को पलायन नही कहा जा सकता। भारतीय परम्परा यह स्वीकार करती है कि हमें जीवन की वर्तमान अपूर्णताओं और क्षुद्रताओं से ऊपर उठना है, लेकिन इसका अर्थ जीवन से इनकार नही है, वरन् जीवन और शरीर तो उसके साधन माने गये है। डा० राधाकृष्णन् लिखते है कि हिन्दू दृष्टिकोण की विशेष बात यह है कि वह मन, जीवन और शरीर के विकास को जीवन का प्राथमिक उद्देश्य मानता है। शारीरिक स्वास्थ्य और स्फूर्ति सजीव शक्ति और मानसिक सन्तुष्टि के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु उससे भी अधिक उसकी आवश्यकता इसलिए है कि शरीर उन मानुषिक कार्यो को करने की सामर्थ्य रखता है जिनका उद्देश्य मनुष्य में ईश्वर की शोध और

अभिव्यक्ति करना होता है। हम ससीम के बन्धन में पड़े हुए है तथापि हम असीम की आकांक्षा करते है। जन्म और पुनर्जन्म की लम्बी शृंखला इस अर्थ में तो भारी बन्धन है, परन्तु दूसरे अर्थ में वह आत्मज्ञान का साधन भी है। भौतिक प्राणी होते हुए भी आध्यात्मिक प्राणी के रूप में अपने को विकसित कर लेना मानवीय विकास की उच्चतम उपलब्धि है। नश्वर शरीर से सम्बद्ध होते हुए भी आत्मा की अमरता में निवास करना इसी को कहते है।[1] वस्तुतः एक उच्च आत्मा के निर्माण के लिए, जीवन की अपूर्णताओं और क्षुद्रताओ से ऊपर उठने के लिए, यदि निम्न आत्मा या वासनामय जीवन का त्याग आवश्यक हो तो वह न तो जीवन से पलायन है और न इनकार ही। न केवल वैदिक परम्परा में, वरन् जैन और बौद्ध परम्पराओं में भी यह दृष्टिकोण स्वीकृत है।

डा० श्वेट्जर का सातवाँ आक्षेप यह है कि भारतीय परम्परा में आदर्श व्यक्ति को अच्छाई और बुराई के नैतिक अन्तर से परे माना गया है। यद्यपि यह सत्य है कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओ मे परमसाध्य शुभ और अशुभ या अच्छाई और बुराई के स्तरों से ऊपर उठना माना गया है, लेकिन नैतिक पूर्णता के लिए यह दृष्टिकोण आवश्यक है। वस्तुतः शुभ और अशुभ सापेक्षिक सत्ताएँ हैं। अशुभ के अस्तित्व में ही शुभ का अर्थ रहा हुआ है। शुभ की सत्ता तभी तक है जबतक कि अशुभ है। लेकिन जबतक अशुभ की उपस्थिति है नैतिक पूर्णता सम्भव नही। अतः नैतिक पूर्णता के लिए शुभ और अशुभ दोनों से ही ऊपर उठना आवश्यक है। नैतिक जीवन शुभ और अशुभ के संघर्ष की अवस्था है। लेकिन इस संघर्ष से ऊपर उठने के लिए शुभ और अशुभ की सीमाओं का अतिक्रमण भी आवश्यक है। पाश्चात्य विचारक ब्रैडले ने इसे विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है कि अपने आदर्श को पाने के लिए मनुष्य को नैतिकता से परे धर्म की ओर जाना होता है जहाँ उसका आदर्श यथार्थ के रूप में परिणत हो जाता है। उनकी दृष्टि में नैतिक होने के लिए अतिनैतिक होना भी आवश्यक है। वे लिखते है कि नैतिकता का विचार हमें उससे परे ले जाता है।[2] जैन परम्परा के अनुसार अच्छाई या बुराई अथवा पुण्य या पाप दोनों ही बन्धन है और मोक्ष के साध्य की उपलब्धि के लिए इनसे ऊपर उठना आवश्यक है। बौद्ध परम्परा में भी आदर्श व्यक्तित्व को पुण्य और पाप से ऊपर माना गया है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार अगले अध्यायों में किया गया है, अतः यहाँ विस्तार में जाना आवश्यक नही। वस्तुतः पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ या अच्छाई और बुराई हमारे अहंकार, कर्तृत्वभाव या आसक्ति (राग) का परिणाम होते हैं। जहाँ राग होता है वहाँ द्वेष की उपस्थिति भी रहती है, और यही कारण है कि पुण्य के साथ-साथ पाप का या शुभ के साथ-साथ अशुभ का अस्तित्व भी बना रहता है। द्वेष या अशुभ के पूर्ण प्रहाण पर राग का अस्तित्व भी नहीं रहता और

१. प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ११५–११७.

२. एथिकल स्टडीज, पृ० २५०, ३१४.

ऐसी स्थिति मे अपरिहार्य रूप से व्यक्ति अच्छाई और बुराई के नैतिक अन्तर से ऊ उठ जाता है। यद्यपि इस सबका अर्थ यह नही है कि भारतीय परम्परा मे शुभ अच्छाई अस्वीकृत रही है, वरन् केवल यही बताया गया है कि पूर्णता की उपल् के लिए, सघर्षमय जीवन से ऊपर उठने के लिए, इनसे ऊपर उठना आवश्यक है नैतिक पूर्णता को प्राप्त करने के लिए नैतिकता के क्षेत्र का अतिक्रमण आवश्यक है भारतीय आचारदर्शन इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए यह मानते हे । नैतिक जीवन का लक्ष्य नैतिकता के क्षेत्र मे परे है। अतिनैतिक होकर ही नैति पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है।

इसी प्रकार श्वेट्जर आदि पाश्चात्य विचारको के द्वारा भारतीय नैतिक चिन्त पर सहृदयता एव महानुभूति के अभाव के जो आक्षेप लगाये गये, वे या तो भारती नैतिकता के स्वरूप को बिना सम्यक् प्रकार समझे लगाये गये है या उनमे केव आलोचनात्मक दृष्टि ही प्रमुख रही है। जिस सस्कृति ने 'मेर' आर 'पराये' विचार को ही हृदय की सकुचितता का द्योतक माना हो, जिसने 'वसुधैव कुटुम्बकम की उदार अवधारणा प्रस्तुत की हो, जिसने प्रतिपल—

सर्वेऽत्र सुखिन सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दु खमाप्नुयात् ॥

का गान गाया हो, जिसमे बोधिसत्व, तीर्थंकर और प्रभु के अवतरण का आदश लोकमगल की उदात्त भावना से परिपूर्ण हो, उसके हृदय को कैसे रिक्त कहा ज सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन मे हमने इस बात को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि भारतीय नैतिक चिन्तन और विशेष रूप से जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन किसी एकागी दृष्टिकोण को स्वीकार करके नही चलते है। भारतीय चिन्तन और विशेषकर जैन विचारणा एक सर्वांगीण एव समन्वयवादी दृष्टिकोण को लेकर आगे आती है। अत जहाँ उनमे विभिन्न पाश्चात्य विचारधाराओ के तत्त्वो की उपस्थिति पायी जाती है, वही वे अपनी व्यापक दृष्टि के आधार पर उनमे समन्वय का सूत्र भी प्रस्तुत कर देते है। भारतीय आचारदर्शनो का दृष्टिकोण व्यापक एव समन्वयवादी है। यही कारण है कि उन्हे पाश्चात्य नैतिक चिन्तन के विभिन्न चौखटो मे कही भी फिट नही किया जा सकता, वरन् इसके विपरीत उनकी व्यापक दृष्टि के आधार पर विभिन्न पाश्चात्य विचारधाराओ का एक समग्र एव समन्वित रूप मे देखा जा सकता है। □

२

भारतीय आचारदर्शन में ज्ञान की विधाएँ

२ भारतीय आचारदर्शन में ज्ञान की त्रिधाएँ

§ १. ज्ञान की दो विधाएँ

ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन है—१ अनुभूति और २ बुद्धि। ज्ञान का क्षेत्र हो या आचारदर्शन का, हमारा अनुभव और हमारा वाद्धिक चिन्तन सत् के कम से कम दो पक्ष तो उपस्थित कर ही देता है। एक, वह जो दिखाई पडता है और दूसरा, वह जो इस दिखाई पडनेवाले के मूल मे है—एक, वह जो प्रतीति (इन्द्रियानुभूति) है और दूसरा, वह जो इस प्रतीति का आधार है। बुद्धि कभी भी इस बात से सन्तुष्ट नही होती कि जो कुछ प्रतीति है वह उस रूप मे सत्य है, वरन् वह स्वय उस प्रतीति के पीछे झाँकना चाहती है, वह सत् के इन्द्रियगम्य स्थूल स्वरूप से सन्तुष्ट न होकर उसके सूक्ष्म और मूल स्वरूप तक जाना चाहती है। दृश्य से सन्तुष्ट न होकर उसकी तहतक प्रवेश करना मानवीय बुद्धि की नैसर्गिक प्रकृति है और जब अपने इस प्रयास मे वस्तुतत्त्व के प्रतीत होनेवाले स्वरूप और उस प्रतीत के मूल मे निहित बुद्धि-निर्दिष्ट स्वरूप मे अन्तर पाती है, तो वह स्वत प्रसूत इस द्विधा मे पड जाती है कि इनमे से यथार्थ कौन है—प्रतीति का विषय, या तत्त्व का बुद्धि-निर्दिष्ट स्वरूप ?

चार्वाक दार्शनिको, भौतिकवादियो, वैज्ञानिको एव अनुभववादियो ने वस्तुतत्त्व या सत् के इन्द्रियप्रदत्त ज्ञान को ही यथार्थ समझा और बुद्धिप्रदत्त उस ज्ञान को, जो इन्द्रियानुभूति का विषय नही हो सकता था, अयथार्थ कहा। दूसरी ओर कुछ बुद्धिवादी तथा अध्यात्मवादी दार्शनिको ने उस इन्द्रियगम्य ज्ञान को अयथार्थ कहा जो बौद्धिक कसौटी पर खरा नही उतरता था। लेकिन ये एकागी दृष्टिकोण समस्या का सही समाधान प्रस्तुत नही करते थे। यही कारण था कि प्रबुद्ध दार्शनिको को अपनी व्याख्याओ के लिए सत् के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोणो का अवलम्बन लेना पडा। जिन दार्शनिको ने सत् की व्याख्या के सन्दर्भ मे दृष्टिकोणो का अवलम्बन लेने से इनकार किया, वे एकागी रह गये और उन्हे इन्द्रियजन्य सम्वेदनात्मक ज्ञान और तार्किक चिन्तनात्मक ज्ञान मे से किसी एक को अयथार्थ मानकर उसका परित्याग करना पड़ा। सम्भवतः इस दार्शनिक समस्या के निराकरण एव सत् के सन्दर्भ मे सर्वाग दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास जैन और बौद्ध आगमो मे परिलक्षित होता है। जैन विचारधारा के अनुसार न तो इन्द्रियानुभूति ही असत्य है और न बुद्धिप्रदत्त ज्ञान ही। एक मे सत् का वह ज्ञान है जिस रूप मे हमारी इन्द्रियाँ उसे ग्रहण कर पाती है। दूसरे मे सत् का वह ज्ञान है जिस रूप मे वह है अथवा

बुद्धि उसके मौलिक स्वरूप के विषय में जो ज्ञान हमे प्रदान करती है। जैन आगमो के अनुसार पहली को व्यवहारनय कहते है और दूसरी को निश्चयनय। व्यवहारदृष्टि स्थूलतत्त्वग्राही है, जो यह बताती है कि तत्त्व या सत्ता को जनसाधारण किस रूप में समझता है।[१] निश्चयदृष्टि सूक्ष्मतत्त्वग्राही है जो सत्ता के बुद्धिप्रदत्त वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराती है।[२] जैसे पृथ्वी सपाट एव स्थिर है, यह व्यवहारदृष्टि है, क्योंकि हमारा लोक-व्यवहार ऐसा ही मानकर चलता है। और, पृथ्वी गोल एव गतिशील है, यह निश्चयदृष्टि है अर्थात् वह उसका वास्तविक स्वरूप है। दोनो मे से किसी को भी अयथार्थ तो कहा ही नही जा सकता, क्योकि एक इन्द्रियप्रतीति के रूप मे सत्य है और दूसरा बुद्धिनिष्पन्न सत्य है। सत् के विषय मे ये दो दृष्टियाँ है। दोनो ही अपने-अपने क्षेत्र मे सत्य है, यद्यपि दोनो में से कोई भी अकेले स्वतन्त्र रूप मे सत् का पूर्ण स्वरूप प्रकट नही करती है।

§ २. जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान की विधाएँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, जैन दार्शनिक सत् के सम्बन्ध मे दो दृष्टिकोण लेकर चलते है—**निश्चयनय** और **व्यवहारनय**। जैन दर्शन के अनुसार, "सत् अपने आपमे एक पूर्णता है, अनन्तता है। इन्द्रियानुभूति, बुद्धि, भाषा और वाणी अपनी सीमा मे अनन्त के एकांश का ही ग्रहण कर पाती है। वही एकांश का बोध नय (दृष्टिकोण) कहलाता है।"[३] सत् के अनन्त पक्षो को जिन-जिन दृष्टिकोणो से देखा जाता है, वे सभी नय कहे जाते है। दृष्टिकोणो के सम्बन्ध मे जैन दार्शनिको का कहना है कि सत् की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के जितने प्रारूप (कथन के ढग) हो सकते है उतने ही नय के भेद है।[४] जैन दार्शनिको के अनुसार, "जितने नय के भेद हो सकते है उतने ही वाद या मतान्तर अथवा दृष्टिकोण होते है।"[५] वैसे तो जैन दर्शन मे नयो की सख्या अनन्त मानी गयी है, लेकिन फिर भी मोटे तौर पर नयो के सात और दो भेद किये गये है। हमने सप्तविध वर्गीकरण को अपने विवेचन का विषय न बनाकर द्विविध वर्गीकरण को ही विवेचन का आधार बनाया है। उसका एकमात्र कारण यही है कि सप्तविध वर्गीकरण का सम्बन्ध आचारदर्शन की अपेक्षा ज्ञान-मीमासा में अधिक है। दूसरे, द्विविध वर्गीकरण ऐसा वर्गीकरण है जिसमे अन्य सभी वर्गीकरण अन्तर्भूत हैं। **निश्चयनय और व्यवहारनय में सभी नयों का अन्तर्भाव हो जाता है।**[६]

भगवतीसूत्र मे व्यवहारदृष्टि और निश्चयदृष्टि का प्रतिपादन बड़े ही रोचक ढग से हुआ है। गौतम महावीर से पूछते है, "भन्ते! प्रवाही गुड मे कितने रस, वर्ण, गन्ध,

१. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० १८९२.
२. वही.
३. वही, पृ० १८५३.
४. सन्मतितर्क, ३।४७; विशेषावश्यकभाष्य, २२६५.
५. सन्मतितर्क, ३।४७.
६. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० १८५३.

और स्पर्श होते है ?" महावीर कहते है, "हे गौतम ! मै इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से देता हूँ। व्यवहारनय (लोकदृष्टि) की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है, लेकिन निश्चयनय (तत्त्वदृष्टि) की अपेक्षा से उसमे पाँच वर्ण, पाच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श होते ह।"[1] इस प्रकार अनेक विषयो को लेकर उनका निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से विश्लेषण किया गया है। वस्तुत निश्चय एव व्यवहार दृष्टियो का विश्लेषण यही बताता है कि सत् न उतना ही हे जितना वह हमें इन्द्रियों के माध्यम से प्रतीत होता है और न उतना ही है जितना कि बुद्धि उसके स्वरूप का निश्चय कर पाती है। सत् के समग्र स्वरूप को समझने के लिए ऐन्द्रिक ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान, दोनो ही आवश्यक हे।

एक अन्य अपेक्षा से, जैन दर्शन मे ज्ञान की तीन विधाएँ मानी गयी है। जैन दर्शन मे ज्ञान पाँच प्रकार का है--(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान।[2] इनमे 'मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है, और शेष तीन अपरोक्षज्ञान है।[3] अपरोक्षज्ञान मे आत्मा को सत् का बिना किसी साधन के सीधा बोध होता है। इसे अपरोक्षानुभूति भी कहा जा सकता है। शेष दो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्रमश अनुभूत्यात्मक ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान से सम्बन्धित है। "मतिज्ञान मे ज्ञान के साधन मन और इन्द्रियाँ है।"[4] इस आधार पर मतिज्ञान को अनुभूत्यात्मक ज्ञान और श्रुतज्ञान को तार्किक या बौद्धिक ज्ञान कहा जा सकता है। तत्त्वार्थसूत्र मे 'वितर्क (बुद्धि) को श्रुत कहा है।'[5] वैसे 'श्रुतज्ञान का एक अर्थ आगमिक ज्ञान भी माना गया है।'[6] लेकिन आगम भी बौद्धिक ज्ञान ही है, अतः श्रुतज्ञान बौद्धिक ज्ञान ही है। इस प्रकार जैन विचारणा मे ज्ञानप्राप्ति के साधनो के रूप मे तीन विधाएं उपस्थित हो जाती है-(१) अनुभूति या ऐन्द्रिक ज्ञान, (२) बौद्धिक या आगमिक ज्ञान और (३) अपरोक्षानुभूति या आत्मिक ज्ञान। अपरोक्षानुभूति या आत्मिक ज्ञान को अन्तर्दृष्टि या प्रज्ञा भी कहा जा सकता ह।

§ ३. बौद्ध दर्शन में ज्ञान की विधाएँ

बौद्ध दर्शन मे सत् के स्वरूप की व्याख्या के लिए प्रमुख रूप दो दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये है। जैनेतर दर्शनो मे, सर्वप्रथम पालित्रिपिटक मे हम दो दृष्टियो का वर्णन पाते है जिन्हे नीतार्थ और नेय्यार्थ कहा गया है। अगुत्तरनिकाय मे बुद्ध कहते है, "भिक्षुओ ! ये दो तथागत पर मिथ्यारोप करते है। जो नेय्यार्थसूत्र (व्यवहार-भाषा) को नीतार्थसूत्र (परमार्थ-भाषा) प्रकट करता है और नीतार्थसूत्र (परमार्थ-भाषा) को नेय्यार्थसूत्र (व्यवहार-भाषा) करके प्रकट करता है।"[7]

१. भगवतीसूत्र, १८।६।४४-४६.
२. तत्त्वार्थसूत्र, १।९.
३. वही, १।११-१२.
४. वही, ।१४.
५. वही, ९।४५.
६. वही, १।२०.
७. अंगुत्तरनिकाय, पृ० २.

बौद्ध दर्शन की दो प्रमुख शाखाओं—विज्ञानवाद और शून्यवाद में भी शून्य, तथता या सत् के स्वरूप को समझाने के लिए दृष्टिकोणों की शैली का उपयोग हुआ है। माध्यमिककारिका में कहा गया है कि बुद्ध ने दो सत्यों का उपदेश दिया है—(१) लोकसंवृति सत्य और (२) परमार्थ सत्य।[१] चन्द्रकीर्ति ने लोकसंवृति सत्य के भी मिथ्यासंवृति और तथ्यसंवृति ये दो भेद किये हैं। इस प्रकार शून्यवाद में मिथ्या-संवृति, तथ्यसवृति और परमार्थ–तीन दृष्टिकोण माने गये हैं। विज्ञानवाद में भी तीन दृष्टिकोणो का प्रतिपादन है, जिन्हें क्रमशः (१) परिकल्पित, (२) परतन्त्र और (३) परिनिष्पन्न–कहा गया है। विज्ञानवाद का परतन्त्र जैन दर्शन के परोक्षज्ञान के निकट है। यहाँ उसे परतन्त्र इसलिए कहा गया है कि वह ज्ञान, मन और इन्द्रियों के अधीन होता है।

§ ४. वैदिक परम्परा में ज्ञान की विधाएँ

आचार्य शंकर ने अपने पूर्ववर्ती जैन और बौद्ध परम्पराओं की शैली का अनुसरण करते हुए तीन दृष्टिकोणों का प्रतिपादन किया है, जिन्हें वे क्रमशः (१) प्रतिभासिक सत्य, (२) व्यावहारिक सत्य, और (३) पारमार्थिक सत्य कहते हैं।[२]

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर तो जैन परम्परा के निश्चयनय और व्यवहार-नय, पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनय अथवा भूतार्थनय और अभूतार्थनय बौद्ध परम्परा के नीतार्थनय और नेय्यार्थनय के समान हैं। नीतार्थनय निश्चयनय, द्रव्यार्थिकनय या अभूतार्थनय के समान है, और नेय्यार्थनय व्यवहारनय, पर्यायार्थिकनय या भूतार्थ-नय के समान है। जैन परम्परा के निश्चयनय को विज्ञानवादियों ने परिनिष्पन्न और शून्यवादियों ने परमार्थ कहा है, और व्यवहारनय को विज्ञानवादियों ने परतन्त्र और शून्यवादियों ने लोकसंवृति कहा है। जैन परम्परा का निश्चयनय शंकर का पारमार्थिक सत्य है और व्यवहारनय व्यावहारिक सत्य है।

§ ५. पाश्चात्य परम्परा में ज्ञान की विधाएँ

न केवल भारतीय दर्शनों में, वरन् पाश्चात्य दर्शनों में भी प्रमुख रूप से व्यवहार और परमार्थ के दृष्टिकोण स्वीकृत किये जाते रहे हैं। डा० चन्द्रधर शर्मा लिखते हैं कि (व्यवहार और परमार्थ दृष्टिकोणों का) यह अन्तर सदैव ही रखा जाता रहा है।[३] विश्व के सभी महान दार्शनिकों ने इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। हेराक्लिटस के Kato और Ane, पारमेनीडीज के मत (Opinion) और सत्य (Truth), सुकरात के रूप और आकार (World and Form), प्लेटो के संवेदना (Sense) और प्रत्यय (Idea), अरस्तू के पदार्थ (Matter) और चालक (Mover), स्पिनोजा के द्रव्य (Substance) और पर्याय,

१. माध्यमिककारिका, २४।८.
२. देखिए–शंकर्स ब्रह्मवाद, पृ० १६६–१७१.
३. ए क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलासफी, पृ० ५९.

(Modes), कांट के प्रपंच (Phenomenal) और तत्त्व (Noumerial), हेगल के विपर्यय (Illusion) और निरपेक्ष (Absolute) तथा ब्रैडले के आभास (Appearance) और सत् (Reality) किसी न किसी रूप में उसी व्यवहार और परमार्थ की धारणा को स्पष्ट करते है। भले ही इनमें नामों की भिन्नता हो, लेकिन उनके विचार इन्ही दो दृष्टिकोणो की ओर संकेत करते हैं।

§ ६. जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में दृष्टिकोणों का विचार-भेद

यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए हमने बौद्ध, वैदिक एवं पाश्चात्य परम्परा के साथ जैन परम्परा के साम्य को देखा, तथापि यह स्मरण रखना चाहिए कि उनमें कुछ विचार-भेद भी है। प्रथम तो शंकर के प्रतिभासिक, चन्द्रकीर्ति की मिथ्यासवृति और विज्ञानवाद के परिकल्पित दृष्टिकोणों के समान किसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन जैन परम्परा में उपलब्ध नही है। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रस्तुत अशुद्धनिश्चयनय का विचार, जिसे व्यवहार और परमार्थ की मध्य-स्थिति का द्योतक माना जा सकता है, बौद्ध और वैदिक परम्परा में अनुपलब्ध है। इस सन्दर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर जैन और जैनेतर परम्पराओं में यह है कि बौद्ध शून्यवाद और विज्ञानवाद तथा शाकरवेदान्त में व्यवहारदृष्टि या लोकसंवृति को परमार्थ की अपेक्षा निम्नस्तरीय माना गया है और उससे उपलब्ध होनेवाले ज्ञान को भी वास्तविक रूप में सत्य नही माना गया है, जबकि जैन दर्शन के अनुसार व्यवहार और निश्चय अथवा पर्यायदृष्टि और द्रव्यदृष्टि स्वस्थानों की अपेक्षा से समस्तरीय मानी गयी है। वस्तुतः उनमे कोई तुलना करना ही अनुचित है, क्योंकि दोनों एक-दूसरे से भिन्न है। साथ ही जैन विचारणा के अनुसार व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों ही सापेक्ष है, निरपेक्ष नही। जबकि शून्यवाद और शांकरवेदान्त के अनुसार लोकसवृतिसत्य या व्यवहारदृष्टि ही सापेक्ष है, परमार्थदृष्टि को उनमें निरपेक्ष माना गया है। जैन विचारणा के अनुसार सभी ज्ञान सापेक्ष हैं, तत्त्व की स्वसत्ता चाहे निरपेक्ष हो, लेकिन उसका ज्ञान, चाहे वह व्यावहारिक ज्ञान हो या नैश्चयिक, सापेक्ष ही होता है। नयचक्र में कहा गया है कि वस्तुगत धर्म भले ही नय-विषयक हो या प्रमाण-विषयक, वे परस्पर सापेक्ष ही होते है। सापे-क्षता ही तत्त्व है और निरपेक्षता अतत्त्व।[१] यद्यपि हम नयचक्र के प्रणेता के इस विचार से सहमत नही हैं कि तत्त्व की सत्ता सापेक्ष है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो जैन दर्शन शून्यवाद ही बन जायेगा। हमारा अभिप्राय तो इतना ही है कि तत्त्व की सत्ता चाहे अपने आप में निरपेक्ष हो, लेकिन उसके सन्दर्भ में होनेवाला ज्ञान सदैव सापेक्ष होता है। क्योंकि ज्ञान के साधन इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि निरपेक्ष नहीं हैं। इतना ही नहीं, अपरोक्षानुभूति में भी जो वस्तुविषयक ज्ञान होता है, वह भी दृष्टि-कोण से निरपेक्ष नहीं हो सकता। ज्ञान और दृष्टिकोण ये दोनों साथ-साथ चलते हैं,

१. नयचक्र, उद्धृत—नयवाद, पृ० ३६.

और इसलिए सारा ही ज्ञान सापेक्ष होता है। जैन दर्शन में एक भी सूत्र और अर्थ ऐसा नही है जो नयशून्य (दृष्टिकोणरहित) हो।[१]

जैन दार्शनिकों ने ज्ञान की सापेक्षता को स्वीकार किया है और इसलिए उनका कहना है कि ज्ञान का प्रत्येक रूप, चाहे वह व्यावहारिक या लौकिक, अथवा नैश्चयिक या तात्त्विक, अपने-अपने दृष्टिकोणों के आधार पर सत्य ही होता है। उसमे किसी को भी असत्य नही कहा जा सकता।

§ ७. जैन दर्शन में ज्ञान की सत्यता का आधार

जैसा कि हमने देखा, जैन आचारदर्शन ज्ञान की सापेक्षिकता को स्वीकार करता है। सापेक्षिक ज्ञान की सत्यता स्व-अपेक्षा से ही होती है, पर-अपेक्षा से नही। प्रत्येक दृष्टिकोण के आधार पर अवतरित सत्य उसी दृष्टिकोण की अपेक्षा से ही सत्य होता है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि जो दृष्टिकोण या नय परस्पर एक-दूसरे का विरोध करते है, वे स्वपर-प्रणाशी दुर्नय कहे जाते है। इसके विपरीत जो नय एक-दूसरे के पूरक और सहयोगी है, वे स्व-परोपकारी सुनय कहे जाते है। अपेक्षा के अभाव में प्रत्येक दृष्टिकोण असत्य बन जाता है क्योंकि वह दूसरे का बाध करता है, जबकि सापेक्ष होकर प्रत्येक नय सत्य बन जाता है। ज्ञान की सत्यता और असत्यता अपेक्षा पर निर्भर मानी गयी है। वह जिस अपेक्षा के आधार पर निर्मित है उसी अपेक्षा की दृष्टि से सत्य होता है और अन्य अपेक्षाओ या दृष्टियों से वही असत्य हो जाता है। प्रत्येक दृष्टिकोण स्व-अपेक्षा से सत्य होता है और पर-अपेक्षा से असत्य।

§ ८. आचारदर्शन की अध्ययनविधियाँ

आचारदर्शन में निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि के रूप में दो अध्ययनविधियाँ स्वीकृत हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने एक और दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है जिसे उन्होंने अशुद्ध निश्चयनय कहा है। वस्तुत शुद्ध निश्चयनय द्रव्यार्थिक दृष्टि है। अत: वह चाहे नैतिक साध्य के स्वरूप का संकेत करती हो, लेकिन उसे आचारदर्शन की विधि नही कहा जा सकता, क्योंकि उसमें परिवर्तन एवं भेद को कोई स्थान नही, जबकि नैतिकता के लिए दोनों आवश्यक है। इस प्रकार आचारदर्शन के अध्ययन की दो ही दृष्टियाँ शेष रहती है जिन्हें हम आचारलक्षी निश्चयनय (अशुद्ध निश्चयनय) और व्यवहारनय कह सकते हैं। यद्यपि तात्त्विक निश्चयदृष्टि का भी अपना स्थान है, उसे नैतिक साध्य का स्वरूप बतानेवाली दृष्टि कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि तात्त्विक निश्चयदृष्टि नैतिक साध्य को तथा आचारलक्षी निश्चयदृष्टि (अशुद्ध निश्चयनय) नैतिकता के आन्तरिक पक्ष को और व्यवहारदृष्टि नैतिकता के बाह्य स्वरूप को प्रकट करती है। इस प्रकार आचारदर्शन के अध्ययन की तीन विधियाँ हो जाती हैं–(१) तात्त्विक निश्चयदृष्टि, (२) आचारलक्षी निश्चयदृष्टि और (३) व्यवहारदृष्टि।

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, उद्धृत–नयवाद भूमिका, पृ० २.

§ ९. आचारदर्शन के अध्ययन के विविध दृष्टिकोण

आचरण के क्षेत्र मे कर्तव्य एव अकर्तव्य की विवेचना सहज नही है। गीता का कथन है कि 'कर्म, अकर्म और विकर्म का विषय अत्यन्त गहन है। बडे-बडे विद्वान् भी यहाँ विमोहित हो जाते है।'[१] सबसे पहले विवाद इस प्रश्न को लेकर है कि कर्मो की शुभाशुभता का निश्चय कर्ता के आन्तरिक अभिप्राय के आधार पर किया जाय या कर्ता के द्वारा आचरित कृत्य के आधार पर किया जाय? यदि कर्ता के आन्तरिक अभिप्राय को ही कृत्यो की शुभाशुभता का मापक मान लिया जाय, तो भी यह प्रश्न उठता है कि कर्ता के अभिप्राय को शुभता या अशुभता का मापक तत्त्व क्या है? क्या कर्ता का अभिप्राय निरपेक्ष शुभ है या किसी अन्य की अपेक्षा से शुभ है? यदि कर्ता के अभिप्राय को शुभत्व प्रदान करनेवाला अन्य कोई तत्त्व है, तो वह क्या है? इस प्रकार आचारदर्शन के क्षेत्र मे की जानेवाली आचरण की गहन विवेचना सरल एव निरपेक्ष नही रह जाती। जान ड्यूई भी लिखते है, "आचरण एक जटिल चीज है। इतनी जटिल कि बौद्धिक दृष्टि से उसे किसी एक सिद्धान्त मे बाँधने के हर प्रयत्न व्यर्थ हुए है।"[२]

आचरण मे मन, बुद्धि, विचार, अनुभूति, इच्छा, वासना, क्रिया आदि अनेक तथ्यो का सम्मिश्रण है। यह स्वय मे ही एक जटिलता है। जैन आचार्यो के अनुसार लोक-व्यवहार निरपेक्ष नही है। वे कहते है कि बिना सापेक्षिकता के लोक-व्यवहार सम्भव नही होता है।[3] अत आचारदर्शन, जो कि आचरण के मूल्याकन का प्रयास करता है, निरपेक्षरूप से लोक-व्यवहार के बारे मे कोई विचार नही कर सकता। जैनाचार्यो का सदैव यही उद्घोष रहा है कि जटिलता का विवेचन बिना अपेक्षा के करना सम्भव नही है,[४] इस प्रकार आचरण की विवेचना बिना विविध दृष्टिकोणो के करना सम्भव नही है। आचारदर्शन का सम्बन्ध आचरण के विभिन्न पक्षो से है। इसलिए यह आवश्यक है कि उन विविध पक्षो को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए विविध दृष्टिकोणो के आधार पर उनका विचार किया जाय।

आचारदर्शन के साध्य की दृष्टि से विचार किया जाय तो हम पाते है कि जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनो का साध्य निर्वाण है। इसे परमार्थ, परममूल्य और तात्त्विक सत्ता एव पूर्णता भी कहा जा सकता है। उसके स्वरूप का निर्वचन भी एक जटिल समस्या है। भाषा, वाणी और तर्क उसे ग्रहण करने मे अपूर्ण है।[५] भाषा अस्ति और नास्ति की कोटियो से सीमित है, वाणी की अर्थ-व्यजना भाषा पर

१. गीता, ४।१६–१७.
२. नैतिक जीवन का सिद्धान्त, पृ० १८४.
३. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० १८५३.
४. वही.
५. देखिए—आचारांग १।५।६।१७१; तैतिरीयोपनिषद्, २।९; मुण्डकोपनिषद, ३।१।८; उदान, ८।१, ३.

आधारित है और बुद्धि विचार की विधाओं से ऊपर उठने में असमर्थ है। अतः नैतिक साध्य के ज्ञान के साधन भी सापेक्ष हैं और इसलिए बिना अपेक्षाओं के उसका ज्ञान एवं निर्वचन सम्भव नही होता है। उसके सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाता है, वह मात्र सापेक्ष कथन ही होता है। वह तो परमार्थ, सत् या पूर्णता है। कोई भी दृष्टिकोण सीमित और अपूर्ण होता है, उसका निर्वचन कैसे हो सकता है? भाषा, विचार एवं दृष्टि सभी सीमित हैं, अपूर्ण है; और अपूर्ण में पूर्ण का निर्वचन करने एव पूर्ण को जानने की क्षमता ही कहाँ? लेकिन, यदि हम यही मानकर चलें कि अपूर्ण भाषा, विचार और दृष्टि परमसाध्य को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं तो फिर नैतिक आदर्श का बोध सम्भव नही होगा और उसके अभाव में नैतिक जीवन की व्याख्या सम्भव नही होगी। वास्तविकता यह है कि अपूर्ण बुद्धि या विचार, भाषा और दृष्टि, सत् या नैतिक आदर्श के रूप में स्वीकृत निर्वाण की अवस्था के समग्र स्वरूप या अनन्त अपेक्षाओं का एकसाथ बोध कराने में असमर्थ है। लेकिन, वे उसके एकाश का ग्रहण और बोध करा सकते है। जैन दर्शन तत्त्व की अज्ञेयता मे विश्वास नही करता, लेकिन साथ ही वह तत्त्व के निरपेक्ष ज्ञान को भी सम्भव नही मानता। जैन दर्शन की दृष्टि मे सत् अनन्त विधाओं से युक्त है और इसलिए उसके अनन्त पक्षों की सापेक्ष रूप में ही सम्यक् व्याख्या की जा सकती है।

आचारदर्शन आदर्श के रूप में जिस तात्त्विक स्वरूप की उपलब्धि चाहता है, वह दृष्टिकोणों या नयो के द्वारा प्राप्त नही होती। लेकिन उन विभिन्न दृष्टिकोणों या नयो मे प्रत्युत्पन्न विकल्पो के समस्त जाल के विलय होने पर शुद्ध निर्विकल्प समाधि की अवस्था मे प्राप्त होती है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि आत्मा के विषय में सारे ही नय (दृष्टिकोण) पक्षपात से युक्त होते है।[1] अतः विभिन्न नयों के द्वारा आत्मा का ग्रहण सम्भव नही है। आचार्य अमृतचन्द्र लिखते है, "जो नयों अथवा पक्षपातों (दृष्टिकोणों के व्यामोह) से ऊपर उठ जाता है; जिसका चित्त विकल्पजाल (ऐसा है, ऐसा नही है) से रहित, शान्त हो चुका है; जो मात्र अपने स्वस्वरूप में ही निवास करता है, वही इस अमृततत्त्व का पान करता है।"[2] बौद्ध एवं वैदिक आचार-दर्शनो में भी परमतत्त्व या निर्वाण की प्राप्ति निर्विकल्प समाधि-दशा में ही मानी गयी है। यदि नैतिक और आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य विकल्पों या विचारों की विधाओं से ऊपर उठना है, तो फिर आचारदर्शन के क्षेत्र में नयों या दृष्टिकोणों के निरूपण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का समुचित उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द, बौद्ध शून्यवादी दार्शनिक नागार्जुन और वेदान्त के परमविद्वान् आचार्य शंकर बहुत पहले ही दे चुके है। यद्यपि नैतिक साधना की पूर्णता विकल्पों, नयपक्षों एवं दृष्टिकोणों से ऊपर उठने में ही है, तथापि इन नयपक्षों से ऊपर उठना भी उनके ही सहारे सम्भव है। व्यवहार के द्वारा परमार्थ का ज्ञान होता है और उस परमार्थ के द्वारा निर्विकल्प

१. समयसार, १४२.

२. समयसारटीका, ६९.

सत्ता या आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, "किसी अनार्य व्यक्ति को अनार्य भाषा के अभाव में अपनी बात समझाने में कोई भी आर्यजन सफल नहीं होता। उसे अपनी बात समझाने के लिए उसी की भाषा का अवलम्बन लेना होता है। इसी प्रकार व्यवहारदृष्टि के अभाव में व्यवहारजगत् में प्राणियों को परमार्थ का बोध नहीं कराया जा सकता।"[१] ऐसे ही शब्दों मे आचार्य नागार्जुन कहते हैं, "जिस प्रकार म्लेच्छ किसी अन्य की भाषा ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार यह जगत् भी लौकिक दृष्टि से अन्य दृष्टि को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता। उसे व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और परमार्थ के ज्ञान के बिना निर्वाण प्राप्त नहीं किया जा सकता।"[२] इस प्रकार कुन्दकुन्द और नागार्जुन दोनों ही निर्वाणप्राप्ति के लिए व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों ही दृष्टिकोणों की उपादेयता स्वीकार करते है।

हिन्दू परम्परा में भी एक अन्य रूपक के द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द और नागार्जुन के दृष्टिकोण का ही समर्थन किया गया है। गीताभाष्य में डा० राधाकृष्णन ने इसी दृष्टि-कोण को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं कि जिस प्रकार काँटे के द्वारा काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार व्यवहार से ऊपर उठने के लिए भी व्यवहारदृष्टि की आवश्य-कता होती है। जिस प्रकार काँटे के निकल जाने पर काँटा निकालनेवाले काँटे को फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार परमार्थ का बोध हो जाने पर व्यवहारदृष्टि का भी परित्याग कर दिया जाता है।[3]

पाश्चात्य विचारक ब्रैडले ने भी सत् (Reality) के ज्ञान के लिए आभास की उपादेयता को स्वीकार किया है।[४] विस्तार-भय से उनके विस्तृत विचारों को प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। "वास्तविकता यह है कि व्यवहारनय के निराकरण के लिए निश्चयनय का आलम्बन लिया जाता है, किन्तु निश्चयनय का आलम्बन भी कर्तव्य की इतिश्री नही है। उसके आश्रय से आत्मा के स्वरूप का बोध करके उसे छोड़ने पर तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है।"[५] स्वभाव का बोध निश्चयनय से होता है और विभाव का बोध व्यवहारनय से। व्यवहारनय से विभाव-अवस्था को जानकर निश्चय-नय से स्वभाव का बोध किया जाता है। स्वभाव का बोध हो जाने पर विभाव का परित्याग कर देना ही व्यवहार के द्वारा परमार्थ के बोध की उपादेयता है। जब निश्चयनय से स्वभाव का बोध हो जाता है तब साधना के द्वारा उस स्वभावदशा में अवस्थिति ही नैतिक जीवन का साध्य होता है। स्वभाव में अवस्थित होने पर स्वभाव का बौद्धिक ज्ञान भी अनावश्यक हो जाता है। स्वस्वरूप में स्थित हो जाने

---

१. समयसार, ८.
२. माध्यमिककारिका, २४।१०.
३. भगवद्गीता (रा०), पृ० ११४.
४. आभास और सत्; पृ० ४८०.
५. आगमयुग का जैन दर्शन, पृ० २६८–६९.

पर निश्चयनय भी छूट जाता है, जैसे गुड़ का स्वाद लेते हुए गुड़ के स्वाद के बौद्धिक ज्ञान की आवश्यकता नही रहती। जब स्वभाव में अवस्थिति होती है, तब समग्र विकल्पात्मक ज्ञान विलुप्त हो जाता है। जिस प्रकार सामान्य जीवन में किसी रसानुभूति की अवस्था मे विचार और विकल्प विलुप्त हो जाते है, उसी प्रकार निर्वाण या नैतिक साध्य की उपलब्धि में भी समग्र विकल्पात्मक ज्ञान का विलय हो जाता हैं। फिर भी विकल्पात्मक ज्ञान की आवश्यकता तबतक बनी रहती है जबतक कि उस साध्य की उपलब्धि नही हो जाती। नैतिक साध्य की उपलब्धि तक व्यक्ति के लिए दृष्टिकोणों की आवश्यकता बनी रहती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचारदर्शन में कर्मो के शुभत्व एवं अशुभत्व के विवेचन के लिए तथा नैतिक साध्य के बोध के लिए सभी दृष्टिकोण या अध्ययनविधियाँ आवश्यक हैं। फिर भी यह विचार अपेक्षित है कि नैतिक दर्शन में निश्चयनय और व्यवहारनय, या परमार्थदृष्टि और व्यवहारदृष्टि में कौन सी उसके अध्ययन की प्रमुख विधि है।

§ १०. क्या निश्चयनय या परमार्थदृष्टि नैतिक अध्ययन की विधि है?

जैन आचारदर्शन में शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध अनिश्चयनय और व्यवहारनय—ये तीन दृष्टिकोण मान्य हैं। इनमें से कौन सा दृष्टिकोण आचारदर्शन की अध्ययनविधि हो सकता है? वस्तुतः आचरण का सारा क्षेत्र ही व्यवहार का क्षेत्र है। निश्चय या पारमार्थिक दृष्टि से तो सारी नैतिकता ही व्यावहारिक संकल्पना है। विशुद्ध पारमार्थिक या निश्चयदृष्टि से बन्धन और मुक्ति भी व्यावहारिक सत्य ही ठहरते हैं, क्योंकि बन्धन और मुक्ति दोनों ही पर्यायदृष्टि के विषय हैं। तत्त्व (द्रव्य) दृष्टि से तो आत्मा शुद्ध ही है। अतः आत्मा को बन्धन में मानकर उसकी मुक्ति के निमित्त किया जानेवाला नैतिक आचरण भी व्यवहार के क्षेत्र में ही सम्भव है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्टरूप से कहा है कि जीव कर्म से बद्ध है, यह व्यवहारनय का वचन है और जीव कर्म से अबद्ध है, यह शुद्ध निश्चयनय का कथन है। आत्मा का बन्धन और मुक्ति व्यवहारसत्य है, परमार्थदृष्टि से तो न बन्धन है और न मुक्ति है। आचार्य कहते हैं, "आत्मा का बन्धन और अबन्धन दोनों ही दृष्टिसापेक्ष हैं, नयपक्ष है, परमतत्त्व समयसार (शुद्ध आत्मा) 'पक्षातिक्रांत' है।"[१] इस प्रकार जैन दृष्टिकोण से समस्त नैतिक आचरण व्यवहार के क्षेत्र में आता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र का समग्र साधना-मार्ग व्यवहारनय का विषय है।[२]

न केवल जैन परम्परा में, वरन् बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी आचारदर्शन को व्यवहारदृष्टि का विषय माना गया है। बौद्ध विचारणा में नागार्जुन का

१. समयसार, १४१–१४२.
२. वही, ७.

भी कथन है कि बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चारों आर्यसत्य लोकसंवृति या व्यवहार ही हैं।[१] वैदिक परम्परा में आचार्य गौडपाद ने भी परमतत्त्व को बन्धन और मुक्ति से निरपेक्ष माना है। उनके अनुसार तो जीव की सत्ता भी व्यावहारिक है। अतः उसका बन्धन और उसकी मुक्ति भी व्यावहारिक सत्य है।[२]

पाश्चात्य परम्परा में कांट ने भी नैतिकता को व्यावहारिक बुद्धि का विषय बताया है। कांट ने आचारदर्शन पर जो ग्रन्थ लिखा, उसका नाम ही 'व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' है। इस प्रकार न केवल जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में; अपितु पाश्चात्य आचारदर्शन के प्रबुद्ध विचारक कांट के अनुसार भी नैतिकता व्यवहारदृष्टि का विषय है।

यद्यपि यह सत्य है कि समग्र नैतिक आचरण व्यवहारनय के क्षेत्र में ही आता है, तथापि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में स्वीकृत नैतिक जीवन का साध्य निश्चयनय या परमार्थदृष्टि का ही विषय है। अतः केवल यह मानना कि नैतिकता के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि ही एकमात्र अध्ययनविधि हो सकती है, एकांगी धारणा ही होगी। नैतिक साध्य स्वलक्षण या स्वभावदशा का सूचक है और इस रूप में वह द्रव्यदृष्टि, निश्चयनय या परमार्थदृष्टि का ही विषय है। इस प्रकार आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टिकोण अपेक्षित हैं। उसमें निश्चयदृष्टि का विषय नैतिक साध्य या आदर्श है और व्यवहारदृष्टि का विषय नैतिक आचरण या कर्म है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चयनय का अर्थ तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त निश्चयनय से कुछ भिन्न है।

§ ११. तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयनय और व्यवहारनय का अर्थ

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि सत् के उस स्वरूप का प्रतिपादन करती है जो सत् की त्रिकालाबाधित स्वभावदशा, उसका मूलस्वरूप और स्वलक्षण है, जो पर्याय या परिवर्तनों में भी सत्ता के सार के रूप में बना रहता है। 'निश्चयदृष्टि अभेदगामी सत्ता के शुद्धस्वरूप या स्वभावदशा की सूचक एवं बाह्य-निरपेक्ष परिणाम की व्याख्या करती है।'[३]

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि सत्ता के उस पक्ष का प्रतिपादन करती है जिस रूप में वह प्रतीत होती है। व्यवहारदृष्टि भेदगामी है और सत् के आगन्तुक लक्षणों या विभावदशा की सूचक है। सत् के परिवर्तनशील पक्ष का प्रस्तुतीकरण व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय देश और काल सापेक्ष है। व्यवहारदृष्टि के अनुसार आत्मा जन्म भी लेता है और मरता भी है, वह बन्धन में भी आता है और मुक्त भी होता है।

१. माध्यमिक कारिका, ८।५–६; बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ० २८८.
२. देखिए–ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य अध्यास विवेचना–भामतीटीका सहित.
३. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० २०५६.

§ १२. तत्त्वज्ञान और आचारदर्शन के क्षेत्र में व्यवहारनय और निश्चयनय का अन्तर

जैन परम्परा में व्यवहार और निश्चय नामक दो नयों या दृष्टियों का प्रतिपादन किया गया है। वे तत्त्वज्ञान और आचारदर्शन दोनों क्षेत्रों पर लागू होती हैं, फिर भी आचारदर्शन और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। पं० सुखलालजी इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार रूप से दो दृष्टियाँ मानी गयी हैं, वे तत्त्वज्ञान और आचार दोनों क्षेत्रों में लागू की गयी हैं।[1] इतर सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैन दर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार, दोनों का समावेश है। निश्चयनय और व्यवहारनय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनों में होता है, लेकिन सामान्यतः शास्त्राभ्यासी इस अन्तर को जान नही पाता। तात्त्विक निश्चयदृष्टि और आचारविषयक निश्चयदृष्टि, दोनों एक नहीं है। यही बात उभयविषयक व्यवहारदृष्टि की है। निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो शब्द भले ही समान हों, पर तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न अभिप्राय रखते हैं और विभिन्न परिणामों पर पहुँचाते हैं।

आचारगामी निश्चयदृष्टि या व्यवहारदृष्टि मुख्यतया मोक्षपुरुपार्थ की दृष्टि से विचार करती है, जबकि तत्त्वनिरूपक निश्चय और व्यवहार दृष्टि केवल जगत् के स्वरूप का विचार करती है। संक्षप में तत्त्वनिरूपण की दृष्टि से 'क्या है' यह महत्त्वपूर्ण है और आचारनिरूपण में 'क्या होना चाहिए' यह महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः तत्त्वज्ञान की विधायक (Positive) एवं व्याख्यात्मक प्रकृति और आदर्श दर्शन की नियामक (Normative) एव आदर्शमूलक प्रकृति ही इनमें यह अन्तर बना देती है। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि यह बताती है कि सत्ता का मूल स्वरूप क्या है और व्यवहारदृष्टि यह बताती है कि सत्ता किस रूप में प्रतीत हो रही है, उसका इन्द्रियग्राह्य (स्थूल) स्वरूप क्या है ? और आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि कर्ता के प्रयोजन अथवा कर्म की आदर्शोन्मुखता के आधार पर उसकी शुभाशुभता का मूल्यांकन करती है। निश्चयनय में आचार का बाह्य पक्ष महत्त्वपूर्ण नहीं होता, वरन् उसका आन्तरिक पक्ष ही महत्त्वपूर्ण होता है। इसके विपरीत आचार के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि के अनुसार आचरण के बाह्य पक्ष पर अधिक विचार किया जाता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टिसम्मत तत्त्वों के स्वरूप का साधारण जिज्ञासुजन कभी भी साक्षात् नहीं कर पाते। हम तत्त्व का साक्षात्कार करनेवाले अनुभवी व्यक्ति के कथन पर श्रद्धा रखकर ही वैसा स्वरूप मानते है। लेकिन आचार के बारे में ऐसी बात नहीं है। कोई जागरूक

१. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ५००.

साधक अपनी आन्तरिक सत्-असत् वृत्तियों का व उनकी तीव्रता और मन्दता के तारतम्य का सीधा साक्षात् कर सकता है। संक्षेप में नैश्चयिक आचार का साक्षात्कार व्यक्ति के लिए सम्भव है, जबकि नैश्चयिक तत्त्व का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। अपनी सत् एवं असत् आन्तरिक वृत्तियों का हमें सीधा साक्षात्कार होता है। वे हमारी आन्तरिक अनुभूति के विषय हैं। तत्त्व के निश्चय-स्वरूप का सीधा प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं होता, वह तो मात्र बुद्धि की खोज है। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में पर्यायों से भिन्न शुद्धतत्त्व की उपलब्धि साधारण रूप में सम्भव नहीं होती, जबकि आचार के क्षेत्र में आचरण से भिन्न आन्तरिक वृत्तियों का अनुभव होता है।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि आत्मा के बन्धन, मुक्ति, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि प्रत्ययों को महत्त्व नहीं देती। वे उसके लिए गौण हैं। क्योंकि वे आत्मा की पर्यायदशा को ही सूचित करते हैं। आचारलक्षी निश्चयदृष्टि में तो बन्धन और मुक्ति या आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व ऐसी मौलिक धारणाएँ हैं जिन्हें वह स्वीकार करके ही आगे बढ़ती है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय-नय में दो भेद स्वीकार किये। आचार्य कुन्दकुन्द तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली निश्चयनय (परमार्थदृष्टि) को शुद्धनिश्चयनय कहते हैं और आचारलक्षी निश्चयदृष्टि को अशुद्धनिश्चयनय कहते हैं। कुछ आचार्यों ने निश्चयनय के द्रव्या-र्थिक निश्चयनय और पर्यायार्थिक निश्चयनय ऐसे दो विभाग किये हैं। बौद्धों के स्वतन्त्र माध्यमिक सम्प्रदाय में भी परमार्थ के दो विभाग किये गये हैं—'पर्याय-परमार्थ और अपर्यायपरमार्थ।'[1] तुलनात्मक दृष्टि से हम देखते हैं कि अपर्याय-परमार्थ को सर्वप्रपंचवर्जित कहा गया है जो जैनदर्शन के शुद्धनिश्चयनय का ही समानार्थक है और पर्यायपरमार्थ अशुद्धनिश्चयनय या पर्यायार्थिक निश्चयनय का समानार्थक है।

§ १३. द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की दृष्टि से नैतिकता का विचार

इसी तथ्य को जैन विचारणा के अनुसार एक दूसरे प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। जैनागमों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो दृष्टिकोण या नय स्वीकार किये गये हैं। जैन दर्शन जड़ और चेतन, उभय परमतत्त्वों की दृष्टि में नित्य-परिणामवाद मानता है। सांख्यदर्शन केवल प्रकृतिपरिणामवाद मानता है। गीता में भी प्रकृतिपरिणामवाद माना गया है। सत् का एक पक्ष वह है जिसमें वह प्रति क्षण बदलता रहता है, जबकि दूसरा पक्ष वह है जो इन परिवर्तनों के पीछे है। लेकिन नैतिकता की समग्र विवेचना तो सत् के इस परिवर्तनशील पक्ष के लिए है। नैतिकता एक गत्यात्मकता है, एक प्रक्रिया है, एक होना है (Becoming), जो परिवर्तन की दशा में ही सम्भव है। उस अपरिवर्तनीय पक्ष की दृष्टि से जो मात्र

१. मध्यमार्थसंग्रह, उद्धृत—दी सेण्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृ० २४८.

सत्ता (Being) है, कोई नैतिक विचारणा सम्भव ही नहीं। जैन विचारणा भी नहीं कहती कि हमारा नैतिक आदर्श परिवर्तनशीलता (Becoming) से अपरिवर्तनशीलता (Nonbecoming) की अवस्था को प्राप्त करना है। क्योंकि सत् यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुणयुक्त है, तो फिर मोक्ष-अवस्था में यह भी सम्भव नहीं है। जैन विचारणा मोक्षावस्था में भी मात्र ज्ञानदृष्टि से आत्मा का परिणामीपन स्वीकार करती है। जैन विचारणा के अनुसार पर्याय (Modes) दो प्रकार के होते हैं—एक स्वभावपर्याय (Homogenous changes) और दूसरा विभावपर्याय या विरूप-परिवर्तन (Heterogenous changes)। जैन नैतिकता का आदर्श मात्र आत्मा को विभावपर्याय की अवस्था से स्वभावपर्याय अवस्था में लाना है।

इस प्रकार जैन नैतिकता सत् के द्रव्यार्थिक पक्ष को अपने विवेचन का विषय न बनाकर सत् के पर्यायार्थिक पक्ष को ही विवेचन का विषय बनाती है, जिसमें स्वभाव पर्यायावस्था को प्राप्त करना ही उसका नैतिक आदर्श है। 'स्वभावपर्याय तत्त्व के निजगुणों के कारण होती है एवं अन्य तत्त्वों से निरपेक्ष होती है।'[१] इसके विपरीत अन्य तत्त्व से सापेक्ष विभावपर्याय होती है। अतः नैतिकता के प्रत्यय की दृष्टि से आत्मा का स्वभावदशा में रहना नैतिकता का निरपेक्ष स्वरूप है। इसी को आचारलक्षी निश्चयनय कहा जा सकता है, क्योंकि जैन दृष्टि से सारे नैतिक आचरण का सार या साध्य यही है जिसे किसी अन्य का साधन नहीं माना जा सकता। यही स्वलक्ष्य मूल्य (End in itself) है, शेष सारा आचरण इसी के लिए है, अतः साधनरूप है, सापेक्ष है और इस कारण मात्र व्यावहारिक है।

§ १४. आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि का अर्थ

निश्चयनय का अर्थ

जैन आचारदर्शन का नैतिक आदर्श मोक्ष है। अतएव जो आचार सीधे रूप में मोक्षलक्षी है, वह निश्चय-आचार है। आचरण का वह पक्ष जिसका सीधा सम्बन्ध बन्धन और मुक्ति से है, निश्चय-आचार है। वस्तुतः बन्धन और मुक्ति का सीधा कारण आचरण का बाह्य स्वरूप नहीं होता, वरन् व्यक्ति की आन्तरिक मनोवृत्तियाँ ही होती हैं। अतः वे आन्तरिक मनोवृत्तियाँ जो बन्धन और मुक्ति का सीधा कारण बनती हैं, आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चयनय (परमार्थदृष्टि) के सीमाक्षेत्र में आती हैं। राग, द्वेष और मोह की त्रिपुटी का सम्बन्ध निश्चय-आचार से है। 'नैतिक निर्णयों की वह दृष्टि जो बाह्य-आचरण या क्रिया-कलापों से निरपेक्ष मात्र कर्ता के प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर शुभाशुभता का विचार करती है, निश्चयदृष्टि है।'[२] आचारदर्शन के क्षेत्र में भी निश्चय

१. नियमसार, २८.
२. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० २०५६.

आचार सदैव एकरूप ही होता है। निश्चयदृष्टि से जो शुभ है वह सदैव शुभ है और जो अशुभ है वह सदैव अशुभ है। देश, काल एवं वैयक्तिक दृष्टि से भी उसमें अन्तर नहीं आता। वैचारिक या मनोजन्य अध्यवसायों का शुभत्व और अशुभत्व देशकालगत भेदों से नहीं बदलता, उसमें अपवाद के लिए कोई गुंजाइश नहीं। व्यावहारिक नैतिकता में या आचरण के बाह्य भेदों में भी उसकी एकरूपता बनी रह सकती है। पं० सुखलालजी के शब्दों में, "निश्चय-आचार की (एक ही) भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति अनेकविध व्यावहारिक आचारों में से गुजरता है।"[1] इतना ही नहीं, इसके विपरीत आचरण की बाह्य एकरूपता में भी निश्चय-दृष्टि से आचार की भिन्नता हो सकती है। वस्तुतः आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चय-आचार वह केन्द्र है, जिसके आधार से व्यावहारिक आचार के वृत्त बनते हैं। जिस प्रकार एक केन्द्र से खींचे गये अनेक वृत्त भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी अपने केन्द्र की दृष्टि से एक ही माने जाते हैं, उनमें परिधिगत विभिन्नता होते हुए भी केन्द्रगत एकता होती है। जैन दृष्टि के अनुसार, "निश्चय-आचार समग्र बाह्य आचरण का केन्द्र होता है।"[2] बाह्य आचरण का शुभत्व और अशुभत्व इसी आभ्यन्तरिक केन्द्र पर निर्भर है। शुद्धनिश्चय जो कि तत्त्वमीमांसा की एक विधि है, जब नैतिकता के क्षेत्र में प्रयुक्त की जाती है, तो वह दो बातें प्रस्तुत करती है--

१. नैतिक आदर्श या साध्य का शुद्ध स्वरूप।

२. नैतिक साध्य का नैतिक साधना से अभेद।

नैतिक साध्य वह स्थिति है जहां पहुँचने पर नैतिकता समाप्त हो जाती है, क्योंकि उसके आगे कुछ प्राप्तव्य नहीं है, कुछ चाहना नहीं है और इसलिए कोई नैतिकता नही है। क्योंकि नैतिकता के लिए 'चाहिए' या 'आदर्श' आवश्यक है, अतः नैतिक साध्य उस स्थान पर स्थित है जहाँ तत्त्वमीमांसा और आचारदर्शन मिलते हैं। अतः नैतिक साध्य की व्याख्या विशुद्ध पारमार्थिक दृष्टि से ही सम्भव है। दूसरी ओर नैतिक साध्य पूर्णता की वह स्थिति है कि जब हम उस साध्य की भूमिका पर स्थित होकर विचार करते हैं तो वहाँ साध्य, साधक और साधनापथ का अभेद हो जाता है। क्योंकि जब आदर्श उपलब्ध हो जाता है, तब आदर्श आदर्श नहीं रह जाता और साधक साधक नही रह जाता, न साधनापथ साधनापथ ही रह जाता है। नैतिक पूर्णता की अवस्था में साधक, साध्य और साधनापथ का विभेद टिक नही पाता। यदि साधक है तो उसका साध्य होगा और यदि साध्य है तो फिर नैतिक पूर्णता कैसी? साध्य, साधक और साधना सापेक्ष पद हैं। यदि एक है तो दूसरा है। साध्य के अभाव में न साधक साधक होता है और न साधनापथ साधनापथ। उस अवस्था में तो मात्र विशुद्ध सत्ता है। यदि पूर्वावस्था की दृष्टि से उपचाररूप में कहना ही हो तो

१. दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ० ४९९.

२. बाह्यस्य अभ्यन्तरत्वम्। अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० २०५६.

कह सकते हैं कि उस दृष्टि से साध्य भी आत्मा है, साधक भी आत्मा है और ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप साधनामार्ग भी आत्मा है। तीसरे, आचरण का दिखाई देनेवाला बाह्य रूप उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं होता। आचरण के विधि-विधानों से पारमार्थिक या निश्चय-आचार का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध तो मात्र कर्ता की आन्तरिक अवस्थाओं से होता है।

संक्षेप में नैतिकता की निश्चयदृष्टि का सम्बन्ध वैयक्तिक नैतिकता से है। वह नैतिक मूल्यांकन के लिए इस बात का विचार नही करती है कि कर्म का समाज पर क्या परिणाम हुआ। वह नैतिक मूल्यों का अंकन सामाजिक दृष्टि से नही, वरन् वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से करती है। वह समाज-सापेक्ष न होकर व्यक्ति-सापेक्ष होती है। आचार्य अमृतचन्द्र समयसारटीका में इसी बात को स्पष्ट करते है कि निश्चयनय आत्माश्रित है और व्यवहारनय पराश्रित (समाज सापेक्ष) है।[1] जैन विचारणा के अनुसार व्यक्ति की आन्तरिक वासनाओं का सम्बन्ध 'नैश्चयिक नैतिकता' से है। व्यक्ति में वासनाओं एवं तृष्णा की अग्नि जिस मात्रा में शान्त होती है, उसी मात्रा में वह निश्चय-आचार की दृष्टि से विकास की दिशा में बढ़ा हुआ माना जाता है। नैश्चयिक नैतिकता क्रिया या आचरण की अवस्था नही, वरन् अनुभूति या साक्षात्कार की अवस्था है। इसमें शुभाशुभत्व का माप इस आधार पर नही होता कि व्यक्ति क्या करता है, वरन् इस आधार पर होता है कि वह अपने स्वस्वरूप को कहाँ तक पहचान पाया है और कहाँ तक उसके निकट हो पाया है। आत्मोपलब्धि या परमार्थ का साक्षात्कार ही नैतिक जीवन का परमादर्श है और इस आदर्श के सन्दर्भ में आन्तरिक वृत्तियों का आकलन करना ही पारमार्थिक या नैश्चयिक नैतिकता का प्रमुख कार्य है। व्यक्ति के आन्तरिक विचलन और आन्तरिक समत्व का आकलन निश्चयदृष्टि का क्षेत्र है। निश्चय-दृष्टि नैतिक आचरण का मूल्यांकन उसके आन्तरिक पक्ष, प्रयोजन एवं उसकी लक्ष्योन्मुखता के आधार पर करती है। वह नैतिकता के अध्ययन में कर्म के संकल्पात्मक पक्ष को ही अधिक महत्त्व देती है।

लेकिन नैतिकता मात्र संकल्प ही नही है। नैतिक जीवन के लिए संकल्प आवश्यक है, परन्तु ऐसा संकल्प जिसमें क्रियान्वयन का प्रयास न हो तो वह सच्चा सकल्प नहीं होता है। इसीलिए यह माना गया कि नैतिक जीवन में संकल्प को मात्र संकल्प नहीं रहना चाहिए, वरन् कार्यरूप में परिणत भी होना चाहिए और संकल्प की कार्यरूप परिणति हमारे सामने नैतिकता का दूसरा पक्ष प्रस्तुत करती है। मात्र संकल्प तो व्यक्ति तक सीमित रह सकता है, उसका समाज पर कोई प्रभाव नही पड़ता, वह समाज-निरपेक्ष हो सकता है। लेकिन जब संकल्प कार्य में परिणत किया जाता है, तब वह मात्र वैयक्तिक नहीं रहता, वरन् सामाजिक बन जाता है। अतः नैतिकता

१. समयसारटीका, २७२.

का विचार केवल निश्चयदृष्टि से ही नहीं किया जा सकता। ऐसा मूल्यांकन आंशिक एवं अपूर्ण ही होगा। नैतिकता के समुचित मूल्यांकन के लिए नैतिकता के बाह्य सामाजिक पक्ष पर भी विचार करना जरूरी है, लेकिन यह सीमा-क्षेत्र आचारलक्षी निश्चयदृष्टि का नहीं, व्यवहारदृष्टि का है।

आचार के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि

नैतिकता के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि आचरण के बाह्य (समाजसापेक्ष) पक्ष पर बल देती है। उसमें आचरण की एकरूपता नही, वरन् विविधता होती है। पं० सुखलालजी के शब्दों में, "व्यावहारिक आचार ऐसा एकरूप नही (है)। निश्चय-आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न-भिन्न देश-काल-जाति-स्वभाव-रुचि अदि के अनुसार कभी-कभी परस्परविरुद्ध दिखाई देनेवाले आचार व्यवहारिक आचार की कोटि में गिने जाते हैं।"[1] व्यावहारिक आचार देश, काल एव व्यक्ति-सापेक्ष होता है। उसका स्वरूप परिवर्तनशील होता है। वह तो उन परिधियों के समान है जो समकेन्द्रक होते हुए भी देशकालरूपी त्रिज्या की विभिन्नता के कारण अलग-अलग होती है। आचारदर्शन के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि कर्ता के प्रयोजन को गौण कर कर्म-परिणामों पर लोकहित की दृष्टि से विचार करनी है।[2] देशकालगत आचरण के नियमों का बाह्य स्वरूप निश्चित करना व्यावहारिक दृष्टि का कार्य है। वह देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों के आधार पर नैतिक आचरण के बाह्य स्वरूप का निर्धारण करती है।[3] जहाँ तक आचरण के शुभत्व और अशुभत्व के मूल्यांकन का प्रश्न है, आचरण के आन्तरिक पक्ष या कर्ता के प्रयोजन के आधार पर उसके शुभत्व का मूल्यांकन नैतिकता की निश्चयदृष्टि करती है, जबकि आचरण के बाह्यपक्ष या परिणाम के आधार पर उसके शुभत्व का निर्णय नैतिकता की व्यवहारदृष्टि करती है। जैन विचारणा के अनुसार कर्मों के इस द्विविध मूल्यांकन में ही उसका समग्र मूल्यांकन सम्भव होता है। यद्यपि यह सम्भव है कि कोई कर्म निश्चयदृष्टि से शुभ या नैतिक होते हुए भी व्यावहारदृष्टि से अशुद्ध या अनैतिक हो सकता है। उदाहरणार्थ, मुनि का वह व्यवहार जो शुद्ध मनोभाव और आगमिक आज्ञाओं के अनुकूल होते हुए भी यदि लोकनिन्दा या लोकघृणा का कारण है, तो वह निश्चयदृष्टि से शुद्ध होते हुए भी व्यवहारदृष्टि से अशुद्ध ही माना जायेगा। इसी प्रकार, कोई कर्म व्यवहारदृष्टि से शुद्ध या नैतिक प्रतीत होते हुए भी निश्चय-दृष्टि से अशुद्ध या अनैतिक हो सकता है; जैसे, फलाकांक्षा से किया हुआ तप अथवा यश-प्रतिष्ठा की इच्छा से किया हुआ परोपकार। भारतीय आचारदर्शन इस तथ्य को स्वीकार करता है कि नैतिक आचरण में मात्र कर्ता का विशुद्ध प्रयोजन ही पर्याप्त नहीं है, उसमें लोकव्यवहार की दृष्टि भी आवश्यक है।

---

१. दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ० ४९९.
२. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० २०५६.
३. वही, ९०७.

व्यावहारिक नैतिकता का सम्बन्ध आचरण के उन सामाजिक नियमों एवं विधि-विधानों से है जिनका समाज की इकाई के रूप में व्यक्ति के द्वारा पालन किया जाना चाहिए। समाजदृष्टि ही व्यावहारिक नैतिकता में शुभाशुभत्व का आधार है। व्यावहारिक नैतिकता कहती है कि कार्य चाहे कर्ता के प्रयोजन की दृष्टि से शुद्ध हो, लेकिन यदि वह लोकविरुद्ध है तो उसका आचरण नहीं करना चाहिए (यद्यपि शुद्धं तदपि लोकविरुद्धं न समाचरेत्)। वस्तुतः नैतिकता की व्यवहारदृष्टि आचरण को सामाजिक सन्दर्भ में परखती है। यह आचरण के शुभा-शुभत्व के मापन की समाज-सापेक्ष पद्धति है, जो व्यक्ति के सम्मुख सामाजिक नैतिकता को प्रस्तुत करती है। सामाजिक नैतिकता का पालन वैयक्तिक साधना की दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना समाजव्यवस्था या संघव्यवस्था की दृष्टि से। यही कारण है कि वैयक्तिक साधना की परिपूर्णता के पश्चात् भी जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन समानरूप से इसके परिपालन को आवश्यक मानते हैं।

आचरण के समग्र विधि-विधान एवं विविधताएँ व्यावहारिक नैतिकता के विषय हैं। व्यावहारिक नैतिकता क्रिया है। अतः आचरण कैसे करना चाहिए, इसका निर्धारण व्यावहारिक नैतिकता का विषय है। गृहस्थ एवं संन्यास-जीवन के सारे विधि-विधान जो व्यक्ति और समाज एवं व्यक्ति और उसके परिवेश के मध्य सांग संतुलन को बनाये रखने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं, वे व्यावहारिक नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं। व्यावहारिक नैतिकता, नैतिकता की सापेक्षिक प्रणाली है। वह हमारे सामने सापेक्ष आचारविधि प्रस्तुत करती है।

§ १५. नैतिकता के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि के आधार

नैश्चयिक नैतिकता एक निरपेक्ष तथ्य है, और व्यावहारिक नैतिकता सापेक्ष है। व्यवहारदृष्टि से नैतिक आचरण देश, काल, वैयक्तिक स्वभाव, शक्ति और रुचि पर निर्भर करता है। इनकी भिन्नता के आधार पर व्यावहारिक आचार में भी भिन्नता सम्भव है। प्रश्न उपस्थित होता है कि इस बात का निश्चय कैसे किया जाय कि किस देश, काल एवं परिस्थिति में कैसा आचरण उचित है। जैन विचारकों ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। वे कहते हैं कि निश्चयदृष्टि से तो संकल्प (अध्यवसाय) की शुभता ही नैतिकता का आधार है। लेकिन व्यवहार के क्षेत्र में एवं सामाजिक जीवन में आचरण का मूल्यांकन करने एवं आचरण के नियमों का निर्धारण करने के पाँच आधार माने गये हैं— (१) आगम, (२) श्रुत, (३) आज्ञा, (४) धारणा और (५) जीत। इन्हीं पाँच आधारों पर व्यवहार के भी पाँच भेद होते हैं,[१] जो निम्नानुसार हैं—

१. **आगम-व्यवहार**—किस देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थिति में किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, इसका निर्देश आगम ग्रन्थों में मिलता है। अतः आगमों में वर्णित नियमों के अनुसार आचरण करना आगम-व्यवहार है।

---

१. स्थानांग ५।२; अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ६, पृ० ९०६.

२. श्रुत-व्यवहार—श्रुत का सामान्य अर्थ गणधरों के अतिरिक्त अन्य पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रणीत साहित्य से है। जब किसी परिस्थितिविशेष में आचरण के सम्बन्ध में आगमों में कोई स्पष्ट निर्देश न मिलता हो या आगम अनुपलब्ध हो तो पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों एवं टीकाओं में वर्णित आचार के नियमों के आधार पर आचरण करना श्रुत-व्यवहार है। कुछ आचार्यों ने श्रुत का अर्थ अभिधारण या परम्परा भी किया है। अतः श्रुत-व्यवहार का अर्थ यह भी हो सकता है कि पूर्वाचार्यों से जो कुछ सुन रखा हो अथवा प्राचीन समय में ऐसी विशेष परिस्थिति में कैसा व्यवहार किया गया था उसके आधार पर आचरण करना।

३. आज्ञा-व्यवहार—किसी देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर उत्पन्न अवस्था-विशेष में किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इसके सम्बन्ध में आगमों एवं पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में कोई निर्देश उपलब्ध न हो तो ऐसी स्थिति में वरिष्ठजन, गुरुजन या देशकालविज्ञ विद्वान् (गीतार्थ) की आज्ञा के अनुरूप आचरण करना आज्ञा-व्यवहार है।

४. धारणा-व्यवहार—यदि परिस्थिति ऐसी हो कि जिसके सम्बन्ध में आगम एवं श्रुत (साहित्य) में कोई स्पष्ट निर्देश न हो और यह भी सम्भव न हो कि किसी दूरस्थ विज्ञ गुरुजन से कोई निर्देश प्राप्त किया जा सके तो कर्तव्य का निश्चय स्वविवेक एवं मान्यता के आधार पर करना धारणा-व्यवहार है।

५. जीत-व्यवहार—यदि परिस्थिति ऐसी हो कि उपर्युक्त में से कोई भी साधन सुलभ न हो तो लोक-परम्परा के आधार पर आचरण करना जीत-व्यवहार है।

§ १६. व्यवहार के पाँच आधारों की वैदिक परम्परा से तुलना

वैदिक परम्परा में मनु ने आचरण के निर्णय के चार आधार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने कहा है कि वेद (ऋषियों का ज्ञान), स्मृति (धर्मशास्त्र), सदाचार और आत्मतुष्टि ये चार धर्म या नीति को जानने के उपाय हैं।[१] जिस प्रकार जैन परम्परा में आगमव्यवहार नीतिज्ञान का सर्वोच्च उपाय है, उसी प्रकार मनु ने भी वेद को नीति के ज्ञान का सर्वोच्च उपाय माना है। जिस प्रकार जैन परम्परा में आगम के बाद श्रुत का स्थान है, उसी प्रकार वैदिक परम्परा में वेद के बाद स्मृति का स्थान है। वेद और स्मृति के बाद वैदिक परम्परा में नीति के जानने का उपाय सदाचार बताया गया है। मनु ने स्वयं सदाचार की व्याख्या 'परम्परागत व्यवहार' के रूप में की है।[२] इस रूप में वह जीतव्यवहार से तुलनीय है। यदि हम श्रुत का अर्थ परम्परा करते हैं तो उस स्थिति में उसकी तुलना श्रुतव्यवहार से भी की जा सकती है। मनु ने नीति के जानने का चौथा उपाय आत्मतुष्टि माना है। उसे किसी रूप

१. मनुस्मृति, २।१२.
२. वही, २।१८.

में धारणा के समकक्ष मान सकते हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा के नीति के जानने के चारों उपाय किसी न किसी रूप में जैन परम्परा में भी स्वीकृत हैं।

जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं में यह भी स्वीकार किया गया है कि इन उपायों में एक पूर्वापरत्व का क्रम भी है। जैन आचार्यों ने स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि पूर्व में आचरण के हेतु निर्देश की उपलब्धि होते हुए निम्न के आधार पर आचरण करना अनैतिकता है।[1]

§ १७. आक्षेप एवं समाधान

जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं में व्यावहारिक आचरण के लिए जो आधार माने गये हैं, उनमें मानवीय बुद्धि का आकलन नहीं किया गया है, ऐसा आक्षेप किया जा सकता है। वेद, स्मृति, सदाचार या आगम, श्रुत और आज्ञा आदि को अधिक महत्त्व देकर मानवीय बुद्धि को कम महत्त्व दिया गया है। लेकिन यह मान्यता भ्रान्त है। वस्तुतः जिस बुद्धि को निम्न स्थान दिया गया है वह वासनात्मक या राग-द्वेष से ग्रसित बुद्धि ही है। सामान्य साधक जो वासनामय जीवन या राग-द्वेष से ऊपर नहीं उठ पाया, उसके विवेक के द्वारा किंकर्तव्यमीमांसा में गलत निर्णय की सम्भावना बनी रहती है। बुद्धि की इस अपरिपक्व दशा में यदि स्वनिर्णय का अधिकार प्रदान कर दिया जाय तो यथार्थ कर्तव्यपथ से च्युति की सम्भावना ही अधिक रहती है। यदि मूल शब्द 'धारणा' को देखें तो यह अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है। धारणा शब्द विवेकबुद्धि या निष्पक्षबुद्धि की अपेक्षा आग्रहबुद्धि का सूचक है और आग्रहबुद्धि से स्वार्थपरायणता या रूढ़ता के भाव ही प्रबल होते हैं। अतः ऐसी आग्रहबुद्धि को किंकर्तव्यमीमांसा में अधिक उच्च स्थान नही दिया जा सकता। साथ ही यदि धारणा या स्वविवेक को अधिक महत्त्व दिया जायेगा तो नैतिक प्रत्ययों की सामान्यता (वस्तुनिष्ठता) समाप्त हो जायेगी और नैतिकता के क्षेत्र में वैयक्तिकता का स्थान ही प्रमुख हो जायेगा। दूसरी ओर यदि हम देखें तो आज्ञा, श्रुत और आगम भी अबौद्धिक नहीं हैं, वरन् उनमें क्रमशः बुद्धि की उज्ज्वलता या निष्पक्षता ही बढ़ती जाती है। आज्ञा देने के योग्य जिस गीतार्थ का निर्देश जैनागमों में किया गया है, वह एक ओर देश, काल एवं परिस्थिति को यथार्थ रूप में समझता है, दूसरी ओर आगम ग्रन्थों का मर्मज्ञ भी होता है। वस्तुतः वह आदर्श (आगमिक आज्ञाएँ) एवं यथार्थ (वास्तविक परिस्थितियों) के मध्य समन्वय कराता है। वह यथार्थ को दृष्टिगत रखते हुए आदर्श को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उसे यथार्थ बनाया जा सके। गीतार्थ (विज्ञ) की आज्ञाएँ नैतिक जीवन का एक ऐसा सत्य है कि आदर्श में सदैव यथार्थ बनने की क्षमता रहती है। सरल शब्दों में गीतार्थ की आज्ञाओं का पालन सदैव सम्भव है, क्योंकि वे देशकाल एवं व्यक्ति की परिस्थिति को ध्यान में रखकर दी जाती हैं। वीतराग

---

१. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ६, पृ० ९०७.

के द्वारा प्रणीत आगम निष्पक्षबुद्धिसम्पन्न आचार्यों के द्वारा प्रणीत श्रुत और देश-कालविज्ञ गीतार्थ की आज्ञाएँ सामान्य व्यक्ति की बौद्धिकता की अपेक्षा सदैव ही उच्च विवेक से सम्पन्न हैं। अतः उनको महत्त्व देने में मानवीय बुद्धि की अवहेलना बिलकुल नही है।

§ १८. निश्चयदृष्टिसम्मत आचार की एकरूपता

भारतीय आचारदर्शनों मे तत्त्वमीमांसीय निश्चयदृष्टि, आचारलक्षी निश्चय-दृष्टि और व्यवहारदृष्टि मे एकरूपता निहित है। तत्त्वमीमासामूलक निश्चयदृष्टि से प्रतिपादित सत्ता के स्वरूप और व्यवहारदृष्टि से प्रतिपादित आचार के नियमों मे भिन्नता होते हुए भी आचारलक्षी निश्चयदृष्टि के द्वारा प्रतिपादित नैतिक दर्शन में एकरूपता दिखाई देती है। तत्त्वमीमासामूलक निश्चयदृष्टि की अपेक्षा आचारलक्षी निश्चयदृष्टि की यह विशेषता है कि जहाँ तत्त्वज्ञान के क्षेत्र मे निश्चयदृष्टि द्वारा प्रतिपादित सत्ता का स्वरूप विभिन्न दर्शनों मे भिन्न-भिन्न है, वहाँ आचारलक्षी निश्चयदृष्टि से प्रतिपादित पारमार्थिक नैतिकता (निश्चय-आचार) सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में एकरूप है। आचरण के नियमों का बाह्य रूप भिन्न-भिन्न होने पर भी उनका आन्तरिक पक्ष तथा लक्ष्य सभी दर्शनों में समान है। सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में नैतिक आदर्श (मोक्ष का स्वरूप) तत्त्वदृष्टि से भिन्न होते हुए भी लक्ष्य की दृष्टि से एक ही है और इसी एकरूपता के कारण आचार का नैश्चयिक स्वरूप भी एक ही है। पं० सुखलालजी का कथन है कि यद्यपि जैनेतर सभी दर्शनों में निश्चयदृष्टिसम्मत तत्त्वनिरूपण एक नही है तथापि सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में निश्चयदृष्टिसम्मत आचार व चारित्र एक ही है, भले ही परिभाषा या वर्गीकरण भिन्न-भिन्न हों।[1] जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन भी मोक्षलक्षी दर्शन हैं और उसी के आधार पर नैतिक आचरण का मूल्यांकन करते है। अतः नैश्चयिक आचार की दृष्टि से उनमें बहुत अधिक साम्यता पायी जाती है।

§ १९ निश्चय और व्यवहारदृष्टि का मूल्यांकन

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि नैश्चयिक आचार या नैतिकता के आन्तरिक स्वरूप और व्यावहारिक आचार या नैतिकता के बाह्य स्वरूप में आचारदर्शन की दृष्टि से कौन अधिक मूल्यवान है?

जैन दर्शन की दृष्टि में इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि साधक की वैयक्तिक दृष्टि से नैतिकता का आन्तरिक पहलू या नैश्चयिक आचार महत्त्वपूर्ण है, लेकिन सामाजिक दृष्टि से आचरण के बाह्य पक्ष या व्यावहारिक नैतिकता की अवहेलना नही की जा सकती। जैन नैतिक दर्शन यह मानकर चलता है कि यथार्थ नैतिक जीवन में निश्चय-आचार और व्यावहारिक आचार में एकरूपता होती है।

१. दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ० ४९८.

आचरण के आन्तरिक एवं बाह्य पक्षों में कोई अन्तर नही होता। विशुद्ध मनोभावों की अवस्था में अनैतिक आचरण सम्भव ही नहीं होता। इतना ही नहीं, जैन आचारदर्शन के अनुसार नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के पाश्चात् भी व्यक्ति को नैतिकता के बाह्य नियमों एवं विधि-विधानों का पालन यथावत करते रहना चाहिए। आवश्यक-निर्युक्ति एवं आत्मसिद्धिशास्त्र में कहा गया है कि यदि शिष्य नैतिक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और आचार्य उस पूर्णता को प्राप्त न कर पाया हो, तो भी संघ की मर्यादा के लिए शिष्य को गुरु की यथावत सेवा करनी चाहिए।[1] इस प्रकार जैन आचारदर्शन यह स्पष्ट कर देता है कि आन्तरिक दृष्टि से नैतिक पूर्णता को प्राप्तकर लेने पर भी बाह्य (समाजसापेक्ष) नैतिक नियमों का परिपालन आवश्यक है। इस प्रकार वह निश्चयदृष्टि पर बल देते हुए भी व्यवहार का लोप स्वीकार नही करता। इतना ही नहीं, वह यह भी कहता है कि परमार्थ की उपलब्धि हो जाने पर भी व्यवहारधर्म, संघ-मर्यादाओं एवं सामाजिक नैतिक नियमों का परि-पालन आवश्यक है।

गीता और बौद्ध आचारदर्शन भी वैयक्तिक दृष्टि से आचरण के आन्तरिक पक्ष पर यथेष्ट बल देते हुए भी लोकव्यवहार का आचरण आवश्यक मानते हैं। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि 'जिस प्रकार सामान्य जन लोकव्यवहार का आचरण करता है, विद्वान् भी अनासक्त होकर उसी प्रकार लोकव्यवहार का आचरण करता रहे।'[2] गीता में प्रतिपादित स्वधर्म, वर्णधर्म और लोकसंग्रह के सिद्धान्त इसी का सम-र्थन करते हैं। बौद्ध आचारदर्शन में भी यह माना गया है कि अर्हतावस्था को प्राप्त कर लेने पर भी संघीय जीवन के बाह्य नियमों का यथावत पालन करते रहना चाहिए।[3] इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों में नैतिक जीवन के आन्तरिक स्वरूप या निश्चय-आचार पर वैयक्तिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व देते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से आचरण के बाह्य पक्षों को उपेक्षणीय नहीं माना गया है। वैयक्तिक दृष्टि से आचरण का आन्तरिक पक्ष महत्त्वपूर्ण है, लेकिन सामाजिक दृष्टि से आचरण का बाह्य पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया दोनों में कोई तुलना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि निश्चयलक्षी आचार का महत्त्व व्यक्तिगत और समाजगत ऐसे दो आधारों पर है। दोनों में से किसी एक को छोड़ा भी नहीं जा सकता, क्योंकि व्यक्ति अपने आपमें व्यक्ति और समाज दोनों ही है। जैन दृष्टि के अनुसार नैति-कता के नैश्चयिक और व्यावहारिक पहलुओं की सबलता अपने-अपने स्थान में है। इसलिए दोनों का पालन अपेक्षित है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए महात्मा गांधी के आध्यात्मिक गुरुतुल्य सत्पुरुष श्री राजचन्दभाई लिखते हैं कि—

---

१. (अ) आत्मसिद्धिशास्त्र, १९. (ब) आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य, १२३.
२. गीता, ३।२५.
३. विनयपिटक, चूलवग्ग, पृ० ४–५.

लह्यु स्वरूप न वृत्ति नु ग्रह्यु व्रत अभिमान।
ग्रहे नहीं परमार्थ ने लेवा लौकिक मान॥
अथवा निश्चयनय ग्रहे मात्र शब्द नी मांय।
लोपे सद्व्यवहार ने साधनरहित थाय॥
निश्चयवाणी सांमळी साधन तजवां नोय।
निश्चय राखी लक्ष मा साधन करवां सांय॥
नय निश्चय एकान्त थी आमा नथी कहेल।
एकांते व्यवहार नही बन्ने सपि रहेल॥

—आत्मसिद्धिशास्त्र, २८, २९, १३१, १३२.

यदि आन्तरिक वृत्ति पवित्र नही हुई है और मात्र अपने को धार्मिक सिद्ध करने के लिए बाह्य व्रत-नियमों का पालन करता है तो ऐसा साधक परमार्थ को प्राप्त नही कर सकता, उसका आचरण मात्र लौकिक-प्रदर्शन के निमित्त होता है। दूसरे, कोई निश्चयदृष्टि को ही महत्त्व देकर आचरण की बाह्य क्रियाओं (सद्व्यवहार) का परित्याग करता है तो वह भी साधना से रहित है। आत्मा असंग, अबद्ध और नित्यसिद्ध है ऐसी तात्त्विक निश्चयवाणी को सुनकर नैतिक विधि-नियमों का छोड़ना उचित नही है, वरन् परमार्थदृष्टि को आदर्श के रूप में स्वीकार करके सदाचरण करते रहना चाहिए। एकान्तिक दृष्टिकोण में नैतिक प्रत्ययों की समग्र व्याख्या सम्भव नही है। यथार्थ नैतिक जीवन में एकान्त निश्चय-दृष्टि अलग-अलग रहकर कार्य नही करती, वरन् एक साथ कार्य करती है। नैतिकता के आन्तरिक पक्ष और बाह्य पक्ष मिलकर ही समग्र नैतिकता का निर्माण करते है। वे दो भिन्न-भिन्न पहलू अवश्य है, लेकिन अलग-अलग तथ्य नही है। उन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है, लेकिन उन्हें अलग-अलग किया नही जा सकता। सिक्के के दोनों बाजुओं को अलग-अलग देख सकते है, लेकिन उन्हे अलग-अलग किया नहीं जा सकता। जहाँ नैतिक साध्य के लिए परमार्थदृष्टि या निश्चयनय आवश्यक है, वही नैतिक साधना के लिए व्यवहारदृष्टि भी आवश्यक है। दोनों के समवेतरूप में ही नैतिक पूर्णता की उपलब्धि होती है। कहा है—

निश्चय राखी लक्ष मां, पाळे जे व्यवहार।
ते नर मोक्ष पामशे सन्देह नहीं लगार॥

§ २०. पाश्चात्य आचारदर्शन की अध्ययनविधियाँ और जैन दर्शन

पाश्चात्य नीतिवेत्ताओं ने आचारदर्शन की विभिन्न समस्याओं के सम्यक् अध्ययन के लिए जिन विधियों का आश्रय लिया है, उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) अनुभवमूलक विधियाँ और (२) दार्शनिक विधियाँ। पाश्चात्य आचारदर्शन में अनुभवमूलक विधियाँ तीन हैं—

१. जैविक विधि—इस अध्ययनविधि को माननेवाले विचारकों में हर्बर्ट स्पेन्सर प्रमुख हैं। ये विचारक नैतिक नियमों को सामाजिक नियमों पर, सामाजिक नियमों को मनोवैज्ञानिक नियमों पर, मनोवैज्ञानिक नियमों को जैविक नियमों पर और जैविक नियमों को भौतिक नियमों पर अधिष्ठित मानते है। इस प्रकार इनके अनुसार नैतिक नियम अन्ततोगत्वा जैविक एवं भौतिक नियमों से ही निर्गमित होते है। यह विधि आचारदर्शन को प्रकृत एवं विधायक विज्ञान के रूप में देखती है और उसकी नियामक एवं आदर्शमूलक प्रकृति को अपनी दृष्टि से ओझल कर देती है। इस प्रकार यह विधि आचारदर्शन के निर्भ्रान्त अध्ययन के लिए एकांगी सिद्ध होती है।

२. ऐतिहासिक विधि—इस अध्ययनविधि को माननेवाले विचारकों में विकासवादी दार्शनिक एवं कार्ल मार्क्स आते हैं। इनके अनुसार नैतिक प्रत्ययों एवं नियमों का विकास आदि असंस्कृत रीतिरिवाजों से हुआ है। नैतिकता सामाजिक उत्क्रांति का परिणाम है और नीतिशास्त्र का कार्य नैतिक प्रत्ययों की उत्पत्ति और विकास की व्याख्या प्रस्तुत करना है। ये विचारक भी नीतिशास्त्र को समाज का प्रकृत इतिहास बनाकर उसकी नियामक या आदर्शमूलक प्रकृति पर ध्यान नहीं देते हैं। नीतिशास्त्र का कार्य नैतिक नियमों की उत्पत्ति की व्याख्या करना नहीं, वरन् नैतिक आदर्श को प्रस्तुत करना भी है।

३. मनोवैज्ञानिक विधि—इस विधि के द्वारा नैतिक प्रत्ययों की व्याख्या करनेवाले विचारकों का एक वर्ग जिसमें कार्नेप, एयर, रसल, स्टीवेन्सन आदि तार्किक भाववादी विचारक आते है, शुभ एवं उचित के नैतिक प्रत्ययों को मनोवैज्ञानिक एवं सांवेगिक अभिव्यक्तियों के रूप में देखता है। यह वर्ग नैतिकता के आदर्शमूलक स्वरूप को नष्ट कर नैतिक सन्देहवाद को जन्म देता है। मनोवैज्ञानिक विधि को महत्त्व देनेवाला दूसरा वर्ग नैतिक तथ्यों को चेतनागत मानता है और इसलिए यह कहता है कि नैतिक प्रत्ययों के सम्यक् अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करना चाहिए, तथापि इन विचारकों के अनुसार नैतिक प्रत्यय मूलतः आदर्शमूलक हैं। ये विचारक नैतिकता की आदर्शमूलक प्रकृति को अस्वीकार नही करते है, मात्र मानव के परममंगल का निर्धारण करने में उसकी मनोवैज्ञानिक प्रकृति का ध्यान रखना आवश्यक मानते है। इनके अनुसार मानव की मनोवैज्ञानिक प्रकृति ही उसके परममंगल का निर्देश कर सकती है, अतः उसको दृष्टि में रखते हुए ही नीतिशास्त्र को नैतिक आदर्श का निर्धारण करना चाहिए। ह्यूम, बेन्थम, मिल प्रभृति सुखवादी विचारक इस पद्धति का अनुसरण करते हैं।

उपर्युक्त अनुभवमूलक विधियों के अतिरिक्त कुछ विचारकों ने आचारदर्शन के सम्यक् अध्ययन के लिए दार्शनिक विधि की स्थापना की है।

दार्शनिक विधि—जिन विचारकों ने आचारदर्शन को तत्त्वमीमांसा पर आधारित माना और नैतिक आदर्श को मानवचेतना की तात्त्विक सत्ता से अनुमित

किया, उन्होंने आचारदर्शन की विधि को दार्शनिक या चिन्तनपरक माना है। इन विचारकों में हेगल, ग्रीन आदि अध्यात्मवादी विचारक प्रमुख हैं।

आचारदर्शन की उपर्युक्त अध्ययनविधियों को अन्य प्रकार से भी वर्गीकृत किया जा सकता है। आचारदर्शन की अनुभवमूलक विधियाँ वैज्ञानिक विधियों का ही रूप है और ऐन्द्रिक ज्ञान के अनुभवमूलक आधारों पर खड़ी हुई है। इसके विपरीत दार्शनिक विधि चिन्तनपरक या बौद्धिक है। प्रथम वर्ग यथार्थ पर अधिक बल देता है, दूसरा वर्ग आदर्श पर। प्रथम वर्ग में आनेवाली सभी विधियाँ सापेक्ष विधियाँ भी कही जा सकती हैं, क्योंकि इनमें नैतिक प्रत्यय एवं नियम एक सापेक्ष तथ्य ही सिद्ध होते हैं। दूसरे वर्ग में आनेवाली बौद्धिक विधि या दार्शनिक विधि एक निरपेक्ष विधि है, क्योंकि उसमें नैतिक नियम निरपेक्ष माने जाते हैं। इस प्रकार आचार-दर्शन की अध्ययनविधियों को अनुभवमूलक और अनुभवातीत, आगमनात्मक और निगमनात्मक, यथार्थमूलक और आदर्शमूलक अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष किसी भी रूप में देखा जाय, उनका मूल मन्तव्य वही होता है।

तुलनात्मक दृष्टि से अनुभवमूलक यथार्थवादी सापेक्ष विधियों को भारतीय चिन्तन की व्यवहारदृष्टि के समकक्ष मान सकते हैं। अनुभवातीत बुद्धिमूलक आदर्शवादी निरपेक्ष विधि को निश्चयनय या परमार्थदृष्टि के तुल्य माना जा सकता है।

§ २१. भारतीय आचारदर्शनों में विविध विधियों का समन्वय

वस्तुत: नैतिक जीवन का उद्देश्य यथार्थ से आदर्श की ओर बढ़ना है और इस रूप में उसके लिए अनुभवमूलक और अनुभवातीत दोनों ही विधियाँ आवश्यक है। जो विचारक इनमें से किसी एक विधि को ही नैतिक दर्शन की एकमात्र विधि स्वीकार करते हैं, वे नैतिक दर्शन के समग्र स्वरूप की व्याख्या करने में असमर्थ हैं। यही कारण है कि कुछ प्रबुद्ध विचारकों ने नैतिक दर्शन के लिए न केवल दोनों ही विधियों का प्रयोग आवश्यक समझा, वरन् उनमें समीक्षात्मक प्रणाली के रूप में एक समन्वय भी खोजा। जहाँ नैतिक आदर्श की व्याख्या का प्रश्न है, वहाँ हमें आनु-भविक तथ्यों से ऊपर उठकर विचार करना होगा। वहीं दूसरी ओर नैतिक नियमों और आचरण के विधि-विधानों की व्याख्या करते समय अनुभवमूलक आधारों का आश्रय लेना होगा। जहाँ तक जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों की बात है, उन्होंने आचारदर्शन के अध्ययन के लिए अथवा नैतिक जीवन की व्याख्या के लिए किसी एक विधि का आश्रय लिया हो, ऐसा नहीं लगता। वे यथावसर सभी पद्ध-तियों को अपनाते हैं।

जैन विचारकों ने नैतिक आदर्श मोक्ष का प्रतिपादन दार्शनिक विधि के आधार पर किया और तात्त्विक सत्ता की स्वरूपदशा के रूप में उसकी व्याख्या की। दूसरी ओर नैतिक नियमों के प्रतिपादन में उन्होंने मनोवैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। जैन आचारदर्शन के केन्द्रीय सिद्धान्त अहिंसा का प्रतिपादन इसी मनोवैज्ञानिक

आधार पर हुआ है कि जीवन और सुख सभी को प्रिय है तथा मृत्यु और दु:ख सभी को अप्रिय है, अत: हिंसा नहीं करना चाहिए और न किसी को पीड़ा ही पहुंचाना चाहिए।

बौद्ध दर्शन में भी नैतिक आदर्श के रूप में निर्वाण का निर्वचन दार्शनिक या अनुभवातीत विधि के आधार पर हुआ है, और अहिंसा व करुणा के सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक आधारों पर प्ररूपित हैं। विनयपिटक से तो ऐसा लगता है कि बुद्ध नैतिक नियमों के निर्माण में मानवमन की मनोवैज्ञानिक परख के साथ-साथ सामाजिक अनुमोदन और अननुमोदन को भी ध्यान में रखते हैं। विनयपिटक के अनेक सन्दर्भ इस बात को स्पष्ट कर देते है कि बौद्ध दर्शन में आचारदर्शन की विविध बिधियों का उपयोग हुआ है। विस्तारभय से यहाँ उनकी चर्चा अपेक्षित नही है। विधियों का यह प्रश्न नैतिक नियमों की सापेक्षता के साथ जुड़ा हुआ है जिसपर अगले अध्याय में विचार किया गया है। □

निरपेक्ष और सापेक्ष नैतिकता

निरपेक्ष और सापेक्ष नैतिकता

§ १. पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य आचारदर्शन में यह प्रश्न सदैव विवादास्पद रहा है कि नैतिकता सापेक्ष है या निरपेक्ष। नैतिकता को निरपेक्ष माननेवाले विचारकों में प्रमुख हैं जर्मन दार्शनिक कांट। कांट का कथन है कि केवल उस सिद्धान्त के अनुसार आचरण करो जिसे तुम उसी समय एक सार्वभौम नियम बनाने का भी संकल्प कर सको।[1] नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं जो देश, काल अथवा व्यक्ति के आधार पर परिवर्तित नहीं होते। यदि सत्य बोलना नैतिकता है तो फिर किसी भी स्थिति में असत्य बोलना नैतिक नहीं हो सकता, प्रत्येक परिस्थिति में सत्य ही बोलना चाहिए। कांट की मान्यता को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि जो आचरण नैतिक है वह सदैव नैतिक रहेगा और जो अनैतिक है वह सदैव अनैतिक रहेगा। देश-कालगत अथवा व्यक्तिगत परिस्थितियों से नैतिकता प्रभावित नहीं होती। जो विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिकता निरपवाद एवं देश, काल, परिवेश और व्यक्तिगत तथ्यों से निरपेक्ष है, उसे निरपेक्ष नैतिकता की विचारणा कहा जाता है।

इसके विपरीत जो विचारणाएं नैतिक आचरण को स-अपवाद एवं देश, काल तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तनशील मानती है, वे नैतिकता की सापेक्षवादी विचारणाएँ है। नैतिक सापेक्षवादी विचारणाएँ नैतिक नियमों को बाह्य परिस्थितिसापेक्ष मानती हैं। सापेक्षवादी विचारणा यह स्वीकार करती है कि जो कर्म एक अवस्था में नैतिक हो सकता है, वही कर्म दूसरी अवस्था में अनैतिक हो सकता है। सापेक्षवादी विचारणा के अनुसार परिस्थितिनिरपेक्ष कर्म नैतिक मूल्यांकन का विषय नहीं है। कर्म का नैतिक मूल्यांकन उस परिस्थिति के आधार पर किया जाता है जिसमें वह सम्पन्न होता है। इसका अर्थ यह भी है कि परिस्थिति के परिवर्तित हो जाने पर कर्म का नैतिक मूल्य भी बदल सकता है। दो भिन्न परिस्थितियों में सम्पन्न समान कर्म या आचरण भी नैतिक मूल्य की दृष्टि से भिन्न हो जाते हैं।[2] जैसे सत्यव्रत का एकांगी पालन करने के नाम पर शत्रु को राज्य की गुप्त संरक्षण-व्यवस्था की जानकारी देना अनैतिक है। हाब्ज, मिल, सिजविक प्रभृति सुखवादी विचारक और विकासवासी विचारक यही दृष्टिकोण अपनाते हैं।

१. देखिए—ग्रेट ट्रेडीशन्स इन एथिक्स, पृ० २१८.

२. देखिए—कण्टेम्परेरि एथिकल थ्योरीज, पृ० १६०.

इनका नैतिक कर्मों मे अपवाद को लेकर काट से विरोध है। ये विचारक नैतिक जगत् मे अपवाद को स्वीकार करते है। हाब्ज लिखते है, "किसी अकाल के समय जब अनाज क्रय करने पर भी न मिले, न दान मे ही प्राप्त हो, तब क्षुधा-तृप्ति के लिए कोई चौर्य-कर्म का आचरण करता है तो वह अनैतिक कर्म क्षम्य ही माना जायेगा।"[१] मिल इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते है, "ऐसे समय मे चोरी करके जीवन-रक्षा करना केवल क्षम्य ही नही है, अपितु कर्तव्य है।"[२] इसी प्रकार सिजविक भी नैतिक जीवन के क्षेत्र मे अपवाद को स्थान देते है, "यद्यपि सब लोगो को सच बोलना चाहिए, तथापि यह नही कहा जा सकता कि जिन राज-नीतिज्ञो को अपनी कार्रवाई गुप्त रखनी पडती है वे अन्य लोगों के साथ हमेशा सच ही बोला करे।" फलवादी नैतिक विचारक जॉन ड्यूई लिखते है, "वास्तव मे ऐसे स्थान और समय अर्थात् ऐसे सापेक्ष सम्बन्ध हो सकते है जिनमे सामान्य क्षुधाओ की पूर्ति भी जिन्हे साधारणत भौतिक और ऐन्द्रिक कहा जाता है, आदर्श हो।"[3]

काट नैतिक कर्मो मे किसी भी अपवाद को स्थान नही देते। उनके बारे मे यह घटना प्रसिद्ध है कि एक बार काट के लिए किसी जहाज से फलो का पिटारा आ रहा था। रास्ते मे जहाज सकट मे फँस गया और यात्री भूखो मरने लगे। ऐसी स्थिति मे वे फल खा लिये गये। जब काट के पास यह खबर पहुँची तो काट ने इस व्यवहार को धिक्कारा और कहा कि उन व्यक्तियो का दूसरे व्यक्ति के माल को बिना अनुमति के काम मे लेने की अपेक्षा मर जाना श्रयस्कर था।

नैतिक विचारणा के क्षेत्र मे निरपेक्ष नैतिकता की धारणा का विरोध होता रहा है। अमेरिका के फलवादी दार्शनिक टफ्ट का कहना है कि जो नैतिक सिद्धान्त नैतिक प्रत्ययो का अर्थ यथार्थ परिस्थितियो से अलग हटकर करना चाहते है वे वस्तुत. शून्य मे विचरण करते है।[४]

स्पेन्सर आदि विकासवादी विचारक, समाजशास्त्रीय विचारक एव मार्क्स प्रभृति साम्यवादी विचारक फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिक तथा नीतिशास्त्र के सवेगवादी एव तर्किक भाववादी सिद्धान्त भी कर्मों की नैतिकता को सापेक्ष मानते है। यद्यपि नैतिक सापेक्षवाद भी अपनी कठोर व्याख्या मे ऐकान्तिक दृष्टिकोण अपना लेता है और नैतिक जीवन के लिए लचीले आदर्शो का निर्माण करने मे असफल सिद्ध हो जाता है। उसमे नैतिक आदर्श बिखर जाते है, क्योकि नैतिक आदर्शो के सगठक सामान्य तत्त्व का उसमे अभाव हो जाता है। यही कारण है कि स्पेन्सर एव डिवी नैतिकता को सापेक्ष स्वीकार करते हुए भी उससे सन्तुष्ट नही होते और किसी रूप मे निरपेक्ष नीति के तत्त्व की कल्पना कर डालते है।

१. लिवाइ-अ-थन्, खण्ड २, अध्याय २७, पृ० १३.
२. यूटिलिटेरिअनिज्म, अध्याय ५, पृ० ९५.
३. नैतिक जीवन के सिद्धान्त, पृ० ५९.
४. रीसेण्ट एथिक्स इन इट्स ब्राडर रिलेशन्स, उद्धृत—कण्टेम्पररि एथिकल थ्योरीज, १६४.

§ २. भारतीय दृष्टिकोण

पश्चिम की तरह भारत में भी नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष पक्षों पर काफी गहन विचार हुआ है। नैतिक कर्मो की अपवादात्मकता और निरपवादिता की चर्चा के स्वर वेदों, स्मृतिग्रन्थों और पौराणिक साहित्य मे काफी जोरों से सुनाई देते है।[1] जैन विचारणा के अनुसार, नैतिकता को ऐकान्तिक रूप से न तो सापेक्ष कहा जा सकता है और न निरपेक्ष। यदि वह सापेक्ष है तो इसीलिए कि वह निरपेक्ष भी है।[2] निरपेक्ष के अभाव में सापेक्ष सच्चा नही है। वह निरपेक्ष इसलिए है कि वह सापेक्षता से ऊपर भी है। नैतिकता की सापेक्षता एवं निरपेक्षता के प्रश्न का ऐकान्तिक हल जैन विचारणा प्रस्तुत नही करती। वह नैतिकता को सापेक्ष मानते हुए भी उसमें निरपेक्षता के सामान्य तत्त्व की अवधारणा करती है। वह सापेक्षिक नैतिकता की उस कमजोरी को स्पष्ट रूप से जानती थी कि उसमे नैतिक आदर्श के रूप में जिस सामान्य तत्त्व की आवश्यकता होती है, उसका अभाव होता है। सापेक्ष नैतिकता आचरण के तथ्यों को प्रस्तुत करती है, लेकिन आचरण के आदर्श को नही। यही कारण है कि जैन विचारणा ने भी इस समस्या के निराकरण के लिए वही समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया था, जिसे स्पेन्सर और डिवी ने अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि के नवीन सन्दर्भो में वर्तमान युग में प्रस्तुत किया है।

इस प्रश्न पर गहराई से विचार करना आवश्यक है कि जैन नैतिकता किस अर्थ में सापेक्ष है और किस अर्थ मे निरपेक्ष है। जैन तत्त्वज्ञान अनेकान्त-सिद्धान्त को आधार मानकर चलता है। उसके अनुसार, सत् अनन्त धर्मात्मक है; अतः सत् सम्बन्धी प्राप्त सारा ज्ञान आशिक ही होगा, पूर्ण नही होगा। हम सब जो नैतिकता के क्षेत्र में आते है अथवा जो उसके आचरण मे लगे हुए है, पूर्ण नहीं है। हमे अपनी अपूर्णता का स्पष्ट बोध है। अतः हम जो भी जानेंगे वह अपूर्ण ही होगा, सान्त होगा, समक्ष होगा, और इसलिए आंशिक एवं सापेक्ष होगा। और यदि ज्ञान ही सापेक्ष होगा तो हमारे नैतिक निर्णय भी, जो हम प्राप्त ज्ञान के आधार पर देते है, सापेक्ष ही होंगे। इस प्रकार अनेकान्त की धारणा से नैतिक निर्णयों की सापेक्षता निष्पन्न होती है।

आचरण के जिन तथ्यों को हम शुभ-अशुभ अथवा पुण्य-पाप के नाम से सम्बोधित करते हैं, उनके सन्दर्भ में साधारण व्यक्ति द्वारा दिये गये निर्णय सापेक्ष ही हो सकते हैं। हमारे निर्णयों के देने में कम से कम कर्ता के प्रयोजन एवं कर्म के परिणाम के पक्ष तो उपस्थित होते ही है। दूसरे व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध में दिये गये हमारे अधिकांश निर्णय परिणाम-सापेक्ष होते है, जबकि हमारे अपने आचरण सम्बन्धी निर्णय प्रयोजन-सापेक्ष होते है। किसी भी व्यक्ति को न तो पूर्णतया यह ज्ञान होता है कि कर्ता का प्रयोजन क्या था और न यह ज्ञान होता है कि उसके

---

१. देखिए—गीतारहस्य, अध्याय २, कर्मजिज्ञासा.

२. स्वयम्भूस्तोत्र, १०३.

कर्मों का दूसरों पर क्या परिणाम हुआ। अतः जनसाधारण के नैतिक निर्णय हमेशा अपूर्ण ही होंगे।

दूसरी ओर यह सारा जगत् ही अपेक्षाओं से युक्त है, क्योंकि जगत् की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। ऐसे जगत् में आचरित नैतिकता निरपेक्ष नहीं हो सकती। सभी कर्म देश, काल अथवा व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए निरपेक्ष नहीं हो सकते। बाह्य जागतिक परिस्थितियाँ और कर्म के पीछे के वैयक्तिक प्रयोजन भी आचरण को सापेक्ष बना देते हैं।

(अ) जैन दृष्टिकोण

एक ही प्रकार से आचरित कर्म एक स्थिति में नैतिक होता है और भिन्न स्थिति में अनैतिक हो जाता है। एक ही कर्म एक के लिए नैतिक हो सकता है, दूसरे के लिए अनैतिक। जैन विचारधारा आचरित कर्मों की नैतिक सापेक्षता को स्वीकार करती है। प्राचीनतम जैन आगम आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जो आचरित कर्म आस्रव या बन्धन के कारण है वे भी मोक्ष के हेतु हो जाते है और जो मोक्ष के हेतु हैं, वे भी बन्धन के हेतु हो जाते हैं।[१] इस प्रकार कोई भी अनैतिक कर्म विशेष परिस्थिति में नैतिक बन जाता है और कोई भी नैतिक कर्म विशेष परिस्थिति में अनैतिक बन सकता है।

केवल साधक की मनःस्थिति, जिसे जैन परिभाषा में 'भाव' कहते हैं, आचरण के कर्मों का मूल्यांकन करती है, और उसके साथ-साथ जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र और काल को भी कर्मों की नैतिकता और अनैतिकता का निर्धारक तत्त्व स्वीकार किया है। उत्तराध्ययनचूर्णि में कहा है, "तीर्थंकर देश और काल के अनुरूप धर्म का उपदेश करते है।"[२] आचार्य आत्मारामजी महाराज लिखते है कि बन्ध और निर्जरा (कर्मों की अनैतिकता और नैतिकता) में भावों की प्रमुखता है, परन्तु भावों के साथ स्थान और क्रिया का भी मूल्य है।[3] आचार्य हरिभद्र के अष्टक प्रकरण की टीका में आचार्य जिनेश्वर ने चरकसंहिता का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका आशय यह है कि देश, काल और रोगादि के कारण मानवजीवन में कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है जब अकार्य कार्य बन जाता है, विधान निषेध की कोटि में चला जाता है और निषेध विधान की कोटि में चला जाता है। इस प्रकार जैन नैतिकता में स्थान (देश), समय (काल), मनःस्थिति (भाव) और व्यक्ति इन चार आपेक्षिकताओं का नैतिक मूल्यों के निर्धारण में प्रमुख महत्त्व है। आचरण के कर्म इन्हीं चारों के आधार पर नैतिक और अनैतिक बनते रहते हैं। संक्षेप में एकान्त रूप से न तो कोई आचरण, कर्म या क्रिया नैतिक है और न अनैतिक; वरन् देश-कालगत बाह्य परिस्थितियाँ और द्रव्य तथा भावगत परिस्थितियाँ उन्हें वैसा

१. आचारांग, १।४।२।१३०; देखिए—श्री अमरभारती, मई १९६४, पृ० १५.
२. उत्तराध्ययनचूर्णि, २३.
३. आचारांग, हिन्दी टीका, पृ० ३७८.

बना देती हैं। इस प्रकार जैन नैतिकता व्यक्ति के कर्तव्यों के सम्बन्ध में अनेकान्तवादी या सापेक्ष दृष्टिकोण अपनाती है। वह यह भी स्वीकार करती है कि सामान्य स्थिति में प्रतिमा-पूजन अथवा दानादि कार्य, जो एक गृहस्थ के नैतिक कर्तव्य हैं, वे ही एक मुनि या संन्यासी के लिए अकर्तव्य होते हैं—अनैतिक एवं अनाचरणीय होते है। कर्तव्याकर्तव्यमीमांसा में जैन विचारणा किसी भी ऐकान्तिक दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करती। आचार्य हरिभद्र लिखते है कि भगवान् तीर्थंकर देवों ने न किसी बात के लिए एकान्त विधान किया है और न एकान्त निषेध ही किया है, उनका एक ही आदेश है कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो उसे सत्यभूत होकर करो, उसे पूरी प्रामाणिकता के साथ करते रहो।[१] आचार्य उमास्वाति का कथन है, "नैतिक, अनैतिक; विधि (कर्तव्य), निषेध (अकर्तव्य); अथवा आचरणीय (कल्प), अनाचरणीय (अकल्प) एकान्त रूप से नियत नहीं हैं। देश, काल, व्यक्ति, अवस्था, उपघात और विशुद्ध मनःस्थिति के आधार पर अनाचरणीय आचरणीय बन जाता है और आचरणीय अनाचरणीय।"[२]

उपाध्याय अमरमुनिजी जैन दर्शन की अनेकान्तदृष्टि के आधार पर जैन नैतिकता के सापेक्षिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि त्रिभुवनोदर विवरवर्ती समस्त असंख्येय भाव अपने आपमें न तो मोक्ष का कारण हैं और न संसार का कारण हैं, साधक की अपनी अन्तःस्थिति ही उन्हें अच्छे और बुरे का रूप दे देती है।[3] अतः एकान्तरूप में न कोई आचरण शुभ होता है और न कोई अशुभ। इसे स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते है कि कुछ विचारक जीवन में उत्सर्ग (नैतिकता की निरपेक्ष या निरपवाद स्थिति) को पकड़कर चलना चाहते है, जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप करते है। उनकी दृष्टि में अपवाद (नैतिकता का सापेक्षिक दृष्टिकोण) धर्म नही, अपितु एक महत्तर पाप है। दूसरी ओर, कुछ साधक वे है जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते हैं। ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय की कोटि में नही आ सकते। जैन धर्म की साधना एकान्त की नही, अनेकान्त की स्वस्थ और सुन्दर साधना है।[४] उसके दर्शनकक्ष में मोक्ष के हेतुओं की कोई बँधी-बँधायी नियत रूपरेखा नहीं है, कोई इयत्ता नहीं है।[५] अतः यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन को अनेकान्तवादी विचारपद्धति के आधार पर सापेक्षिक नैतिकता की धारणा मान्य है। यद्यपि उसका यह सापेक्ष दृष्टिकोण निरपेक्ष दृष्टिकोण का विरोधी नहीं है। जैन नैतिकता में एक पक्ष निरपेक्ष नैतिकता का भी है, जिसपर आगे विचार किया जायेगा।

---

१. उपदेशपद, ७७९.

२. प्रशमरति-प्रकरण (उमास्वाति), १४६; तुलना कीजिए—ब्रह्मसूत्र (शां०), ३।१।२५; गीता (शां०) ३।३५ तथा १८।४७–४८.

३. श्री अमरभारती, मई १९६४, पृ० १५.

४. वही, फरवरी १९६५, पृ० ५.

५. वही, मार्च १९६५, पृ० २८.

(ब) गीता का दृष्टिकोण

गीता का दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि कर्तव्याकर्तव्य का निरपेक्ष रूप में निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है।[१] गीता में भी आचार के नियमों की देश, काल और व्यक्तिगत सापेक्षता स्वीकृत है।[२] गीता में कहा है कि देश, काल और पात्र का विचार कर जो दान दिया जाता है वही सात्विक होता है, अर्थात् आचरण के औचित्य और अनौचित्य का निर्णय देश, काल और व्यक्ति की अवस्थाओं पर निर्भर है। लोकमान्य तिलक के शब्दों में कार्याकार्य की व्यवस्था देनेवाला गीता जैसा कोई प्राचीन ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में नही दिखाई देता।[3] उन्होंने 'गीता-रहस्य' में 'कर्म-जिज्ञासा' नामक अध्याय में नैतिक नियमों की अपवादिता और सापेक्षिकता की विशद चर्चा की है और उसे हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनेक उद्धरणों के द्वारा पुष्ट भी किया है।

महाभारत तथा मनुस्मृति आदि—महाभारत में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जो नैतिक नियमों की सापेक्षिकता सिद्ध करते हैं। शान्तिपर्व में भीष्म पितामह कहते हैं कि ऐसा कोई आचार नही मिलता जो हमेशा सबके लिए समान रूप से हितकारक हो। यदि किसी एक आचार को स्वीकार किया जाता है तो दूसरा आचार उससे भी श्रेष्ठ प्रतीत होता है। एक आचार का दूसरे आचार से विरोध भी हो जाता है।[४] यह भी कहा गया है कि किसी समय धर्मरूप कर्म ही अधर्मरूप और कभी अधर्मरूप दीखनेवाला कर्म ही धर्म बन जाता है, अतः भलीभाँति विचार करके ही कार्य करना चाहिए।[५] इस प्रकार आचार के किसी एक निरपेक्ष रूप का प्रतिपादन सम्भव नही है। कालभेद एवं देशभेद से आचार में परिवर्तन होते रहते है। मनु का कथन है कि युगों के अनुरूप अर्थात् कालगत भेदों के कारण कृतयुग (सतयुग), त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलयुग में आचार के नियम भिन्न होते हैं।[६] एक ही क्रिया देश या काल के भेद से धर्म या अधर्म हो जाती है। जो धर्म होता है वह अधर्म हो जाता है और जो अधर्म होता है वह धर्म हो जाता है। चोरी, झूठ और हिंसा भी अवस्था-विशेष में धर्म हो जाते है।[७]

गीता में जिस कार्याकार्य व्यवस्थिति का प्रतिपादन है, उसका प्रयोजन यही है कि किंकर्तव्य का निश्चय देश व कालगत परिस्थितियों के अनुसार करना चाहिए। गीता का स्वधर्म का सिद्धान्त नैतिक सापेक्षता का सबसे बड़ा प्रमाण है जो वैयक्तिक

१. गीता, ४।१७.
२. वही, १७।२०.
३. गीतारहस्य, पृ० ५१.
४. महाभारत, शान्तिपर्व, २५९।१७–१८.
५. वही, ३३।३२.
६. मनुस्मृति, १।८५.
७. महाभारत, शान्तिपर्व, ६३।११.

गुणों की भिन्नता के आधार पर आचार के नियमों की विभिन्नता स्वीकार करता है। भारतीय वर्णधर्म का विधान भी पात्र की योग्यता के आधार पर निर्भर है। योग्यता के आधार पर पात्र पर सामाजिक कर्तव्यों का दायित्व डालना ही वर्ण-व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं हिन्दू आचार-दर्शन में नैतिक आचरण देश, काल और व्यक्ति सापेक्ष है।

(स) बौद्ध दृष्टिकोण

इस सन्दर्भ में बौद्ध दृष्टिकोण भी जैन और वैदिक परम्पराओं के तुल्य ही है। विशुद्धिमार्ग में सपर्यन्त और अपर्यन्त शीलों के रूप में सापेक्ष नैतिक नियमों और निरपेक्ष नैतिक नियमों को स्वीकार किया गया है।[1] बुद्ध ने नैतिक नियमों के निर्माण में सदैव ही सापेक्ष दृष्टिकोण अपनाया है और देश-कालगत परिस्थितियों के आधार पर वे स्वयं ही परिवर्तन करते रहे हैं। विनयपिटक साक्षी है कि आचार के सामान्य नियमों के सन्दर्भ में बुद्ध का दृष्टिकोण कितना सापेक्ष था। परिनिर्वाण के पूर्व बुद्ध ने आनन्द से कहा था, "हे आनन्द, यदि संघ की इच्छा हो, तो मेरी मृत्यु के पश्चात् वह साधारण नियमों को छोड़ दे।" बौद्ध धर्म के मर्मज्ञ विद्वान् धर्मानन्द कोसम्बी लिखते है कि इससे यह स्पष्ट होता है कि छोटे-मोटे या मामूली नियमों को छोड़ने या देश-काल के अनुसार साधारण नियमों में हेरफेर करने के लिए भगवान् ने संघ को अनुमति दे दी थी।[2] बुद्ध ने भी अवन्तिका जनपद में विचरण करनेवाले भिक्षुओं के लिए स्नान एवं उपसम्पदा सम्बन्धी नियमों को शिथिल कर दिया था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध का दृष्टिकोण आचरण के सामान्य नियमों के सम्बन्ध में सापेक्ष ही था।

§ ३. ब्रैडले का दृष्टिकोण और जैन दर्शन

पाश्चात्य अध्यात्मवादी दार्शनिक ब्रैडले का दृष्टिकोण भी जैन दर्शन के समान ही सापेक्षवादी है। वे लिखते हैं, "प्रत्येक कर्म के अनेक पक्ष होते है, अनेक रूप होते हैं, उसके अनेक वैचारिक दृष्टिकोण होते हैं और वह अनेक गुणों से युक्त होता है, सदैव अनेक ऐसे सिद्धान्त हो सकते है जिनके अन्तर्गत विचार किया जा सकता है, और इसलिए उसे (एकान्तरूप में) नैतिक अथवा अनैतिक मानने में कुछ कम कठिनाई नहीं होती। विश्व में ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिसे किसी एक धारणा के अनुसार शुभ या अशुभ ठहराया जा सके।[3] मेरा स्थान और उसके कर्तव्य का सिद्धान्त बताता है कि यदि नैतिक तथ्य सापेक्ष नहीं है तो कोई नैतिकता नहीं होगी। ऐसी नैतिकता जो सापेक्ष नहीं है, व्यर्थ है।[4]

---

१. विसुद्धिमग्ग, भाग १, पृ० १४.
२. भगवान बुद्ध, पृ० १६१.
३. एथिकल स्टडीज, पृ० १९६.
४. वही, पृ० १८९.

नैतिकता का निरपेक्ष पक्ष

जैन दर्शन में नैतिकता के सापेक्ष पक्ष का महत्त्व है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जैन दर्शन में नैतिकता का निरपेक्ष पक्ष स्वीकार नहीं है। जैन तीर्थंकरों का उद्घोष था कि धर्म शुद्ध है, नित्य और शाश्वत है।[1] नैतिकता में यदि कोई निरपेक्ष एवं शाश्वत तत्त्व नहीं है, तो फिर धर्म की नित्यता और शाश्वतता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जैन नैतिकता के अनुसार अतीत, वर्तमान और भविष्य के सभी धर्मप्रवर्तकों (तीर्थंकरों) की धर्मप्रज्ञप्ति एक ही होती है। लेकिन यह भी कहा गया है कि धर्मप्रज्ञप्ति एक होने पर भी विभिन्न तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित आचार-नियमों में भिन्नता हो सकती है, जैसे कि महावीर एवं पार्श्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित आचार-नियमों में थी।[2] जैन विचारणा के अनुसार नैतिकता के आन्तरिक और बाह्य ऐसे दो पक्ष होते हैं, जिन्हें पारिभाषिक शब्दों में द्रव्य और भाव कहा गया है। आचरण का यह बाह्य पक्ष देश एव कालगत परिवर्तनों के आधार पर परिवर्तनशील अर्थात् सापेक्ष होता है, परन्तु आन्तरिक पक्ष सदैव एकरूप होता है, निरपेक्ष होता है। वैचारिक या भावहिंसा सदैव अनैतिक होती है, वह कभी भी धर्म-मार्ग अथवा नैतिक नियम नही हो सकती। लेकिन द्रव्यहिंसा या बाह्यरूप में परिलक्षित हानेवाली हिंसा सदैव ही अनैतिक अथवा अनाचरणीय ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। आभ्यन्तर-परिग्रह अर्थात् आसक्ति सदैव ही अनैतिक है, लेकिन द्रव्य-परिग्रह को सदैव अनैतिक नही कहा जा सकता। संक्षेप में, जैन विचारणा के अनुसार आचरण के बाह्य रूपों में नैतिकता सापेक्ष हो सकती है, लेकिन आचरण के आन्तरिक भावों या संकल्पों के रूप में वह सदैव निरपेक्ष होती है। सम्भव है कि बाह्य रूप में अशुभ दीखनेवाला कोई कर्म अपने अन्तर में निहित किसी सदाशयता के कारण शुभ हो जाये, लेकिन आन्तरिक अशुभ संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नही हो सकता।

जैन मान्यता में नैतिकता अपने हेतु या संकल्प की दृष्टि से निरपेक्ष होती है, परिणाम की दृष्टि से सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में, नैतिक संकल्प निरपेक्ष होता है, लेकिन कर्म सापेक्ष होता है। इसी कथन को जैन परिभाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यवहारनय से नैतिकता सापेक्ष है या व्यावहारिक नैतिकता (Practical Morality) सापेक्ष है; लेकिन निश्चयनय से नैतिकता निरपेक्ष है या निश्चय-नैतिकता निरपेक्ष है। जैनसम्मत व्यावहारिक नैतिकता वह है जो कर्म के परिणाम या फल पर दृष्टि रखती है और निश्चय-नैतिकता कर्ता के संकल्प पर दृष्टि रखती है। युद्ध का संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नही हो सकता, लेकिन युद्ध का कर्म सदैव अनैतिक ही हो, यह आवश्यक नहीं। आत्महत्या का संकल्प सदैव

१. आचारांग, १।४।१।१२७.
२. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय २३.

अनैतिक होता है, लेकिन आत्महत्या का कर्म सदैव अनैतिक ही हो, यह आवश्यक नही है, वरन् कभी-कभी तो वह नैतिक ही हो जाता है ।[1]

नैतिकता के क्षेत्र मे जब एक बार व्यक्ति के सकल्प-स्वातन्त्र्य को स्वीकार कर लेते है, तो फिर यह कहने का अधिकार ही नही रह जाता कि हमारा सकल्प सापेक्ष है और तब नैतिकता भी सापेक्ष नही मानी जा सकती । यही कारण है कि जैन विचारणा सकल्प या विचारो की दृष्टि से नैतिकता को सापेक्ष नही मानती । उसके अनुसार शुभ अध्यवसाय या सकल्प सदैव शुभ है, नैतिक है, और कभी भी अनैतिक या अधर्म नही होता, लेकिन किसी भी निरपेक्ष नैतिकता की धारणा को व्यावहारिक आचरण के क्षेत्र पर पूरी तरह लागू नही किया जा सकता, क्योकि व्यवहार सदैव सापेक्ष होता है । डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा लिखते है, "यदि कोई नियम आचार का निरपेक्ष नियम बन सकता है, तो वह बाह्य न होकर आभ्यन्तरिक ही होना चाहिए ।[2] आचार का निरपेक्ष नियम वही हो सकता है जो मनुष्य के अन्तस् मे उपस्थित हो । यदि वह नियम बाह्यात्मक हो तो वह सापेक्ष ही सिद्ध होगा, क्योकि उसका पालन करने के लिए मनुष्य को बाहरी परिस्थितियो पर निर्भर रहना पडेगा ।

जैनो ने नैतिकता का निरपेक्ष तो माना, लेकिन केवल सकल्प के क्षेत्र तक । जैन नैतिकता 'मानस-कर्म' के क्षेत्र मे नैतिकता को विशुद्ध रूप मे निरपेक्ष स्वीकार करती है, लेकिन कायिक या वाचिक कर्मो के बाह्य आचरण के क्षेत्र का वह सापेक्ष कहती है । वस्तुत विचार का क्षेत्र, मानस का क्षेत्र, आत्मा का अपना क्षेत्र है वहाँ चेतना और प्रज्ञा ही सर्वोच्च शासक है, नैतिक जीवन का साध्य उसी मे स्थित रहता है, अत वहाँ नैतिकता को निरपेक्ष रूप मे स्वीकार किया जा सकता है । लेकिन आचरण के क्षेत्र मे चेतन तत्त्व एकमात्र शासक नही है, वहा तो अन्य परिस्थितियाँ भी शासन करती है । वहा नैतिकता का साधनात्मक पक्ष होता है, अत. उस क्षेत्र मे नैतिकता के प्रत्यय को निरपेक्ष नही बनाया जा सकता । वहाँ नैतिकता की सापेक्षता ही समुचित प्रतीत होती है ।

जैन विचार के इतिहास मे एक प्रसग ऐसा भी आया है, जब आचार्य भिक्षु जैसे कुछ विचारको ने नैतिकता के बाह्यात्मक नियमो को भी निरपेक्ष रूप मे ही स्वीकार करने की कोशिश की । वस्तुत. जो नैतिक विचारणाएँ मात्र सापेक्ष दृष्टि को ही स्वीकार करती है, वे नैतिक जीवन के आचरण मे उस वास्तविकता (Fact)

१. चेलना के द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा के लिए की गयी आत्महत्या को जैन विचारणा मे अनुमोदित ही किया गया है । इसी प्रकार चेटक के द्वारा न्याय की रक्षा के लिए लडे गये युद्ध से उनके अहिंसा के व्रत को खण्डित नही माना गया है ।

२. पाश्चात्य आचारशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० १३९.

की भूमिका को महत्त्व देती है जिसमें साधक खड़ा हुआ है। लेकिन वे उस यथार्थता से ऊपर स्थित आदर्श का समुचित मूल्याकन करने मे सफल नही हो पाती। वास्तविकता यह है कि वे 'जो है' उसपर तो ध्यान देती है, लेकिन 'जो होना चाहिए' उसपर उनकी दृष्टि नही पहुँचती। उनकी दृष्टि यथार्थ या वास्तविकता पर होती है, आदर्श पर नही। नैतिकता की ऐकान्तिक सापेक्षवादी मान्यता मे नैतिक आदर्श की स्थापना जटिल हो जाती है। उसमें नैतिकता सदैव ही बनी रहती है तथा ऐसी कच्ची सामग्री प्रस्तुत करती है जिसका अपना कोई 'आकार' नही होता। वह तो कुम्हार के चाक पर रखे हुए मृत्तिका-पिण्ड के समान होती है, जिसका क्या बनना है यह निश्चय नही। दूसरे सापेक्षिक नैतिकता के सिद्धान्त मे मूल्याकन की क्रिया परिस्थिति पर आधारित होती है। नैतिकता का सापेक्ष सिद्धान्त परिस्थिति पर ही सारा बल देता है। परिस्थिति सदैव परिवर्तनशील होती है। इतना ही नही, प्रत्येक परिस्थिति अपने आपमें 'विशिष्ट' होती है और नैतिक कर्ता के रूप मे प्रत्येक व्यक्ति भी विशिष्ट होता है। अतः नैतिकता के सापेक्ष सिद्धान्त मे सामान्य नैतिक-नियमो का निर्माण एक असम्भावना बन जाती है। आचरण के सामान्य नियमों के अभाव मे व्यावहारिक नैतिकता का भी कोई स्वरूप अवशिष्ट नही रहता। एक व्यावहारिक आचारदर्शन के लिए यह आवश्यक है कि परिस्थिति एवं व्यक्ति के अन्तर को ध्यान मे रखते हुए कुछ ऐसे वर्ग बनाये जिनमें प्रत्येक वर्ग एवं स्थिति के आचरण के नियमों का सामान्य प्रतिमान प्रस्तुत किया जा सके।

जो नैतिक विचारणाएँ केवल निरपेक्ष दृष्टि को स्वीकार करती है वे मात्र 'आदर्श' की ओर देखती है। वे नैतिक आदर्श को प्रस्तुत कर देती है, लेकिन साधना-पथ के समुचित निर्धारण मे असफल हो जाती है; क्योंकि साधना-पथ सदैव परि-स्थिति-सापेक्ष होता है और नैतिकता केवल साध्य रह जाती है। नैतिकता की निरपेक्षवादी धारणा नैतिक जीवन के प्रयोजन अथवा कर्म के पीछे निहित कर्ता के अभिप्राय को ही सब कुछ मान लेती है। लेकिन नैतिकता तो जीवन को ढालना है, उसे सुन्दर स्वरूप प्रदान करना है। इसके लिए आकार और सामग्री दोनों आवश्यक है। इतना ही नही, नैतिकता का साँचा ऐसा भी होना चाहिए जो सब प्रकार की जीवन-सामग्री को ढालने के लिए लचीला हो। नैतिक जीवन के आदर्श इस प्रकार प्रस्तुत किये जाने चाहिए कि उसमें निम्न से निम्नतर चारित्रवाले से लगाकर उच्चतम नैतिक विकासवाले प्राणियों के समाहित होने की सम्भावना रहे। जैन नैतिकता नैतिक आदर्श को इतने लचीले रूप में प्रस्तुत करती है कि पापी जीव भी क्रमिक विकास करता हुआ नैतिक साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सके।

नैतिकता लक्ष्योन्मुख गति है। उस गति मे साधक की दृष्टि उस भूमि पर ही स्थित होती है, जिसपर वह गति कर रहा है। यदि अपने गन्तव्य मार्ग में सामने नही देखता तो वह कभी भी बाधाओं से टकराकर गिर सकता है। इसी प्रकार जो साधक केवल आदर्श की ओर देखता है और उस भूमि की ओर नहीं देखता जिसपर

चल रहा है, तो वह भी अनेक ठोकरें खाता है और भटक जाता है। नैतिक जीवन में भी हमारी गति का वही स्वरूप होता है जो हमारे दैनिक जीवन में होता है। जिस प्रकार दैनिक जीवन में चलने के उपक्रम में हमारा काम न तो केवल सामने देखने से चलता है, न ही सिर्फ नीचे देखने से। चलने की सम्यक् प्रक्रिया वही है जिसमें पथिक सामने और नीचे दोनों ओर दृष्टि रखे। नैतिक जीवन में भी साधक को यथार्थ और आदर्श, दोनों पर दृष्टि रखनी होती है, तभी नैतिक जीवन में सम्यक् प्रगति सम्भव है।

यह शंका उठ सकती है कि सामान्य जीवन में तो दो आँखें मिली हैं, लेकिन नैतिक जीवन की दो आँखें कौन सी है? किसी अपेक्षा से ज्ञान और क्रिया को नैनिक जीवन की दो आँखें कहा जा सकता है। नैतिकता कहती है कि ज्ञान नामक आँख को आदर्श पर केन्द्रित करो और क्रिया नामक आँख को यथार्थ पर, अर्थात् कर्म के आचरण में यथार्थता की ओर देखो और गन्तव्य की ओर प्रगति करने में आदर्श की ओर।

§ ४. उत्सर्ग और अपवाद

जैन नैतिक विचारणा मे नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों रूप स्वीकृत है। लेकिन उसमें भी निरपेक्षता दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त है। प्रथम प्रकार की निरपेक्षता वह है जिसमें आचार के सामान्य या मौलिक नियमों को निरपेक्ष माना जाता है और विशेष नियमों को सापेक्ष माना जाता है; जैसे अहिसा सामान्य या सार्वभौम नियम है, लेकिन मासाहार विशेप नियम है। जैन परिभाषा मे कहें तो श्रमण के मूलगुण सामान्य नियम है और इस प्रकार निरपेक्ष हैं, जवकि उत्तरगुण विशेप नियम हैं, सापेक्ष है। आचार के सामान्य नियम देशकालगत विभेद में भी अपनी मूलभूत दृष्टि के आधार पर निरपेक्ष प्रतीत होते है। लेकिन इस प्रकार की निरपेक्षता वस्तुतः सापेक्ष ही है। आचरण के जिन नियमों का विधि और निषेध जिस सामान्य दशा में किया गया है, उसकी अपेक्षा से आचरण के वे नियम उसी रूप में आचरणीय है। व्यक्ति सामान्य स्थिति में उन नियमों के परिपालन में किसी अपवाद या छूट की अपेक्षा नहीं कर सकता। यहाँ पर भी सामान्य दशा का विचार व्यक्ति एवं उसकी देशकालगत बाह्य परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया गया है, अर्थात् यदि व्यक्ति स्वस्थ है और देशकालगत परिस्थितियाँ भी वे ही हैं जिनको ध्यान में रखकर विधि या निषेध किया गया है, तो व्यक्ति को उन नियमों तथा कर्तव्यों का पालन भी तदनुरूप करना होगा। जैन परिभापा में इसे 'उत्सर्ग-मार्ग' कहा जाता है, जिसमें साधक को नैतिक आचरण शास्त्रों में प्रतिपादित रूप में ही करना होता है। उत्सर्ग नैतिक विधि-निषेधों का सामान्य कथन है। जैसे मन, वचन, काय से हिंसा न करना, न करवाना, न करनेवाले का समर्थन करना। लेकिन जब इन्हीं सामान्य विधि-निषेधों को किन्हीं विशेष परिस्थितियों में शिथिल कर दिया जाता है, तब नैतिक आचरण की उस अवस्था को 'अपवाद-मार्ग' कहा जाता है। उत्सर्ग-मार्ग

अपवाद-मार्ग की अपेक्षा से सापेक्ष है, लेकिन जिस परिस्थितिगत सामान्यता के तत्त्व को स्वीकार कर उत्सर्ग-मार्ग का निरूपण किया जाता है, उस सामान्यता के तत्त्व की दृष्टि से निरपेक्ष ही होता है। अपवाद की अवस्था में सामान्य नियम का भंग हो जाने से उसकी मान्यता खण्डित नहीं हो जाती, उसकी सामान्यता या सार्वभौमिकता समाप्त नहीं हो जाती। मान लीजिए, हम किसी निरपराध प्राणी की जान बचाने के लिए असत्य बोलते हैं, इससे सत्य बोलने का सामान्य नियम खण्डित नहीं हो जाता। अपवाद न तो कभी मौलिक नियम बन सकता है, न अपवाद के कारण उत्सर्ग की सामान्यता या सार्वभौमिकता ही खण्डित होती है। उत्सर्ग-मार्ग को निरपेक्ष कहने का प्रयोजन यही होता है कि वह मौलिक होता है, यद्यपि उन मौलिक नियमों पर आधारित बहुत-से विशेष नियम हो सकते हैं। उत्सर्ग-मार्ग अपवाद-मार्ग का बाध नहीं करता है, वह तो मात्र इतना ही बताता है कि अपवाद सामान्य नियम नहीं बन सकता। डा० श्रीचन्द के शब्दों में, "निरपेक्षवाद (उत्सर्ग-मार्ग) सभी नियमों की सार्वभौमिकता सिद्ध नही करना चाहता, परन्तु केवल सभी मौलिक नियमों की सार्वभौमिकता सिद्ध करना चाहता है।"[1] उत्सर्ग की निरपेक्षता देश, काल एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों के अन्दर ही होती है, उससे बाहर नही। उत्सर्ग और अपवाद नैतिक आचरण की विशेष पद्धतियाँ हैं। लेकिन दोनों ही किसी एक नैतिक लक्ष्य के लिए हैं; इसलिए दोनों नैतिक हैं। जैसे, दो मार्ग यदि एक ही नगर तक पहुँचाते हों, तो दोनों ही मार्ग होंगे, अमार्ग नहीं; वैसे ही अपवादात्मक नैतिकता का सापेक्ष स्वरूप और उत्सर्गात्मक नैतिकता का निरपेक्ष स्वरूप दोनों ही नैतिकता के स्वरूप हैं और कोई भी अनैतिक नहीं है। लेकिन नैतिक निरपेक्षता का एक रूप और है, जिसमें वह सदैव ही देश, काल एवं व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठी होती है। नैतिकता का वह निरपेक्ष रूप अन्य कुछ नहीं, स्वयं 'नैतिक आदर्श' ही है। नैतिकता का लक्ष्य एक ऐसा निरपेक्ष तथ्य है जो सारे नैतिक आचरणों के मूल्यांकन का आधार है। नैतिक आचरण की शुभाशुभता का अंकन इसी पर आधारित है। कोई भी आचरण, चाहे वह उत्सर्ग-मार्ग से हो या अपवाद-मार्ग से, हमें उस लक्ष्य की ओर ले जाता है जो शुभ है। इसके विपरीत जो भी आचरण इस नैतिक आदर्श से विमुख करता है, वह अशुभ है, अनैतिक है। नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद नामक दोनों मार्ग इसी की अपेक्षा से सापेक्ष हैं और इसी के मार्ग होने से निरपेक्ष भी, क्योंकि मार्ग के रूप में किसी स्थिति तक इससे अभिन्न भी होते हैं और यही अभिन्नता उनको निरपेक्षता का यथार्थ तत्त्व प्रदान करती है। लक्ष्यरूपी नैतिक चेतना के सामान्य तत्त्व के आधार पर ही नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद, दोनों मार्गों का विधान है। लक्ष्यात्मक नैतिक चेतना ही उनका निरपेक्ष तत्त्व है, जबकि आचरण का साधनात्मक मार्ग सापेक्ष तथ्य है। लक्ष्य या नैतिक आदर्श नैतिकता की आत्मा है और बाह्य आचरण उसका शरीर है। अपनी

---

१. नीतिशास्त्र का परिचय, डा० श्रीचन्द, पृ० १२२.

आत्मा के रूप में नैतिकता निरपेक्ष है, लेकिन अपने शरीर के रूप में वह सदैव सापेक्ष है। इस प्रकार जैन दर्शन में नैतिकता के दोनों ही पक्ष स्वीकृत हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की सम्यक् प्रगति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। जैसे लक्ष्य पर पहुँचने के लिए यात्रा और पड़ाव दोनों आवश्यक हैं वैसे ही नैतिक जीवन के लिए भी दोनों पक्ष आवश्यक हैं। कोई भी एक दृष्टिकोण समुचित और सर्वांगीण नहीं कहा जा सकता। समकालीन नैतिक चिन्तन में भी जैन दर्शन के इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है।

§ ५. डिवी का दृष्टिकोण और जैन दर्शन

पाश्चात्य फलवादी दार्शनिक जान डिवी का दृष्टिकोण जैन दर्शन की उपर्युक्त विचारणा के निकट पड़ता है। इस संदर्भ में उसके विचारों को जान लेना भी आवश्यक है। वह लिखता है कि 'नैतिक सिद्धान्तों का कार्य एक दृष्टिकोण और पद्धति प्रदान करना है जो किसी विशेष परिस्थिति में, जिसमें कि व्यक्ति अपने आपको पाता है, शुभ और अशुभ तत्त्वों के विश्लेषण के लिए उसे सक्षम बनाती है। वे परिस्थितियाँ सदैव परिवर्तनशील हैं जिनमें नैतिक आदर्शों का निर्माण होता है। नैतिक मूल्यांकनों, कर्तव्यों एवं नैतिक प्रतिमानों के लिए उन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि इसका यह अर्थ मान लेना भी मूर्खतापूर्ण होगा कि सभी नैतिक सिद्धान्त इतने सापेक्ष हैं कि किसी भी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति नहीं है। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है, लेकिन उसका आधार नहीं बदलता। प्राप्तव्य लक्ष्यों एवं परिणामों का आधार सदैव समान रहता है। वस्तुतः समग्र नैतिकता का मूलभूत स्वरूप वही रहता है। नैतिकता के विशेष रूप समय-समय पर सामाजिक परिस्थितियों के साथ बदलते रहते हैं। लेकिन इच्छा, उद्देश्य, सामाजिक माँगें एवं नियम और सहानुभूतिपूर्ण अनुमोदन और आवेशपूर्ण अनुमोदन के तथ्य स्थिर रहते हैं। नैतिकता के विशेष पक्ष अस्थिर हैं। वे सदैव अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति में सदोष होते हैं। लेकिन नैतिक प्रयत्नों का आकारिक स्वरूप उतना ही स्थायी है, जितना कि स्वयं मानवजीवन। नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील, सापेक्षिक है, लेकिन नैतिकता का साध्यरूपी आत्मा निरपेक्ष एव अपरिवर्तनशील है।'[1] इस प्रकार डिवी के विचारों की जैन दर्शन की स्थापनाओं से काफी निकटता है। दोनों ही नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष, अथवा अस्थायी एवं स्थायी पक्षों को स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन से मिलता-जुलता एक दृष्टिकोण विकासवादी दार्शनिक स्पेन्सर का भी है। स्पेन्सर भी नैतिक सापेक्षता की धारणा में विश्वास करता है, लेकिन यह भी मानता है कि पूर्ण विकास की अवस्था में नैतिकता भी निरपेक्ष बन जायेगी। स्पेन्सर के इस दृष्टिकोण को जैन दर्शन की भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जब अपूर्णता है तब तक सापेक्षता है, लेकिन पूर्णता की प्राप्ति के साथ ही सापेक्षता भी समाप्त हो जाती है।

---

१. कन्टेम्पररि ऐथिकल थ्योरीज, पृ० १६३,

§ ६. सापेक्ष नैतिकता और मनपरतावाद

यदि नैतिक आचरण का बाह्य प्रारूप एक सापेक्ष तथ्य है और देश, काल तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों से प्रभावित होता है, तो प्रश्न उठता है कि किस स्थिति में किस प्रकार का आचरण किया जाये, इसका निश्चय कैसे किया जाये? जैन दर्शन कहता है कि उत्सर्ग-मार्ग सामान्य-मार्ग है जिसपर सामान्य अवस्था मे प्रत्येक साधक को चलना होता है। जब तक देश, काल और वैयक्तिक दृष्टि से कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो जाती, तब तक प्रत्येक व्यक्ति को इस सामान्य-मार्ग पर ही चलना होता है। लेकिन विशेष अथवा अपरिहार्य परिस्थितियों में वह अपवाद-मार्ग पर चल सकता है। लेकिन तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसका निश्चय कौन करे कि अमुक परिस्थिति मे अपवाद-मार्ग का अवलम्बन लिया जा सकता है? यदि इसके निश्चय करने का अधिकार स्वयं व्यक्ति को दे दिया जाता है तो फिर नैतिक जीवन में समरूपता और वस्तुनिष्ठता (objectivity) का अभाव होगा और हर व्यक्ति अपनी इच्छाओं के वशीभूत हो अपवाद-मार्ग का सहारा लेगा। वास्तविकता यह है कि जब भी आचार के नियमों की सापेक्षता को स्वीकार कर लिया जाता है, तो यह नैतिक सापेक्षतावाद (moral relativism) हमें अनिवार्यतः मनपरतावाद (subjectivism) की ओर ले जाता है। लेकिन मनपरतावाद में आकर नैतिक नियम अपना समस्त स्थायित्व खो देते हैं, उनका कोई वस्तुगत आधार नहीं रह जाता और उनमें एक प्रकार की अनिश्चितता और अव्यवस्थितता आ जाती है।

सापेक्षिक नैतिकता एवं मनपरतावाद में साधारणजन कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर पाने में समर्थ नहीं होता क्योंकि परिस्थिति स्वयं में इतना जटिल तथ्य है कि साधारणजन उसके यथार्थ स्वरूप को समझ पाने में असमर्थ होता है। दूसरे, यदि साधारणजन को इसके निश्चय का अधिकार प्रदान कर भी दिया जाये तो साधारणजन के मनमौजीपन पर नैतिक जीवन की एकरूपता समाप्त हो जायेगी और इस प्रकार नैतिकता का समग्र ढाँचा ही अस्तव्यस्त हो जायेगा। अतः जैन नैतिक विचारणा इस क्षेत्र में व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्र नहीं छोड़ती है, कि वह नैतिक प्रत्ययों को इतना अधिक व्यक्तिनिष्ठ बना दे कि उनका मूल्य ही समाप्त हो जाये। जैन विचारणा के अनुसार व्यक्ति को इतनी अधिक स्वतन्त्रता नहीं है कि वह शुभत्व और अशुभत्व के प्रत्ययों को मनमाना रूप दे सके।

§ ७ सापेक्ष नैतिकता और अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद जैन दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं। लेकिन कुछ विचारकों का आक्षेप है कि जैन दर्शन में अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद के कारण नैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। स्याद्वाद के अनुसार जो कर्म नैतिक है वह अनैतिक भी हो जाता है और जो कार्य अनैतिक है वह नैतिक भी हो जाता है। स्याद्वाद की ही शैली में वे अपने आक्षेप को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, "किसी अपेक्षा से व्यभिचार करना अनैतिक है (स्यात् अस्ति) और किसी अपेक्षा से व्यभिचार करना अनैतिक नहीं है (स्यात् नास्ति)।" इस प्रकार व्यभिचार, हिंसा, चोरी आदि अनैतिक कर्म दूसरी अपेक्षा से नैतिक भी हो सकते हैं। यदि व्यभिचार

जैसा अनैतिक कर्म भी नैतिक हो सकता है और अहिंसा जैसा नैतिक कर्म भी अनैतिक हो सकता है, तो फिर सामान्य व्यक्ति के लिए नैतिकता का क्या अर्थ रह जायेगा, यह समझना कठिन है।

इस आक्षेप का निराकरण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो यह कि यह आक्षेप इसलिए समुचित नहीं है कि स्याद्वाद के अनुसार नैतिकता स्वयं एक अपेक्षा है और जो किसी एक अपेक्षा से सत् होता है, वह उसी अपेक्षा से असत् नहीं हो सकता। यदि कोई कर्म नैतिकता की अपेक्षा से उचित या नैतिक है तो फिर वही कर्म नैतिकता की उसी अपेक्षा से अनुचित या अनैतिक नहीं हो सकता। यह स्मरण रखना चाहिए कि नैतिकता कर्म के सम्बन्ध में एक दृष्टि है, एक अपेक्षा है; अतः कोई भी कर्म नैतिक दृष्टि से उचित और अनुचित या नैतिक और अनैतिक दोनों नहीं हो सकता। यदि हिंसा का विचार या व्यभिचार नैतिक दृष्टि से अनुचित है तो वह नैतिक दृष्टि से कभी भी उचित नहीं हो सकता।

वस्तुतः जैन परम्परा में अनेकान्तवाद स्वयं भी एकान्त नहीं है, एकान्त और अनेकान्त दोनों उसमें समाहित हैं। नय (दृष्टिविशेष) की अपेक्षा से उसमें एकान्त का पक्ष समाहित है तो प्रमाण की अपेक्षा से उनमें अनेकान्त का तत्त्व समाहित है। नय या दृष्टिकोणविशेष के आधार पर कोई भी कर्म या तो नैतिक होता है या अनैतिक। लेकिन विविध दृष्टिकोणों के आधार पर उसमें नैतिकता और अनैतिकता के दोनों पक्ष हो सकते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्म के आन्तरिक पक्ष के सन्दर्भ में नैतिकता स्वयं एक दृष्टि होती है, जबकि कर्म के बाह्य पक्ष के सम्बन्ध में अनेकान्त दृष्टि स्वयं भी अनेक दृष्टिकोणों से विचार करती है और इस रूप में वह सापेक्ष नैतिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है।

§ आदर्श व्यक्ति का आचार एवं मार्ग-निर्देश ही जनसाधारण के लिए प्रमाणभूत

सापेक्ष नैतिकता में जनसाधारण के द्वारा कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करना सरल नहीं है। अतः जैन नैतिकता में सामान्य व्यक्ति के मार्गदर्शन के रूप में 'गीतार्थ' की योजना की गयी है। गीतार्थ वह आदर्श व्यक्ति है जिसका आचरण जनसाधारण के लिए प्रमाण होता है। गीता के आचारदर्शन में भी जनसाधारण के लिए मार्गदर्शन के रूप में श्रेष्ठजन के आचार को ही प्रमाण माना गया है। गीता स्पष्ट रूप में कहती है कि श्रेष्ठ या आत्मज्ञानी पुरुष जिस प्रकार का आचरण करता है, साधारण मनुष्य भी उसी के अनुरूप आचरण करते हैं। वह आचरण के जिस प्रारूप को प्रामाणिक मानकर अंगीकार करता है लोग भी उसी का अनुकरण करते हैं।[1] महाभारत में भी कहा है कि महाजन जिन मार्ग से गये हों वही धर्म-मार्ग है।[2] यही बात जैनागम उत्तराध्ययन मे इस प्रकार कही गयी है, "बुद्धिमान् आचार्यों (आर्यजन) के द्वारा जिस धार्मिक व्यवहार का आचरण किया गया है उसे ही प्रामाणिक मानकर तदनुरूप आचरण करने वाला व्यक्ति कभी भी निन्दित नहीं होता है।"[3] पाश्चात्य विचारक ब्रैडले के अनुसार भी नैतिक आचार

---

१. गीता, ३।२१. २. महाभारत, वनपर्व, ३१२।११५. ३. उत्तराध्ययन, १।४२.

की शुभाशुभता का निश्चय आदर्श व्यक्ति के चरित्र के आधार पर किया जा सकता है।[1]

जैन विचारणा नैतिक मर्यादाओं को न तो इतनी कठोर ही बनाती है कि व्यक्ति उनके अन्दर स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण न कर सके, न इतनी अधिक लचीली ही कि व्यक्ति इच्छानुसार उन्हें मोड़ दे। जैन विचारणा में नैतिक मर्यादाएँ दुर्ग के खण्डहर जैसी नहीं हैं जिसमें विचरण की पूर्ण स्वतन्त्रता तो होती है, लेकिन शत्रु के प्रविष्ट होने का सदा भय बना रहता है। वह तो सुदृढ़ चारदीवारियों से युक्त उस दुर्ग के समान है जिसके अन्दर व्यक्ति को विचरण की स्वतन्त्रता है और विशेष परिस्थितियों में वह उससे बाहर भी आ जा सकता है, लेकिन शर्त यही है कि ऐसी प्रत्येक स्थिति में उसे दुर्ग के द्वारपाल की अनुज्ञा लेनी होगी। जैन विचारणा के अनुसार नैतिकता के इस दुर्ग का द्वारपाल वह 'गीतार्थ' है जो देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समुचित रूप में समझकर सामान्य व्यक्ति को अपवाद के क्षेत्र में प्रविष्ट होने की अनुज्ञा देता है। अपवाद की अवस्था के सम्बन्ध में निर्णय देने का एवं यथा-परिस्थिति अपवादमार्ग में आचरण करने अथवा दूसरे को कराने का समस्त उत्तरदायित्व 'गीतार्थ' पर ही रहता है। गीतार्थ वह व्यक्ति होता है जो नैतिक विधि-निषेध के आचारांगादि आचारसंहिता का तथा निशीथ आदि छेदसूत्रों का मर्मज्ञ हो एवं स्व-प्रज्ञा से देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समझने में समर्थ हो। गीतार्थ वह है जिसे कर्तव्य और अकर्तव्य के लक्षणों का यथार्थ ज्ञान है,[2] जो आय-व्यय, कारण-अकारण, अगाढ (रोगी, वृद्ध)-अनागाढ, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यग्ज्ञान रखता है, साथ ही समस्त कर्त्तव्य कर्म के परिणामों को भी जानता है, वही विधिवान् गीतार्थ है।[3]

§ ९. मार्गदर्शक रूप में शास्त्र

यद्यपि जैन विचारणा के अनुसार परिस्थितिविशेष में कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण 'गीतार्थ' करता है, तथापि गीतार्थ भी व्यक्ति है, अतः उसके निर्णयों में भी मनपरतावाद की सम्भावना रहती है। उसके निर्णयों को वस्तुनिष्ठता प्रदान करने के लिए उसके मार्ग-निर्देशक के रूप में शास्त्र हैं। सापेक्ष नैतिकता को वस्तुगत आधार देने के लिए ही शास्त्र को भी स्थान दिया गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि कार्य-अकार्य की व्यवस्था देने में शास्त्र प्रमाण हैं।[4] लेकिन यदि शास्त्र को ही कर्तव्याकर्तव्य के निश्चय का आधार बनाया गया, तो नैतिक सापेक्षता पूरी तरह सुरक्षित नहीं रह सकती। परिस्थितियाँ इतनी भिन्न-भिन्न होती हैं कि उन सभी परिस्थितियों के सन्दर्भों सहित आचार-नियमों का विधान शास्त्र में उपलब्ध नहीं हो सकता। परिस्थितियाँ सतत परिवर्तनशील हैं, जबकि शास्त्र अपरिवर्तनशील

१. एथिकल स्टडीज, पृ० ११६, २२६.
२. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ३, पृ० ९०२.
३. बृहत्कल्पनिर्युक्ति, ९५१.
४. गीता, १६।२४.

होता है। अतः शास्त्र को भी सभी परिस्थितियों में कर्तव्याकर्तव्य का निर्णायक या आधार नहीं बनाया जा सकता। फिर शास्त्र (श्रुतियाँ) भी भिन्न-भिन्न हैं और परस्पर भिन्न नियम भी प्रस्तुत करते हैं, अतः वे भी प्रामाणिक नहीं हो सकते।[1] इस प्रकार सापेक्ष नैतिकता में कर्तव्याकर्तव्य के निश्चय की समस्या रहती है।

§ १०. निष्पक्ष बौद्धिक प्रज्ञा ही अन्तिम निर्णायक

इस समस्या के समाधान में हमें जैन दृष्टिकोण की एक विशेषता देखने को मिलती है। वह न तो एकान्त रूप में शास्त्र को ही सारे विधिनिषेध का आधार बनाता है, न व्यक्ति को ही; उसके अनुसार शास्त्र मार्गदर्शक हैं, लेकिन अन्तिम निर्णायक नहीं। अन्तिम निर्णायक व्यक्ति का राग और वासनाओं से रहित निष्पक्ष विवेक ही है। किसी परिस्थितिविशेष में व्यक्ति का क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इसका निर्णय शास्त्र को मार्गदर्शक मानकर स्वयं व्यक्ति को ही लेना होता है।

आचारशास्त्र का कार्य है व्यक्ति के सम्मुख सामान्य और अपवादात्मक स्थितियों में आचार का स्वरूप प्रस्तुत करना। लेकिन परिस्थिति का निश्चय तो व्यक्ति को ही करना होता है। शास्त्र आदेश नहीं, निर्देश देता है। यही दृष्टिकोण गीता का भी है।[2] गीतोक्त शास्त्रप्रामाण्य भी इस तथ्य का पोषक है। लेकिन शास्त्र का प्रमाण मात्र जानने की वस्तु है, जिसके द्वारा निर्णय लिया जा सकता है। निर्णय करने का अधिकार तो व्यक्ति के पास ही सुरक्षित है। प्रस्तुत श्लोक का 'ज्ञात्वा' शब्द स्वयं ही इस तथ्य को स्पष्ट करता है। पाश्चात्य आचार-दर्शन में भी यह दृष्टिकोण स्वीकृत रहा है। पाश्चात्य फलवादी विचारक जान डिवी लिखते हैं कि नैतिक सिद्धान्तों का उपयोग आदेश के रूप मे नहीं है, वरन् उस साधन के रूप में है जिसके आधार पर विशेष परिस्थिति में कर्तव्य का विश्ले-षण किया जा सके। नैतिक सिद्धान्तों का कार्य उन दृष्टिकोणों और पद्धतियों को प्रस्तुत कर देना है जो व्यक्ति को इस योग्य बना सके कि, जिस विशेष परिस्थिति में वह है, उसमें शुभ और अशुभ का विश्लेषण कर सके।[3] इस प्रकार अन्तिम रूप मे तो व्यक्ति की निष्पक्ष प्रज्ञा ही कर्तव्याकर्तव्य के निर्धारण मे आधार बनती है। जहाँ तक सापेक्ष नैतिकता को मनपरतावाद के ऐकान्तिक दोषों से बचाने का प्रश्न है, जैन दार्शनिकों ने उसके लिए 'गीतार्थ' (आदर्श व्यक्ति) एवं 'शास्त्र' के वस्तुनिष्ठ आधार भी प्रस्तुत किये हैं; यद्यपि इनका अन्तिम स्रोत निष्पक्ष प्रज्ञा ही मानी गयी।

इस समग्र विवेचन में हमने देखाकि जैन आचारदर्शन अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर नैतिक प्रत्ययों की सापेक्षता को स्वीकार करता है, यद्यपि उस सापेक्षता में भी निरपेक्षता का स्थान है ही। इस प्रकार सापेक्ष के साथ ही साथ एक निरपेक्ष पक्ष भी माना गया है।

१. महाभारत, वनपर्व, ३१२।११५.

२. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥—गीता. १६।२४.

३. कण्टेम्परर एथिकल थ्योरीज, पृ० १६३.

§ ११. नीति के सापेक्ष और निरपेक्ष तत्त्व

वस्तुतः नीति की सापेक्षता और निरपेक्षता का यह प्रश्न अति प्राचीन काल से एक विवादास्पद विषय रहा है। महाभारत, स्मृति ग्रन्थ एवं ग्रीक दार्शनिक साहित्य मे इस सम्बन्ध मे पर्याप्त चिन्तन हुआ है और आज तक विचारक इस प्रश्न को सुलझाने मे लगे हुए है। वर्तमान युग में समाजवैज्ञानिक सापेक्षतावाद, मनोवैज्ञानिक सापेक्षतावाद और तार्किक भाववादी सापेक्षतावाद आदि चिन्तन-धाराएँ नीति को सापेक्ष मानती है। उनके अनुसार, नैतिक मानदण्ड और नैतिक मूल्यांकन सापेक्ष हैं। वे यह मानते है कि किसी कर्म की नैतिकता देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति के परिवर्तित होने मे परिवर्तित हो सकती है; अर्थात् जो कर्म एक देश में नैतिक माना जाता है वह दूसरे देश में अनैतिक माना जा सकता है; जो आचार किसी युग में नैतिक माना जाता था वही दूसरे युग में अनैतिक माना जा सकता है; इसी प्रकार जो कर्म एक व्यक्ति के लिए एक परिस्थिति में नैतिक हो सकता है वही दूसरी परिस्थिति मे अनैतिक हो सकता है। दूसरे शब्दों में, नैतिक नियम, नैतिक मूल्यांकन और नैतिक निर्णय सापेक्ष हैं। देश, काल, समाज, व्यक्ति और परिस्थिति के तथ्य उन्हें प्रभावित करते हैं। चाहे हम नैतिक मानदण्ड और नैतिक निर्णय को समाजसापेक्ष मानें या उन्हे वैयक्तिक मनोभावों की अभिव्यक्ति कहें, उनकी सापेक्षिकता में कोई अन्तर नही होता है। संक्षेप मे, सापेक्षतावादियों के अनुसार नैतिक नियम सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक नहीं हैं। जबकि निरपेक्षतावादियों का कहना है कि नैतिक मानक और नैतिक नियम अपरिवर्तनीय, सार्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वजनिक और अपरिवर्तनीय हैं, अर्थात् नैतिकता और अनैतिकता के बीच एक ऐसी कठोर विभाजक रेखा है जो अनुल्लंघनीय है; नैतिक कभी भी अनैतिक नहीं हो सकता और अनैतिक कभी भी नैतिक नहीं हो सकता। नैतिक नियम देश, काल, समाज, व्यक्ति और परिस्थिति से निरपेक्ष है। वे शाश्वत सत्य हैं। नैतिक जीवन में अपवाद और आपद्धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः नीति के सन्दर्भ में एकान्त सापेक्षवाद और एकान्त निरपेक्षवाद दोनों ही उचित नहीं हैं। वे आंशिक सत्य तो हैं लेकिन नीति के सम्पूर्ण स्वरूप को स्पष्ट कर पाने में समर्थ नहीं हैं। दोनों की अपनी कुछ कमियाँ हैं।

नीति में सापेक्षता और निरपेक्षता दोनों का क्या और किस रूप में स्थान है, यह जानने के लिए हमें नीति के विविध पक्षों को समझ लेना होगा। सर्वप्रथम नीति का एक बाह्य पक्ष होता है और दूसरा आन्तरिक पक्ष होता है, अर्थात् एक ओर आचरण होता है तो दूसरी ओर आचरण की प्रेरक और निर्देशक चेतना होती है। एक ओर नैतिक आदर्श या साध्य होता है और दूसरी ओर उस साध्य की प्राप्ति के साधन या नियम होते हैं। इसी प्रकार हमारे नैतिक निर्णय भी दो प्रकार के होते है—एक वे जिन्हे हम स्वयं के सन्दर्भ मे देते हैं, दूसरे वे जिन्हें हम दूसरों के सम्बन्ध में देते हैं। साथ ही ऐसे अनेक सिद्धान्त होते है जिनके आधार पर नैतिक निर्णय दिये जाते हैं।

जहाँ तक नैतिकता के बाह्य पक्ष, अर्थात् आचरण या कर्म का सम्बन्ध है, वह निरपेक्ष नहीं हो सकता; सर्वप्रथम तो व्यक्ति जिस विश्व में आचरण करता है वह आपेक्षिकता से युक्त है। जो कर्म हम करते हैं और उसके जो परिणाम निष्पन्न होते हैं वे मुख्यतः हमारे संकल्प पर निर्भर न होकर उन परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं जिनमें हम जीवन जीते हैं। बाह्य जगत् पर व्यक्ति की इच्छाएँ नहीं, अपितु परिस्थितियाँ शासन करती हैं। पुनः, चाहे मानवीय संकल्प को स्वतन्त्र मान भी लिया जाय किन्तु मानवीय आचरण को स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है, वह आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर होता है। अतः मानवीय कर्म का सम्पादन और उनके निष्पन्न परिणाम दोनों ही देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर होंगे। कोई भी कर्म देश, काल, व्यक्ति, समाज और परिस्थिति से निरपेक्ष नहीं होगा। हमने देखा कि भारतीय चिन्तन की जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती हैं कि कर्म की नैतिकता निरपेक्ष नहीं है। पुनः नैतिक मूल्यांकन और नैतिक निर्णय उन सिद्धान्तों और परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं जिनमें वे दिये जाते हैं। सर्वप्रथम तो नैतिक मूल्यांकन व्यक्ति और परिस्थिति से निरपेक्ष होकर नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यक्ति जिस समाज में जीवन जीता है वह विविधताओं से युक्त है। समाज में व्यक्ति की अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं के आधार पर एक निश्चित स्थिति होती है, उसी स्थिति के अनुसार उसके कर्तव्य एवं दायित्व होते हैं, अतः वैयक्तिक दायित्वों और कर्तव्यों में विविधता होती है। गीता का वर्णाश्रमधर्म का सिद्धान्त और ब्रेडले का 'मेरा स्थान और उसके कर्तव्य' का सिद्धान्त एक सापेक्षिक नैतिकता की धारणा को प्रस्तुत करते हैं। अतः हमे सामाजिक सन्दर्भ मे आचरण का मूल्यांकन सापेक्ष रूप में ही करना होगा। विश्व मे ऐसा कोई एक सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है जो हमारे निर्णयों का आधार बन सके। कुछ प्रसंगों में हम अपने नैतिक निर्णय निष्पन्न कर्म-परिणाम पर देते हैं, तो कुछ प्रसंगों में कर्म के वांछित या अग्रावलोकित परिणाम पर, और कभी कर्म के प्रेरक के आधार पर भी नैतिक निर्णय दिये जाते हैं। अतः कर्म के बाह्य स्वरूप और उसके सन्दर्भ में होने वाले नैतिक मूल्यांकन तथा नैतिक निर्णय निरपेक्ष नहीं हो सकते, उन्हें सापेक्ष ही मानना होगा। पुनः कर्म या आचरण किसी आदर्श या लक्ष्य का साधन होता है और साधन अनेक हो सकते हैं। लक्ष्य या आदर्श एक होने पर भी उसकी प्राप्ति के लिए साधनों को अपनी स्थिति के अनुसार अनेक मार्ग सुझाये जा सकते हैं, अतः आचरण की विविधता एक स्वाभाविक तथ्य है। दो भिन्न सन्दर्भों में परस्पर विपरीत दिखाई देने वाले मार्ग भी अपने लक्ष्य की अपेक्षा से उचित माने जा सकते हैं। पुनः, जब हम दूसरे व्यक्तियों के आचरण पर कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो हमारे सामने कर्म का बाह्य स्वरूप ही होता है। अतः दूसरे व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में हमारे मूल्यांकन और निर्णय सापेक्ष ही हो सकते हैं। हम उसके मनोभावों के प्रत्यक्ष द्रष्टा नहीं होते हैं और इसलिए उसके आचरण के मूल्यांकन मे हमको निरपेक्ष निर्णय देने का कोई अधिकार ही नहीं होता है क्योंकि हमारा निर्णय केवल घटित परिणामों पर ही

होता है। अतः यह निश्चय ही सत्य है कि कर्म के बाह्य पक्ष या व्यावहारिक पक्ष की नैतिकता और उसके सन्दर्भ में दिये जाने वाले नैतिक निर्णय दोनों ही सापेक्ष होंगे। नीति और नैतिक आचरण को परिस्थितिनिरपेक्ष माननेवाले नैतिक सिद्धान्त शून्य में विचरण करते हैं और नीति के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट कर पाने में समर्थ नहीं होते हैं।

किन्तु नीति को एकान्त रूप से सापेक्ष मानना भी खतरे से खाली नहीं है। (१) सर्वप्रथम, नैतिक सापेक्षतावाद व्यक्ति और समाज की विविधता पर तो दृष्टि डालता है किन्तु उस विविधता में अनुस्यूत एकता की उपेक्षा करता है। वह दैशिक, कालिक, सामाजिक और वैयक्तिक असमानता को ही एक मात्र सत्य मानता है। (२) दूसरे, वह साध्य या आदर्श की अपेक्षा साधनों पर अधिक बल देता है, जबकि साधनों का मूल्य स्वयं उस साध्य पर आश्रित होता है जिसके वे साधन हैं। (३) तीसरे, सापेक्षतावाद कर्म के बाह्य स्वरूप को ही उसका सर्वस्व मान लेता है उनके आन्तरिक पक्ष या कर्म के मानस-पक्ष की उपेक्षा करता है जबकि कर्म की प्रेरक भावना का भी नैतिक दृष्टि से समान मूल्य है। (४) चौथे, नैतिक सापेक्षतावाद संकल्पस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के विरोध में जाता है। यदि नीति के निर्धारक तत्त्व बाह्य हैं तो फिर हमारी संकल्प की स्वतन्त्रता का कोई अधिक महत्त्व नहीं रहता है। सापेक्षतावाद के अनुसार नीति का नियामक तत्त्व देशकालगत परिस्थितियाँ एवं सामाजिक तथ्य हैं, वैयक्तिक चेतना नहीं। किन्तु ऐसी स्थिति में संकल्पस्वातन्त्र्य का क्या अर्थ रह जायेगा, यह विचारणीय है। संकल्प को सापेक्ष मानने का अर्थ उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करना है। (५) पाँचवें, नीति के सन्दर्भ में सापेक्षतावाद हमें अनिवार्यतः आत्मनिष्ठावाद की ओर ले जाता है। लेकिन आत्मनिष्ठावाद मे आकर नैतिक नियम अपना समस्त स्थायित्व और वस्तुगत आधार खो देते है। नैतिक जीवन में समरूपता और वस्तुनिष्ठता का अभाव होता है तथा नैतिकता का ढाँचा अस्तव्यस्त हो जाता है। (६) छठे, हम यह भी कह सकते हैं कि सापेक्षतावाद में नैतिकता का शरीर तो बचा रहता है किन्तु प्राण चले जाते हैं, उसमें विषयसामग्री तो रहती है किन्तु आकार नहीं होता है; क्योंकि निरपेक्षता नैतिकता की आत्मा है। (७) सापेक्षतावाद में नैतिक मानव की एकरूपता समाप्त हो जाती है, एक सार्वभौम मानदण्ड का अभाव होता है; अतः नैतिक निर्णय देने में व्यक्ति को वैसी ही कठिनाई अनुभव होती है जैसी उस ग्राहक को होती है जिसे प्रत्येक दुकान पर भिन्न-भिन्न माप मिलते हों। पुनः, नैतिक परिस्थिति स्वयं एक ऐसा जटिल तथ्य है जिसमें जनसाधारण के लिए बिना किसी स्पष्ट सार्वभौम निर्देशक सिद्धान्त के यह तय कर पाना कठिन है कि उस परिस्थिति में क्या नैतिक है और क्या अनैतिक? अतः नीति में किसी निरपेक्ष तत्त्व की अवधारणा करना भी आवश्यक है। इस सन्दर्भ में जान डिवी का पूर्वोक्त दृष्टिकोण अधिक संगतिपूर्ण जान पड़ता है। वे परिस्थितियाँ जिनमें नैतिक आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव परिवर्तनशील हैं और नैतिक नियमों, नैतिक

कर्त्तव्यों और नैतिक मूल्यांकनों के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है। किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धान्त इतने सापेक्षिक हैं कि किसी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति ही नहीं होती। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नहीं; दूसरे शब्दों में, नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिकता का विशेष स्वरूप समय-समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर और परिस्थिति बदलती रहती है, किन्तु नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है। नैतिक नियमों में अपवाद या आपद्धर्म का निश्चित ही स्थान है और अनेक स्थितियों में अपवाद-मार्ग का आचरण ही नैतिक होता है। फिर भी हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि अपवाद कभी भी सामान्य नियम का स्थान नहीं ले पाते हैं। निरपेक्षतावाद के सन्दर्भ में यह एक भ्रान्ति है कि वह सभी नैतिक नियमों को निरपेक्ष मानता है। निरपेक्षतावाद भी सभी नियमों की सार्वभौमिकता सिद्ध नहीं करता, वह केवल मौलिक नियमों की सार्वभौमिकता ही सिद्ध करता है।

वस्तुत. नीति की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए निरपेक्षतावाद और सापेक्षतावाद दोनों ही अपेक्षित हैं। नीति का कौन सा पक्ष सापेक्ष होता है और कौन सा पक्ष निरपेक्ष, इसे निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है: (१) संकल्प की नैतिकता निरपेक्ष होती है और आचरण की नैतिकता सापेक्ष होती है। हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। नीति में जब संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर हमे यह कहने का अधिकार नहीं रहता कि संकल्प सापेक्ष है, अतः संकल्प की नैतिकता सापेक्ष नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, कर्म का जो मानसिक पक्ष है, बौद्धिक पक्ष है, वह निरपेक्ष हो सकता है किन्तु कर्म का जो व्यावहारिक पक्ष है, आचरणात्मक पक्ष है, वह सापेक्ष है। अर्थात् मनोमूलक नीति निरपेक्ष होगी और आचरणमूलक नीति सापेक्ष होगी। संकल्प का क्षेत्र, प्रज्ञा का क्षेत्र, एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ चेतना या प्रज्ञा ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है, वहाँ परिस्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अतः इस क्षेत्र में नीति की निरपेक्षता सम्भव है। अनासक्त कर्म का दर्शन इसी सिद्धान्त पर स्थित है क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता। अतः यह माना जा सकता है कि मनोवृत्यात्मक या भावनात्मक नीति निरपेक्ष होगी किन्तु आचरणात्मक या व्यवहारात्मक नीति सापेक्ष होगी। यही कारण है कि जैन दर्शन में नैश्चयिक नैतिकता को निरपेक्ष और व्यावहारिक नैतिकता को सापेक्ष माना गया है। (२) दूसरे, साध्यात्मक नीति या नैतिक आदर्श निरपेक्ष होता है किन्तु साधनपरक नीति सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में, जो सर्वोच्च शुभ है वह निरपेक्ष है किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे सापेक्ष हैं। क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। पुनः, वैयक्तिक रुचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार

पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अतः साध्यपरक नीति को या नैतिक साध्य को निरपेक्ष और साधनपरक नीति को सापेक्ष मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है। (३) तीसरे, नैतिक नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं और कुछ नियम उन मौलिक नियमों के सहायक होते हैं; उदाहरणार्थ, भारतीय परम्परा में सामान्य धर्म और विशेष धर्म (वर्णाश्रम धर्म) ऐसा वर्गीकरण हमें मिलता है। जैन परम्परा में भी एक ऐसा ही वर्गीकरण मूलगुण और उत्तरगुण नाम से है। यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम तो सापेक्ष एवं परिवर्तनीय ही होते हैं। यद्यपि हमे यह मानने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि अनेक स्थितियों मे सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते है और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नही दिया जा सकता। यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमों की निरपेक्षता भी उनकी अपरिवर्तनशीलता या उनके स्थायित्व के आधार पर ही है, साध्य की अपेक्षा मे तो वे भी सापेक्ष हो सकते हैं।

जो नैतिक विचारधाराएँ मात्र निरपेक्षतावाद को स्वीकार करती हैं वे यथार्थ की भूमिका को भूलकर मात्र आदर्श की ओर देखती हैं। वे नैतिक आदर्श को तो प्रस्तुत कर देती हैं किन्तु उस मार्ग का निर्धारण करने में सफल नहीं हो पातीं जो उस साध्य एवं आदर्श तक ले जाता है, क्योंकि नैतिक आचरण एवं व्यवहार तो परिस्थितिसापेक्ष होता है। नैतिकता एक लक्ष्योन्मुख गति है। लेकिन यदि उस गति में व्यक्ति की दृष्टि मात्र उस यथार्थ भूमिका तक ही, जिसमें वह खड़ा है, सीमित है तो वह कभी भी लक्ष्य तक नही पहुँच सकता, वह पथभ्रष्ट हो सकता है। दूसरी ओर वह व्यक्ति, जो गन्तव्य की ओर तो देख रहा है किन्तु उस मार्ग को नही देख रहा है जिसमें वह गति कर रहा है, मार्ग मे वह ठोकर खाता है और कण्टकों से अपने को पद-विद्ध कर लेता है। जिस प्रकार चलने के उपक्रम में हमारा काम न तो मात्र सामने देखने से चलता है और न मात्र नीचे देखने से ही, उसी प्रकार नैतिक प्रगति में हमारा काम न तो मात्र निरपेक्ष दृष्टि से चलता है और न मात्र सापेक्ष दृष्टि से चलता है। निरपेक्षतावाद उस स्थिति की उपेक्षा कर देता है जिसमें व्यक्ति खड़ा है, जब कि सापेक्षतावाद उस आदर्श या साध्य की उपेक्षा करता है जो कि गन्तव्य है। इसी प्रकार निरपेक्षतावाद सामाजिक नीति की उपेक्षा कर मात्र वैयक्तिक नीति पर बल देता है, किन्तु व्यक्ति समाजनिरपेक्ष नहीं हो सकता। पुनः निरपेक्षवादी नीति में साध्य की सिद्धि ही प्रमुख होती है, किन्तु वह साधन उपेक्षित बना रहता है जिसके बिना साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। अतः सम्यक् नैतिक जीवन के लिए नीति में सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों तत्त्वों की अवधारणा को स्वीकार करना आवश्यक है।

●

४

नैतिक निर्णय का स्वरूप एवं विषय

नैतिक निर्णय का स्वरूप एवं विषय

सामान्यतया सभी लोग एक-दूसरे के व्यवहारों की प्रशंसा और निन्दा करते हैं—किसी के आचरण को अच्छा और किसी के आचरण को बुरा कहते हैं। अक्सर हम कर्मों के शुभत्व या अशुभत्व की चर्चा करते हैं—उदाहरणार्थ, अहिंसा शुभ है, हिंसा अशुभ है तथा दान अच्छा है, चोरी बुरी है आदि। ये सभी कथन नैतिक निर्णय कहे जाते हैं। जब भी हम किसी कर्म के गुण-दोष की चर्चा करते हैं, उसके शुभत्व या अशुभत्व का विचार करते हैं या उसके औचित्य और अनौचित्य को सिद्ध करते हैं तो हमारे विचार एवं निर्णय नैतिकता से सम्बन्धित होते हैं और इन्हें नैतिक निर्णय कहा जाता है।

§ १. नैतिक निर्णय का स्वरूप

नैतिक निर्णय तथ्य विषयक एवं वर्णनात्मक निर्णयों से भिन्न, मूल्यात्मक होते हैं। तथ्यविषयक निर्णय सत्ता या वस्तु के स्वरूप का विवेचन एवं वर्णन करते हैं, और मूल्यविषयक निर्णय उसका समालोचन या मूल्यांकन करते हुए यह बताते हैं कि उसे क्या होना चाहिए। डा० सिन्हा के शब्दों मे, "नैतिक निर्णय वह मानसिक व्यापार है, जो किसी कर्म को सत् या असत् घोषित करता है। नैतिक निर्णय यह निर्देश करता है कि हमारे कर्मों को कैसा होना चाहिए। नैतिक निर्णय मे परम-हित का ज्ञान समाविष्ट होता है। जब हम किसी ऐच्छिक कर्म को देखते हैं तो नैतिक मानदण्ड (प्रतिमान) से उसकी तुलना करते हैं और इस प्रकार यह निर्णय करते हैं कि वह उसके अनुसार है या नही। कर्म की नैतिक प्रतिमान से तुलना और उसके आधार पर निकाला गया निगमन या अनुमान नैतिक निर्णय की प्रकृति को स्पष्ट करता है। नैतिक निर्णय मे तुलना, अनुमान, समालोचन और मूल्यांकन सभी समाविष्ट हैं। यद्यपि सामान्य अवस्थाओं से नैतिक निर्णय आन्तरिक अनुभव के द्वारा बिना किसी तुलना, विचार एवं समालोचन के तत्काल भी हो जाते है, तथापि नैतिक निर्णयों में चिन्तन, अनुमान और मूल्यांकन के तत्त्व सन्निहित रहते हैं। इस प्रकार नैतिक निर्णय आनुमानिक, समालोचनात्मक और मूल्यात्मक होते हैं।"[1] पुनः वे मनोवैज्ञानिक अर्थात् हमारी भावनाओ को प्रकट करनेवाले तथा आदेशात्मक भी होते हैं।

यद्यपि नैतिक निर्णय तार्किक और सौन्दर्यात्मक निर्णयों के समान मूल्यात्मक निर्णय हैं,तथापि वे तार्किक और सौन्दर्यात्मक निर्णयो से भिन्न है। इस भिन्नता का कारण आदर्शों की भिन्नता है। तर्कशास्त्र का विषय एवं आदर्श सत्य है और सौन्दर्यशास्त्र का विषय एवं आदर्श सुन्दरता है, जबकि नीतिशास्त्र का विषय एवं आदर्श शुभ या

---

१. नीतिशास्त्र, पृ० ४३.

शिव (कल्याण) है। तार्किक निर्णय ज्ञानात्मक हैं और सौन्दर्यविषयक निर्णय अनुभूत्यात्मक, जबकि नैतिक निर्णय संकल्पात्मक हैं।[१]

§ २. नैतिक निर्णय का कर्ता

नैतिक निर्णय की सम्भावना के लिए निर्णायक, निर्णय की वस्तु और निर्णय का मानदण्ड तीनों ही आवश्यक हैं। प्रश्न यह है कि नैतिक निर्णय कौन देता है? नीतिवेत्ताओं का इस सम्बन्ध में मतभेद है। शेफ्ट्स्बरी नैतिक मूल्यांकन के कर्ता के रूप में नीतिविशेषज्ञ को मानते हैं। उनके अनुसार, जिस प्रकार कला का पारखी कला के सम्बन्ध में निर्णय देता है, उसी प्रकार नीतिविशेषज्ञ नैतिक कर्मों के बारे में निर्णय देता है। वस्तुत: नैतिक निर्णय का कर्ता हमारी बौद्धिक या आदर्श आत्मा है। एडम स्मिथ ने नैतिक निर्णय का कर्ता निरपेक्ष दृष्टा आत्मा को माना है।[२] उनके अनुसार हमारी ही आत्मा एक तटस्थ निर्णायक के रूप में नैतिक निर्णय देती है। व्यक्ति का निर्णायक उसका आदर्श आत्मा ही है जो एक तटस्थ दृष्टा के रूप में स्वयं के और दूसरों के कर्मों पर नैतिक निर्णय देता है। मैकेंजी ने नैतिक निर्णय का कर्ता उस दृष्टिकोण को माना है जिससे भला या बुरा कर्म किया जाता है।[3] इस प्रकार नैतिक निर्णय का कर्ता या तो निरपेक्ष दृष्टा या आदर्श आत्मा को माना गया है, या कर्ता के उस दृष्टिकोण को जिसके आधार पर कोई कर्म भला या बुरा निर्धारित किया जाता है। यदि इस प्रश्न को जैन दृष्टिकोण से देखा जाय तो उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों मे कोई विरोध नही रहता। जैन दर्शन के अनुसार, यथार्थ नैतिक निर्णय तो निरपेक्ष दृष्टा वीतराग आत्मा के द्वारा ही हो सकते हैं, लेकिन व्यावहारिक जीवन में हमारे दृष्टिकोण ही नैतिक निर्णय के आधार बनते हैं। व्यक्ति अपने दृष्टिकोण के आधार पर ही अच्छे या बुरे का निर्णय लेता है।

§ ३. हेतुवाद और फलवाद की समस्या

कर्ता का प्रत्येक कर्म जो नैतिक मूल्यांकन का विषय बनता है, किसी उद्देश्य से अभिप्रेरित होकर प्रारम्भ होता है और अन्त मे किसी परिणाम को निष्पन्न करता है। इस प्रकार कार्य का विश्लेषण यह दर्शाता है कि प्रत्येक कार्य में एक हेतु होता है जिससे कार्य का प्रारम्भ होता है और एक फल होता है जिसमें कार्य की परिसमाप्ति होती है। हेतु को कार्य का मानसिक पक्ष और फल को उसका भौतिक परिणाम कहा जा सकता है। हेतु का कर्ता के मनोभावों से निकट सम्बन्ध है, जबकि फल का निकट सम्बन्ध कर्म से है। हेतु पर दिया गया निर्णय कर्ता के सम्बन्ध में होता है जबकि फल पर दिया गया निर्णय कर्म या कृत्य के सम्बन्ध में होता है। नीतिज्ञों के लिए यह प्रश्न विवादपूर्ण रहा है कि कार्य के शुभत्व एवं अशुभत्व का मूल्यांकन उसके हेतु के सम्बन्ध में किया जाय या उसके फल के सम्बन्ध में, क्योंकि कभी-कभी शुभत्व एवं अशुभत्व की दृष्टि से हेतु और फल परस्पर भिन्न होते हैं—शुभ हेतु मे भी अशुभ परिणाम की निष्पत्ति और अशुभ हेतु में भी शुभ

१. देखिए—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ७२-७४.

२. नीतिशास्त्र, पृ० ४९.

३. A Manual of Ethics, p. 50.

परिणाम की निष्पत्ति देखी जाती है। यद्यपि ग्रीन प्रभृति कुछ पाश्चात्य विचारक यह मानते हैं कि शुभ हेतु से किया गया कार्य सर्वदा शुभ परिणाम देनेवाला होता है, लेकिन अनुभव यह है कि कभी-कभी कर्ता द्वारा अनपेक्षित कर्म-परिणाम भी प्राप्त हो जाते हैं। डाक्टर रोगी को स्वस्थ करने के लिए शल्य-क्रिया करता है, लेकिन रोगी की मृत्यु हो जाती है। अनपेक्षित कर्म-परिणाम को परिणाम मानने पर ग्रीन की कर्म के उद्देश्य और फल में एकरूपता की मान्यता टिक नही पाती। यदि कार्य के उद्देश्य और कार्य के वास्तविक परिणाम में एकरूपता नहीं हो तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि इनमें से किसे नैतिक निर्णय का विषय बनाया जाये? पाश्चात्य नैतिक चिन्तन में इस समस्या को लेकर स्पष्टतया दो प्रमुख मतवादों का निर्माण हुआ है जो फलवाद और हेतुवाद नाम से अभिहित किये जा सकते हैं। फलवादी धारणा का प्रतिनिधित्व बेन्थम और मिल करते हैं। बेन्थम की मान्यता में हेतुओं का अच्छा या बुरा होना उनके परिणाम पर निर्भर है। मिल की दृष्टि में 'हेतु' के सम्बन्ध मे विचार करना नैतिकता का क्षेत्र ही नहीं है। उनका कथन है कि हेतु को कार्य की नैतिकता से कुछ भी करना नहीं होता।[1] दूसरी ओर, हेतुवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व कांट, बटलर आदि विचारक करते हैं। मिल के ठीक विपरीत कांट का कहना है कि हमारी क्रियाओं के परिणाम उनको नैतिक मूल्य नहीं दे सकते।[2] बटलर कहते हैं कि किसी कार्य की अच्छाई या बुराई बहुत कुछ उस हेतु पर निर्भर है, जिससे वह किया जाता है।[3]

फलवाद की दृष्टि से परिणाम ही नैतिक मूल्य रखते हैं। फलवाद सारा बल कार्य के उस वस्तुनिष्ठ तत्त्व पर देता है जो वास्तव में किया गया है। उसके अनुसार, नैतिकता का अर्थ ऐसे परिणामों को उत्पन्न करना है जिनसे जनसाधारण के कल्याण मे अभिवृद्धि हो। फिर भी यहाँ ज्ञातव्य है कि पाश्चात्य फलवाद की दृष्टि में नैतिक मूल्यांकन के लिए परिणाम की भौतिक परिनिष्पत्ति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि परिणाम की वांछितता अथवा परिणाम का अग्रावलोकन। बेन्थम या मिल यह नहीं कहते कि यदि किसी डाक्टर के द्वारा की गयी चीर-फाड़ से रोगी की मृत्यु हो जाये तो उसका कार्य निन्दनीय है—यदि सर्जन का वांछित परिणाम या अग्रावलोकित परिणाम चीर-फाड़ द्वारा रोगी के जीवन की रक्षा करना था तो वह कार्य नैतिक दृष्टि से उचित ही था, चाहे वह उसमें सफल न हुआ हो। मिल एवं बेन्थम के अनुसार, इस बात से कर्ता की नैतिकता में कोई अन्तर नही पड़ता कि उसने वह कार्य धनार्जन के लिए किया अथवा अपनी प्रतिष्ठा के लिए किया अथवा दया से प्रेरित होकर किया। फलवाद के अनुसार प्रेरक (धन, यश और दया) नैतिक मूल्यांकन की दृष्टि से कोई अर्थ नही रखते। इस धारणा के विपरीत हेतुवाद मे संकल्प अथवा प्रेरक ही नैतिक मूल्य रखते है। हेतुवाद के अनुसार, यदि प्रेरक अशुभ था तो कार्य भी अशुभ ही माना जायेगा। यदि कोई डाक्टर किसी सुन्दर स्त्री के जीवन की रक्षा इस भाव से प्रेरित होकर करता है

१. यूटिलिटेरियनिज्म, पृ० २७; उद्धृत-नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ७५.

२. वही.

३. वही, पृ० ७६.

कि वह उसे वासनापूर्ति का साधन बनायेगा, तो हेतुवाद की दृष्टि में परिणाम के शुभ होने पर डाक्टर का यह कार्य नैतिक दृष्टि से अशुभ ही होगा। इस प्रकार पाश्चात्य नैतिक विचारणा के ये दोनों पक्ष कर्म के दो भिन्न सिरों पर अनावश्यक बल देकर एकपक्षीय धारणा का विकास करते हैं। हेतुवाद के लिए कार्य का आरम्भ ही सब कुछ है, जबकि फलवाद के लिए कार्य का अन्त ही सब कुछ है। ये विचारक यह भूल जाते हैं कि आरम्भ और अन्त, अन्ततोगत्वा, एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान एक ही कार्य के दो पहलू हैं जिन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है, लेकिन अलग किया नहीं जा सकता। इन विचारकों की भ्रान्ति यह नहीं है कि इन्होंने कार्य के इन दो पहलुओं पर गहराई से विचार नहीं किया, वरन् भ्रान्ति यह है कि इन्होंने इन्हें अलग-अलग करने का असफल प्रयास किया। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों को शरीर से अलग करके ठीक रूप से समझा नहीं जा सकता, उसी प्रकार प्रेरक को उसके परिणाम से अलग करके ठीक रूप से समझा नहीं जा सकता। भारतीय चिन्तन में भी कर्म के परिणाम और कर्म के हेतु पर विचार तो हुआ, लेकिन उसमें इतनी एकांगता कभी नहीं आयी।

§ ४. हेतु और फल के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध तथा गीता के दृष्टिकोण

पाश्चात्य आचारविज्ञान का यह विवादात्मक प्रश्न भारतीय नैतिक चिन्तन में प्रारम्भिक युग से ही विवाद का विषय रहा है। यद्यपि इस सम्बन्ध में बाल की खाल भारत में उतनी नहीं निकाली गयी जितनी कि पश्चिम में। जैनागम सूत्रकृतांग में बौद्ध विचारणा की हेतुवादविषयक धारणा का रोचक उपहास प्रस्तुत किया गया है। बौद्धागम मज्झिमनिकाय में भी बुद्ध ने स्वयं को हेतुवाद का समर्थक माना है और निर्ग्रन्थ (जैन) परम्परा को फलवाद का समर्थक बताया है। यद्यपि निर्ग्रन्थ परम्परा को एकान्ततः फलवादी मानना असंगत धारणा है, क्योंकि पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती जैनागमों में हेतुवाद का भी प्रबल समर्थन मिलता है। इस विषय में किंचित् गहराई से प्रमाणपुरस्सर विचार करना आवश्यक है।

यह तो निर्विवाद है कि भारतीय आचारदर्शनों में बौद्ध दर्शन हेतुवाद का समर्थक है। बौद्ध दर्शन नैतिक मूल्यांकन की दृष्टि से कर्ता के हेतु अथवा कार्य के मानसिक प्रत्यय को ही प्रमुखता देता है। धम्मपद के प्रारम्भ में ही बुद्ध कहते हैं कि सभी प्रकार के शुभाशुभ आचरण में मानसिक व्यापार (हेतु) ही प्रमुख है, मन की दुष्टता और प्रसन्नता पर ही कर्म भी शुभाशुभ होते हैं और उसी से सुख-दुःख मिलता है।[१] इतना ही नहीं, मज्झिमनिकाय में एक और प्रबल प्रमाण है जहाँ बुद्ध कर्म के मानसिक प्रत्यय की प्रमुखता के आधार पर ही बौद्ध परम्परा और निर्ग्रन्थ परम्परा में अन्तर भी स्थापित करते हैं। बुद्ध कहते हैं, "मैं (निर्ग्रन्थों के) कायदण्ड, वचनदण्ड और मनदण्ड के बदले कायकर्म, वचनकर्म और मनकर्म कहता हूँ और निर्ग्रन्थों की तरह कायकर्म (कर्म के बाह्य स्वरूप) को नहीं, वरन् मनकर्म (कर्म के मानसिक प्रत्यय) की प्रधानता मानता हूँ।"[२]

---

१. धम्मपद, १-२.

२. मज्झिमनिकाय, ५६.

जैनागम सूत्रकृतांग से भी इस तथ्य का समर्थन होता है कि बौद्ध परम्परा हेतुवाद की समर्थक है। ग्रन्थकार ने बौद्ध हेतुवाद का उपहासात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। सूत्रकार प्रव्रज्या ग्रहण करने को तत्पर आर्द्रककुमार के सम्मुख एक बौद्ध श्रमण के द्वारा ही बौद्ध दृष्टिकोण को निम्नलिखित शब्दों से प्रस्तुत करवाते है—

"खोल के पिण्ड को मनुष्य जानकर भाले मे छेद डाले और उसको आग पर सेकें अथवा कुमार जानकर तूमडे को ऐसा करे तो हमारे मत के अनुसार प्राणिवध का पाप लगता है। परन्तु खोल या पिण्ड मानकर कोई श्रावक मनुष्य को भाले से छेदकर आग पर सेके अथवा तूमडा मानकर कुमार को ऐसा करे तो हमारे मत के अनुसार उसको प्राणवध का पाप नही लगता है।"[1]

यद्यपि यह चित्र एक विरोधी आगम मे विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया, तथापि मज्झिमनिकाय और सूत्रकृतांग के उपर्युक्त सन्दर्भों से यह सिद्ध हो जाता है कि बौद्ध नैतिकता हेतुवाद का समर्थन करती है। उसके अनुसार कर्म की शुभाशुभता का आधार कर्ता का हेतु है, न कि कर्म का परिणाम। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से हेतुवाद का समर्थन करते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर बौद्ध दर्शन फलवाद की अवहेलना नही करता। विनयपिटक में ऐसे अनेक प्रसंग है जहाँ कर्म के हेतु को महत्त्व न देकर मात्र कर्म-परिणाम के लोकनिन्दनीय होने के आधार पर ही उसका आचरण भिक्षुओं के लिए अविहित ठहराया गया है। भगवान् बुद्ध के लिए कर्म-परिणाम का अग्रावलोकन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना वह मिल और बेन्थम के लिए है।

जहाँ तक गीता की बात है, वह भी हेतुवाद का समर्थन करती है। गीताकार की दृष्टि में भी कर्म के नैतिक मूल्यांकन का आधार कर्म का परिणाम न होकर हेतु ही है। गीता का निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त 'कर्म-परिणाम' की अपेक्षा 'कर्म-हेतु' पर ही अधिक जोर देता है। गीता मे अर्जुन के लिए युद्ध के औचित्य के समर्थन का आधार कर्म-हेतु ही है, कर्म-परिणाम नही। गीता मे कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि (हे अर्जुन) अमुक कर्म का यह फल मिले यह हेतु (मन मे) रखकर कर्म करनेवाला न हो।[2] परिणाम को दृष्टि मे रखकर कर्म करना गीताकार को अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि कर्म-फल पर तो व्यक्ति का अधिकार ही नही है। गीता के अनुसार, फल को दृष्टि में रखकर कर्म करनेवाले निम्न स्तर के हैं।[3] तिलक भी गीता के आचारदर्शन को हेतुवाद का समर्थक मानते हैं। वे लिखते है, 'कर्म छोटे-बड़े हों या बराबर हों, उनमें नैतिक दृष्टि मे जो भेद हो जाता है वह कर्ता के हेतु के कारण ही होता है। (गीता मे) भगवान् ने अर्जुन से यह सोचने को नहीं कहा कि युद्ध करने मे कितने मनुष्यों का कल्याण होगा और कितने लोगों की हानि होगी, बल्कि अर्जुन से भगवान् यही कहते है कि इस समय यह विचार गौण है कि तुम्हारे युद्ध करने मे भीष्म मरेंगे या द्रोण। मुख्य बात यही है कि तुम किस बुद्धि (हेतु या उद्देश्य) से युद्ध करने को तैयार हुए हो। यदि तुम्हारी बुद्धि स्थितप्रज्ञ के समान शुद्ध होगी और उस पवित्र बुद्धि से अपना कर्तव्य करोगे तो फिर

१. सूत्रकृतांग, २।६।२६—२९.
२. गीता, २।४७.
३. वही, २।४९.

चाहे भीष्म मरें या द्रोण, तुम्हें उसका पाप नहीं लगेगा।[1] गीता में कांट के समान संकल्प को ही समस्त कार्यों का मूल कहा गया है। आचार्य शंकर ने गीता-भाष्य में कहा है, "सभी कामनाओं का मूल संकल्प है।" आचार्य शंकर ने मनुस्मृति (२।३) तथा महाभारत के आधार पर भी इसे सिद्ध किया है। महाभारत के शान्ति-पर्व में कहा है, "हे काम! मैं तेरे मूल को जानता हूँ। तू निःसंदेह 'संकल्प' से ही उत्पन्न होता है। मैं तेरा 'संकल्प' नहीं करूँगा, अतः फिर तू मुझे प्राप्त नहीं होगा। इन्हीं शब्दों में यही तथ्य बौद्ध-ग्रन्थ महानिद्देसपालि में भी वर्णित है।"[2]

अर्जुन के लिए युद्ध के औचित्य का समर्थन करते समय गीता कर्म के नैतिक मूल्यांकन में बाह्य परिणाम को दृष्टि से ओझल कर देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गीता एकान्तहेतुवाद का समर्थन करती है। फिर भी गीता के समग्र स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाय तो हमें अपनी इस धारणा के परिष्कार के लिए विवश होना पड़ता है। यदि कर्म का बाह्य परिणाम कोई नैतिक मूल्य नहीं रखता है तो फिर कर्मयोग और लोकसंग्रह के लिए कर्म करते रहने के गीता के उपदेश का कोई अर्थ नहीं रह जाता। चाहे कृष्ण ने अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत युद्ध के परिणामस्वरूप कुलक्षय और वर्णसंकरता की उत्पत्ति के विचार की उपेक्षा कर दी हो, लेकिन अन्त में उन्हें स्वयं ही यह स्वीकार करना पड़ा कि 'यदि मैं कर्म न करूँ तो यह लोक भ्रष्ट हो जाय और मैं वर्णसंकर का करनेवाला होऊँ तथा इस सारी प्रजा का मारनेवाला बनूँ।[3] यह क्या कृष्ण की फलदृष्टि नहीं है? स्वयं तिलक भी गीतारहस्य में इसे स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में, गीता यह कभी नहीं कहती कि बाह्य कर्मों की ओर कुछ भी ध्यान न दिया जाय। किसी मनुष्य की, विशेषकर अनजाने मनुष्य की बुद्धि की समता की परीक्षा करने के लिए यद्यपि केवल उसके बाह्य कर्म या आचरण ही प्रधान साधन है; तथापि केवल इस बाह्य आचरण द्वारा ही नीतिमत्ता की अचूक परीक्षा हमेशा नहीं हो सकती।[4] इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से हेतुवाद का समर्थन करते हुए भी गीता व्यावहारिक दृष्टि से कर्म के बाह्य परिणाम की उपेक्षा नहीं करती। गीता कर्मफलाकांक्षा का, या कर्म-फलासक्ति का निषेध करती है, न कि कर्म-परिणाम के अग्रावलोकन या पूर्वविचार का। यद्यपि यह ठीक है कि उसकी दृष्टि में शुभाशुभत्व के निर्णय का विषय कर्म-संकल्प है।

कार्य के मानसिक हेतु और भौतिक परिणाम में कौन नैतिक मूल्यांकन का विषय है? इस प्रश्न पर जैन-दृष्टि से विचार करें तो हम पाते हैं कि जैन दृष्टिकोण ने इस समस्या के निराकरण का समुचित प्रयास किया है। जैन दृष्टि एकांगी मान्यताओं की विरोधी रही है। यही कारण है कि प्रथमतः उसने हेतुवाद की एकांगी मान्यता का खण्डन किया है। सूत्रकृतांग में हेतुवाद का जो खण्डन है, वह एकांगी हेतुवाद का है। जैन दार्शनिकों द्वारा किये गये हेतुवाद के खण्डन के

१. गीतारहस्य, पृ० ४८१.
२. गीता शंकरभाष्य, ६।४; मनुस्मृति, २।३; महाभारत, शान्तिपर्व, १७७।२५; महानिद्देसपालि, १।१।१.
३. गीता, ३।२४.
४. गीतारहस्य, पृ० ४८२-४८३.

आधार पर उसे फलवादी परम्परा का समर्थक मान लेना स्वयं में बहुत बड़ी भ्रान्ति होगी।

§ ५. जैन दर्शनों में हेतुवाद और फलवाद का समन्वय

जैन चिन्तकों द्वारा हेतुवाद का फलवाद से भी अधिक समर्थन किया गया है जिसे अनेक तथ्यों से परिपुष्ट किया जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में, आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की वृत्ति में तथा आचार्य विद्यानन्दि की अष्टसहस्री में फलवाद का खण्डन और हेतुवाद का मण्डन पाया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में स्पष्ट कहते हैं कि (हिंसा का) अध्यवसाय अर्थात् मानसिक हेतु ही बन्धन का कारण है, चाहे (बाह्य रूप में) हिंसा हुई हो या न हुई हो।[1] वस्तु (घटना) नहीं, वरन् संकल्प ही बन्धन का कारण है।[2] दूसरे शब्दों में, बाह्य रूप में घटित कर्म-परिणाम नैतिक या अनैतिक नहीं हैं, वरन् व्यक्ति का कर्म-संकल्प या हेतु ही नैतिक या अनैतिक होता है। इसी सन्दर्भ में जैन आचार्य समन्तभद्र और विद्यानन्दि के दृष्टिकोणों का उल्लेख सुशीलकुमार मैत्र और यदुनाथ सिन्हा ने किया है।[3] आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि कार्य का शुभत्व केवल इस तथ्य में निहित नहीं है कि उससे दूसरों को सुख होता है और स्वयं को कष्ट होता है। इसी प्रकार कार्य का अशुभत्व इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उसकी फल-निष्पत्ति के रूप में दूसरों को दुःख होता है और स्वयं को सुख होता है। क्योंकि यदि शुभ-अशुभ का अर्थ दूसरों का सुख-दुःख हो तो हमें जड़ पदार्थ और वीतराग सन्त को भी बन्धन में मानना पड़ेगा, अर्थात् उन्हें नैतिकता की परिसीमा में मानना होगा, क्योंकि उनके क्रियाकलाप भी किसी के सुख और दुःख का कारण तो बनते ही हैं और ऐसी दशा में उन्हें भी शुभाशुभ का बन्ध होगा ही। दूसरे, यदि शुभ का अर्थ स्वयं का दुःख और अशुभ का अर्थ स्वयं का सुख हो तो वीतराग तपस्या के द्वारा शुभ का बन्ध करेगा और ज्ञानी आत्म-संतोष की अनुभूति करते हुए भी अशुभ या पाप का बन्ध करेगा। अतः सिद्ध यह होता है कि स्वयं का अथवा दूसरों का सुख अथवा दुःखरूप परिणाम शुभाशुभता का निर्णायक नहीं हो सकता, वरन् उनके पीछे निहित कर्ता का शुभाशुभ प्रयोजन ही किसी कार्य के शुभत्व अथवा अशुभत्व का निश्चय करता है।

आचार्य विद्यानन्दि फलवाद या कर्म के बाह्य परिणाम के आधार पर नैतिक मूल्यांकन करने की वस्तुनिष्ठ पद्धति का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि किसी दूसरे के हिताहित के आधार पर पुण्य-पाप का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ क्रियाशीलताएँ तो पुण्य-पाप के इस माप से नीचे हैं; जैसे जड़ पदार्थ, और कुछ पुण्य-पाप के इस माप के ऊपर हैं जैसे अर्हत्। पुण्य-पाप के क्षेत्र में क्रियाओं के आधार पर वे ही आते हैं जो वासनाओं से युक्त हैं। किसी को सुख या

१. समयसार, २६२.
२. वही, २६५.
३. देखिए--दि एथिक्स आफ दि हिन्दूज, पृ० ३२१.

दु:ख देने मात्र से कोई कार्य पुण्य-पाप नही होता, वरन् उस कार्य के पीछे जो वासना है, वही कार्य के शुभाशुभ होने का कारण है। वीतराग के कारण किसी को सुख या दु:ख हो सकता है, लेकिन उसके पीछे वासना या प्रयोजन न होने से उसे पुण्य-पाप का बन्ध नही होता। निष्कर्ष यह है कि जैन दृष्टि के अनुसार भी कर्ता का प्रयोजन या अभिसन्धि ही शुभाशुभत्व की अनिवार्य शर्त है, न कि मात्र सुख-दु.ख के परिणाम।

श्री यदुनाथ सिन्हा भी यही मानते है कि जैन आचारदर्शन कार्य के परिणाम (फल) से व्यतिरिक्त उसके हेतु की शुद्धता पर ही बल देता है। उसके अनुसार, "यदि कार्य किसी शुद्ध प्रयोजन से किया गया है, तो वह शुभ ही होगा चाहे उससे किसी दूसरे को दु:ख ही क्यों न पहुँचा हो और यदि अशुभ प्रयोजन से किया गया है तो अशुभ ही होगा चाहे परिणाम के रूप मे उससे दूसरो को सुख हुआ हो।"[१] श्री सुशील कुमार मैत्र कहते है, "शुभाशुभ कर्म का विनिश्चय बाह्य परिणामों पर नही, वरन् कर्ता के आत्मगत प्रयोजन की प्रकृति के आधार पर करना चाहिए।"[२]

तुलना—तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हेतुवाद के विषय में जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनो में अद्भुत साम्य दिखाई देता है। इस सम्बन्ध में धम्मपद, गीता तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के कथन द्रष्टव्य है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते है, "रागादि से रहित अप्रमादयुक्त आचरण करते हुए यदि प्राणघात हो जाये तो वह हिंसा नही है।"[3] धम्मपद में कहा है, "माता, पिता, दो क्षत्रिय राजा एवं अनुचरों सहित राष्ट्र का हनन करने पर भी वीततृष्ण ब्राह्मण (ज्ञानी) निष्पाप होता है।"[४] गीता कहती है, "जिसमे आसक्ति और कर्तृत्वभाव नहीं है वह इस समग्र लोक को मारकर भी न तो मारता है और न बन्धन में आता है। वस्तुत: ऐसी हिंसा हिंसा नहीं है।"[५] यद्यपि भारतीय आचारदर्शनों में इतनी वैचारिक एकरूपता है, तथापि गीता और जैनाचारदर्शन में एक अन्तर यह है कि गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ अवस्था में रहकर हिंसा की जा सकती है, जबकि जैन विचारणा कहती है कि इस अवस्था में रहकर हिंसा की नही जा सकती, मात्र हो जाती है।

प्रश्न उठता है कि यदि जैन चिन्तन को प्रयोजन या हेतुवाद स्वीकार्य है, तो फिर उसे हेतुवाद के समर्थक बौद्ध दर्शन की आलोचना करने का क्या अधिकार है? यदि जैन चिन्तन को एकांततः हेतुवाद स्वीकार्य होता तो वह बौद्ध दार्शनिकों की आलोचना नही करता। जैन विचारणा का विरोध तो उस एकांगी हेतुवाद से है जिसमे बाह्य व्यवहार की अवहेलना की जाती है। एकांगी हेतुवाद में जैन विचारणा ने सबसे बड़ा खतरा यह देखा कि वह नैतिक मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठ

१. इण्डियन फिलासफी (सिन्हा) भाग २, पृ० २६४.
२. दि एथिक्स आफ दि हिन्दूज, पृ० ३२४.
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४५.
४. धम्मपद, २९४.
५. गीता, १८।१७.

कसौटी को समाप्त कर देता है। फलस्वरूप हमारे पास दूसरे के कार्यों के नैतिक मूल्यांकन की कोई कसौटी ही नही रह जाती। यदि अभिसन्धि या कर्ता का प्रयोजन ही हमारे कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक है तो फिर एक व्यक्ति दूसरे के आचरण के सम्बन्ध मे कोई भी नैतिक निर्णय नही दे सकेगा क्योंकि कर्ता का प्रयोजन, जो कि एक वैयक्तिक तथ्य है, दूसरे के द्वारा जाना नही जा सकता। दूसरे व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध मे नैतिक निर्णय तो कार्य के बाह्य परिणाम के आधार पर ही दिया जा सकता है। लोग बाह्य रूप मे अनैतिक आचरण करते हुए भी यह कहकर कि उसमे हमारा प्रयोजन शुभ था, स्वय के नैतिक या धार्मिक होने का दावा कर सकते है। महावीर के युग मे भी बाह्य रूप मे अनैतिक आचरण करते हुए अनेक लोग धार्मिक या नैतिक होने का दावा करते थे। इसी कारण महावीर को यह कहना पडा कि 'मन से सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बाते करना क्या सयमी पुरुषो का लक्षण है?'[१] इस प्रकार एकागी हेतुवाद का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमे नैतिकता का दम्भ पनपता है। दूसरे, एकान्त हेतुवाद मे मन और कर्म की एकरूपता का कोई अर्थ ही नही रह जाता है। एकागी हेतुवाद यह मान लेना है कि कार्य के मानसिक पक्ष और परिणामात्मक पक्ष मे एकरूपता की आवश्यकता नही है, दोनो स्वतन्त्र है, उनमे एक प्रकार का द्वैत है, जबकि सच्चे नैतिक जीवन का अर्थ है—मनसा-वाचा-कर्मणा व्यवहार की एकरूपता। नैतिक जीवन की पूर्णता तो मन और कर्म के पूर्ण सामजस्य मे है। यह ठीक है कि कभी-कभी कर्ता के हेतु और उसके परिणाम मे एकरूपता नही रह पाती है, लेकिन यह अपवादात्मक स्थिति ही है, इसके आधार पर सामान्य नियम की प्रतिष्ठापना नही हो सकती। सामान्य मान्यता तो यह है कि बाह्य आचरण कर्ता की मनोदशाओ का प्रतिबिम्ब है।

मूल्यांकन—यही कारण है कि जैन नैतिक विचारणा ने कार्य के नैतिक मूल्याकन के लिए सैद्धान्तिक दृष्टि से जहाँ कर्ता के मानसिक हेतु का महत्त्व स्वीकार किया, वहाँ व्यावहारिक दृष्टि से कार्य के बाह्य परिणाम की अवहेलना भी नही की है। श्री सिन्हा भी लिखते है कि जैन आचारदर्शन आत्मनिष्ठ नैतिकता पर बल देते हुए भी कार्यों के परिणामों पर समुचित विचार करता है।[२] जैनाचारदर्शन के अनुसार यदि कर्ता केवल अपने उद्देश्य की शुद्धता की ओर ही दृष्टि रखता है और परिणाम के सम्बन्ध मे पूर्व से ही विचार नही करता है, तो उसका वह कर्म अयतना (अविवेक) और प्रमाद के कारण अशुभ ही माना जाता है और साधक प्रायश्चित का पात्र बनता है। कर्म-परिणाम का पूर्वविवेक जैन नैतिकता मे आवश्यक है।

नैतिक मूल्याकन सामाजिक और वैयक्तिक दोनो दृष्टियो से किया जा सकता है। जब हम सामाजिक दृष्टि से किसी कर्म का नैतिक मूल्याकन करते है, तो वह तथ्यपरक दृष्टि से ही होगा और उस अवस्था मे कार्य के परिणाम ही नैतिक निर्णय के विषय होंगे। लेकिन जब वैयक्तिक दृष्टि से किसी कर्म का नैतिक

१. सूत्रकृतांग, २।६।३५.
२. इण्डियन फिलासफी (जे० एन० सिन्हा), भाग २, पृ० २६५.

मूल्यांकन करते हैं तो हमें आत्मपरक दृष्टि से करना होगा और उस अवस्था में कार्य का उद्देश्य ही नैतिक निर्णय का विषय होगा। जैनाचारदर्शन की भाषा में कर्मफल के आधार पर कर्म का नैतिक मूल्यांकन करना व्यवहारदृष्टि है और कर्ता के उद्देश्य के आधार पर कर्म का नैतिक मूल्यांकन करना निश्चयदृष्टि है। जैनाचारदर्शन के अनुसार दोनों पक्ष अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है और समग्र आचारदर्शन की दृष्टि से किसी की अवहेलना नहीं की जा सकती। जहाँ तक आत्मनिष्ठ नैतिकता का प्रश्न है हमें यह स्वीकार करना होगा कि नैतिक निर्णय का विषय कोई आत्मपरक तथ्य ही हो सकता है, वस्तुपरक तथ्य नहीं। आत्मनिष्ठ नैतिकता में नैतिक निर्णय का विषय कर्ता की मानसिक अवस्थाएँ होती है, बाह्य घटनाएँ नहीं। पाश्चात्य विचारक मिल को भी अन्त में यह स्वीकार करना पड़ा कि नैतिक निर्णय का विषय कर्ता द्वारा वांछित परिणाम है, न कि बाह्य रूप में व्यक्त भौतिक परिणाम। लेकिन जैसे ही हम कर्ता के वांछित परिणाम की बात करते है, किसी आन्तरिक तथ्य की ओर संकेत करते हैं और नैनिक निर्णय के विषय के रूप में बाह्य घटनाओं या फल के स्थान पर कर्म के मानसिक पक्ष को स्वीकार कर लेते है। जैसे ही हम कर्म के भौतिक पक्ष से मानसिक पक्ष की ओर बढ़ते है, हमारे विवेचन का केन्द्र कर्म के बदले कर्ता बन जाता है। बाह्य घटित भौतिक परिणाम कर्ता के मानस का प्रतिबिम्ब अवश्य है, लेकिन वह सदैव ही उसे यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित नही करता। अतः अभ्रान्त नैतिक निर्णय के लिए कर्म के चैतसिक पक्ष या कर्ता की मानसिक अवस्थाओं पर विचार करना आवश्यक है।

§ ६. नैतिक निर्णय के सन्दर्भ में पाश्चात्य विचारकों के दृष्टिकोण

जहाँ तक वैयक्तिक नैतिकता का प्रश्न है, सभी विवेच्य आचारदर्शन यह स्वीकार करते है कि नैतिक निर्णय का विषय कर्ता की मनोदशाएँ है। बाह्य परिणाम तभी तक नैतिक निर्णय का विषय माना जा सकता है जब तक कर्ता की मनोदशा को यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित करता है, लेकिन आचरण का मानसिक पक्ष भी इतना अधिक व्यापक है कि विचारकों ने उसके एक-एक पहलू को लेकर नैतिक निर्णय के विषय की दृष्टि से गहराई से विचार किया है। इसके परिणामस्वरूप चार दृष्टि-कोण सामने आये।

१. मिल का कहना है कि कार्य की नैतिकता पूर्णतः 'अभिप्राय' अर्थात् कर्ता जो कुछ करना चाहता है, उसपर निर्भर है। अभिप्राय से मिल का तात्पर्य कार्य के उस रूप से है जिस रूप में कर्ता उसे करना चाहता है। मान लीजिए, कोई व्यक्ति किसी खास व्यक्ति की हत्या करने के लिए उस सवारी गाड़ी को उलटना चाहता है जिसमें वह व्यक्ति बैठा है। उसका प्रयास सफल होता है, और उस एक व्यक्ति के साथ-साथ और भी बहुत से यात्री मारे जाते हैं। इस घटना में, मिल के अनुसार, उस व्यक्ति को केवल एक व्यक्ति की हत्या का दोषी न मानकर, सभी की हत्या का दोषी माना जायेगा, क्योंकि वह गाड़ी को ही उलटना चाहता है।

२. कांट के अनुसार, नैतिक निर्णय का विषय कर्ता का संकल्प है। यदि उपर्युक्त घटना के सम्बन्ध में विचार करें तो, कांट के अनुसार, वह व्यक्ति केवल उस व्यक्तिविशेष की हत्या का दोषी होगा, न कि सभी की हत्या का, क्योंकि उसे केवल उसी व्यक्ति की मृत्यु अपेक्षित थी।

३. मार्टिन्यू के अनुसार, नैतिक निर्णय का विषय वह प्रेरक है जिससे प्रेरित होकर कर्ता ने यह कार्य किया है। ऊपर के दृष्टान्त के सन्दर्भ में मार्टिन्यू कहेंगे कि यदि कर्ता ने उसकी हत्या विशेष स्वार्थ से प्रेरित होकर की, तो वह दोषी होगा; लेकिन उसने लोकहित से प्रेरित होकर हत्या की, तो वह निर्दोष ही माना जायेगा।

४. मैकेंजी अनुसार, कर्ता का चरित्र ही नैतिक निर्णय का विषय है। मान लीजिए, कोई व्यक्ति नशे में गोली चला देता है और उससे किसी की हत्या हो जाती है, तो सम्भव है कि काट और मार्टिन्यू की दृष्टि में वह निर्दोष हो, लेकिन मैकेंजी की दृष्टि में तो वह अपने दोषपूर्ण चरित्र के कारण दोषी ही माना जायेगा।

विचारकों ने इन चारों दृष्टिकोणों की छानबीन करने पर उन्हें एकांगी एवं दोषपूर्ण पाया है। किन्तु जैन विचारणा इन चारों विरोधी दृष्टिकोणों में समन्वय करके और उनकी एकांगिता दूर करके एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

जैन विचारणा में शुभ और अशुभ के निकटवर्ती शब्द संवर और आस्रव हैं। हम कह सकते हैं कि जिससे कर्म बन्धन हो वह अशुभ अर्थात् आस्रव है और जिससे बन्धन नही होता वह शुभ अर्थात् संवर है। जैन दर्शन में आस्रव के पाँच कारण हैं (१) मिथ्यादृष्टि, (२) कषाय, (३) अविरति, (४) प्रमाद, और (५) योग। संवर के पाँच कारण हैं (१) सम्यग्दृष्टि, (२) विरति, (३) अकषाय, (४) अप्रमाद, और (५) अयोग। पाश्चात्य विचारणा के (१) संकल्प, (२) अभिप्रेरक, (३) चरित्र और (४) अभिप्राय अपने लाक्षणिक अर्थों में निम्न प्रकार से समानार्थक माने जा सकते हैं।

१. संकल्प	१. दृष्टि—		मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि	
२. प्रेरक	२. कषाय (वासना)			
३. चरित्र	३. अविरति ४. प्रमाद	दुश्चरित्र	विरति अप्रमाद	सच्चरित्र
४. अभिप्राय	५. योग (शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएं)			

पाश्चात्य विचारणा के (१) संकल्प, (२) प्रेरक, (३) चरित्र, और (४) अभिप्राय क्रमशः जैन दर्शन के आस्रव एवं संवर के पाँच मूल हेतुओं के पर्यायवाची हैं और शुभाशुभ का निर्णय इन पाँचों पर ही होता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि जैन दर्शन में पाश्चात्य विचारणा के ये चारों दृष्टिकोण अविरोधपूर्वक समन्वित हैं।

उपर्युक्त चार मतवादों (दृष्टिकोणों) की यदि भारतीय आचारदर्शनों के साथ तुलना करें तो कह सकते हैं कि गीता का दृष्टिकोण कांट के संकल्पवाद के तथा बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण मार्टिन्यू के अभिप्रेरकवाद के अधिक निकट है,

क्योकि गीता नैतिक निर्णय का विषय कर्ता की व्यवसायात्मिका बुद्धि को मानती है जो काट के सकल्प के निकट ही नही, वरन् समानार्थक भी है। इसी प्रकार बौद्ध विचारणा म शुभाशुभ के निर्णय का आधार प्राणी की 'वासना' (तृष्णा) को माना गया है। तृष्णा ही समस्त प्रवृत्तियो की प्रेरक है। अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध दृष्टिकोण मार्टिन्यू के अधिक निकट है। जहाँ तक जैन दृष्टिकोण का प्रश्न है उसे किसी सीमा तक मैकेंजी के चरित्रवाद के निकट माना जा सकता है, क्योकि 'चरित्र' शब्द मे जो अर्थविस्तार है वह समन्वयवादी जैन दृष्टिकोण के अनुकूल है। फिर भी इन आचारदर्शनो को किसी एक मतवाद के साथ बाध देना सगत नही होगा क्योकि उनमे सभी विचारणाओ के तथ्य खोजे जा सकते है। गीता मे काम और क्रोध के अभिप्रेरक और बौद्ध विचारणा मे अविद्या नैतिक निर्णय के महत्त्वपूर्ण विषय है। वास्तविकता यह है कि भारतीय विचार-दृष्टि समस्या के किसी एक पहलू को अन्य से अलग कर उसपर विचार नही करती, वरन् सम्पूर्ण समस्या का विभिन्न पहलुओ सहित विचार करती है। यही कारण है कि जब बौद्ध विचारणा ने बन्धन के कारण पर विचार किया तो अविद्या, तृष्णा आदि मे से किसी एक को कारणनही माना, वरन् प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप मे उनकी एक शृखला खडी कर दी। जैन दर्शन ने जब आस्रव के कारणो पर विचार किया तो न केवल मिथ्यात्व या कषाय मे से किसी एक पर बल दिया, अपितु मिथ्यात्व, कषाय, अविरति, प्रमाद और योग के पचक को स्वीकार किया। यह सम्भव है कि किसी दृष्टिविशेष से समय किसी एक पक्ष को प्रमुखता दी हो, लेकिन दूसरे तथ्यो को झुठलाया नही गया है।

पाश्चात्य विचारणा मे नैतिक निर्णय के विषय के प्रश्न को लेकर जो चार दृष्टिकोण है, वे जैन विचारणा मे किस रूप मे पाये जाते है और वह उनमे कैसे समन्वय करती है, इसका सक्षिप्त विवेचन भी यहा अपेक्षित है।

६ ७. अभिप्राय और जैन दृष्टि

जैन विचारणा मे 'अध्यवसाय' और 'परिणाम' दो विशेष प्रचलित शब्द है जो नैतिक निर्णय के विषय माने जाते है। नियमसार मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सामान्य प्राणियो की वचनादि क्रियाएँ परिणामपूर्वक (सप्रयोजन) होती है, इसलिए बन्धन का कारण होती है, जबकि केवलज्ञानी की वचनादि क्रियाएँ परिणाम (प्रयोजन) पूर्वक नही होती, अत वे बन्धन का कारण नही होती है।[१] जैन विचारणा मे 'परिणाम' शब्द जिस विशेष अर्थ मे प्रयुक्त होता है वैसा प्रयोग सामान्यतया अन्यत्र नही देखा जाता। परिणाम शब्द का अर्थ मात्र कार्य का फल नही, वरन् कार्य की मानसिक सचेतना है। सरल शब्दो मे, परिणाम का तात्पर्य है कार्य का कर्ता द्वारा वाछित फल। इस प्रकार 'परिणाम' शब्द मिल के अभिप्राय या प्रयोजन का ही पर्यायवाची है।[२]

१. नियमसार, १७२.
२. जैनदर्शन मे जिस प्रकार योग मानसिक और शारीरिक कृत्यता है, उसी प्रकार मिल के अनुसार अभिप्राय भी कृत्यता है, अतः दोनों ही समान कहे जा सकते हैं।

मिल की गलती यह नहीं थी कि उसने प्रयोजन को नैतिक निर्णय का विषय माना उसकी वास्तविक गलती यह थी कि उसने 'प्रयोजन' और 'प्रेरक' के मध्य एक खाई खोदना चाहा जबकि प्रयोजनों के निश्चय में प्रेरक का महत्त्वपूर्ण भाग होता है, जिसे भुलाया नहीं जा सकता। मिल प्रयोजन को प्रेरक से अलग कर अपने सिद्धान्त में एकांगिता ला देता है। लेकिन जैन विचारकों ने परिणाम को अध्यवसाय का समानार्थक मानकर उस पर विचार किया है उससे वे अपने को एकांगिता के दोष से बचा पाये।

§ ८. अभिप्रेरक और जैन दृष्टि

भारतीय चिन्तन में अभिप्रेरक केवल सुख-दुःख का निष्क्रिय भाव नहीं, वरन् राग और द्वेष का सक्रिय तत्त्व है, जो अपने विभिन्न रूपों में नैतिक निर्णय का महत्त्वपूर्ण विषय है। गीता में रजोगुणजनित लोभ, काम और क्रोध को अभिप्रेरक के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] बौद्ध दर्शन में कर्मों की उत्पत्ति के तीन हेतु (अभिप्रेरक) माने गये हैं (१) लोभ, (२) द्वेष, और (३) मोह।[2] छन्द (इच्छा) को भी अभिप्रेरक के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] जैन दर्शन में राग-द्वेष को कर्म का अभिप्रेरक माना गया है। अपेक्षाभेद से क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को भी अभिप्रेरक कहा गया है।[4] वास्तव में इन सबके मूल में आसक्ति, तृष्णा या राग ही है और भारतीय आचारदर्शनों के अनुसार यही नैतिक निर्णय के प्रमुख तत्त्व है।

गीता के अनुसार 'आसक्ति', बौद्ध दर्शन के अनुसार 'तृष्णा' और जैन दर्शन के अनुसार 'राग' ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके आधार पर शुभ और अशुभ का निर्णय किया जा सकता है।

§ ९. संकल्प और जैन दृष्टि

जैन विचारणा में परिणाम और इच्छा में कोई अन्तर स्थापित किया हो, ऐसा हमारी जानकारी में नहीं है, बल्कि आचार्य कुन्दकुन्द ने तो समयसार में उन्हें पर्याय ही मान लिया है। लेकिन उन्होंने नियमसार में बन्धनकारी और अबन्धनकारी कर्म के सम्बन्ध में विचार करते हुए परिणाम और ईहा के आधार पर अलग-अलग विचार किया है। इससे यह फलित हो सकता है कि आचार्य की दृष्टि में परिणाम और ईहा में कुछ अन्तर अवश्य ही रहा होगा। 'ईहा' शब्द का अर्थ इच्छा होना है और जैन विचारकों की दृष्टि में यह इच्छा भी नैतिक निर्णय का महत्त्वपूर्ण विषय है। नियमसार में स्पष्ट है कि इच्छापूर्वक किया वचन आदि कर्म ही बन्धन का कारण है, लेकिन इच्छारहित किया हुआ वचन आदि कर्म बन्धन का कारण नहीं है।[5]

---

१. गीता, १४।१२; ३।३७.
२. अंगुत्तरनिकाय, ३।१०७.
३. वही, ३।१०९.
४. उत्तराध्ययन ३२।७.
५. नियमसार, १७१.

जेम्स सैथ कहते हैं कि 'संकल्प का कार्य सृष्टि करना नहीं, वरन् निर्देशन और नियन्त्रण करना है।'[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य विचारणा का संकल्प जैन और बौद्ध विचारणा के दृष्टि (दर्शन) शब्द के निकट आ जाता है, क्योंकि जैन एवं बौद्ध विचारणाओं में दृष्टि ही चरित्र का नियामक एवं निर्देशक तत्त्व है। जैन तथा बौद्ध विचारणाओं में दृष्टि को उतना ही महत्त्व प्राप्त है, जितना कांट की विचारणा में संकल्प को। कांट के संकल्प के समान दृष्टि भी शुभाशुभता का अन्तिम मापक है। इतना ही नहीं, दोनों ही अपने आप में आकारिक हैं। मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि अपने आप में अन्तर्वस्तु नहीं, वरन् वे आकार हैं जिनके आधार पर अन्तर्वस्तु का मूल्य बनता है। जिस प्रकार कांट के नीतिशास्त्र में संकल्प नैतिकता का केन्द्रीय तत्त्व है, उसी प्रकार जैन और बौद्ध विचारणा में सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि नैतिकता का केन्द्रीय तत्त्व है।

§ १०. चारित्र और नैतिक निर्णय

जैन विचारणा मैकेंजी के साथ सहमत होकर यह भी मानती है कि व्यक्ति का चारित्र भी नैतिक निर्णय का विषय है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के पास एक भरी हुई बन्दूक है। किसी प्रकार की असावधानी से वह चल जाती है और किसी व्यक्ति की हत्या हो जाती है। इस प्रसंग पर सम्भवत: कांट कहेंगे कि उसका संकल्प हत्या करने का नहीं था, अत: वह दोषी नहीं है। मिल भी कहेंगे कि उसका हत्या करने का कोई प्रयोजन नहीं था, अत: वह दोषी नहीं है। मार्टिन्यू का प्रेरक भी वहाँ अप्रभावशाली है, अत: उसके अनुसार भी वह दोषी नहीं होगा। लेकिन जैन विचारणा और मैकेंजी उसे दोषी मानेंगे। जैन विचारणा कहेगी कि वह व्यक्ति दो आधारों पर दोषी है (१) असावधानी (प्रमाद) तथा (२) अविरति। पहले तो उसे हिंसक शस्त्र का संग्रह ही नहीं करना था और यदि किया भी था तो सावधान रहना चाहिए था। जैन विचारणा के अनुसार, चारित्र के भावात्मक और निषेधात्मक ऐसे दो पक्ष हैं। भावात्मक दृष्टि में वह जाग्रति या अप्रमत्तता है और निषेधात्मक दृष्टि में वह विरति (संयम) है। नैतिक जीवन एक अनुशासित जीवन है। संयम और अप्रमाद (अनालस्य) अनुशासित जीवन का आधार है। अत: साधक जब भी इनसे दूर होता है, बन्धन की दिशा में बढ जाता है। जैन विचारणा तो यहाँ तक कहती है कि यदि साधक असावधान है, प्रमत्त है, तो फिर बाह्य रूप में हिंसा न करते हुए भी वह हिंसा का दोषी है।[२] यदि हिंसा या चोरी नहीं करने के दृढ़ संकल्प के द्वारा वह उन कार्यों से विरत नहीं होता है तो भी वह हिंसा या चोरी का भागी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन विचारणा मे नैतिक निर्णय के विषय को लेकर जो विभिन्न दृष्टिकोण हैं, उन सभी का महत्त्व स्वीकार किया गया है। यद्यपि जैन विचारक न केवल उन्हें स्वीकार करते हैं, वरन् अपनी अनेकान्तवादी दृष्टि के आधार पर उनमें समन्वय भी करते हैं। उनकी दृष्टि में कर्म के इन विभिन्न पक्षों पर समवेत रूप से विचार करके ही नैतिक निर्णय देना सम्भव है। □

१. ए स्टडी आफ एथिकल प्रिन्सपुल्स (सेथ), पृ० ४४. २. ओघनिर्युक्ति, ७५४.

५

भारतीय और पाश्चात्य नैतिक मानदण्ड के सिद्धान्त

भारतीय और पाश्चात्य नैतिक मानदण्ड के सिद्धान्त

§ १. सदाचार और दुराचार का अर्थ

जब हम सदाचार या नैतिकता के किसी शाश्वत मानदण्ड या नैतिक प्रतिमान को जानना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि सदाचार का तात्पर्य क्या है और किसे हम सदाचार कहते है। शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से सदाचार शब्द सत्+आचार इन दो शब्दों से मिलकर बना है, अर्थात् जो आचरण सत् (Right) या उचित है वह सदाचार है। लेकिन यह प्रश्न बना रहता है कि सत् या उचित आचरण क्या है ? यद्यपि हम आचरण के कुछ प्रारूपों को सदाचार और कुछ प्रारूपों को दुराचार कहते है किन्तु मूल प्रश्न यह है कि वह कौन सा तत्त्व है जो किसी आचरण को सदाचार या दुराचार बना देता है। हम अक्सर यह कहते हैं कि झूठ बोलना, चोरी करना, हिसा करना, व्यभिचार करना दुराचार है और करुणा, दया, सहानुभूति, ईमानदारी, सत्यवादिता आदि सदाचार है। किन्तु वह आधार कौन सा है, जो इन आचरणों को दुराचार या सदाचार बना देता है। चोरी या हिसा क्यों दुराचार है और ईमानदारी या सत्यवादिता क्यों सदाचार है ? यदि हम सत् या उचित के अंग्रेजी पर्याय राईट (Right) पर विचार करते है तो पाते हैं कि Right शब्द लैटिन Rectus शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है नियमानुसार अर्थात् जो आचरण नियमानुसार है, वह सदाचार है और जो नियमविरुद्ध है, वह दुराचार है। यहाँ नियम से तात्पर्य सामाजिक एवं धार्मिक नियमों या परम्पराओं से है। भारतीय परम्परा में भी सदाचार शब्द की ऐसी ही व्याख्या मनुस्मृति में उपलब्ध होती है, मनु का कथन है—

> तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
> वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥२-१८॥

अर्थात् जिस देश, काल और समाज में जो आचरण परम्परा से चला आता है वही सदाचार कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो परम्परागत आचार के नियम हैं, उनका पालन करना ही सदाचार है। दूसरे शब्दों मे जिस देश, काल और समाज में आचरण की जो परम्पराएँ स्वीकृत रही हैं, उन्ही के अनुसार आचरण करना सदाचार कहा जायेगा। किन्तु यह दृष्टिकोण भी समुचित प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः कोई आचरण किसी देश या काल में आचरित एवं अनुमोदित होने से सदाचार नहीं बन जाता।

कोई आचरण केवल इसलिए सत् या उचित नहीं होता है कि वह किसी समाज मे स्वीकृत होता रहा है, अपितु वास्तविकता तो यह है कि इसलिए स्वीकृत होता रहा है क्योंकि वह सत् है। किसी आचरण का सत् या असत् होना अथवा सदाचार या दुराचार होना स्वय उसके स्वरूप पर निर्भर होता है, न कि उसके आचरित अथवा अनाचरित होने पर। महाभारत मे दुर्योधन ने कहा था। -

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति ।
जानामि अधर्म न च मे निवृत्ति ।।

अर्थात् मै धर्म को जानता हूँ किन्तु उस ओर प्रवृत्त नही होता, उसका आचरण नही करता। मै अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु उसमे विरत नही होता, निवृत्त नहीं होता। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि किसी आचरण का सदाचार या दुराचार होना इस बात पर निर्भर नही है कि वह किसी वर्ग या समाज द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत होता रहा है। सदाचार और दुराचार की मूल्यवत्ता उनके परिणामो पर या उस साध्य पर निर्भर होती है, जिसके लिए उनका आचरण किया जाता है। आचरण की मूल्यवत्ता, स्वय आचरण पर नही अपितु उसके अभिप्रेरक या साध्य या परिणाम पर निर्भर होती है। यद्यपि किसी आचरण की मूल्यवत्ता का निर्धारण उसके समाज पर पड़नेवाले प्रभाव के आधार पर किया जाता है, फिर भी उसकी मूल्यवत्ता का अन्तिम आधार तो कोई आदर्श या साध्य ही होता है। अत हम जब सदाचार के मापदण्ड की बात करते है तो हमे उस परम मूल्य या साध्य पर ही विचार करना होगा जिसके आधार पर किसी कर्म को सदाचार या दुराचार की कोटि मे रखा जाता है। वस्तुत मानव जीवन का परम साध्य ही वह तत्त्व है जो सदाचार का मानदण्ड या कसौटी बनता है।

§ २. जैन दर्शन में सदाचार का मानदण्ड

अब मूल प्रश्न यह है कि परम मूल्य या चरम साध्य क्या है? जैन दर्शन अपने चरम साध्य के बारे में स्पष्ट है। उसके अनुसार, व्यक्ति का चरम साध्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है। वह यह मानता है कि जो आचरण निर्वाण या मोक्ष की दिशा मे ले जाता है वही सदाचार की कोटि में आता है। दूसरे शब्दों मे, जो आचरण मुक्ति का कारण है, वह सदाचार है और जो आचरण बन्धन का कारण है, वह दुराचार है। किन्तु यहाँ पर हमे यह भी स्पष्ट करना होगा कि उसका मोक्ष अथवा निर्वाण से क्या तात्पर्य है। जैन धर्म के अनुसार निर्वाण या मोक्ष स्वभावदशा एव आत्मपूर्णता की प्राप्ति है। वस्तुत हमारा जो निजस्वरूप है उसे प्राप्त कर लेना अथवा हमारी बीजरूप क्षमताओं को विकसित कर आत्मपूर्णता की प्राप्ति ही मोक्ष है। उसकी पारम्परिक शब्दावली मे परभाव से हटकर स्वभाव मे स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यही कारण था कि जैन दार्शनिको ने धर्म की एक विलक्षण एवं महत्त्वपूर्ण परिभाषा दी है। उनके अनुसार, धर्म वह है जो वस्तु का निजस्वभाव है (वत्थुसहावो धम्मो)[1]। व्यक्ति का धर्म या साध्य वही हो सकता है जो उसकी

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा. ७८.

चेतना या आत्मा का निज स्वभाव है और जो हमारा निजस्वभाव है उसी को पा लेना ही मुक्ति है। अतः स्वभावदशा की ओर ले जानेवाला आचरण ही सदाचरण है।

पुनः प्रश्न यह उठता है कि हमारा स्वभाव क्या है? भगवतीसूत्र में गौतम ने भगवान् महावीर के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया था। वे पूछते हैं, "भगवन्, आत्मा का निजस्वरूप क्या है और आत्मा का साध्य क्या है?" महावीर ने उनके प्रश्नों का जो उत्तर दिया था वही आज भी समस्त जैन आचारदर्शन में किसी कर्म के नैतिक मूल्यांकन का आधार है। महावीर ने कहा था, 'आत्मा समत्व-स्वरूप है और उस समत्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।"[1] दूसरे शब्दों में समता या समभाव स्वभाव है और विषमता विभाव है। और जो विभाव से स्वभाव की दिशा में अथवा विषमता से समता की दिशा में ले जाता है वही धर्म है, नैतिकता है, सदाचार है। अर्थात् विषमता से समता की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचार है। संक्षेप में जैन धर्म के अनुसार सदाचार या दुराचार का मानदण्ड समता एवं विषमता अथवा स्वभाव एवं विभाव के तत्त्व हैं। स्वभाव से फलित होनेवाला आचरण सदाचार है और विभाव से फलित होनेवाला आचरण दुराचार है। समता सदाचार है और विषमता दुराचार है।

यहाँ हमें समता के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि समता का अर्थ परभाव से हटकर शुद्ध स्वभाव दशा में स्थित हो जाना है, किन्तु अपनी विविध अभिव्यक्तियों की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से समता या समभाव का अर्थ राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागता या अनासक्त भाव की उपलब्धि है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक समत्व का अर्थ है—समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं से रहित मन का शान्त एवं विक्षोभ (तनाव) रहित अवस्था। यही समत्व जब हमारे सामुदायिक या सामाजिक जीवन में फलित होता है तो इसे हम अहिंसा के नाम से अभिहित करते हैं। वैचारिक दृष्टि से इसे हम अनाग्रह या अनेकान्त दृष्टि कहते हैं। जब हम इसी समत्व के आर्थिक पक्ष पर विचार करते हैं तो इसे अपरिग्रह के नाम से जानते हैं। साम्यवाद एवं न्यासीसिद्धान्त इसी अपरिग्रहवृत्ति की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह समत्व ही मानसिक क्षेत्र में अनासक्ति या वीतरागता के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र में अनाग्रह या अनेकान्त के रूप में और आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः 'समत्व' को निर्विवाद रूप से सदाचार का मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है।[2] 'समत्व' को सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करते हुए भी हमें उसके विविध पहलुओं पर विचार तो करना ही होगा क्योंकि सदाचार का सम्बन्ध अपने साध्य के साथ-साथ उन साधनों से भी होता है जिनके द्वारा हम उसे पाना चाहते हैं और जिस रूप में वह हमारे व्यवहार में और सामुदायिक जीवन में प्रकट होता है।

---

१. भगवतीसूत्र, १।९.
२. आचारांग, १।८।३

जहाँ तक व्यक्ति के चैतसिक या आन्तरिक समत्व का प्रश्न है, हम उसे वीतराग मनोदशा या अनासक्त चित्तवृत्ति की साधना मान सकते है। फिर भी समत्व की साधना का यह रूप हमारे वैयक्तिक एवं आन्तरिक जीवन से अधिक सम्बन्धित है, यह व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। यह ठीक है कि व्यक्ति की मनोदशा का प्रभाव उसके आचरण पर भी होता है और हम व्यक्ति के आचरण का मूल्यांकन करते समय उसके आचरण के आन्तरिक पक्ष पर विचार भी करते है किन्तु सदाचार या दुराचार का प्रश्न हमारे व्यवहार के बाह्य एवं सामुदायिक पक्ष के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। जब भी हम सदाचार एवं दुराचार के किसी मानदण्ड की बात करते हैं तो हमारी दृष्टि व्यक्ति के आचरण के बाह्य पक्ष पर अथवा उस आचरण का दूसरों पर क्या प्रभाव या परिणाम होता है, इस बात पर अधिक होती है। सदाचार या दुराचार का प्रश्न केवल कर्ता के आन्तरिक मनोभावों या वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित नहीं है, वह आचरण के बाह्य प्रारूप तथा हमारे सामाजिक जीवन में उस आचरण के परिणामों पर भी विचार करता है। यहाँ हमें सदाचार और दुराचार की व्याख्या के लिए कोई ऐसी कसौटी खोजनी होगी जो आचार के बाह्य पक्ष अथवा हमारे व्यवहार के सामाजिक पक्ष को भी अपने में समेट सके। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में इस सम्बन्ध में एक सर्वमान्य दृष्टिकोण यह है कि परोपकार ही पुण्य है और परपीड़ा ही पाप है। तुलसीदास ने इसे निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

'परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई।'

अर्थात् व्यक्ति का वह आचरण जो दूसरों के लिए कल्याणकारी या हितकारी है, सदाचार है, पुण्य है और जो दूसरों के लिए अकल्याणकारी है, अहितकर है, वही पाप है, दुराचार है। जैन धर्म में सदाचार के एक ऐसे ही शाश्वत मानदण्ड की चर्चा हमें आचारांगसूत्र में उपलब्ध होती है। वहाँ कहा गया है, "भूतकाल में जितने अर्हत् हो गये हैं, वर्तमानकाल में जितने अर्हत् हैं और भविष्य में जितने अर्हत् होंगे वे सभी यह उपदेश करते हैं कि सभी प्राणों, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।"[१] किन्तु मात्र दूसरे की हिंसा के निषेध को, या दूसरों के हितसाधन को ही सदाचार या दुराचार की कसौटी नहीं माना जा सकता है। ऐसी अवस्थाएँ सम्भव हैं कि जब मेरे असत्य सम्भाषण एवं अनैतिक आचरण के द्वारा दूसरों का हितसाधन होता हो अथवा कम से कम किसी का अहित न होता हो, किन्तु क्या ऐसे आचरण को सदाचार कहने का साहस कर सकेंगे। क्या वेश्यावृत्ति के माध्यम से अपार धनराशि को एकत्रित कर उसे लोकहित के लिए व्यय करनेमात्र से कोई स्त्री सदाचारी की कोटि में आ सकेगी, अथवा यौन वासना की सन्तुष्टि के वे रूप जिसमें किसी भी दूसरे प्राणी की हिंसा नहीं है, दुराचार की कोटि में नहीं आयेंगे? सूत्रकृतांग में

१. आचारांग, १।४।१।१२७.

सदाचारिता का ऐसा ही दावा अन्य तीर्थियों द्वारा प्रस्तुत भी किया गया था, जिसे महावीर ने अमान्य कर दिया था। क्या हम उस व्यक्ति को जो डाके डालकर उस सम्पत्ति को गरीबों में वितरित कर देता है, सदाचारी मान सकेंगे ? एक चोर और एक सन्त, दोनों ही व्यक्ति को सम्पत्ति के पाश से मुक्त करते है, फिर भी दोनों समान कोटि के नहीं माने जाते। वस्तुत: सदाचार या दुराचार का निर्णय केवल एक ही आधार पर नहीं होता है। उसमें आचरण का प्रेरक आन्तरिक पक्ष अर्थात् व्यक्ति की मनोदशा और आचरण का बाह्य परिणाम अर्थात् सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव दोनों ही विचारणीय हैं। आचार की शुभाशुभता विचार पर और विचार की शुभाशुभता स्वयं व्यवहार पर निर्भर करती है। सदाचार या दुराचार का मानदण्ड तो ऐसा होना चाहिए जो इन दोनों को समाविष्ट कर सके।

साधारणतया जैन धर्म सदाचार का शाश्वत मानदण्ड अहिंसा को स्वीकार करता है किन्तु यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि क्या केवल किसी को दु:ख या पीड़ा नहीं देना या किसी की हत्या नही करना—मात्र यही अहिसा है। यदि अहिसा की मात्र इतनी ही व्याख्या है तो फिर यह सदाचार और दुराचार का मान-दण्ड नहीं बन सकती, जबकि जैन आचार्यों ने सदैव ही उसे सदाचार का एकमात्र आधार प्रस्तुत किया है। आचार्य अमृतचन्दजी ने कहा है कि अनृतवचन, स्तेय, मैथुन, परिग्रह आदि पापों के जो भिन्न-भिन्न नाम दिये गये वे तो केवल शिष्यबोध के लिए है; मूलत: तो वे सब हिसा ही है। वस्तुत: जैन आचार्यों ने अहिंसा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचारा है। वह आन्तरिक भी है और बाह्य भी। उसका सम्बन्ध व्यक्ति से भी हैं और समाज से भी। इसे जैन परम्परा में 'स्व' की हिंसा और 'पर' की हिंसा, ऐसे दो भागों में बाँटा गया है। जब हिसा हमारे स्वस्वरूप या स्वभाव-दशा का घात करती है तो वह स्व-हिंसा है और जब वह दूसरों के हितों को चोट पहुँचाती है तो वह पर की हिंसा है। स्व की हिंसा के रूप में वह आन्तरिक पाप है तो पर की हिंसा के रूप में वह सामाजिक पाप। किन्तु उसके ये दोनों ही रूप दुराचार की कोटि में ही आते हैं। अपने इस व्यापक अर्थ में हिंसा को दुराचार की और अहिंसा को सदाचार की कसौटी माना जा सकता है।

नैतिक निर्णय की दृष्टि से कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का विचार करने के लिए नैतिक प्रतिमान के विषय में पाश्चात्य आचारदर्शन में काफी गहराई से विचार किया गया है। अतः तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह विचारणीय है कि पाश्चात्य आचारदर्शन में स्वीकृत नैतिक प्रतिमानों का सामान्यरूप से भारतीय दर्शन और विशेषरूप से जैन दर्शन से क्या सम्बन्ध हो सकता है।

पाश्चात्य परम्परा में प्रारम्भ से ही नैतिक प्रतिमान के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। प्रथम तो यह कि कुछ विचारकों ने किसी भी नैतिक प्रतिमान को स्वीकार ही नहीं किया है। इन विचारकों की परम्परा 'नैतिक सन्देहवाद' के नाम से जानी जाती है। दूसरे यह कि कुछ विचारकों ने नैतिक प्रतिमान को तो

स्वीकार किया,लेकिन वह नैतिक प्रतिमान क्या है, इस विषय मे उनमे काफी मतभेद है। पाश्चात्य विचारको के द्वारा विभिन्न नैतिक प्रतिमानो की स्थापना की गयी और फलस्वरूप आचारदर्शन के विभिन्न सिद्धान्तो का निर्माण हुआ। उन सबका विस्तृत एव गहन चिन्तन तो यहाँ सम्भव नहीं है, फिर भी उन विभिन्न धारणाओं के साथ जैन एव अन्य दर्शन का क्या सम्बन्ध हो सकता है, इसपर सक्षिप्त विचार करना उचित होगा। सर्वप्रथम 'नैतिक सन्देहवाद' को ही ले।

§ ३. नैतिक सन्देहवाद और जैन आचारदर्शन

नैतिक सन्देहवाद की विचारधारा भारत और पाश्चात्य देशो मे प्राचीन समय से चली आ रही है। भारत के चार्वाक दार्शनिक और ग्रीस के सोफिस्ट विचारक इस विचार-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते है। भारतीय परम्परा मे नैतिक सन्देहवाद सम्बन्धी विचार प्रचलित थे, ऐसे सन्दर्भ जैन, बौद्ध और वैदिक ग्रन्थो मे उपलब्ध है।

जैन आचार्यो ने सूत्रकृतांग एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इस विचार-धारा का उल्लेख किया है। इस विचारधारा के अनुसार धर्म (उचित) और अधर्म (अनुचित) की शका मे नही पड़ना चाहिए, क्योकि यह सुखो की उपलब्धि में बाधक है, गधे की सींग के समान धर्म और अधर्म का कोई अस्तित्व ही नही है।[1] महाभारत मे भी यक्ष के प्रश्नो के उत्तर मे युधिष्ठिर ने यही कहा था कि तर्क के द्वारा धर्माधर्म का निर्णय करना सम्भव नही है श्रुति भी इस विषय में एकमत नही है। ऋषियो के कथन भी परस्पर विरोधी है, अत उनके वचनो को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता।[2] महावीर और बुद्ध के समकालीन अज्ञानवादी विचारक सजय वेलट्ठिपुत्त इसी नैतिक सन्देहवाद का प्रतिनिधित्व करते थे। नैतिक सन्देहवाद मूलरूप मे यह मानकर चलता है कि किसी भी ऐसे नैतिक प्रति-मान को खोज पाना असम्भव है जिसे धर्माधर्म या उचित-अनुचित के निर्णय का प्रामाणिक आधार बनाया जा सके।

पाश्चात्य आचारदर्शन मे नैतिक सन्देहवाद की धारणा तार्किक आधारो पर पुष्ट हुई है। नैतिक सन्देहवादी पाश्चात्य विचारक इस सम्बन्ध मे तो एकमत है कि वे नैतिक मानक के अस्तित्व को स्वीकार नही करते है, लेकिन नैतिक मानक को अस्वीकार करने के उनके तर्क अलग-अलग है। उनके तीन वर्ग है।

(अ) नैतिक सन्देहवाद की अर्थवैज्ञानिक युक्ति और तार्किक भाववाद

तार्किक भाववाद को माननेवाले विचारको मे कारनेप, रसल एवं एअर प्रमुख है। ये नैतिक आदेश एव नैतिक प्रत्ययो के भाषाविषयक विवेचन के आधार पर यह सिद्ध करते है कि नैतिक प्रत्यय मात्र सांवेगिक अभिव्यक्तियाँ है और इनकी सत्यता

१. (अ) सूत्रकृतांग, १।१।१।११-१२. (ब) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १।३३४.
२. महाभारत, वनपर्व, ३१२।११५.

और असत्यता के सन्दर्भ मे विचार करना निरर्थक है ।[१] इनके अनुसार शुभ और अशुभ, धर्म और अधर्म, अच्छा या बुरा सभी हमारे आन्तरिक मनोभावो की अभिव्यक्तियाँ है किसी भी कर्म या वस्तु को अच्छा या शुभ कहने का अर्थ यही है कि उसके कारण हृदय मे जो भाव उत्पन्न होता है वह सुखद लगता है । नैतिक प्रत्यय आन्तरिक भावो के उद्‌गार मात्र है । अच्छाई का अर्थ है, सुखद अनुभूति । शुभ और अशुभ मूल्यात्मक निर्णय नही है, वर्णनात्मक निर्णय है । सुखद भाव के अतिरिक्त न कोई अच्छा है और दुखद भाव के अतिरिक्त न कोई अशुभ या बुरा है । एअर के अनुसार जिन्हे नैतिकता के मौलिक प्रत्यय और परिभाषाएँ कहा जाता है, वे सभी प्रत्याभास (Pseudo-concept) मात्र है क्योंकि जिस वाक्य मे वे रहते है उसे अपनी ओर से कोई अर्थ प्रदान नही करते । प्रत्याभास के रूप मे वे मात्र हमारी प्रसन्नता या क्षोभ को प्रकट करते है । किसी कर्म को उचित कहकर हम उसके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट करते है और किसी कार्य को अनुचित कहकर हम उसके प्रति अपना क्षोभ प्रकट करते है । नैतिक प्रत्ययो का अर्थ हमारे मनोभावो से जुडा हुआ है ।[२] प्रोफेसर कार्नेप के अनुसार, 'एक मूल्यात्मक कथन वस्तुत व्याकरण की दृष्टि मे छद्मरूप मे प्रस्तुत एक आज्ञा से अधिक नही है । इसका मानवीय आचरण पर कुछ प्रभाव तो हो सकता है, लेकिन यह प्रभाव हमारी इच्छा या अनिच्छा से ही सम्बन्धित है । यह न तो सत्य हो सकता है और न असत्य ।"[३] 'चोरी करना अनुचित है' इस कथन का अर्थ है चोरी मत करो या मुझे चोरी पसन्द नही, इस प्रकार इसका कोई सत्य मूल्य नही है ।

इस प्रकार तार्किक भाववादी विचारक 'औचित्य', 'अनौचित्य', 'शुभ', 'अशुभ' एव 'चाहिए' के नैतिक प्रत्ययो को भावनात्मक अभिव्यक्ति अथवा क्षोभ या पसन्दगी की प्रतिक्रिया मात्र मानते है और बताते है कि ये प्रतिक्रियाएँ भी लोकव्यवहार के अनुसार उत्पन्न होती है । इस प्रकार न तो कोई मौलिक नैतिक प्रत्यय है और न नैतिक माने जानेवाले प्रत्ययो का कोई मूल्यात्मक अर्थ ही है । सभी नैतिक प्रत्यय सामाजिक परम्पराओ की सीखी हुई सवेगात्मक अभिव्यक्तियो के ढग है ।

(आ) नैतिक सन्देहवाद की मनोवैज्ञानिक युक्ति

मनोवैज्ञानिक आधार पर नैतिक प्रतिमान के प्रति सन्देहात्मक दृष्टिकोण रखनेवालो मे प्रमुख है व्यवहारवाद के प्रणेता वाट्‌सन और मनोविश्लेषण सम्प्रदाय के प्रवर्तक फ्रायड ।

वाट्‌सन की दृष्टि मे मानवीय व्यवहार यान्त्रिक एव अन्ध है । वे अपने अध्ययन को व्यवहार के बाह्य प्रकट स्वरूप तक ही सीमित रखते है, यदि उनके लिए नैतिकता का कोई स्थान हो सकता है, तो वह इसी बाह्य यान्त्रिक एव अन्ध

१. कण्टम्परिरि एथिकल थ्योरीज, पृ० ११.
२. देखिए—लैंग्वेज, लाजिक ऐण्ड ट्रुथ, पृ० १०८-९.
३. उद्‌धृत—लैंग्वेज आफ मारल्स, पृ० १२.

व्यवहार में ही हो सकता है। लेकिन प्रयोजन, लक्ष्य अथवा चेतन उद्देश्यों से रहित व्यवहार में नैतिकता को स्वीकार करना हास्यास्पद होगा, क्योंकि फिर तो हवा का बहना और पानी का गिरना भी नैतिकता की सीमा में आ जायेगा। यदि वाट्सन की दृष्टि में मानवीय व्यवहार यान्त्रिक एवं अन्ध है तो फिर उसमें नैतिकता का कोई स्थान नहीं हो सकता। उसमें नैतिकता मात्र भ्रम होगी।[1]

फ्रायड की दृष्टि में मानवीय व्यवहार जैविक वासनाओं से नियन्त्रित होता है। मानवीय प्रकृति ऐसी ही है तो उसके लिए किसी नैतिक सिद्धान्त की स्थापना ही सम्भव नहीं है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य मूलप्रवृत्यात्मक वासनाओं का समूह हैऔर वासनाओंके विरुद्ध किसी नैतिक सिद्धान्त की स्थापना का तर्क निरर्थक है। फ्रायड की मान्यता में नैतिक आदर्शों की उपलब्धि असम्भव है। वे आदर्श थोथे हैं और मानवीय अयौक्तिक वासनाओं के चिरकालीन दमन के प्रपंचित प्रक्षेपण हैं, जो उपलब्धि के योग्य ही नहीं हैं।[2] इस प्रकार फ्रायड के मनोविज्ञान में नैतिकता का कोई स्थान नहीं रहता।

(इ) नैतिक सन्देहवाद की समाजशास्त्रीय युक्ति

कुछ समाजशास्त्रीय विचारक भी नैतिकता के निरपेक्ष, स्थायी एवं सार्वभौमिक प्रतिमान के अस्तित्व के प्रति सन्देह प्रकट करते हैं। विलियम ग्राहम समनेर कहते हैं कि नैतिक मान्यताएँ अथवा उचित और अनुचित की धारणा समाज-सापेक्ष है। जो भी तत्कालीन सामाजिक रीतिरिवाजों के अनुकूल होता है वह उचित, और जो प्रतिकूल है वह अनुचित है। उनके अनुसार यह रीतिरिवाज निर्णय नहीं वरन् विकास है (जो विकास पर आधारित है वह निरपेक्ष नही)। अतः नैतिकता के सन्दर्भ में निरपेक्षता का विचार व्यर्थ है। वह तो रीतिरिवाजों से प्रत्युत्पन्न है और कभी भी मौलिक ओर रचनात्मक नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष अर्थ में नैतिक प्रत्ययों का अस्तित्व भ्रम है। एक स्वीकारात्मक नैतिक सिद्धान्त (सामूहिक) इच्छा की अभिव्यक्ति से अधिक नहीं है।[3] दूसरे समाजशास्त्रीय विचारक कार्ल मनहीयम कहते हैं कि ऐसा कोई (नैतिक) आदर्श नहीं हो सकता जो मात्र आकारिक एवं निरपेक्ष हो। रीतिरिवाज नैतिकता की भावनात्मक प्रकृति में समाविष्ट है और फिर ऐसी दशा में नैतिक निर्णयों के लिए स्थिर मूल्यों को खोज पाना असम्भव है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्व और पश्चिम के ये सब विचारक कम से कम इस एक बात पर सहमत हैं कि नैतिकता की धारणा का कोई अस्तित्व नहीं है और उसके सन्दर्भ में विचार करना निरर्थक है।

---

१. कण्टम्परिर एथिकल थ्योरीज, पृ० ३३.
२. वही, पृ० ३७-३८, ४०.
३. वही, पृ० ५१.
४. वही, पृ० ५३.

§ ४. जैन दर्शन को नैतिक सन्देहवाद अस्वीकार

जैन दार्शनिकों को किसी भी प्रकार का नैतिक सन्देहवाद स्वीकार नहीं है। महावीर नैतिक प्रतिमान की सत्यता को स्वीकार करते हुए कहते है कि 'कल्याण (शुभ) तथा पाप (अशुभ) है, ऐसा ही निश्चय करे, इसमें अन्यथा नही।'[१] महावीर का यह वचन स्पष्ट कर देता है कि जैन विचारणा में नैतिक सन्देहवाद का कोई स्थान नहीं है। उन्होंने ऐसी मान्यता को, जो शुभ और अशुभ की वास्तविक सत्ता में विश्वास नही रखती, सदाचारघातक मान्यता कहा है।

बुद्ध और महावीर के समकालीन विचारक संजय वेलट्ठिपुत्त भी इसी प्रकार के नैतिक सन्देहवाद में विश्वास करते थे। महावीर ने उनकी मान्यता को अनुचित ही माना था। संजय वेलट्ठिपुत्त का दर्शन ह्यूम के अनुभववाद, कांट के अज्ञेयवाद एवं तार्किक भाववादियों के विश्लेषणवाद का पूर्ववर्ती स्थूल रूप था। उसकी आलोचना करते हुए कहा गया है कि ये विचारक तर्क वितर्क में कुशल होते हुए भी सन्देह से परे नही जा सके।[२]

वस्तुतः नैतिक सन्देहवाद मानवीय आदर्श का निरूपण करने में समर्थ नही है, चाहे उसका आधार नैतिक प्रत्ययों का विश्लेषण हो अथवा उसे मानव की मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं या सामाजिक आधारो पर स्थापित किया गया हो। यदि हम शुभ को अपनी मनोवैज्ञानिक भावावस्थाओं अथवा सामाजिक परम्पराओं मे खोजने का प्रयास करेंगे तो वह उनमे उपलब्ध नही होगा। जैन दार्शनिकों के अनुसार नैतिक आदर्श तर्क के माध्यम से नही खोजा जा सकता, क्योकि वह तर्क का विषय नही है। उसी प्रकार मानव के यान्त्रिक एवं सामाजिक व्यवहार में भी शुभ की खोज करना व्यर्थ का प्रयास ही होगा। इन विचारकों की मूलभूत भ्रान्ति यह है कि वे भाषा को पूर्ण एवं सक्षम रूप से देखते है, जबकि भाषा स्वयं अपूर्ण है। वह पूर्णता के नैतिक साध्य का विश्लेषण कैसे करेगी ? इसी प्रकार मनुष्य को मात्र यान्त्रिक एवं अन्ध वासनाओं से चलनेवाला प्राणी मान लेना भी मानव प्रकृति का यथार्थ विश्लेषण नहीं होगा।

पुनश्च, नैतिक प्रत्ययों को सावेगिक अभिव्यक्ति या रुचि सापेक्ष मानने पर भी स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त नही किया जा सकता है। यदि नैतिक प्रत्यय सांवेगिक अभिव्यक्ति है, तो प्रश्न यह है कि नैतिक आवेगो का दूसरे सामान्य आवेगों से अन्तर का आधार क्या है ? वह कौन-सा तत्त्व है जो नैतिक आवेग को दूसरे आवेगों से अलग करता है ? यह तो सुनिश्चित सत्य है कि नैतिक आवेग दूसरे आवेगों से भिन्न हैं। दायित्वबोध का आवेग, अन्याय के प्रति आक्रोश का आवेग और क्रोध का आवेग, ये तीनों भिन्न-भिन्न स्तरों के आवेग है। जो चेतना इनकी

१. सूत्रकृतांग, २।५।२७–२८.
२. वही, १।१२।२.

भिन्नता का बोध करती है, वही नैतिक मूल्यो की द्रष्टा भी है। नैतिक मूल्यो को स्वीकार किये बिना हम भिन्न-भिन्न प्रकार के आवेगो का अन्तर नही कर सकते। यदि इसका आधार पसन्दगी या रुचि है, तो फिर पसन्दगी या नापसन्दगी के भावो की उत्पत्ति का आधार क्या है ? क्यो हम चौर्य कर्म को नापसन्द करते है और क्यो ईमानदारी को पसन्द करते है ? नैतिक भावो की व्याख्या मात्र पसन्दगी और नापसन्दगी के रूप मे नही की जा सकती है। मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी अथवा रुचि केवल मन की मौज या मन की तरग (Whim) पर निर्भर नही है। इन्हे पूरी तरह आत्मनिष्ठ (Subjective) नही माना जा सकता, इनके पीछे एक वस्तुनिष्ठ आधार भी होता है। आज हमे उन आधारो का अन्वेषण करना होगा जो हमारी पसन्दगी और नापसन्दगी को बनाते या प्रभावित करते है। वे कुछ आदर्श, सिद्धान्त, दृष्टियाँ या मूल्यबोध है जो हमारी पसन्दगी या नापसन्दगी को बनाते है और जिनके आधार पर हमारी रुचियाँ गठित होती है। मानवीय रुचियाँ और मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी आकस्मिक एव प्राकृतिक (Natural) नही है। जो तत्त्व इनको बनाते है, उनमे नैतिक मूल्य भी है। ये पूर्णतया व्यक्ति और समाज की रचना भी नही है, अपितु व्यक्ति के मूल्यसस्थान के बोध से भी उत्पन्न होती है। वस्तुत मूल्यो की सत्ता अनुभव की पूर्ववर्ती है, मनुष्य मूल्यो का द्रष्टा है, सृजक नही। अत रुचिसापेक्षता के आधार पर स्वय नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त नही किया जा सकता है। दूसरे, यदि हम औचित्य एव अनौचित्य का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानते है, तो यह भी ठीक नही। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थो से सामाजिक हित क्यो श्रेष्ठ एव वरेण्य है ? इस प्रश्न का हमारे पास क्या उत्तर होगा ? सामाजिक हितो की वरेण्यता का उत्तर नीति की मूल्यवत्ता को स्वीकार किये बिना नही दिया जा सकता है। इस प्रकार परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वय नीति की मूल्यवत्ता पर प्रश्न-चिह्न नही लगाया जा सकता। नैतिक मूल्यो के अस्तित्व की स्वीकृति मे ही उनकी परिवर्तनशीलता का कोई अर्थ हो सकता है, उनके नकारने मे नही।

यहाँ हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज भी नैतिक मूल्यो का सृजक नही है। समाज किन्ही आचरण के प्रारूपो को विहित या अविहित मान सकता है। किन्तु सामाजिक विहितता और अविहितता नैतिक औचित्य या अनौचित्य से भिन्न है। एक कर्म अनैतिक हुए भी विहित माना जा सकता है अथवा नैतिक होते हुए भी अविहित माना जा सकता है। कजर जाति मे चोरी, आदिम कबीलो मे नरबलि या मुस्लिम समाज मे बहु-पत्नीप्रथा विहित है। राजपूतो मे लडकी को जन्मते ही मार डालना कभी विहित रहा था। अनेक देशो मे वेश्यावृत्ति, समलैंगिकता, मद्यपान आज भी विहित और वैधानिक है—किन्तु क्या इन्हे नैतिक कहा जा सकता है ? नग्नता को, शासनतन्त्र की आलोचना को, अविहित एव अवैधानिक माना जा सकता है, किन्तु इससे नग्न रहना या शासक वर्ग के गलत कार्यो की आलोचना अनैतिक नही कहा जा सकेगा। मानवो के समुदाय विशेष के द्वारा किसी कर्म को विहित या

वैधानिक मान लेने मात्र से वह नैतिक नही हो जाता। गर्भपात वैधानिक हो सकता है, लेकिन नैतिक कभी नही। नैतिक मूल्यवत्ता निष्पक्ष विवेक के प्रकाश में आलोकित होती है। वह सामाजिक विहितता या वैधानिकता से भिन्न है। समाज किसी कर्म को विहित या अविहित बना सकता है, किन्तु उचित या अनुचित नहीं।

नैतिक प्रत्ययों को अथवा शुभ को समाज की आदत से उत्पन्न हुआ नही माना जा सकता। इसके विपरीत, जिसे सामाजिक सदाचार कहा जाता है, वह अच्छाई या शुभ से उत्पन्न होता है। नैतिक सन्देहवाद के मूल मे यह भ्रान्ति है कि वह मूल्यों को व्यावहारिक अनुभवों में ही खोजने का प्रयास करता है, जब कि वे उनसे ऊपर भी होते है। नैतिक प्रतिमान या आदर्श हमारे व्यवहारों से प्रभावित नहीं होता, बल्कि उससे हमारे व्यवहार प्रभावित होते है। वह हमारे व्यवहारों के मूल में निहित है।

आज नैतिक मानदण्डो की जिस गत्यात्मकता की बात कही जा रही है, उससे तो स्वयं नैतिकता के मूल्य होने मे ही अनास्था उत्पन्न हो गयी है। आज का मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओं की पूर्ति के लिए विवेक एवं संयम की नियामक मर्यादाओं की अवहेलना को ही मूल्य-क्रान्ति मान रहा है। वर्षो के चिन्तन और साधना से फलित ये मर्यादाएँ आज उसे कारा लग रही है और इन्हें तोड़-फेंकने मे ही उसे मूल्य-क्रान्ति परिलक्षित हो रही है। स्वतन्त्रता के नाम पर वह अतन्त्रता और अराजकता को ही मूल्य मान बैठा है। किन्तु यह सब मूल्य-विभ्रम या मूल्य-विपर्यय ही है जिसके कारण नैतिक मूल्यों के निर्मूल्यीकरण को ही मूल्य-परिवर्तन कहा जा रहा है। यहाँ हमे यह समझ लेना होगा कि मूल्य-क्रान्ति या मूल्यान्तरण मूल्य-निषेध नही है। परिवर्तनशीलता का तात्पर्य स्वयं नीति के मूल्य होने में अनास्था नही है। यह सत्य है कि नैतिक मूल्यों में और नीति-सम्बन्धी धारणाओं मे परिवर्तन हुए है और होते रहेंगे, किन्तु मानव के इतिहास में कोई भी काल ऐसा नही है, जब स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार किया गया हो। वस्तुत. नैतिक मानदण्डों की परिवर्तनशीलता मे भी कुछ ऐसा अवश्य है जो बना रहता है और वह है स्वयं नीति की मूल्यवत्ता। नैतिक मूल्यों की विषयवस्तु बदलती रहती है, किन्तु उनका आकार बना रहता है। मात्र इतना ही नही, कुछ मूल्य ऐसे भी है जो अपनी मूल्यवत्ता को कभी नहीं खोते; मात्र उनकी व्याख्या के सन्दर्भ एवं अर्थ बदलते है।

§ ५. नैतिक प्रतिमान के सिद्धान्त

जिन विचारकों ने नैतिक सन्देहवाद को अस्वीकार कर नैतिक प्रतिमानों को स्वीकार किया है, उनमें भी नैतिक प्रतिमान के सम्बन्ध में मतभेद है। नैतिक प्रतिमान के सिद्धान्तों को दो वर्गों मे रखा जा सकता है—(१) विधानवादी सिद्धान्त और (२) साध्यवादी सिद्धान्त।

§ ६. विधानवादी सिद्धान्त

नैतिक प्रतिमान के विधानवादी सिद्धान्त दो प्रकार के हैं—(१) बाह्य विधानवादी सिद्धान्त और (२) आन्तरिक विधानवादी सिद्धान्त। बाह्य विधानवादी सिद्धान्त के भी—(अ) सामाजिक विधानवाद, (आ) वैधानिक विधानवाद और (इ) ईश्वरीय विधानवाद, ये तीन प्रकार हैं।

१. बाह्य विधानवादी सिद्धान्त

(अ) सामाजिक विधानवाद—सामाजिक विधानवाद के अनुसार समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का पालन करना शुभ और सामाजिक नियमों का पालन न करना या उनका उल्लंघन करना अशुभ है। आधुनिक पाश्चात्य परम्परा में इमाइल डरखिम और ल्यूकिन लेवीब्रुल इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। इस सिद्धान्त की मूलभूत मान्यता यह है कि शुभ और अशुभ के प्रत्ययों, जिन्हें हम नैतिक प्रतिपादन का आधार बनाते हैं, सामाजिक स्वीकृति और अस्वीकृति से निर्मित होते हैं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि समाज जिसे उचित मानता है वह उचित है और समाज जिसे अनुचित मानता है वह अनुचित है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति ही नैतिकता का प्रतिमान है।

जैन दार्शनिक सामान्यतया सामाजिक नियमों को अस्वीकार नहीं करते। जैन परम्परा में वे सभी लौकिक विधियाँ (सामाजिक नियम) स्वीकार्य हैं[१] जिनसे सम्यक्त्व और व्रतों में कोई दोष नहीं लगता। जैन परम्परा के अनुसार सामाजिक नियम यदि व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में बाधक न हों तो उनका पालन करना उचित है, लेकिन यदि वे आध्यात्मिक विकास में बाधक हैं तो वे त्याज्य ही हैं। स्थानांगसूत्र में नगरधर्म, ग्रामधर्म आदि के रूप में लौकिक विधानों को मान्यता प्रदान की गयी है,[२] फिर भी उन्हे नैतिकता का प्रतिमान नहीं कहा जा सकता। जैन दार्शनिकों ने व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही उनका मूल्य स्वीकार किया है।

गीता में भी कुलधर्म, जाति-मर्यादा आदि के रूप में सामाजिक विधानवाद का समर्थन हुआ है। अर्जुन युद्ध से इसीलिए बचना चाहता है कि उससे कुलधर्म और जातिधर्म के नष्ट होने की सम्भावना दिखाई देती है।[3] भारतीय परम्परा में धर्म-अधर्म की व्यवस्था के लिए सामाजिक नियमों एवं परम्पराओं को स्थान अवश्य दिया गया है, फिर भी वे भारतीय दर्शन में नैतिकता के चरम प्रतिमान नहीं हैं।

(आ) वैधानिक विधानवाद—विधानवादी सिद्धान्तों का एक प्रकार यह भी है जिसमें राजकीय नियमों को ही नैतिकता का प्रमापक मान लिया जाता है। आधुनिक

१. "सर्व एवहि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।"—यशस्तिलकचम्पू, ८।३४.
२. स्थानांगसूत्र, १०.
३. गीता, १।४०–४३.

युग में वैधानिक नियमों की उत्पत्ति समाजनिरपेक्ष नहीं है, इसलिए सामाजिक विधानवाद और वैधानिक विधानवाद में अन्तर करना उचित न होगा। हाँ, प्राचीन युग में, जबकि राजा ही वैधानिक नियमों का नियामक होता था, वैधानिक विधानवाद नैतिक प्रतिमान का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। भोजप्रबन्ध के अनुसार राजा के वचन या विधान से पवित्र आत्मा भी अपवित्र हो जाता है और अपवित्र आत्मा भी पवित्र बन जाता है।[१] राज्य के नियमों का परिपालन जैन आचारदर्शन में भी स्वीकृत है। राज्यनियमों के विरुद्ध काम करने को जैन दार्शनिकों ने अनैतिक कर्म कहा है। श्रमण और गृहस्थ दोनों के लिए ही राजकीय मर्यादाओं का उल्लंघन अनुचित था।[२] फिर भी जैन आचारदर्शन के अनुसार राजकीय नियम नैतिकता का प्रतिमान नही हो सकते क्योंकि राज्यनियमों का विधान जिन लोगो के द्वारा किया जाता है, वे राग और द्वेष से मुक्त नही होते, इसलिए उनके आदेश पूर्णतया प्रामाणिक नही कहे जा सकते। राज्य के नियम परिवर्तनशील होते है तथा विभिन्न देशों एवं समयो में अलग-अलग होते है, जबकि नैतिक प्रतिमान को अपेक्षाकृत स्थायी एवं देशकालगत सीमाओं से ऊपर होना चाहिए।

(इ) **ईश्वरीय विधानवाद**—ईश्वरीय विधानवाद के अनुसार नैतिकता का वास्तविक आधार ईश्वरीय इच्छा एवं नियम ही है। ईश्वरीय नियमों के अनुसार आचरण करना नैतिक है और उसके विरुद्ध आचरण करना अनैतिक। पाश्चात्य परम्परा में देकार्त, लाक, स्पिनोजा आदि अनेक विचारक इस प्रतिमान के समर्थक है। समकालीन चिन्तकों में कार्ल बर्थ, इमिल ब्रूनर एवं रिन्होल्डनीबर आदि विचारक इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।[३] ईश्वरीय आज्ञा में नैतिकता के प्रतिमान को खोजने की यह परम्परा भारतीय चिन्तन में भी है। ईश्वरप्रणीत धर्मशास्त्रों की आज्ञा के अनुसार आचरण करना भारतीय आचारदर्शन की प्रमुख मान्यता रही है। धर्मदर्शन के अनुसार तो ईश्वरप्रणीत शास्त्रों की आज्ञाओं का पालन ही नैतिकता का चरम प्रतिमान है।

हिन्दू, बौद्ध और जैन दर्शनों में भी ईश्वर, बुद्ध अथवा तीर्थंकर की आज्ञाओं का पालन करना नैतिक जीवन का अनिवार्य अग है। गीता का कथन है कि जो शास्त्र के विधान को छोड़कर मनमानी करता है उसे सुख, सफलता और उत्तम गति नही मिलती। इसलिए कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने के लिए शास्त्रों को ही प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रोक्त विधान को जानकर उसके अनुसार ही कर्म करना चाहिए।[४]

१. देखिए—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ९७.
२. उपासकदशांग, १।४३.
३. कण्टेम्पररि एथिकल थ्योरीज, पृ० ९८.
४. गीता, १६।२३–२४.

बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध द्वारा प्रणीत नियमों का पालन करना नैतिकता का प्रतिमान माना गया है। सम्पूर्ण विनयपिटक और सुत्तपिटक में नैतिक जीवन के नियमों का प्रतिपादन है और आज भी बौद्ध उपासक उन्हें नैतिकता एवं अनैतिकता के प्रतिमान के रूप में स्वीकार करते हैं। बुद्ध ने स्वयं यह कहा था कि 'जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।'[१] बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय भी अन्तिम बार भिक्षुओं को आमन्त्रित करके कहा, "हे आनन्द, शायद तुमको ऐसा हो, हमारे शास्ता चले गये—अब हमारा शास्ता नहीं है। आनन्द, ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय के उपदेश दिये हैं, प्रज्ञप्त किये है, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता होंगे।"[२]

जैन परम्परा में भी जिनवचनों का पालन करना नैतिक जीवन का आवश्यक अंग माना गया है। सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों की आज्ञाओं का पालन करना प्रत्येक गृहस्थ एवं श्रमण के लिए आवश्यक है। आचारांगसूत्र में महावीर कहते है कि मेरी आज्ञाओं का पालन धर्म है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में भी विधानवाद का स्थान है। जैन आचारदर्शन वीतराग पुरुषों अथवा तीर्थंकरों के आदेशों को नैतिक जीवन का प्रतिमान स्वीकार करता है।

फिर भी इतना स्पष्ट है कि यदि नैतिकता के प्रतिमान के रूप में बाह्य आदेशों को ही सब कुछ मान लिया गया तो नैतिकता आन्तरिक वस्तु नहीं रह जायेगी। बाह्य आदेश 'करना चाहिए' के स्थान पर 'करना पड़ेगा' की प्रकृति का होता है। वह बहुत कुछ पुरस्कार की आशा एवं दण्ड के भय पर निर्भर होता है, अतः उसे पूर्ण रूप से नैतिकता का प्रतिमान स्वीकार नही किया जा सकता। नैतिक जीवन में ईश्वर, बुद्ध या जिन के वचन मार्गदर्शक हो सकते है, लेकिन कर्तव्य की भावना का उद्भव तो हमारे अन्दर से ही होना चाहिए। यदि अमनस्क भाव से नैतिक आदेशों का पालन किया भी जाता है तो उसमे कोई व्यक्ति नैतिक नही बन जाता। नैतिकता अन्तरात्मा की वस्तु है। उसे वाह्य विधानो के आश्रित नही माना जा सकता।

२. आन्तरिक विधानवाद

आन्तरिक या अन्तरात्मक विधानवाद के अनुसार शुभ और अशुभ का निर्णायक तत्त्व व्यक्ति की अन्तरात्मा है। अपनी अन्तरात्मा के अनुसार आचरण करना शुभ और उसके प्रतिकूल आचरण करना अशुभ माना गया है। पाश्चात्य परम्परा में अन्तरात्मक विधानवाद के प्रतिपादकों में हेनरी मोर, रल्फ कडवर्थ, सैमुअल क्लार्क, विलियम वुलेस्टन, शेफ्ट्सबरी, हचिसन और बटलर की एक लम्बी परम्परा है।[४] समकालीन

१. इतिवुत्तक, ३।५।३ (पृ० ५१).
२. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त, २।३.
३. आचारांग, १।६।२।१८१.
४. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ११०.

चिन्तको मे एडवर्ड वेस्टरमार्क, अर्थर केनिआन रोजर्स और फ्रेक चेपमेनशार्प प्रमुख है।[1] भारतीय परम्परा मे आन्तरिक विधानवाद का समर्थन मनु के युग मे ही मिलता है। मनु ने 'मन पूत समाचरेत' कहकर इसी अन्तरात्मक विधानवाद का समर्थन किया है।[2] महाभारत के अनुशासनपर्व मे भी कहा गया है, 'सुख-दु ख, प्रिय-अप्रिय, दान और त्याग सभी मे अपनी आत्मा को प्रमाण मानकर ही व्यवहार करना चाहिए।"[3]

आन्तरिक (अन्तरात्मक) विधानवाद की यह धारणा जैन और बौद्ध परम्परा मे भी स्वीकृत रही है। लेकिन जैन और बौद्ध परम्पराएँ इस बात को स्पष्ट कर देती है कि अन्तरात्मा के आदेश को उसी समय प्रामाणिक माना जाता है जब वह राग और द्वेष से ऊपर उठकर कोई निर्णय ले। अन्तरात्मा को नैतिकता का प्रतिमान स्वीकार करने के लिए यह शर्त आवश्यक है, अन्यथा राग-द्वेष मे युक्त वासनामय आत्मा के आदेशो को भी नैतिक मानना पडेगा जो कि हास्यास्पद होगा। अत यह दृष्टिकोण समुचित ही है कि राग-द्वेष से रहित साक्षी स्वरूप अन्तरात्मा को ही नैतिकता का प्रतिमान स्वीकार किया जाय। पाश्चात्य परम्परा के अन्तरात्मक विधानवादी विचारको ने इस सम्बन्ध मे गहराई से विचार नही किया और फलस्वरूप उनकी आलोचना की गयी। भारतीय विचारक इस सम्बन्ध मे सजग रहे है। उनके अनुसार आत्मा का राग-द्वेष से रहित जो शुद्ध स्वरूप है वही नैतिकता का प्रतिमान हो सकता है और यदि इस रूप मे हम अन्तरात्मा को नैतिकता का प्रतिमान स्वीकार करेगे तो उसका ईश्वरीय विधानवाद और आत्मपूर्णतावाद से भी कोई विरोध नही रहेगा।

नैतिक प्रतिमान को आन्तरिक विधान के रूप मे माननेवाले विचारको मे अन्तरात्मा या अन्तर्दृष्टि (Intuition) के स्वरूप के विषय मे अलग-अलग दृष्टिकोण है और उनके अलग-अलग सम्प्रदाय भी है। प्रमुख रूप मे उन सम्प्रदायो को निम्न वर्गो मे रखा जा सकता है—(अ) बुद्धिवाद या तार्किक सहज ज्ञानवाद, (आ) रसेन्द्रियवाद या नैतिक इन्द्रियवाद, (इ) सहानुभूतिवाद, (ई) नैतिक अन्तरात्मवाद, (उ) मनोवैज्ञानिक अन्तरात्मवाद।

(अ) **बुद्धिवाद और जैन दर्शन**—कैम्ब्रिज प्लेटोवादियो ने, जिनमे बेजामिन ह्विचकोट, राल्फ कडवर्थ, हेनरी मोर, रिचर्ड कम्बरलन, सैमुअल क्लार्क और विलियम वुलेस्टन प्रमुख हैं, अन्तरात्मा को बौद्धिक या तार्किक माना है।[4] उनकी दृष्टि मे अन्तर्दृष्टि (प्रज्ञा) तर्कमय है। राल्फ कडवर्थ के अनुसार सद्गुण और अवगुण के अपने-अपने स्वरूप है। वे वस्तुमूलक एव वस्तुतन्त्र है, न कि आत्मतन्त्र। वह उन्हे ज्ञानाकार प्रत्यय स्वरूप मानता है। उसके अनुसार हम शुभ और अशुभ का ज्ञान ठीक वैसे ही प्राप्त कर सकते है, जैसे तर्कशास्त्र के प्रत्ययो का ज्ञान। वे इन्द्रिय-

१. कण्टम्पररि एथिकल थ्योरीज, पृ० ६१–७३.
२. मनुस्मृति, ६।४६.
३. महाभारत, अनुशासनपर्व, ११३।९–१०.
४. देखिए—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ११०–११९.

गम्य नही, वरन् बुद्धिगम्य है। जैन परम्परा राल्फ कडवर्थ के विचारों से इस अर्थ में सहमत है कि शुभ और अशुभ अथवा पुण्य या पाप का वस्तुनिष्ठ अस्तित्व है। वह कडवर्थ के साथ इस अर्थ मे भी सहमत है कि प्रज्ञा या बुद्धि के द्वारा हम उन्हें जान सकते है। यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार इसका ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा भी होता है। सैमुअल क्लार्क नैतिक नियमों को गणित के नियमों के समान प्रातिभ एवं प्रामाणिक मानता है। उसके अनुसार, वे वस्तुओं के स्वभाव में निहित है अथवा वे वस्तुओं के गुणों और पारस्परिक सम्बन्धों मे विद्यमान है। उनको हम अपनी बुद्धि से पहचानते है। यह हो सकता है कि सभी लोग उनका पालन न करें, फिर भी वे उन्हें बुद्धि के द्वारा जानते अवश्य है। सैमुअल क्लार्क के इस विचार की जैन दर्शन मे तुलना करने पर ज्ञात होता है कि जैन दार्शनिकों के अनुसार भी धर्म वस्तु के स्वभाव मे निहित है। वस्तु का स्वभाव ही धर्म है[1] और बुद्धि अथवा आन्तरिक प्रत्यक्ष के द्वारा उस स्वभाव को जाना जा सकता है। सैमुअल क्लार्क ने सदाचार के चार सिद्धान्त माने है--(१) ईश्वर-भक्ति का सिद्धान्त, (२) समानता का सिद्धान्त, (३) परोपकार का सिद्धान्त और (४) आत्मसंयम का सिद्धान्त।

सैमुअल के अनुसार, ईश्वर-भक्ति का सिद्धान्त नित्यता, अनन्तता, सर्वशक्तिमत्ता, न्याय, दया आदि ईश्वरीय गुणों के प्रति निष्ठा है। जैन परम्परा के अनुसार इसकी तुलना सम्यग्दर्शन से की जा सकती है। सैमुअल का समानता का सिद्धान्त यह बताता है कि हर मनुष्य के प्रति हम वही व्यवहार करें जिसकी हम अपने प्रति युक्तियुक्त आशा करते हैं। जैन आगम सूत्रकृतांग मे नैतिकता के इस सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा है और यह बताया गया है कि जिस व्यवहार की हम अपने प्रति अपेक्षा करते है वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति करना चाहिए।[2] बौद्ध और गीता के आचारदर्शनो मे भी इसी सिद्धान्त का समर्थन हुआ है।[3] सैमुअल का तीसरा सिद्धान्त परोपकार का सिद्धान्त है। हमें सभी मनुष्यों के साथ भलाई करना चाहिए। सैमुअल इसके लिए यह प्रमाण देता है कि सार्वजनिक परोपकार या करुणा प्रकृति का नियम है, यह सभी मानवों के पारस्परिक सम्बन्धों की संवादिता है। जैन दर्शन मे भी परोपकार के सिद्धान्त को प्राणी की प्रकृति के आधार पर ही स्थापित किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र मे कहा गया है कि परस्पर एक दूसरे का उपकार करना जीव का स्वभाव है।[4] सैमुअल का चौथा सिद्धान्त आत्मसंयम का सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य का अपने प्रति भी कुछ कर्तव्य है और वह यह कि अपनी वासनाओं और क्षुधाओं को नियन्त्रित करे। जैन आचारदर्शन मे आत्मसंयम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समग्र जैन आचारदर्शन के नियम आत्मसंयम के लिए है। इस प्रकार

१. "वत्थु सहावो धम्मो"--कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८.
२. सूत्रकृतांग, २।२।४.
३. धम्मपद, १२९-१३०; सुत्तनिपात, ३७।२७; गीता, ६।३२.
४. तत्त्वार्थसूत्र, ५।२१.

हम देखते है कि जैन दर्शन में सैमुअल के चारों ही सिद्धान्तों को मोटे रूप से स्वीकार किया गया है।

विलियम वुलेस्टन आन्तरिक विधानवाद के सिद्धान्तों में बुद्धिवाद का प्रमुख व्याख्याता है। उसके अनुसार नैतिकता तार्किक सत्य है और अनैतिकता तार्किक मिथ्यात्व है। वुलेस्टन शुभाशुभ की मीमांसा मे बुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार करता है। बुद्धि के द्वारा प्रकाशित शुभ का परित्याग एक प्रकार का आत्मविरोध या आत्मप्रवचना है। जैन विचारकों ने वुलेस्टन की इस धारणा का समर्थन किया है। धर्म की समीक्षा मे बुद्धि का महत्त्वपूर्ण योगदान जैन विचारणा को मान्य है। कहा गया है कि 'साधक को प्रज्ञा के द्वारा ही धर्म की समीक्षा करनी चाहिए। विज्ञान (विवेकज्ञान) से ही धर्म के साधनो का निर्णय होता है।'[1]

(आ) **नैतिक इन्द्रियवाद और जैन दर्शन**—नैतिक इन्द्रियवाद के विचारकों के अनुसार शुभ और अशुभ का बोध बुद्धि के द्वारा नही, नैतिक इन्द्रिय के द्वारा होता है। जिस प्रकार हम सुन्दर और असुन्दर मे भेद करते है, ठीक उसी प्रकार शुभ और अशुभ मे विवेक करते है। मनुष्य का अन्तःकरण ऐसा है जो शुभ और अशुभ मे अन्तर स्थापित कर देता है। इस सम्प्रदाय के विचारको मे शेफ्ट्सबरी, हचिसन और जॉन रस्किन प्रमुख है। ये सब विचारक इस बात मे एकमत है कि शुभ और अशुभ का अन्तरात्मा मे प्रत्यक्षीकरण होता है। विचार नही, वरन् अनुभूति या भाव ही शुभाशुभ का निर्णय करते है। शेफ्ट्सबरी ने तीन प्रकार की भावनाएं मानी है—(१) अस्वाभाविक या असामाजिक भावनाएँ जिनमें द्वेष, ईर्ष्या एवं निर्दयता आदि है, (२) स्वाभाविक या सामाजिक भावनाएं जिनमे दया, परोपकार, वात्सल्य, मैत्री इत्यादि है और (३) आत्मभावनाएँ जिनमे आत्मप्रेम, जीवनप्रेम इत्यादि है। तुलनात्मक दृष्टि से इन तीनों प्रकार की भावनाओं की तुलना जैन दर्शन के तीन उपयोगों से की जा सकती है। जैन दर्शन के अनुसार निम्न तीन उपयोग है—(१) अशुभोपयोग, (२) शुभोपयोग और (३) शुद्धोपयोग।[2] अशुभोपयोग असामाजिक या अस्वाभाविक भावना के समकक्ष है। दोनों के अनुसार इसमें द्वेष आदि वृत्तियाँ होती है। इसी प्रकार शुभोपयोग स्वाभाविक या सामाजिक भावनाओं के समान है। दोनों ही विचारणाएँ इसमें प्रशस्त रागभाव से युक्त लोककल्याण को स्वीकार करती है। आत्मभावनाओं की तुलना शुद्धोपयोग से की जा सकती है, यद्यपि इस सम्बन्ध में दोनों में अधिक निकटता नही है। क्योंकि शेफ्ट्सबरी ने आत्मभावनाओ में स्वार्थ और संग्रहभावना को भी स्थान दिया है। फिर भी किसी अर्थ मे शेफ्ट्सबरी और जैन विचारणा में कुछ विचारसाम्य अवश्य परिलक्षित होता है।

१. उत्तराध्ययन, २३।२५; २३।३१.
२. जैन एथिक्स, पृ० ७५–७६.

हचिसन नैतिक इन्द्रियवाद के दूसरे प्रमुख विचारक है। उनके सिद्धान्तों के प्रमुख तथ्य है—(१) जन्मजात प्रत्यय, (२) परोपकार-भावना और (३) शान्त प्रेरक। इन्हें उन्होंने आत्मप्रेम, परोपकार और नैतिक इन्द्रिय कहा है। हचिसन के अनुसार शुभ या सद्गुण सुखानुभूति के पूर्ववर्नी है और इसी प्रकार परोपकार की भावना वैसी ही स्वाभाविक और सार्वभौमिक है जैसे भौतिक जगत में गुरुत्वाकर्षण का नियम। हचिसन के उपर्युक्त सिद्धान्तों की जैन दर्शन से तुलना करते समय यह कहा जा सकता है कि दोनों के अनुसार नैतिक प्रत्यय जन्मजात है, अर्जित नही। शुभ और अशुभ का निर्माण हमारी भावनाओं और स्वीकृतियों से नही होता, वरन् उनके आधार पर हमारी भावनाएँ वनती ह। जिस प्रकार हचिसन परोपकार-भावना को स्वाभाविक मानता है, उसी प्रकार जैन दर्शन भी उसे जीव का स्वभाव मानता है।[1] हचिसन ने भावनाओ को दो वर्गो मे बाँटा है—पहली शान्त और दूसरी अशान्त। शान्त और व्यापक भावनाएँ श्रेयस्कर है। हचिसन के इस विचार का समर्थन न केवल जैन दर्शन वरन् अन्य भारतीय दर्शन भी करते है।

रस्किन के अनुसार नैतिक इन्द्रिय रसेन्द्रिय है। रसना ही एकमात्र नैनिकता है। पहला और अन्तिम निर्णायक प्रश्न ह, 'आप क्या पसन्द करते हैं? आप जो पसन्द करते ह मुझे बताएँ और तब मै वता दूंगा कि आप क्या है।' रस्किन के अनुसार व्यक्ति की रुचि ही उसके नैतिक जीवन का प्रतिमान अभिव्यक्त करती है। रस्किन की रसेन्द्रिय या नैतिक इन्द्रिय की तुलना श्रद्धा से की जा सकती है। जिस प्रकार रस्किन के अनुसार व्यक्ति की रुचि नैतिकता का प्रतिमान है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन मे श्रद्धा नैतिकता का प्रतिमान है। गीता मे कहा गया है कि पुरुष श्रद्धामय है और उसकी जैसी श्रद्धा होती है उसी के अनुरूप वह हो जाता है।[2] गीता के इस कथन का रस्किन के रुचि-सिद्धान्त से बहुत कुछ साम्य है। जैन परम्परा के सम्यग्दर्शन को रस्किन के रुचि सिद्धान्त के तुल्य माना जा सकता है। अन्तर यही है रुचि पर कि जैन परम्परा सम्यग्दर्शन (भावात्मक श्रद्धा) पर और रस्किन बल देते है। फिर भी दोनो के अनुसार वही नैतिकता का निर्णायक प्रतिमान है, यह महत्त्व की बात है।

रसेन्द्रियवाद या रुचि सिद्धान्त की मूलभूत कमजोरी यह है कि वह शिव और सुन्दर मे अन्तर स्थापित नही कर पाता। जैन विचारकों ने इस कठिनाई को समझा था और इसीलिए उन्होंने सम्यग्दर्शन को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी उसे सम्यक्-चारित्र से अलग किया। यह ठीक है कि रुचि या दृष्टि के आधार पर चारित्र का निर्माण होता है। फिर भी दोनों ही पृथक्-पृथक् पक्ष है। उनको एक-दूसरे से मिलाने की गलती नही करनी चाहिए।

(इ) सहानुभूतिवाद और जैन दर्शन—सहानुभूतिवाद आन्तरिक विधानवाद का एक प्रमुख प्रकार है। इसके अनुसार अन्तर्दृष्टि या प्रज्ञा सहानुभूत्यात्मक है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५।२१.

२. गीता, १७।३.

सहानुभूति वह तत्त्व है जो सद्गुण का मूल्यांकन करता है और जिसके आधार पर किसी कर्म को सद्गुण कहा जाता है। सहानुभूति सद्गुण का साधन और स्रोत दोनों ही है। एडमस्मिथ इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक है। समकालीन मानवतावादी विचारक भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करते है। रसल प्रभृति कुछ विचारक मानव मे निहित इसी सहानुभूति के तत्त्व के आधार पर नैतिकता की व्याख्या करते है। उनके अनुसार नैतिकता ईश्वरीय आदेश या पारलौकिक जीवन के प्रति प्रलोभन या भय पर निर्भर नही है, वरन् मानव की प्रकृति मे निहित सहानुभूति के तत्त्व पर निर्भर है। जैन दर्शन से इस दृष्टिकोण की तुलना करने पर हम यह पाते है कि जैन विचारको ने भी मानव मे निहित इस सहानुभूति के तत्त्व को स्वीकार किया है। उनके अनुसार तो सभी प्राणियो मे परस्पर सहयोग की वृत्ति स्वाभाविक है। लेकिन सहानुभूति का तत्त्व प्राणी-प्रकृति का अग होते हुए भी सभी मे समान रूप से नही पाया जाता है। अत सहानुभूति के आधार पर नैतिकता को पूर्णतया निर्भर नही किया जा सकता।

(ई) नैतिक अन्तरात्मवाद[1] और जैन दर्शन—नैतिक अन्तरात्मवाद के प्रवर्तक जोसेफ बटलर है। इनके अनुसार, सद्गुण वह है जो मानवप्रकृति के अनुरूप हो और दुर्गुण वह है जो मानवप्रकृति के विपरीत हो। दूसरे शब्दो मे, सद्गुण मानवप्रकृति के नियमो का अनुवर्तन है और दुर्गुण इन नियमो का उल्लघन है। मानवप्रकृति से कर्म की सवादिता ही सद्गुण है और कर्म की विसवादिता दुर्गुण है। लेकिन बटलर इस मानवप्रकृति को मानव की यथार्थ प्रकृति नही मानते। यदि हम मानवप्रकृति का अर्थ मानव की यथार्थ प्रकृति करेंगे तो वह जो करता है उस सबको शुभ समझना होगा। अत हम यहाँ यह स्पष्ट रूप मे जान लेना चाहिए कि बटलर के अनुसार मानवप्रकृति का अर्थ मानव की यथार्थ प्रकृति नही, वरन् आदर्श प्रकृति है। मानव की आदर्श प्रकृति के अनुरूप जो कर्म होगा वह शुभ और उसके विपरीत जो कर्म होगा वह अशुभ माना जायेगा। बटलर के इस दृष्टिकोण का समर्थन जैन परम्परा भी करती है। आत्मा की जो विभाव अवस्थाएँ है या जो विसंवादी अवस्थाएँ है वही अशुभ है और इसके विपरीत आत्म की जो स्वभाव अवस्था या सवादी अवस्था है वह शुभ या शुद्ध अवस्था है। जो कर्म आत्मा को स्वभावदशा की ओर ले जाते है वे ही शुभ या शुद्ध कर्म है और जो कर्म आत्मा को विभावदशा की ओर ले जाते हैं वे अशुभ है।

बटलर ने मानवप्रकृति के चार तत्त्व माने है—(१) वासना, (२) स्वप्रेम, (३) परहित और (४) अन्तरात्मा। जैन दर्शन के अनुसार मानवप्रकृति के दो ही तत्त्व माने जा सकते है—(१) वासना या कषायात्मा और (२) उपयोग या ज्ञानात्मा। बटलर के अनुसार इन सबमे अन्तरात्मा ही नैतिक जीवन का अन्तिम निर्णायक तत्त्व है। बटलर ने इसको प्रशंसा और निन्दा करनेवाली बुद्धि, नैतिक बुद्धि,

१. विस्तृत विवेचना एवं प्रमाण के लिए देखिए—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० १३०–१३५.

नैतिक इन्द्रिय और ईश्वरीय बुद्धि भी कहा है। यही हमारी अन्तरात्मा का स्थायी-भाव और हृदय का प्रत्यक्ष भी है। बटलर के अनुसार अन्तरात्मा के दो पहलू हैं—(१) शुद्ध ज्ञान और (२) सर्वाधिकारिता। सर्वाधिकारी होने के कारण वह क्रियाप्रेरक और सुधारक भी है; और शुद्ध ज्ञानमय होने के कारण वह कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का विवेक भी करता है तथा सत्कर्म और सुख मे एवं असत्कर्म और दुःख मे एक निश्चित सम्बन्ध भी देखता है।

बटलर के उपर्युक्त दृष्टिकोण की जैन दर्शन से तुलना करने पर कहा जा सकता है कि ज्ञानमय आत्मा ही नैतिक जीवन का अन्तिम निर्णायक तत्त्व है। जैन दार्शनिकों ने इसे आवश्यक माना है कि नैतिक विवेक करते समय आत्मा को राग और द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठा हुआ होना चाहिए। राग और द्वेष से ऊपर उठी हुई आत्मा जहाँ एक ओर सन्मार्ग की प्रेरक है, वही यथार्थ नैतिक निर्णय करने में सक्षम भी है। राग और द्वेष की वृत्तियों से अलग हटकर आत्मा जब कोई भी विवेकपूर्ण निर्णय करता है अथवा कर्म करता है तो वह शुभ होता है। इसके विपरीत कषाय या राग-द्वेष से प्रभावित होकर कोई निर्णय करता है तो वह अशुभ होता है। जैन दार्शनिकों ने अन्तरात्मा मे विवेक और पुरुषार्थ (वीर्य) दोनों को स्वीकार किया है जो कि बटलर के शुद्ध ज्ञान और सर्वाधिकारिता के समान है। जैन दर्शन भी बटलर के समान आत्मा के ज्ञानात्मक तथा भावात्मक (दर्शन) दोनो ही पक्ष स्वीकार करता है जो पारिभाषिक शब्दावली मे ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग कहे जाते है।

बटलर ने मानवप्रकृति के पूर्वोक्त चार तत्त्वों में एक आनुपूर्वी को स्वीकार किया है जिसमे सबसे नीचे वासनाएँ है और सबसे ऊपर अन्तरात्मा है। जैसे पशुबल बुद्धिबल के अधीन हो जाता है उसी प्रकार वासनाबल, स्वप्रेम और परहित अन्तरात्मा के अधीन हो जाते है। जैन परम्परा के अनुसार भी नैतिक विकास की दिशा में वासनाबल क्षीण होता जाता है और कर्मों का नियमन शुद्ध राग-द्वेष से रहित आत्मा के द्वारा होने लगता है। बटलर की अन्तरात्मा ईश्वरीय बुद्धि के रूप में जैन परम्परा की वीतराग आत्मा से तुलनीय है। इस प्रकार, बटलर के नैतिक अन्तरात्मवाद और जैन परम्परा में बहुतकुछ साम्य खोजा जा सकता है।

फिर भी बटलर के सिद्धान्त की मूलभूत कमजोरी यह है कि अन्तरात्मा जब दो विपरीत आदेश देती है तो उनके अन्तर्विरोध को दूर करना कठिन हो जाता है। किंकर्तव्यविमूढ़ता की अवस्था में बटलर की अन्तरात्मा नैतिक समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं करती।

(उ) मनोवैज्ञानिक अन्तरात्मवाद[१]—मनोवैज्ञानिक अन्तरात्मवाद के प्रवर्तक मार्टिन्यू है। मार्टिन्यू ने अपने सिद्धान्त का बहुतकुछ विकास बटलर के अन्तरात्म-

१. विस्तृत विवेचना के लिए देखिए—(अ) नीतिशास्त्र (सिन्हा), पृ० १२१–१२६;
(ब) टाइप्स आफ एथिकल थ्योरीज, मार्टिन्यू.

वाद से ही किया है, फिर भी उन्होंने उसे सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक आधारों पर स्थापित करने का प्रयास किया है। मार्टिन्यू के अनुसार, अन्तरात्मा ही शुभाशुभ का निर्णायक है। वह शुभाशुभ का विधान नहीं करता है, वरन उस विधान को दिखाता है जो कर्मों को शुभाशुभ बनाता है। उसके अनुसार, अन्तरात्मा कर्मों के अच्छे-बुरे तारतम्य का मात्र द्रष्टा है। सभी कर्मों के स्रोत होते हैं और इन स्रोतों में ही उनके अच्छे-बुरे तारतम्य का एक विधान है। मार्टिन्यू के अनुसार, कर्मप्रेरक दो प्रकार के है—(१) प्राथमिक और (२) गौण। प्राथमिक कर्मप्रेरक चार प्रकार के है—(१) प्राथमिक प्रवर्तक, जिनमें क्षुधा, मैथुन एवं पाशविक सक्रियताएँ अर्थात आराम की प्रवृत्ति है, (२) प्राथमिक विकर्षण, जिनमें द्वेष, क्रोध और भय समाहित हैं, (३) प्राथमिक आकर्षण, यह रागभाव या आसक्ति है, इसमें वात्सल्य (पुत्रैषणा), समाजप्रेम (लोकैषणा) और करुणा या सहानुभूति के तत्त्व समाहित हैं, (४) प्राथमिक भावनाएँ, जिनमें जिज्ञासा, विस्मय और श्रद्धा का समावेश है। ये सत्य, सुन्दर और शिव (कल्याण) की ओर प्रवृत्त करते हैं। ये ज्ञान, अनुभूति और कर्म के प्रेरक है। दूसरे गौण कर्मप्रेरक भी चार प्रकार के है--(१) गौण प्रवृत्तियाँ, जिनमें स्वादप्रियता, कामुकता, लोभ और मद समाहित हैं, (२) गौण विकर्षण, इनमें मात्सर्य, प्रतिकार और शंकाशीलता समाविष्ट हैं (३) गौण आकर्षण, इनमें स्नेह, सामाजिकता और दयाभाव का समावेश है, (४) गौण भावनाएँ, इनमें सत्याराधना, सौन्दर्योपासना और धर्मनिष्ठा समाहित हैं।

मार्टिन्यू के अनुसार, नैतिक दृष्टि से उपर्युक्त सभी कर्म-स्रोत समान नैतिक स्तर के नहीं हैं, वरन् उनमें नैतिक स्तर की दृष्टि से एक तारतम्य है जो निम्नतम से उच्चतम नैतिक अवस्था को अभिव्यक्त करता है। मार्टिन्यू के अनुसार वह तारतम्य निम्न है--

१ गौण विकर्षण—अविश्वास, द्वेष, शंकाशीलता ।
२. गौण जैविक प्रवृत्तियाँ—आराम का प्रेम तथा ऐन्द्रिक सुख।
३. प्राथमिक जैविक प्रवृत्तियाँ--भोजन तथा मैथुन की पशु-प्रवृत्तियाँ।
४. प्राथमिक पाशविक प्रवृत्तियाँ—अनियन्त्रित सक्रियता।
५. लाभ का लोभ--पशु-प्रवृत्ति की उपज।
६ गौण आकर्षण--सहानुभूतिमूलक संवेदनाओं की भावनात्मक वृत्ति।
७. प्राथमिक विकर्षण--घृणा, भय, क्रोध।
८. गौण पाशविक प्रवृत्तियाँ--सत्ता-मोह अथवा महत्त्वाकांक्षा।
९. गौण अभिभावनाएँ—संस्कृति, प्रेम।
१०. प्राथमिक भावनाएँ--आश्चर्य तथा प्रशंसा।
११. प्राथमिक आकर्षण—वात्सल्य, सामाजिक मैत्री, उदारता, कृतज्ञता।
१२. दया का प्राथमिक आकर्षण।
१३. श्रद्धा की प्राथमिक भावना।

इस प्रकार, मार्टिन्यू के अनुसार कर्म-स्रोतों के इस तारतम्य में श्रद्धा सर्वोच्च नैतिक गुण है और गौण विकर्षण अर्थात् अविश्वास, मात्सर्य और सन्देहशीलता सबसे निम्नतम दुर्गुण है। श्रद्धा मात्र गुण है और मात्सर्य, द्वेष आदि मात्र दुर्गुण हैं। शेष सभी कर्मस्रोत इन दोनों के बीच में आते हैं और उनमें गुण और अवगुण के विभिन्न प्रकार के समन्वय हैं। नैतिक दृष्टि से वही कर्म शुभ होगा जो उच्च कर्म प्रेरकों से उत्पन्न होगा। जो कर्म जितने अधिक निम्न कर्मस्रोत से उत्पन्न होगा वह उतना ही अधिक अनैतिक होगा। संक्षेप में, मार्टिन्यू के यही नैतिक विचार हैं।

मार्टिन्यू के नैतिक दर्शन की तुलना जैन परम्परा से की जा सकती है। जैन परम्परा के अनुसार कर्मप्रेरक ये हैं—(१) राग, (२) द्वेष, (३) क्रोध, (४) मान, (५) माया, (६) लोभ, (७) भय, (८) परिग्रह, (९) मैथुन, (१०) आहार, (११) लोक, (१२) धर्म और (१३) ओघ। इनमें राग और द्वेष दो कर्मबीज हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं, तथा शेष संज्ञाएँ हैं। यदि हम मार्टिन्यू के उपर्युक्त वर्गीकरण से तुलना करें तो इनमें से अधिकांश वृत्तियाँ उसमें मौजूद हैं। यही नहीं, यदि हम चाहें तो बन्धन की तीव्रता की दृष्टि से इनका एक क्रम भी तैयार कर सकते हैं जिसमें द्वेष सबसे निम्न और धर्म सबसे उच्च होगा, और ऐसी स्थिति में हम यह भी पायेंगे कि जैन दर्शन का वह वर्गीकरण मार्टिन्यू के उपर्युक्त तारतम्य से भी काफी समानता रखेगा। क्रम की दृष्टि से इन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है—(१) द्वेष, (२) राग, (३) लोभ, (४) मान, (५) माया—कपटवृत्ति, (६) क्रोध, (७) ओघ, (८) भय, (९) परिग्रह, (१०) मैथुन, (११) आहार, (१२) लोक—सामाजिकता और (१३) धर्म। कुछ मतभेदों को छोड़कर यह क्रम-व्यवस्था मार्टिन्यू के कर्मस्रोत के नैतिक तारतम्य से काफी निकट है।

एक अन्य अपेक्षा से भी मार्टिन्यू के कर्मस्रोत के नैतिक तारतम्य की तुलना जैन आचारदर्शन से की जा सकती है। यदि हम कर्मप्रेरकों के रूप में मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं को स्वीकार करें तो भी बन्धन की तीव्रता की दृष्टि से एक क्रम तैयार किया जा सकता है जो मार्टिन्यू के पूर्वोक्त तारतम्य के काफी निकट होगा। वह क्रम इस प्रकार होगा—

१. मिथ्यादर्शन—सन्देहशीलता, आकांक्षा एवं अश्रद्धा।
२. मिथ्याज्ञान—नैतिक विवेक एवं बुद्धि का अभाव।
३. मिथ्याचारित्र—क्रोध, मान, माया और लोभ के कर्मप्रेरक।
४. भयवृत्ति—भय से उत्पन्न कर्म।
५. परिग्रह—संचय की वृत्ति एवं आसक्तिभाव।
६. मैथुन—ऐन्द्रिक सुखों की इच्छा एवं यौनप्रवृत्तियाँ।
७. आहार—शरीर-रक्षा एवं क्षुधानिवृत्ति की क्रियाएँ।
८. सम्यक्चारित्र—सदाचरण।

९. सम्यग्ज्ञान—नैतिक विवेक।

१०. सम्यग्दर्शन—श्रद्धा एवं आत्मविश्वास।

यह क्रम अपने पूर्णतावादी दृष्टिकोण के आधार पर उन दोषो मे ग्रसित भी नही होता जो दोष मार्टिन्यू के नैतिक दर्शन में है।

आन्तरिक विधानवाद के विरोध में साध्यवादी और विकासवादी सिद्धान्त आते है। अगले पृष्ठों में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि उनका जैन दर्शन के साथ कितना साम्य है।

§ ७. प्रयोजनात्मक अथवा साध्यवादी सिद्धान्त

नैतिक प्रतिमान के दूसरे प्रकार के सिद्धान्तों को प्रयोजनात्मक या साध्यवादी सिद्धान्त कहते है। इन सिद्धान्तों के अनुसार किसी कर्म की नैतिकता का निर्णय उसके साध्य, प्रयोजन, परिणाम, आदर्श, परमशुभ अथवा मूल्य के आधार पर होना चाहिए। लेकिन प्रयोजनवादी विचारक कर्म के वास्तविक लक्ष्य के विषय में एकमत नही है। इन विचारकों ने विभिन्न साध्य माने है और इस कारण साध्यवादियों के भी कई सम्प्रदाय है, उनमे (१) सुखवाद, (२) विकासवाद, (३) बुद्धिपरतावाद, (४) पूर्णतावाद एवं (५) मूल्यवाद प्रमुख है।

१. सुखवाद

सुखवाद के अनुसार कर्म का साध्य सुख की प्राप्ति अथवा तृप्ति है। वही कर्म शुभ है जो हमारी इन्द्रियपरता (वासनाओं) को सन्तुष्ट करता है और वह कर्म अशुभ है जिससे वासनाओं की पूर्ति अथवा सुख की प्राप्ति नही होती। सुखवादियों के भी अनेक उपसम्प्रदाय है। उनमें मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद प्रमुख है। नैतिक सुखवादी परम्परा मे भी अनेक उपसम्प्रदाय है। सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक सुखवाद और जैन आचारदर्शन के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विचार करना उचित होगा।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद और जैन आचारदर्शन—मनोवैज्ञानिक सुखवाद एक तथ्यपरक सिद्धान्त है जिसके अनुसार यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति सदैव सुख के लिए प्रयास करता है। जैन आचारदर्शन भी यह मानता है कि समस्त प्राणिवर्ग स्वभाव मे ही सुखाभिलाषी है। दशवैकालिकसूत्र स्पष्ट रूप से प्राणिवर्ग को परम (सुख) धर्मी मानता है।[१] टीकाकारों ने परम शब्द का अर्थ सुख करते हुए इस प्रकार व्याख्या की है, "पृथ्वी आदि स्थावर प्राणी और द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणी, इस प्रकार सर्व प्राणी परम अर्थात् सुखधर्मी है, सुखाभिलाषी है।"[२] सुख की अभिलाषा करना प्राणियों का नैसर्गिक स्वभाव है। आचारांगसूत्र मे भी कहा है कि 'सभी प्राणियों को सुख प्रिय है, अनुकूल है और दुःख अप्रिय है, प्रतिकूल है।'[३]

१. सव्वेपाणा परमाहम्मिआ—दशवैकालिक, ४।९.

२. दशवैकालिक टीका, पृ० ४६.

३. सव्वे सुहसाया दुक्खपडिकूला।—आचारांग १।२।३।८१;
तुलनीय–दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्।–महाभारत, शान्तिपर्व, १३९–६१.

इस प्रकार जैन आचारदर्शन में सुख की अभिलाषा को प्राणियों की प्रकृति का स्वाभाविक लक्षण मानकर मनोवैज्ञानिक सुखवाद की धारणा को स्थान दिया गया है। इतना ही नहीं, जैन विचारकों ने इस मनोवैज्ञानिक सुखवादी धारणा का अपनी नैतिक मान्यताओं के संस्थापन में भी उपयोग किया है। सूत्रकृतांग में प्राणियों की सुखाकांक्षा और दुःख से रक्षण की मनोवैज्ञानिक प्रकृति का नैतिक मानक के रूप में सुन्दर वर्णन है। सूत्रकृतांग का वह कथाप्रसंग इस प्रकार है, "क्रियावादी अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी ऐसे विभिन्न वादी, जिनकी संख्या ३६३ कही जाती है (जो) सब लोगों को परिनिर्वाण और मोक्ष का उपदेश देते है। वे अपनी-अपनी प्रज्ञा, छन्द, शील, दृष्टि, रुचि, प्रवृत्ति और संकल्प के अनुसार अलग-अलग धर्म मार्ग स्थापित करके उनका प्रचार करते है। एक समय ये सब वादी एक बड़ा घेरा बनाकर एक स्थान पर बैठे थे। उस समय एक मनुष्य जलते हुए अंगारों से भरी हुई एक कढ़ाई लोहे की संडासी से पकड़कर, जहाँ वे सब बैठे थे, लाया और कहने लगा, 'हे मतवादियों, तुम सब अपने-अपने धर्म के प्रतिपादक हो और परिनिर्वाण और मोक्ष का उपदेश देते हो। तुम इस जलते हुए अंगारों से भरी हुई कढ़ाई को एक मुहूर्त तक खुले हुए हाथ में पकड़े रहो।' ऐसा कहकर वह मनुष्य वह कढ़ाई प्रत्येक के हाथ में रखने गया, पर वे अपने-अपने हाथ पीछे हटाने लगे। तब उस मनुष्य ने उनसे पूछा, 'हे मतवादियों, तुम अपने हाथ पीछे क्यों हटाते हो? हाथ न जले, इसीलिए? और जले, तो क्या हो? दुःख? दुःख न हो, इसलिए अपने हाथ पीछे हटाते हो, यही बात है न?' तो इसी माप से दूसरों के सम्बन्ध मे भी विचार करना, यही धर्मविचार है या नही? बस, तब तो नापने का गज प्रमाण और धर्मविचार मिल गये।"[1]

यह प्रसग जैन नैतिकता की मनोवैज्ञानिक सुखवादी धारणा का एक अच्छा चित्रण है जिसमें न केवल नैतिकता का मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रस्तुत है, वरन् उसे नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना का आधार भी बनाया गया है। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से इस मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दोनों पक्षों पर विचार करना आवश्यक है। निषेधात्मक दृष्टि से यह प्राणियों की दुःख-निवारण की स्वाभाविक प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करता है, जबकि विधायक दृष्टि से प्राणियों की सुख प्राप्त करने की स्वाभाविक अभिरुचि की ओर संकेत करता है।

अन्य भारतीय दर्शनों में मनोवैज्ञानिक सुखवाद—न केवल जैन दर्शन वरन् अन्य भारतीय दर्शनों ने भी सुखवाद का समर्थन किया है। भौतिक सुखवाद को माननेवाले चार्वाकों का सिद्धान्त तो सर्वप्रसिद्ध ही है। उनके अनुसार इन्द्रियों की वासनाओं को सन्तुष्ट करते हुए सम्पूर्ण जीवन में सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।[2] चार्वाक के अतिरिक्त अन्य दर्शनकारों ने भी सुखवाद का समर्थन

१. सूत्रकृतांग (हिन्दी), पृ० १०३–१०४.
२. सर्वदर्शनसंग्रह; पृ० ४.

किया है। महाभारत में कहा गया है कि सभी सुख चाहते हैं और दुःख से उद्विग्न होते हैं।[१] छान्दोग्य उपनिषद् में भी इसी सुखवादी दृष्टिकोण का समर्थन है। उसमें कहा गया है कि जब मनुष्य को सुख प्राप्त होता है तभी वह कर्म करता है। बिना सुख मिले कोई कर्म नहीं करता। अतः सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करना चाहिए।[२] चाणक्य ने भी मनुष्य को स्वार्थी माना है और उसके स्वार्थ को नियन्त्रित करने के लिए राज्य सत्ता को अनिवार्य माना है। उसके अनुसार मनुष्य स्वभावतः सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। उद्योतकर ने मानव मनोविज्ञान के आधार पर सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति को मानव-जीवन का साध्य बताया है।[3] भारतीय परम्परा में सुखवाद की धारणा की अभिव्यक्ति प्राचीन समय से ही रही है, लेकिन चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य भारतीय दर्शनों ने वैयक्तिक सुख के स्थान पर सदैव सार्वजनिक सुख की ही कामना की है। भारतीय साधक प्रतिदिन यह प्रार्थना करता है कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥ (यजुर्वेद, शान्तिपाठ)

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सुखवाद से तुलना करने पर हमें इसकी एक विशिष्टता का परिचय मिलता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सुखवाद अपने सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार पाकर मात्र यही निष्कर्ष निकालता है कि व्यक्ति के लिए सुख का अनुसरण करना अनिवार्य है। लेकिन सुख के सम्पादन की इस स्पर्धा में प्रत्येक प्राणी का सुख दूसरे प्राणियों के सुखों के नाश पर निर्भर हो तो क्या करना नैतिक होगा ? इस प्रश्न का उत्तर वहाँ नही मिलता। सुखों का अनुसरण जितना स्वाभाविक है, उतना ही स्वाभाविक यह भी है कि पाश्चात्य परम्परा में जिन भौतिक सुखों के अनुकरण का समर्थन किया गया है, उनको लेकर प्राणियों के हितों में ही परस्पर संघर्ष होता है। यदि मेरा सुख किसी दूसरे व्यक्ति के सुख के नाश पर निर्भर हो तो क्या मेरे लिए उस सुख का अनुकरण उचित या नैतिक होगा ? यदि स्वार्थ-सुखवाद के सिद्धान्त को मानकर सभी लोग दूसरे के सुखों का हनन करते हुए स्वयं के सुख का सम्पादन करने में लग जायें तो न तो समाज में सुख और शान्ति बनी रहेगी और न व्यक्ति ही सुख प्राप्त कर पायेगा, क्योंकि दूसरे व्यक्ति भी अपना सुख भोगते हुए उसके सुख में बाधा डालेंगे।

जैन नैतिकता सुख के अनुसरण की मान्यता को स्वीकार करते हुए व्यक्ति को यह तो अधिकार प्रदान करती है कि वह स्वयं के सुख का अनुसरण करे, लेकिन उसे अपने वैयक्तिक सुख की उपलब्धि के प्रयास में दूसरे के सुखों एवं हितों का हनन करने का अधिकार नहीं है। यदि तुम्हारे सुख के अनुसरण के प्रयास में दूसरे के सुख का हनन अनिवार्य है तो तुम्हें ऐसे सुख का अनुसरण नहीं करना चाहिए। किन्तु

१. महाभारत, शान्तिपर्व, १३९।६१.
२. छान्दोग्य उपनिषद, ७।२२।१.
३. दृष्टव्य—न्यायवार्तिक (वाराणसी संस्करण), पृ० १३; उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० १५१.

इस आधार पर कोई यह आक्षेप कर सकता है कि ऐसी अवस्था में वह अपनी सुखवादी धारणा से दूर हो जाती है। जैन नैतिकता इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में यह कहती है कि उसपर इस आक्षेप का आरोपण उसी दशा में होगा कि जबकि हम सुखों के भौतिक स्वरूप की ओर ही ध्यान देंगे। लेकिन जैन नैतिकता तो सुखों के आधिभौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप को भी स्वीकार करती है। पाश्चात्य धारणा की मूलभूत भ्रान्ति यही है कि वह सुखों के विभिन्न स्तरों पर बल नहीं देती है और सुखों के भौतिक स्वरूप से ऊपर उठकर उनके आध्यात्मिक स्वरूप की ओर नहीं बढ़ती है। सुखों में पारस्परिक संघर्ष तो उनके भौतिक स्वरूप तक ही सीमित है।

जैन आचारदर्शन और नैतिक सुखवाद—नैतिक सुखवाद की विचारधारा यह मानकर चलती है कि सुख का अनुसरण करना चाहिए या सुख ही वांछनीय है। नैतिक सुखवाद के विचारकों में मिल प्रभृति कुछ विचारक नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित करते हैं। मिल का कहना है कि कोई वस्तु या विषय काम्य है, इसका प्रमाण यह है कि लोग वस्तुतः उसकी कामना करते हैं। सामान्य सुख काम्य है, इसके लिए इसे छोड़कर कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि प्रत्येक मनुष्य सुख की कामना करता है।[1] लेकिन सुखवाद को मनोवैज्ञानिक आधार पर खड़ा करने का मिल का यह प्रयास तार्किक दृष्टि से दूषित ही है। यदि सभी मनुष्य स्वभावतः सुख की कामना करते हैं तो फिर 'सुख की कामना करनी चाहिए' इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता, जबकि नैतिक आदेश के लिए 'चाहिए' आवश्यक है। लेकिन मनोवैज्ञानिक सुखवाद इस 'चाहिए' के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ता। इसी कारण सिजविक तथा समकालीन विचारकों में ड्यूरेंट ड्रेक आदि ने सुखवाद को विशुद्ध नैतिक आधार पर खड़ा किया है।[2] फिर भी उपर्युक्त सभी विचारकों के लिए सुख काम्य है और उनकी दृष्टि में नैतिक आदेश है—सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

नैतिक सुखवादी विचारधारा की दूसरी मान्यता यह भी है कि वस्तुतः जो सुख काम्य है वह वैयक्तिक नहीं वरन् सामान्य सुख है। यह धारणा उपयोगितावाद के नाम से भी जानी जाती है। उपयोगितावाद की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. अधिक से अधिक सुख

२. उच्चतम सुख (ऐन्द्रिक सुखों की अपेक्षा मानसिक सुख उच्च कोटि का माना गया है)

३. अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक सुख

४. बहुसंख्यकों का सुख

५. सार्वभौम एवं सामान्य सुख

६. समाजिक सुख

---

१. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० १६१ पर उद्धृत.

२. कण्टेम्पररि एथिकल थ्योरीज, पृ० १९६.

इन आधारों पर उपयोगितावाद के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार है—

१. सुख प्राप्ति और दुःखमुक्ति केवल यह दो ही स्वतःसाध्य के रूप मे काम्य है। अन्य सभी वस्तुएँ केवल इसीलिए काम्य है कि वे या तो सुखपूर्ण है या सुखवर्धक है, अथवा दुःखों का नाश करनेवाली है।

२ जिस अनुपात मे कोई कर्म सुख या दुःख देता है, उसी अनुपात मे वह शुभ या अशुभ होता है।

३. प्रत्येक व्यक्ति का सुख समान है। किसी एक व्यक्ति का सुख जितना काम्य है उतना ही दूसरे व्यक्ति का। अतः सुख की मात्रा को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए चाहे वह किसी का भी सुख हो।

४. सर्वाधिक सुख का अर्थ है सुख की मात्रा में अधिक से अधिक संभाव्य वृद्धि। इसका अर्थ यह भी है कि सुख और दुःख को मापा जा सकता है।

५. परोपकारी होने का अर्थ है सामाजिक सुख या लोकोपयोगिता में वृद्धि करना। इसी प्रकार स्वार्थी होने का मतलब है सामाजिक सुख में कमी करना।[1]

इस तरह हम देखते है कि नैतिक सुखवाद की धारणा सुख को काम्य मानते हुए भी लोकहित या लोकमंगल को स्थान देती है।

जैन आचारदर्शन में नैतिक सुखवाद के दोनों पक्ष अर्थात् सुखों की काम्यता एवं उपयोगिता (लोकहित) समाहित है जिनपर हम यहाँ विचार करेंगे।

जैन आचारदर्शन में नैतिक सुखवाद के समर्थक कुछ तथ्य मिलते है। महावीर ने कई बार यह कहा है कि 'जिससे सुख हो वह करो।'[2] इस कथन के आधार पर यह फलित निकाला जा सकता है कि महावीर नैतिक सुखवाद के समर्थक थे। यद्यपि हमे यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि सुख शब्द का जो अर्थ महावीर की दृष्टि में था, वह वर्तमान सुख शब्द की व्याख्या से भिन्न था।

एक अन्य दृष्टि से भी जैन नैतिकता को सुखवादी कहा जा सकता है। क्योंकि जैन नैतिक आदर्श मोक्ष आत्मा की अनन्त सौख्य की अवस्था है और इस प्रकार जैन नैतिकता सुख के अनुसरण करने का आदेश देती है। इस अर्थ में भी वह सुखवादी है, यद्यपि यहाँ पर उसका सुख की उपलब्धि का नैतिक आदर्श भौतिक सुख की उपलब्धि का आदर्श नही है, वरन् वह तो परमानन्द की अवस्था की उपलब्धि का आदर्श है।

सामान्य अर्थ में सुख-दुःख सापेक्ष शब्द है, एक विकल्पात्मक स्थिति है। दुःख के विपरीत जो है उसकी अनुभूति सुख है, या सुख दुःख का अभाव है। जैन दर्शन 'निर्वाण' मे जिस अनन्त सौख्य की कल्पना करता है, वह निर्विकल्प सुख है।[3] वस्तुतः जैन दृष्टि में निर्विकल्प सुख ही वास्तविक सुख है।

१. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० १६८.
२. अहासुहं देवाणुप्पियं।—उपासकदशांगसूत्र, १।१२.
३. बृहत्कल्पभाष्य, ५७१७.

सुखवाद के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जैन विचारको की दृष्टि में 'सुख' शब्द का क्या अर्थ अभिप्रेत है। कठिनाई यह है कि जैनागमों की भाषा प्राकृत है। प्राकृत 'सुह' शब्द के संस्कृत भाषा में 'सुख' और 'शुभ' ऐसे दो रूप बनते है। दूसरे, जैनागमो मे विभिन्न स्थलो पर 'सुह' भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यो प्रसग के अनुकूल अर्थ का निश्चय करने मे कोई कठिनाई नही होती।

जैनाचार्यो ने 'सुख' दस प्रकार के माने है[1]—(१) आरोग्यसुख, (२) दीर्घायुष्य-सुख, (३) सम्पत्तिसुख, (४) कामसुख, (५) भोगसुख, (६) सन्तोषसुख, (७) अस्तित्व-सुख, (८) शुभभोगसुख, (९) निष्क्रमणसुख और (१०) अनाबाधसुख।

सुख के इस वर्गीकरण को जैन दृष्टि से निम्नस्तरीय और उच्चस्तरीय सुखो के सापेक्ष आधार पर प्रस्तुत किया जाये तो उसका स्वरूप निम्न होगा—(१) सम्पत्ति-सुख, (२) कामसुख, (३) भोगसुख, (४) शुभभोगसुख, (५) आरोग्यसुख, (६) दीर्घा-युष्यसुख, (७) सन्तोषसुख, (८) निष्क्रमणसुख, (९) अस्तित्वसुख और (१०) अनाबाधसुख।

सम्पत्ति या अर्थ गार्हस्थिक जीवन के लिए आवश्यक है और सासारिक सुखो के लिए कारणभूत होने से उसे 'सुख' कहा गया है।[2] भारतीय विचारणा मे चार पुरुषार्थो में अर्थ को एक पुरुषार्थ मानकर नैतिक दृष्टि से उसका महत्त्व अवश्य स्वीकार किया गया है, लेकिन सम्पत्ति अपने मे साध्य नही है। वह तो मात्र साधन है। इसी लिए इसे नैतिकता का साध्य नही माना जा सकता। यद्यपि मम्मन सेठ के समान कुछ लोग होते है जिनके लिए धन या अर्थ ही साध्य बन जाता है, लेकिन जैन विचारणा मे अर्थ या सम्पत्ति को सुख मानते हुए भी नैतिक परममूल्य के रूप में स्वीकार नही किया गया है। यद्यपि सम्पत्ति को सुख मानकर उसके अपहार का निषेध अवश्य किया गया है, तथापि जैन दर्शन यह तो स्वीकार करता है कि सुख का चाहे निम्नस्तरीय ही रूप क्यो न हो, स्वाभाविक रूप से प्राणी के जीवन का साध्य होता है। लेकिन नैतिकता इस बात मे नही है कि उस निम्नस्तरीय सुख के अनुसरण मे उच्चस्तरीय सुख का त्याग कर दिया जाय। साम्पत्तिक सुख का त्याग कामसुख एवं भोगसुख के लिए करना चाहिए, क्योकि अर्थ काम और भोग का साधन है। इसी प्रकार काम और भोग का परित्याग शुभभोग के लिए करना चाहिए। यहाँ पर जैन दार्शनिक कामसुख और भोगसुख तथा शुभभोगसुख मे अन्तर करते है। कामसुख और भोगसुख क्रमश: वासनात्मक और इन्द्रियसुखो के प्रतीक हैं और शुभभोग मानसिक सुखों का प्रतीक है।[3] जैन विचारकों के मत में इन्द्रियसुखों की अपेक्षा मानसिक सुख श्रेष्ठ है, अतः मानसिक सुख या बौद्धिक सुख के अनुसरण

---

१. सूत्रकृतांग, ७३७.
२. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १०१८.
३. वही, पृ० १०१७.

के लिए इन्द्रियसुखो का परित्याग आवश्यक है। एक दूसरी दृष्टि से शुभ शब्द का अर्थ कल्याणकारी करने पर[1] कामसुख और भोगसुख को वैयक्तिक और शुभभोग को सामाजिक या लोक कल्याणकारी कार्यों के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। इस स्थिति मे जैन विचारणा के अनुसार वैयक्तिक सुखो का परित्याग समाज के कल्याण के लिए किया जाना चाहिए, यही सिद्ध होता है। वैयक्तिक सुखभाग का लोककल्याण के हेतु परित्याग किया जाना चाहिए यह मानकर जैन विचारणा उपयोगितावादी दृष्टिकोण के निकट आ जाती है। लेकिन बौद्धिक सुख और लोक कल्याणकारी कार्यों के सम्पादन मे रहा हुआ सुख भी सर्वोपरि नही रहता, जबकि आरोग्य (स्वास्थ्य) एव जीवन का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। यद्यपि बौद्धिक सुख अनुसरणीय है तथापि स्वास्थ्य और जीवन की सुरक्षा के निमित्त उनका भी परित्याग आवश्यक है।

काम-भोग, बौद्धिक सुख और स्वास्थ्य एव जीवन सम्बन्धी सुखो की आकाक्षाएँ अपने मे साध्य नही है। आकाक्षाएँ सन्तोष के लिए होती है, अत सन्तोषजनित सुख इन सब आकाक्षाजनित सुखो से श्रेष्ठ है।[2] क्योकि जिन सुखो के मूल मे आकाक्षा या इच्छा होती है, वे सुख दुःखप्रत्युत्पन्न है। आकाक्षा या इच्छा एक मानसिक तनाव है और सभी तनाव दुःखद होते है। अतः दुःखप्रत्युत्पन्न सुख सापेक्ष रूप मे सुख होते हुए भी निम्नस्तरीय सुख ही है। लेकिन सन्तोषवृत्ति का सुख ऐसा है जिसके कारण इच्छा या तनाव समाप्त हो जाता है। उसका अन्त सुख रूप ही है, अतः उसके लिए इन सभी प्रकार के सुखो का परित्याग किया जा सकता है। लेकिन सन्तोष-सुख भी अपने मे साध्य नही है, सन्तोष से बडा सुख निष्क्रमण (त्याग) का है। सन्तोष मे इच्छा का अभाव नही है, लेकिन निष्क्रमण मे इच्छा, ममत्व या आसक्ति का अभाव है। सन्तोष और इच्छा के अभाव की पूर्णता आसक्ति के अभाव मे ही होती है। सन्तोष किया जाता है, लेकिन अनासक्ति होती है। सन्तोष प्रयासजन्य है, अनासक्ति स्वभावजन्य है। अत. एक सन्तोषी व्यक्ति की अपेक्षा भी अनासक्त वीतराग पुरुष का सुख कही अधिक होता है। कहा भी गया है कि न तो अपार सम्पत्तिशाली पुरुष ही सुखी है, न अधिकारसम्पन्न सेनापति ही, पृथ्वी का अधिपति राजा एव स्वर्ग के निवासी देव भी एकान्त रूप से सुखी नही है, जगत् मे यदि कोई एकान्त रूप से सुखी है, तो वह है निस्पृह, वीतराग साधु।[3] चक्रवर्ती और देवराज इन्द्र के सुखो की अपेक्षा भी, लोक-व्यापार से निवृत्त निस्पृह श्रमण अधिक सुखी है।[4]

स्वाभाविक तौर पर यह प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यो कहा गया कि निस्पृह वीतराग साधु ही सर्वाधिक सुखी है ? उसका सुख ही क्यो उच्च कोटि का सुख है ? जैनाचार्यों ने उक्त प्रश्न का उत्तर निम्न शब्दो मे दिया है, निस्पृहता के अतिरिक्त शेष

---

१. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १०१७.
२. मनुस्मृति, ४।१२.
३. नित्यस्मरण, पृ० ४.
४. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १०१८.

सब सुख दुःख के प्रतिकार के निमित्त होते हैं, मात्र सुख का अभिमान उत्पन्न करते हैं वे वास्तविक सुख नहीं कहे जा सकते।[१] सुख दुःख के अस्थायी प्रतिकार हैं, वे मात्र सुखाभास हैं; वास्तविक सुख नहीं हैं। वैषयिक सुखों की तुलना खाज के खुजाने से उत्पन्न सुख से की जाती है। जैसे खाज खुजाने से उत्पन्न सुख का आदि और अन्त दोनों दुःखपूर्ण हैं, वैसे ही वैषयिक सुखों का आदि और अन्त दोनों ही दुःखपूर्ण हैं, अतः वे वास्तविक सुख नहीं हो सकते।

जैन विचारणा के अनुसार निष्क्रमण अवस्था में व्यक्ति सब-कुछ त्याग देता है, लेकिन त्याग उसी का किया जा सकता है जो 'पर' है, 'स्व' का त्याग नही किया जा सकता। अतः सब-कुछ त्याग करने के पश्चात् जो शेष रहता है वह है उसका परिशुद्ध 'स्व'। वही अपना है। पाश्चात्य विचारक मैकेंजी भी कहते हैं कि शुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से किसी भी व्यक्ति का किसी भी सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है, सिवाय उसके जिसने उसे अपने अस्तित्व का अंग बना लिया है।[२] जैन विचारक यहाँ यह कहना चाहेंगे कि वस्तुतः किसी भी बाह्य सत्ता को अपना अग बनाया ही नही जा सकता। अपने अस्तित्व को छोड़कर शेष सब बाह्य है। जर्मन विचारक जी० सीमेल कहते हैं, 'शुद्ध अर्थ में अपने अस्तित्व के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नही है।"[3] अतः जो अपना नहीं है, उसे छोड़ देना उससे निवृत होना निष्क्रमण सुख है और जो स्व है उसे पा लेना अस्तित्व सुख है। इसे हम शुद्धात्मदशा कह सकते हैं जिसमें आत्मा विभावदशा से स्वभावदशा में आ जाती है और आत्मा के निजगुण प्रकट हो जाते है। यही शुद्ध आत्मदशा अस्तित्वसुख है। वस्तुतः निष्क्रमणसुख और अस्तित्वसुख एक ही अवस्था के दो पहलू है—पहला निषेधात्मक पहलू है, दूसरा भावात्मक पहलू। जो स्वभाव नहीं है उसे छोड़ने से जो सुख होता है, वह निष्क्रमणसुख है और जो 'स्व' है उसके 'पर' के अभाव में शुद्ध रूप में रहने से जो सुख मिलता है वह अस्तित्वसुख है। 'पर'-भाव को छोड़ना निष्क्रमण-सुख है और 'स्व'-स्वभाव में रमण करना अस्तित्वसुख है। निष्क्रमण, निस्पृहता, या वीतरागता या अनासक्ति के द्वारा 'पर'-भाव को छोड़ने और 'स्व'-स्वभाव में रमण करने का जो सुख है उसे जैन दर्शन के अनुसार उच्चतम नैतिक या चारित्रिक सुख कहा जा सकता है।[४] यद्यपि यह उच्चतम नैतिक सुख है तथापि यह भी साध्य नहीं है, साधन ही है। नैतिक जीवन स्वयं एक साधन है। नैतिक जीवन का साध्य है अनाबाध सुख। यही सर्वोच्च सुख है, यही नैतिकता का आदर्श है। अनाबाध सुख वास्तविक पूर्णता है, मुक्ति है जिसमें जन्म, जरा एवं मरण आदि समस्त बाधाओं का

१. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १०१८.
२. नीतिप्रवेशिका, पृ० २५१ की टिप्पणी.
३. वही, पृ० २५१
४. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १०१८.

अभाव हो, जहाँ समस्त आत्मगुण अनाबाध रूप से प्रकट हों, वही अनाबाध सुख है।[1]

यदि हम जैन नैतिकता को किसी विशेष अर्थ में सुखवाद के नाम से पुकारना उचित समझें तो उसके नैतिक आचरण का चरमादर्श इस अनाबाध सुख की उपलब्धि ही है, यह मानना होगा। अनाबाध सुख वस्तुत: आध्यामिक आनन्द की वह अवस्था है जिसमें हम शुद्ध एवं पूर्ण आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करते है। दु:ख का कारण तनाव है और तनाव का कारण राग-द्वेष है। जब आत्मा राग-द्वेष रूप तनाव को समाप्त कर देता है और अर्हत् या वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसे इस वास्तविक सुख का लाभ होता है जो वासनात्मक सुखों की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है। जैनागमों मे कहा गया है कि वासनाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाले लौकिक सुख वीतराग के सुख का अनन्तवाँ भाग भी नही होते अर्थात् वीतराग के सुख की अपेक्षा लौकिक सुख न कुछ के बराबर है।[2]

'सुखवाद के अनुसार भी सुख मन या चित्त की शान्त भावना है। यह जितनी प्रगाढ़ चिरकालीन तथा निरन्तर हो उतना ही सुख अधिक होता है। वैराग्य (वीतराग दशा) मनुष्य की ऐसी ही प्रगाढ़ चिरकालीन और निरन्तर शान्तवृत्ति है। यह वृत्ति कर्म करने से नही, किन्तु कर्म का परित्याग करके एकान्त में चित्त को एकाग्र करने से आती है। अतएव सुखवाद की तार्किक पराकाष्ठा यह है कि वैराग्य (वीतराग दशा) ही एकमात्र श्रेय है।"[3]

महाभारत में भी वासनामूलक एवं ऐन्द्रिक सुखों को अत्यन्त निम्न कोटि का कहा गया है। महाभारत उन ऐन्द्रिक तथा वासनात्मक सुखो को जो दु:खप्रसूत हैं या जिनका अन्त दु:ख मे होता है त्याज्य ठहराता है। सभी (ऐन्द्रिक या वासनात्मक) सुख या तो दु:खान्त होते है या दु:ख से उत्पन्न होते है। अत: जिसे शाश्वत सुख की अपेक्षा है उसे आदि और अन्त में दु:खरूप इन सुखों का त्याग कर देना चाहिए।[4] यही नही, महर्षि वेदव्यास कहते है कि 'बिना त्याग किये सुख नही मिलता, बिना त्याग किये परमतत्त्व की उपलब्धि भी नही होती। बिना त्याग के अभय की प्राप्ति भी नही होती। अत: सब कुछ त्याग करके सुखी हो जाओ।[5]

जैन दर्शन की भांति महाभारत में भी लगभग वैसे ही शब्दों में कहा गया है कि वासनाओं की पूर्ति से होनेवाले कामसुख या भौतिकसुख तथा दिव्य लोकों के महान् सुख भी वीततृष्ण व्यक्ति के सुखो की सोलहवी कला के बराबर भी नही है।[6] जैन विचार के सुख के पूर्ण या अनाबाध स्वरूप को ही छान्दोग्योपनिषद्

१. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १०१८.
२. अध्यात्मतत्त्वालोक, पृ० ६३०.
३. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २३१.
४. महाभारत, शान्तिपर्व, ५५.
५. वही, ६५८३.
६. महाभारत, शान्तिपर्व, ६५०३; उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २३०.

में 'भूमा' कहा गया है। ऋषि कहता है कि जो भूमा या अनन्त है वही सुख है अल्प या अनित्य में सुख नहीं है। अनन्तता, पूर्णता या शाश्वतता ही सुख है, अतः उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि न केवल जैन परम्परा में, वरन् बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी सुख को अपने विशिष्ट अर्थ में नैतिक जीवन का साध्य माना गया है। अतः कहा जा सकता है कि जैन विचारणा और सामान्य रूप से अन्य सभी भारतीय विचारणाओं में नैतिक साध्य के रूप में सुख को स्वीकार किया गया है और उसे शुभत्व का प्रमापक भी माना गया है, फिर भी यह स्मरण रखने की बात है कि भारतीय चिन्तन में सुख को ही एकमात्र नैतिक जीवन का साध्य नहीं कहा गया है। सुख हमारी तात्त्विक प्रकृति के अंग के रूप में साध्य अवश्य है लेकिन इसके साथ ही हमारी तात्त्विक प्रकृति के अन्य पक्ष भी हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। सुखवाद की, जैन दर्शन के अनुसार, प्रमुख आलोचना यह है कि वह सुख को ही एकमात्र साध्य मानता है, जबकि चेतना के अन्य पक्ष भी समान रूप से नैतिक साध्य बनने की अपेक्षा रखते हैं। सुखबाद चेतना के मात्र अनुभूत्यात्मक पक्ष को स्वीकार करता है और उसके बौद्धिक पक्ष की अवहेलना करता है। यही उसका एकांगीपन है।

जैन दार्शनिक सुखवाद को स्वीकार करते हुए भी बौद्धिक एवं ज्ञानात्मक पक्ष की अवहेलना नहीं करते और इस रूप में वे सुखवादी विचारणा के तत्त्वों को स्वीकार करते हुए भी आलोचना के पात्र नहीं बनते हैं।

अरस्तू का मात्रा का मानक और जैन दर्शन—पाश्चात्य विचारकों में अरस्तू का नाम अग्रगण्य है। अरस्तू के नैतिक दर्शन में शुभ का प्रतिमान 'स्वर्णिम माध्य' (Golden Mean) माना गया है। अरस्तू के अनुसार प्रत्येक गुण अपनी मध्यावस्था में ही नैतिक शुभ होता है। उसने सद्गुण और दुर्गुण की कसौटी के रूप में इसी 'स्वर्णिम माध्य' को स्वीकार किया है। सद्मार्ग मध्यममार्ग है। उदाहरणार्थ साहस सद्गुण है जो कायरता और उग्रता की मध्यावस्था है। कायरता और सदैव संघर्षरत रहना दोनों ही अवगुण हैं। 'आदर्श' इन दोनों के मध्य में है, जिसे 'साहस' कहा जाता है। इसी प्रकार सांसारिक सुखों में अनुरक्ति के रूप में अत्यधिक भोग-विलास और विरक्ति के रूप में तप-मार्ग या देह-दण्डन दोनों अनुचित हैं। संयम दोनों की मध्यावस्था के रूप में सद्गुण है। यद्यपि मात्रात्मक मानक की इस धारणा के सम्बन्ध में कुछ अपवाद स्वयं अरस्तू ने भी स्वीकार किये हैं।

जैन दर्शन में अरस्तू के इस मात्रात्मक मानक दृष्टिकोण का समर्थन आचार्य गुण-भद्र के आत्मानुशासन नामक ग्रन्थ में भी मिलता है। वे लिखते हैं कि सुख का अनु-भव करना बुरा नहीं है, लेकिन उसके पीछे जो वासना है, वह बुरी है। सुख-

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।२३।१.

भोग से कोई पाप नहीं होता, पाप होता है सुख-भोग की वासना के कारण क्योंकि यह वासना सम्यक् दृष्टिकोण की घातक है। वासना से सम्यक्त्व का नाश होता है, जबकि सम्यक्त्व सुख का हेतु है। वासना मात्रातिक्रमण की ओर ले जाती है और यही मात्रातिक्रमण पाप है। आचार्य इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए मिठाई का उदाहरण देते है। वे कहते है कि 'अजीर्ण' मिष्टान्न भोजन से नही होता, वह होता है उसकी मात्रा का अतिक्रमण करने से,[1] इस प्रकार जैन दर्शन मे भी अरस्तू के समान मात्रा के मानक का विचार उपलब्ध है।

हम इसी आधार पर यह निष्कर्ष उपस्थित कर सकते है कि प्राकृतिक क्षुधाओं, उदात्त भावनाओ और सवेगो का दमन नही करना चाहिए, वरन् उन्हें इस रूप में नियोजित करना चाहिए कि वे पूर्ण नैतिक जीवन की दिशा में आगे ले जायें।

२. विकासवाद और जैन दर्शन

विका वादी आचारदर्शन नैतिकता को एक प्रक्रिया के रूप में देखते है। उनकी दृष्टि मे नैतिक प्रत्यय और उनके अर्थ सापेक्ष है। सापेक्ष नैतिकता विकासवादी अ चारदर्शन की महत्त्वपूर्ण मान्यता है। विकासवाद के अनुसार नैतिकता का अर्थ है अपने अस्तित्व को बनाये रखना और विकास की प्रक्रिया मे सहयोगी होना। इसके अनुसार शुभ की व्याख्या यह है कि जो विकास की प्रक्रिया में सहायक है वह शुभ है और जो सहायक नही है वह अशुभ है। विकासवादी दर्शन में सुख को नैतिक जीवन का परम साध्य स्वीकार किया गया है, लेकिन उसके साथ ही वैयक्तिक एवं जातीय जीवन के अस्तित्व को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। स्पेन्सर कहते है कि जीवन का अन्तिम साध्य आनन्द है, लेकिन जीवन का निकटवर्ती साध्य जीवन की लम्बाई और चौड़ाई है।[2] वे कहते है कि क्रम-विकास की गति सदैव आत्मरक्षण की दिशा मे होती है और वह उस सीमा को उस समय प्राप्त होता है जब जीवन लम्बाई और चौड़ाई दोनों में ही अधिकतम हो जाता है।[3] विकासवादी दर्शन में जो प्रक्रियाएँ जीव को वातावरण से समायोजित करती है और जीवन की लम्बाई और चौड़ाई मे वृद्धि करती है, वे ही नैतिक है। इस प्रकार विकासवादी दर्शन मे प्रमुखरूप से तीन दृष्टिकोण परिलक्षित होते है--

१. जीवन का रक्षण,

२. परिवेश से समायोजन, और

३. विकास की प्रक्रिया में सहगामी होना।

जैन दर्शन विकासवाद के कुछ तथ्यों को स्वीकार करता है। जीवन को परममूल्य मानने की धारणा जैन दर्शन में भी स्वीकृत है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि सभी को जीवन एवं प्राण प्रिय है।[4] दशवैकालिकसूत्र में भी कहा गया है कि

१. आत्मानुशासन, २८.
२. उद्धृत–नीतिशास्त्र, पृ० ९२.
३. नीतिशास्त्र, पृ० ९९.
४. आचारांग, १।२।३.

सभी जीवित रहना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता ।[१] इस प्रकार जीवन-रक्षण को एक प्रमुख तथ्य माना गया है। जैन दर्शन का अहिंसा सिद्धान्त भी इसी जीवनरक्षण एवं जीवन के परममूल्य की धारणा पर अधिष्ठित है। सूत्रकृतांग में भी इसी विकासवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अपने जीवन के कल्याण का जो उपाय जान पड़े उसे शीघ्र ही पण्डितपुरुषों से सीख लेना चाहिए ।[२]

स्पेन्सर आचरण के शुभत्व और अशुभत्व का आधार जीवनवर्धकता को मानते हुए कहता है कि अच्छा आचरण जीवनवर्धक और बुरा आचरण जीवन के विनाश का कारण है ।[३] जैन दर्शन के अनुसार भी आचरण के शुभत्व और अशुभत्व का प्रमापक अहिंसा का सिद्धान्त है। आचार्य अमृतचन्द्र ने जैन नैतिकता के सभी नियमों को इसी अहिंसा के सिद्धान्त से निर्गमित किया है। अहिंसा का सिद्धान्त भी यही है कि जो आचरण जीवन के विनाश का कारण है वह अशुभ है और जो आचरण जीवन के रक्षण का कारण है वह शुभ है। इस प्रकार स्पेन्सर के दृष्टिकोण से जैन दर्शन की साम्यता सिद्ध होती है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्पेन्सर जीवनरक्षण को शुभत्व का आधार मानते हुए भी अहिंसा के सूक्ष्म सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता। उसके सिद्धान्त में जीवन के सभी रूपों को वह समानता नही दी गयी है जो कि जैन दर्शन के अहिसा सिद्धान्त मे है।

न केवल जैन-दर्शन में वरन् बौद्ध और वैदिक दर्शनों में भी जीवन के मूल्य को स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि जीवन का रक्षण वरेण्य है। कौषीतकि उपनिषद् में कहा गया है कि निःश्रेयस मात्र प्राण मे है ।[४] चाणक्य ने भी कहा है कि धन और स्त्री की अपेक्षा भी आत्मा (जीवन) की सदैव रक्षा करनी चाहिए ।[५] बुद्ध ने भी जीवनरक्षण को आवश्यक कहा है। धम्मपद में बुद्ध कहते हैं कि अपने को प्रिय समझा है तो अपने को सुरक्षित रखना चाहिए ।[६]

विकासवादी आचारदर्शन का दूसरा प्रमुख प्रत्यय समायोजन है। परिवेश के प्रति समायोजन नैतिक जीवन का आवश्यक अङ्ग माना गया है। स्पेन्सर के शब्दों में, सभी बुराइयों का उत्स देह का परिवेश के अनुरूप न होना है ।[७] स्पेन्सर ने परिवेश के साथ अनुरूपता या समायोजन को नैतिक जीवन का साध्य और शुभाशुभ का प्रतिमान, दोनों ही माना है। जैन दर्शन में भी समायोजन को महत्त्व दिया गया है। जैन दर्शन का समत्वयोग इसी समायोजन की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करता है

१. दशवैकालिक, ६।११.
२. सूत्रकृतांग, ८।१५.
३. डेटा आफ एथिक्स, पृ० २१; उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २१३.
४. कौषीतकि उपनिषद्, ३।२.
५. चाणक्यनीति; उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २०५.
६. धम्मपद, १५७.
७. सोशल स्टेटिस्टिक्स, पृ० ७७; उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २१७.

यद्यपि जैन दर्शन मे समायोजन का अर्थ आन्तरिक समत्व से है। उसकी दृष्टि में बाह्य समायोजन इतना महत्त्वपूर्ण नही है। उसमें समायोजन का अर्थ चेतना का स्वस्वभाव के अनुरूप होना है। इस प्रकार विकासवाद और जैन दर्शन दोनों ही समायोजन को स्वीकार करते है। लेकिन जहाँ विकासवाद व्यक्ति और परिवेश के मध्य समायोजन को महत्त्व देता है, वहाँ जैन दर्शन मनोवृत्तियों और स्वस्वभाव के मध्य समायोजन को आवश्यक मानता है। विकासवाद मे समायोजन जीवनरक्षण के लिए है, जबकि जैन दर्शन मे समायोजन आत्मा (स्वस्वभाव) के रक्षण लिए है।

विकासवाद का तीसरा प्रत्यय 'विकास की प्रक्रिया मे सहगामी होना' है। जो कर्म विकास को अवरुद्ध करते है और बाधक बनते है वे अनैतिक है, और जो कर्म विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते है वे नैतिक है। जैन दर्शन मे विकास का प्रत्यय तो आया है, लेकिन भौतिक विकास का जो रूप विकासवाद मे मान्य है, वह जैन दर्शन मे उपलब्ध नही है। जैन दर्शन आत्मा के आध्यात्मिक विकास पर जोर देता है और इस दृष्टि से वह अवश्य ही उन कर्मो को नैतिक मानता है जो आत्मविकास मे सहायक है और उन कर्मो को अनैतिक मानता है जो आत्मिक शक्तियो के विकास मे बाधक है। जैन दर्शन के अनुसार विकास का सर्वोच्च रूप आत्मा की ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और सङ्कल्पात्मक शक्तियो की पूर्णता की स्थिति है। जब आत्मा मे ये शक्तियाँ पूर्णतया प्रकट हो जाती है और उनपर कोई आवरण या बाधकता नही होती, तभी नैतिक पूर्णता प्राप्त होती है। इस प्रकार जैन दर्शन विकास के प्रत्यय को स्वीकार करते हुए भी विकासवाद से थोडा भिन्न है।

स्पेन्सर का विकासवादी दर्शन और जैन दर्शन पुन. एक स्थान पर एकदूसरे के निकट आते है। स्पेन्सर के अनुसार विकास की अवस्था मे नैतिकता सापेक्ष होती है और विकास की पूर्णता पर नैतिकता निरपेक्ष बन जाती है। जैन दर्शन भी आध्यात्मिक विकास की अवस्था में नैतिक सापेक्षता को स्वीकार करता है। उसके अनुसार भी हम जैसे-जैसे आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया मे ऊपर उठते जाते है, वैसे-वैसे नैतिक बाध्यताओ और नैतिक सापेक्षताओ से ऊपर उठते हुए नैतिक निरपेक्षता की ओर आगे बढ़ते है।

स्पेन्सर ने जीवन की लम्बाई और चौडाई को नैतिक प्रतिमान बनाने का प्रयास किया है। जैन दर्शन जीवनरक्षण की बात करते हुए भी स्पेन्सर की जीवन की लम्बाई और चौड़ाई के नैतिक प्रतिमान को स्वीकार नही करता। स्पेन्सर के अनुसार जीवन की लम्बाई का अर्थ है दीर्घायु होना और चौडाई का अर्थ है जीवन की सक्रियता या कर्मठता। जैन दर्शन स्पेन्सर की उपर्युक्त मान्यताओं को समुचित नहीं मानता, क्योकि एक महापुरुष को अल्पायु होने के कारण अनैतिक नही कहा जा सकता और एक डाकू को शारीरिक दृष्टि से कर्मठ होने पर नैतिक नही कहा जा सकता। जीवनवृद्धि का सच्चा अर्थ तो सद्गुणों की वृद्धि है। जैन दार्शनिको ने जीवनरक्षण की अपेक्षा सद्गुणों के रक्षण को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। वह तो सद्गुणों के

रक्षण के लिए देह उत्सर्ग या प्राणान्त को भी अनैतिक नहीं मानता। उसके अनुसार जीवन अपने में साध्य नहीं, वरन् नैतिक पूर्णता को प्राप्त करने का साधन है। इस प्रकार जैन दर्शन और स्पेन्सर का विकासवाद कुछ अर्थों में एकदूसरे से भिन्न भी सिद्ध होते हैं।

स्पेन्सर का जीवन-वृद्धि का आदर्श वस्तुतः वैयक्तिक नीतिशास्त्र का प्रतिपादक है। स्पेन्सर के लिए वैयक्तिक नैतिकता ही प्रमुख थी। यद्यपि उसने जातिरक्षण को भी स्वीकार किया है, तथापि सामाजिक नीतिशास्त्र का प्रतिपादन विकासवाद के अन्य दो विचारकों के द्वारा ही हुआ है। उनमें स्टीफेन ने सामाजिक स्वास्थ्य (Social Health) और अलेक्जेण्डर ने सामाजिक समकक्षता (Social equilibrium) के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यद्यपि स्पष्ट रूप में जैन दार्शनिकों ने इन सिद्धान्तों के सन्दर्भ में कोई बात कही हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता, तथापि यदि हम सामाजिक स्वास्थ्य का अर्थ सामाजिक व्यवस्था करते हैं तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैन दर्शन भी एक सुव्यवस्थित समाज-रचना को आवश्यक मानता है। सामाजिक समकक्षता सामाजिक समत्व की सूचक है और इस रूप में जैन दर्शन का अनाग्रह और अपरिग्रह का सिद्धान्त इस सामाजिक समत्व का संरक्षण करता है। तत्त्वार्थसूत्र में निर्दिष्ट प्राणियों की सहयोगात्मक प्रकृति भी सामाजिक समत्व की संरक्षक है।

३. बुद्धिपरतावाद और जैन दर्शन

कांट अपने नैतिक सिद्धान्त के प्रतिपादन में भावनाओं को कोई स्थान नहीं देते। उनके अनुसार नैतिक जीवन का लक्ष्य भावनाओं से ऊपर बुद्धिमय जीवन है। कांट के नीतिशास्त्र में सद्-इच्छा ही परमशुभ है। वे सदिच्छा को सद्भावना नहीं वरन् कर्तव्यभाव मानते है। उनके अनुसार, सदिच्छा या परमशुभ निरपेक्ष है। कांट का नैतिक दर्शन ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादक है, उसमें कर्तव्य केवल कर्तव्य के लिए होते हैं। कांट किसी भावना से प्रेरित कर्म को नैतिक नहीं मानते। उनके अनुसार कर्म को भावना से नहीं, वरन् बुद्धि से नियन्त्रित होना चाहिए। निष्पक्ष बुद्धि से नियन्त्रित कर्म ही नैतिक हो सकता है। कांट ने नैतिक आदेश के या कर्म की नैतिकता के प्रतिमापक पाँच सूत्र दिये हैं—

१. **सार्वभौम विधान**—तुम केवल उसी नियम का पालन करो जिसके माध्यम से तुम उसी समय इच्छा कर सको कि यह एक सार्वभौम विधान हो।

२. **प्रकृति विधान**—ऐसा करो, मानो तुम्हारे कर्म का नियम तुम्हारी इच्छा के माध्यम से प्रकृति का एक सार्वभौम विधान होनेवाला हो।

३. **स्वयंसाध्य**—ऐसा करो, जिससे स्वयं के व्यक्तित्व में तथा प्रत्येक अन्य पुरुष के व्यक्तित्व में निहित मानवता को तुम सदा ही साध्य के रूप में प्रयोग करो, साधन के रूप में नहीं।

४. **स्वतन्त्रता**—ऐसा करो कि तुम्हारी इच्छा उसी समय अपने नियम के माध्यम से अपने को सार्वभौम विधान बनानेवाली समझ सके।

५. **साध्यों का राज्य**—ऐसा करो, मानो तुम सदा अपने नियम के माध्यम से साध्यों के एक सार्वभौम साध्य के विधायक सदस्य हो।[1]

जैन दर्शन में कांट के सिद्धान्तों के कुछ सूत्र अवश्य मिल जाते है जिनके आधार पर दोनों की निकटता को परखा जा सकता है।

कांट और जैन दर्शन, दोनों नैतिक साध्य के रूप में ज्ञान को स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार निष्पक्ष एवं निरपेक्ष पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) नैतिक जीवन का साध्य है यद्यपि इस सन्दर्भ में जैन दर्शन और काट में थोड़ा विचारभेद भी है। कांट के अनुसार निरपेक्ष ज्ञानमय जीवन ही नैतिक साध्य है जबकि जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान के साथ-साथ भाव भी नैतिक साध्य है। जैन दर्शन मोक्ष-दशा में अनन्तज्ञान के साथ-साथ अनन्तसुख की उपस्थिति भी मानता है। कांट के अनुसार ज्ञान ही साध्य है, जबकि जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान भी साध्य है।

जहाँ तक परमशुभ की निरपेक्षता का प्रश्न है, जैन दर्शन नैतिकता के आन्तरिक पक्ष या आचारलक्षी निश्चयनय को अवश्य ही निरपेक्ष मानता है; लेकिन साथ ही वह व्यावहारिक नैतिकता की सापेक्षता भी स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अनुसार आन्तरिक नैतिकता अवश्य निरपेक्ष और निरपवाद है; लेकिन बाह्य नैतिक नियम तो सापेक्ष और सापवाद ही हैं। जैन दर्शन में अपवादमार्ग या आपद्धर्म का विधान है, यद्यपि उसके लिए प्रायश्चित का विधान भी है। सामान्य स्थिति में निरपेक्षरूप से ही नैतिक नियमों के पालन पर जोर दिया गया है। इस प्रकार जहाँ जैन दर्शन निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही प्रकार की नैतिक विधियों को स्वीकार करता है, वहाँ कांट केवल निरपेक्ष नैतिकता पर ही बल देते हैं। कांट अपवादमार्ग और आपद्धर्म को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार, जो शुभ है वह सदैव ही शुभ है और जो अशुभ है वह सदैव ही अशुभ है।

जहाँ तक वासनाओं के बुद्धि से नियन्त्रित होने का प्रश्न है, जैन दर्शन और कांट दोनों के दृष्टिकोण समान हैं। जैन दर्शन भी वासनाओं पर बुद्धि का शासन आवश्यक मानता है।

आचारमार्ग की कठोरता की दृष्टि से कांट और जैन दर्शन एकदूसरे के निकट हैं। कांट के आचारदर्शन को अपवादमार्ग एवं भावना के अभाव के कारण कठोरतावाद कहा जाता है जबकि जैन आचारदर्शन को तपप्रधान होने के कारण कठोर कहा जाता है यद्यपि जैनदर्शन अपवादमार्ग और भावना को स्वीकार करता है।

कांट के सार्वभौम विधान के सूत्र के अनुसार कोई भी कर्म तभी नैतिक हो सकता है जबकि वह सार्वभौम नियम बनने की क्षमता रखता हो। सामान्य नियम ही नैतिक नियम हो सकता है। यदि कोई नियम इस सिद्धान्त के प्रतिकूल है तो वह

१. उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २६८.

अनैतिक है। उदाहरणार्थ, चोरी करने को लीजिए। यदि कोई व्यक्ति चोरी को अपने आचरण का व्यक्तिगत नियम बनाता है, तो उसे यह भी देखना होगा कि क्या वह चोरी को उसी समय सार्वभौम नियम बना सकता है ? स्पष्ट है कि वह यह कभी नहीं चाहेगा कि उसके द्वारा चुराये माल की अन्य कोई चोरी करे। इस प्रकार चोरी सार्वभौम नियम नहीं हो सकती, क्योंकि चोरी को सार्वभौम बनाने पर चोरी का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार हिंसा, असत्य, बेईमानी आदि अवगुण भी सावभौम नियम नहीं बनाये जा सकते। इसलिए वे सभी अनैतिक है। कांट के इस सूत्र का आशय यही है कि हम जैसा व्यवहार अपने प्रति चाहते हैं वैसा ही आचरण दूसरों के प्रति करें हम अपने बारे में जैसी इच्छा करें वैसी ही इच्छा दूसरे के बारे में भी करें। जैन दर्शन और अन्य भारतीय दर्शनों में भी इसे ही नैतिक नियम का सर्वस्व माना गया है। जैन, बौद्ध एवं वैदिक आचारदर्शनों में भी शुभाशुभत्व के प्रतिपादन के रूप में यही सिद्धान्त स्वीकृत है। जैन आचारदर्शन में भी कर्म के शुभाशुभत्व का निर्णायक यही आत्मवत् दृष्टि का सिद्धान्त है। गीता और बौद्ध आचारदर्शन में भी इस सिद्धान्त का समर्थन मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कांट का सार्वभौम विधान का सूत्र आत्मवत् दृष्टि के सिद्धान्त के रूप में भारतीय परम्परा में ही स्वीकृत रहा है।[1]

कांट के प्रकृति विधान के सूत्र का आशय यह है कि जो कर्म प्रकृति की एक-रूपता और सोद्देश्यता के अनुरूप हैं वे ही करने चाहिए। इस सूत्र का एक आशय यह भी हो सकता है कि स्वभाव के अनुरूप ही कर्म करना चाहिए। कांट के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन गीता में स्वधर्म सिद्धान्त के रूप में हुआ है। गीता में कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुरूप ही आचरण करते हैं।[2] जैन दर्शन के अनुसार यह कहना पड़ेगा कि आत्मा का जो निज स्वभाव है या जो स्वभावदशा है उसी से हमारे कर्म निःसृत होने चाहिए। जो कर्म स्वभावदशा से नि सृत होते हैं, वे ही नैतिक होते है। विभावदशा में होनेवाले कर्म अनैतिक हैं।

कांट के स्वयंसाध्य के सूत्र का आशय यह है कि मनुष्य स्वयं साध्य है और उसको किसी दूसरे मनुष्य के लिए साधन नहीं बनना चाहिए। यदि व्यक्ति अपनी आत्मा को साध्य न बनाकर स्वयं को किसी अन्य का साधन बनाता है तो उसका यह कर्म नैतिक नहीं माना जायेगा। जैन दर्शन में ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत अनेक स्थितियों में व्यक्ति को दूसरे के हित का साधन बनने को कहा गया है। यदि हम इस सिद्धान्त का यह आशय स्वीकार करें कि मानवता का (चाहे वह हमारे स्वयं के अन्दर हो अथवा किसी अन्य व्यक्ति में) सम्मान करना चाहिए तो इस रूप में वह जैन दर्शन में भी स्वीकृत हो सकता है। एक अन्य अपेक्षा से भी

१. (अ) महाभारत, शान्तिपर्व; उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २७०.
   (आ) पञ्चतन्त्र, ४।१०२.
२. गीता, ३।३६.

इस सूत्र का यह भी आशय निकाला जा सकता है कि व्यक्ति का नैतिक विकास और पतन स्वयं उसी पर निर्भर है। इस अर्थ में यह सिद्धान्त नैतिक जीवन में पुरुषार्थ की धारणा पर बल देता है और यह जैन दर्शन में भी स्वीकृत है। जैन आचारदर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि व्यक्ति का हित और अहित स्वयं उसी पर निर्भर है।

कांट के स्वतन्त्रता के सूत्र की व्याख्या यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त है, अत: जिसे हम अपना अधिकार मानते हैं उसे ही दूसरों का भी अधिकार मानना चाहिए। यदि हम चोरी करते समय दूसरों की सम्पत्ति पर अपना अधिकार मानते हैं तो दूसरों को भी यह अधिकार प्राप्त है कि वे आपकी सम्पत्ति पर अपना अधिकार मानकर उसका उपभोग करें। इस प्रकार यह सूत्र समान अधिकार की बात कहता है जो कि प्रथम सूत्र से अधिक भिन्न नहीं है। यह सूत्र भी सबको अपने समान समझने का आदेश है और इस रूप में वह आत्मवत् दृष्टि का ही प्रतिपादक है।

कांट का साध्यों के राज्य का सूत्र यह बताता है कि सभी मनुष्यों को समान मूल्यवाला समझो और इस अर्थ में यह सिद्धान्त लोकहित या लोकसंग्रह का प्रतिपादक है तथा पारस्परिक सहयोग तथा पूर्ण सामञ्जस्य के साथ कर्म करने का निर्देश देता है। इसमें भी आत्मवत् दृष्टि का भाव सन्निहित है। इस सूत्र में प्रतिपादित सभी विचार जैन तथा अन्य भारतीय दर्शनों में उपलब्ध हैं।

४. पूर्णतावाद और जैन दर्शन

पूर्णतावाद[1] का सिद्धान्त नैतिक साध्य के रूप में आत्मा के विभिन्न पक्षों की पूर्णता को स्वीकार करता है। सुखवाद आत्मा के भावनात्मक पक्ष को नैतिक जीवन का साध्य बताता है, जबकि बुद्धिवाद आत्मा के बौद्धिक पक्ष को ही नैतिकता का साध्य मानता है। सुखवाद और बुद्धिवाद के एकांगी दृष्टिकोणों से ऊपर उठकर पूर्णतावाद भावनात्मक आत्मा और बौद्धिक आत्मा दोनों को ही नैतिक जीवन का साध्य मानता है। नैतिकता समग्र आत्मा की सिद्धि है, उस आत्मा की जो कि बुद्धिमय भी है और भावनामय भी। वह आत्मा के विभिन्न पक्षों को नहीं, वरन् पूर्ण आत्मा को नैतिक जीवन का साध्य बनाता है। वह आत्मिक क्षमताओं के पूर्ण विकास की धारणा को स्थापित करता है। पूर्णतावाद का एक प्राचीन रूप ईसा के उस कथन में मिलता है, जिसमें कहा गया है कि 'तुम वैसे ही पूर्ण हो जाओ जैसे स्वर्ग में तुम्हारा पिता है।' हेगेल ने भी अपने दर्शन की मुख्य शिक्षा 'पूर्ण व्यक्ति बनो' के रूप में दी है। हेगेल के दृष्टिकोण का ही विकास करनेवाले पूर्णतावादी विचारकों में केयर्ड, ग्रीन, ब्रैडले एवं बोसाके प्रमुख हैं। समकालीन पूर्णतावादी विचारकों में

१. पूर्णतावाद के विशेष अध्ययन के लिए देखिए—
(अ) पश्चिमी आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन—ईश्वरचन्द्र शर्मा, अध्याय ८,१५.
(ब) एथिकल स्टडीज—ब्रैडले.

पेटन और म्यूरहेड आते है। ब्रैडले अपने पूर्णतावाद में आत्मसाक्षात्कार पर बल देते हैं। उनका कथन है कि अपने को एक अनन्त पूर्ण के रूप में प्राप्त करो। ब्रैडले अपने नीतिशास्त्र के प्रमुख ग्रंथ 'एथिकल स्टडीज' में इस बात का प्रतिपादन करते है कि व्यक्ति का नैतिक साध्य एक अनन्त पूर्ण आत्मा के रूप में आत्मसाक्षात्कार करना है। पूर्णतावाद की सामान्य विशेषताओं को निम्न रूप में रखा जा सकता है--(१) परमशुभ वासनाओं का बुद्धि के द्वारा व्यवस्थापन एवं नियन्त्रण करना है। (२) नैतिक जीवन की प्रक्रिया आत्मत्याग के द्वारा आत्मलाभ की है। क्षुद्र, पाशविक वासनामय एवं इन्द्रियपरक आत्मा के त्याग के द्वारा उच्च एवं सामाजिक आत्मा का लाभ ही नैतिक विकास की प्रक्रिया है। (३) नैतिकता आध्यात्मिक तत्त्व के अनन्त विकास की प्रक्रिया है। (४) पूर्णतावाद नैतिकता के आन्तरिक पक्ष अर्थात् चरित्र विकास एवं वासनाओं के परिमार्जन पर बल देता है। (५) वह अपनी क्षमताओं को पहचान कर उनके पूर्ण प्रकटन पर बल देता है। (६) मनुष्य होने के लिए सामाजिक होना आवश्यक है यद्यपि सामाजिकता भी अन्तिम नही है, सामाजिकता से भी ऊपर उठना आवश्यक है। इस प्रकार वह सामाजिकता और नैतिकता के क्षेत्र के अतिक्रमण पर बल देता है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो सभी मोक्षलक्षी दर्शन पूर्णतावाद के समर्थक हैं। श्री सङ्गमलाल पाण्डे लिखते है कि वास्तव में हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के नीतिशास्त्र बहुत कुछ एकसमान हैं। वे सभी मनुष्य को पूर्ण होने की शिक्षा देते है। तीनों धर्मो का पूर्णतावाद पर त्रिवेणीसङ्गम होने के कारण पूर्णतावाद भारतीय नीतिशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है।[1]

जिस प्रकार पूर्णतावाद नैतिक साध्य के रूप में भावनामय और बुद्धिमय दोनों ही पक्षों को स्वीकार करता है और बुद्धि के द्वारा भावनाओं के अनुशासन पर बल देता है, उसी प्रकार जैन दर्शन भी मोक्ष के नैतिक साध्य में भावनात्मक और बौद्धिक दोनों ही पक्षों को स्वीकार करता है तथा यह मानता है कि व्यावहारिक जीवन में कषाययुक्त आत्मा को ज्ञानात्मा से अनुशासित होना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार भी कषाय आत्मा का त्याग और ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण से युक्त शुद्ध आत्मा का लाभ नैतिक जीवन का आवश्यक अंग है। जैन दर्शन और पूर्णतावाद इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि नैतिकता आध्यात्मिक तत्त्व (आत्मा) के अनन्त विकास की प्रक्रिया है। यद्यपि पूर्णतावाद और विशेषकर ब्रैडले का दृष्टिकोण यह स्वीकार करता है कि अनन्त विकास की प्रक्रिया भी अनन्त है और कभी समाप्त नही होती जबकि जैन दर्शन मानता है कि व्यक्ति अनन्त विकास की इस प्रक्रिया में पूर्णता तक पहुँच सकता है। पूर्णतावाद आदर्श के यथार्थ बन जाने की सम्भावना में विश्वास नहीं करता जबकि जैन दर्शन यह मानता है कि नैतिक पूर्णता का यह आदर्श यथार्थ

१. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ३०५.

बनाया जा सकता है। जिस प्रकार पूर्णतावाद नैतिकता के आन्तरिक पक्ष, चरित्रविकास एवं वासनाओं के परिमार्जन को आवश्यक मानना है, उसी प्रकार जैन दर्शन भी नैतिकता के आन्तरिक पक्ष चरित्रविकास एवं वासनाओं के परिमार्जन पर बल देता है। जिस प्रकार पूर्णतावाद अपनी क्षमताओं को पहचानकर उनके पूर्ण प्रकटन तक पुरुषार्थी बना रहना आवश्यक मानता है, उसी प्रकार जैन दर्शन भी आत्मा के स्वस्वरूप को जानकर उसकी पूर्णता के लिए सतत परिश्रम और जागरूकता को आवश्यक मानता है। जैन दर्शन भी पूर्णतावाद के समान सामाजिकता को नैतिकता का अन्तिम तत्त्व नहीं मानता और समाज में भी ऊपर उठने की धारणा को स्वीकार करता है।

जैन दर्शन का नैतिक साध्य मोक्ष है, लेकिन मोक्ष पूर्णता या आत्मसाक्षात्कार की अवस्था ही है। जैन दार्शनिकों ने मोक्ष की अवस्था में अनन्तचतुष्टय की उपलब्धि को स्वीकार कर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जैन दर्शन पूर्णता के रूप में जीवन के सभी सद्पक्षों का पूर्ण विकास चाहता है। वस्तुतः जैन दर्शन के मोक्ष की यह धारणा पूर्णतावाद या आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त से दूर नही है। जैन दर्शन का मोक्ष अन्य कुछ नही, मात्र चैत्त जीवन के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक पक्षों की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

वैदिक परम्परा में भी आत्मपूर्णता, आत्मलाभ या आत्मसाक्षात्कार को नैतिक जीवन का साध्य माना गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे कहा गया है कि आत्मा के लिए ही सब कुछ प्रिय होता है।[1] आचार्य शकर उपदेशसहस्री में लिखते है कि आत्मलाभ से बड़ा अन्य कोई लाभ नहीं है।[2]

वैदिक परम्परा में बुद्धि के द्वारा वासनाओं के निराकरण के तथ्य को स्वीकार किया गया है। मनुस्मृति एवं गीता में वर्णधर्म या स्वधर्म के जो प्रत्यय है, वे भी पूर्णतावादी विचारक ब्रैडले के 'स्वस्थान और उसके कर्तव्य' के सिद्धान्तों के बहुत अधिक निकट है। गीता पूर्णतावाद के समान ही कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग के समन्वय को स्वीकार करती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरुषार्थों में काम और अर्थ को स्वीकार कर वैदिक परम्परा यह स्पष्ट रूप से बता देती है कि जीवन में भावनात्मक पक्ष का भी अपना मूल्य है। भावना को जीवन से अलग नही किया जा सकता। नैतिक साध्य भावनाओं का निराकरण नहीं, वरन् उनका परिष्कार है।

भारतीय परम्परा में पूर्णतावाद का आरम्भ वेदों से होता है, जिनमे पूर्णता को प्राप्त करना मानव जीवन का आदर्श माना गया है। उपनिषदों में यही पूर्णतावाद आत्मसाक्षात्कार या आत्मलाभ के रूप में स्वीकृत रहा है। गीता में परमात्मा को पूर्णपुरुष के रूप में उपस्थित किया गया है और उसकी प्राप्ति को ही नैतिक जीवन का साध्य माना गया है।

[1] बृहदारण्यक उपनिषद्, २।४।५.
[2] उपदेशसहस्री, १६।४.

५. मूल्य का प्रतिमान और जैन दर्शन

पाश्चात्य विचार-परम्परा मे मूल्यवाद नैतिक प्रतिमान का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है। मूल्यवाद के अनुसार मूल्य वह है जो भावना या इच्छा की पूर्ति करता है। मूल्य की समुचित परिभाषा यह हो सकती है कि 'मूल्य वह है जिसे पाने के लिए व्यक्ति और समाज चेष्टा करते है जिसके लिए जीवित रहते है और जिसके लिए बडा मे बडा उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहते है।'

मूल्यवाद के अनुसार शुभ और उचित, परिणामो या शुभ सकल्पो पर निर्भर नही है। शुभ एव उचित, जीवन के उन आदर्शो से निर्गमित होते हे जो हमारे जीवन का परमार्थ या श्रेय है। मूल्यवाद की परम्परा मे मूल्य एक व्यापक शब्द है। वह यद्यपि श्रेय, साध्य का आदर्श या सूचक है, तथापि कोई अकेला साध्य मूल्य नही है। मूल्य सदैव व्यवस्था मे निर्धारित होता है। सुख, जीवन, वराग्य आदि मे प्रत्येक एक मल्य है किन्तु मूल्य उससे अधिक व्यापक है। 'मूल्य' एक तत्त्व नही है एक व्यवस्था है और उसी व्यवस्था मे किसी मूल्य का बोध होता है।

मूल्यवाद मूल्य की अपेक्षा मूल्यो (Values) पर बल देता है, फिर भी 'परम मूल्य' या सर्वोच्च मूल्य क्या हे, यह विषय मूल्यवादी विचारणा मे विवादपूर्ण ही रहा है। सुकरात 'ज्ञान' को प्लेटो 'न्याय' को, अरस्तू 'उच्चविचारशीलता' को, स्पीनोजा 'ईश्वर' को और हेगल 'व्यक्तित्वलाभ' को सर्वोच्च मल्य मानते है। अरबन ने आध्यात्मिक मूल्यो मे क्रमश कलात्मक, बौद्धिक और धार्मिक (चारित्रिक) मूल्यो के रूप में सौन्दर्य, सत्य और शिव (कल्याण) को परम मूल्य माना हे, जिनमे भी प्रथम की अपेक्षा दूसरा और दूसरे की अपेक्षा तीसरा अधिक उच्च माना गया है। मूल्यवाद की इस परम्परा मे भी 'परम मूल्य' की धारणा के आधार पर अनेक वर्ग बनते हैं, उनमे कुछ दृष्टिकोण निम्नानुसार है—

१ मानवता-केन्द्रित मूल्यवाद (मानवतावाद)
२ अस्तित्ववादियो का आत्म-केन्द्रित मूल्यवाद
३. मार्क्स का समाज एव अर्थ केन्द्रित मूल्यवाद
४ अरबन का आध्यात्मिक मूल्यवाद

§ ८. मानवतावादी सिद्धान्त और जैन आचारदर्शन

मानवतावाद[1] मे नैतिकता का प्रत्यय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि मानवतावाद को आचारशास्त्रीय धर्म कहा जाता है। मानवतावादी सिद्धान्त नैतिकता को मानव की सास्कृतिक चेतना के विकास मे देखता है। सास्कृतिक विकास ही नैतिकता की कसौटी है। सास्कृतिक विकास एवं नैतिक जीवन मानवीय गुणो के विकास में निहित है। मानवतावादी चिन्तन मे मनुष्य ही नैतिक मूल्यो का मानदण्ड है और मानवीय गुणो का विकास ही नैतिकता है। मानवतावादी विचारको की

१. देखिए—(अ) समकालीन दार्शनिक चिन्तन, पृ० ३००—३२५.
(ब) कन्टेम्पररि एथिकल थ्योरीज, पृ० १७७—१८८.

एक लम्बी परम्परा है। प्लेटो ओर अरस्तू मे लेकर लेमाण्ट, जाकमारिता तथा समकालीन विचारको म वारनर फिटे, मी० बी० गर्नेट और इस्राइल लेविन प्रभृति विचारक इस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते है। ये सभी विचारक मानवीय गुणो के विकास मे नैतिकता के प्रत्यय को देखते ह, फिर भी प्राथमिक मानवीय गुण क्या है इस विषय मे उनमे मतभेद हे। समकालीन मानवतावादी विचारको मे भी इस प्रश्न का लेकर प्रमुख रूप से तीन वर्ग है जिन्हे आत्मचेतनावादी, विवेकवादी और आत्मसयमवादी कह सकते है। इन तीनो मान्यताओ का जैन दर्शन के साथ निकट सम्बन्ध देखा जा सकता है। इनके साथ जैन दर्शन की तुलना करने के पूर्व, मानवतावाद की कुछ सामान्य प्रवृत्तियो का जैन विचार परम्परा के साथ तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित हे। सर्वप्रथम मानवतावादी विचार परम्परा सहानुभूति के प्रत्यय को ही नैतिकता का आधार बनाती हे। मानवतावाद के अनुसार मनुष्य का परम प्राप्तव्य इसी जगत् मे केन्द्रित है और इसलिए वह अपने नैतिक दर्शन का किसी पारलौकिक सुख-कामना पर आधृत नही करता। उसके अनुसार नैतिक होने के लिए किसी पारलौकिक आदर्श या साध्य की आवश्यकता नही हे, वरन् मनुष्य मे निहित सहानुभूति का तत्त्व ही उसे नैतिकता के प्रति आस्थावान बनाये रखने के लिए पर्याप्त हे। वह नैतिकता को प्रलोभन और भय के आधार पर खडा न करके मानव मे निहित सहानुभूति के तत्त्व पर खडा करता है। उसके अनुसार नैतिक होने के लिए यह आवश्यक नही है कि हम किसी पारलौकिक सत्ता या ईश्वर अथवा कर्म के नियम जैसे किसी सिद्धान्त पर आस्था रखे, वरन् मानवीय प्रकृति मे निहित सहानुभूति का तत्त्व ही नैतिक होने के लिए पर्याप्त है।

इस विषय मे जैन दर्शन का दृष्टिकोण क्या है? जैन दर्शन भी प्राणी मे निहित सहानुभूति के तत्त्व को स्वीकार करता है, तथापि वह कर्म सिद्धान्त को भी मानकर चलता हे। इस प्रकार जहा मानवतावाद सहानुभूति के तत्त्व को ही नैतिकता का आधार बनाता है, वहाँ जैन दर्शन सहानुभूति के तत्त्व के साथ-साथ कर्म सिद्धान्त को भी नैतिकता का आधार बनाता है।

मानवतावाद सासारिक हित-साधन पर जोर देता है और पारलौकिक सुख-कामना को व्यर्थ मानता है। वह मनुष्य को स्थूल ऐन्द्रिक सुखो तक ही सीमित नही रखता है, वरन् कला, साहित्य, मैत्री और सामाजिक सम्पर्क के सूक्ष्म सुखो को भी स्थान देता है। लेमाण्ट परम्परावादी और मानवतावादी आचारदर्शनो मे निषेधात्मक और विधेयात्मक दृष्टि से भेद स्पष्ट करता है। उसके अनुसार परम्परावादी नैतिक दर्शन मे वर्तमान के प्रति उदासीनता और परलोक मे सुख प्राप्त करने की इच्छा होती है, यह निषेधात्मक है। इसके विपरीत मानवतावाद वर्तमान जीवन के प्रति आस्था रखता है और उसे सुखी बनाना चाहता है, यह विधायक है।

जैन, बौद्ध और वैदिक दर्शन पारलौकिकता के प्रत्यय को स्वीकार करते है, और भावी जीवन के अस्तित्व मे भी आस्था रखते है, लेकिन इस आधार

पर उन्हे निषेधात्मक नही कहा जा सकता क्योकि वे वर्तमान जीवन के प्रति उदासीनता नही रखते। जैन दार्शनिक स्पष्टरूप से कहते है कि नैतिक साधन का पारलौकिक सुख की कामना से कोई सम्बन्ध नही है, बल्कि पारलौकिक सुख-कामना की दृष्टि से किया गया नैतिक कर्म दूषित होता है। जैन दार्शनिक नैतिक साधना को न ऐहिक सुखो के लिए और न पारलौकिक सुखो के लिए मानते है, वरन् उनके अनुसार तो नैतिक साधना का एकमात्र साध्य आत्म-विकास एव आत्मपूर्णता है। बुद्ध ने कहा है कि नैतिक जीवन का साध्य पारलौकिक सुख की कामना नही है। गीता मे भी फलाकाक्षा के रूप मे पारलौकिक सुख की कामना को अनुचित ही कहा गया है।

जैन विचारधारा नैतिक जीवन के लिए अपनी दृष्टि वर्तमान पर ही केन्द्रित करती है। कहा गया है कि जो भूत के सम्बन्ध मे कोई शोक नही करता और भविष्य के सम्बन्ध मे जिसकी कोई अपेक्षाएँ नही है, जो मात्र वर्तमान मे ही जीता है, वही सच्चा ज्ञानी है। विशुद्ध वर्तमान मे जीना जैन परम्परा का नैतिक आदर्श रहा है, अत: वह वर्तमान के प्रति उदासीन नही है और इस अर्थ मे वह मानवतावादी विचारको के साथ भी है यद्यपि वह परलोक के प्रत्यय मे इनकार नही करती है। बुद्ध ने भी अजातशत्रु से यही कहा था कि मेरे नैतिक दर्शन की साधना का केन्द्र पारलौकिक जीवन नही, वरन् यही जीवन है।

मानवतावाद सामान्यरूप से स्वाभाविक इच्छाओ का सर्वथा दमन उचित नही मानता, वरन् उनका सयमन आवश्यक मानता है। वह सयम का समर्थक है, दमन का नही। उसके अनुसार सच्चा नैतिक जीवन इच्छाओ के दमन मे नही, उनके सयमन मे है।

जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन भी दमन के प्रत्यय को स्वीकार नही करते। उनमे भी इच्छाओ का दमन अनुचित माना गया है। इस सन्दर्भ मे सप्रमाण विस्तृत विवेचन अलग से किया गया है। जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन समान रूप से दमन के स्थान पर सयम को ही स्वीकार करते है और इस अर्थ मे वे मानवतावादी विचारधारा के साथ है।

मानवतावाद कर्म के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण समाज पर उसके परिणाम के आधार पर करता है। लेमाण्ट के अनुसार कर्म-प्रेरक और कर्म मे विशेष अन्तर नही है। कोई भी क्रिया बिना प्रेरणा के नही होती और जहाँ प्रेरणा होती है वहाँ कर्म भी होता है। बौद्ध दर्शन और गीता स्पष्ट रूप से कर्म के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण कर्म-प्रेरक के आधार पर करते है, कर्म-परिणाम के आधार पर नही। इस आधार पर वे मानवतावाद से कोई साम्य नही रखते। जैन दर्शन व्यवहारदृष्टि मे कर्मपरिणाम को और निश्चयदृष्टि से कर्मप्रेरक को औचित्य और अनौचित्य के निर्णय का आधार मानता है। इस प्रकार जैन दर्शन की मानवता-वाद से इस सम्बन्ध मे आशिक समानता है।

मानवतावाद मनुष्य को ही समग्र मूल्यो का मानदण्ड स्वीकार करता है। इस प्रकार उसमे मानवीय जीवन का सर्वाधिक महत्त्व है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से इस प्रश्न को देखे तो हमे यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करना होगा कि भारतीय परम्परा भी मानवीय जीवन के महत्त्व को स्वीकार करती है। जैन आगम उत्तराध्ययन मे मानव जीवन को दुर्लभ बताया गया है। आचार्य अमितगति ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि जीवन मे मनुष्य का जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है। धम्मपद मे भगवान् बुद्ध ने भी मनुष्य जन्म को दुर्लभ बताया है। महाभारत मे भी कहा गया है कि रहस्य की बात तो यह है कि मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नही है। गोस्वामी तुलसीदास भी इस तथ्य को प्रकट करते है—'बडे भाग मानुस तन पावा, सुर दुरलभ सब ग्रन्थन्हि गावा।" इस प्रकार भारतीय चिन्तन मे मनुष्य जीवन के सर्वोच्च मूल्य को स्वीकार किया गया है।[१]

समकालीन मानवतावादी विचार मे प्राथमिक मानवीय गुण के प्रश्न को लेकर प्रमुख रूप से तीन विचारधाराएँ प्रचलित है। जैन आचारदर्शन के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से इन तीनो विचारधाराओ पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

१. आत्मचेतनतावादी दृष्टिकोण और जैन दर्शन

आत्मचेतनता या आत्मजाग्रति को ही नैतिकता का आधार और प्राथमिक मानवीय गुण माननेवाले मानवतावादी विचारको मे वारनर फिटे प्रमुख है। ये नैतिकता को आत्मचेतनता का सहगामी मानते है। उनकी दृष्टि मे नैतिकता का परिभापक उस समग्र सामाजिक प्रक्रिया मे नही है जिसमे मनुष्य जीता है, वरन् आत्मचेतना की उस मानवीय प्रक्रिया मे है जो व्यक्ति के जीवन मे रही हुई है। वस्तुत नैतिकता आत्मचेतनामय जीवन जीने मे है। उनका कथन है कि जीवन के समग्र मूल्य जीवन की चेतना मे निहित है। यही एक ऐसादृष्टिकोण है जो जीवन के या अन्य किन्ही भी मूल्यो को अवधारण कर सकता है। चेतना के नियन्त्रण मे जो जीवन है, वही सच्चा जीवन है। नैतिक होने का अर्थ यह जानना है कि हम क्या कर रहे है। जाग्रत चेतना नैतिकता है और प्रसुप्त चेतना अनैतिकता है। शुभ एव उचित कार्य वह नही है, जिसमे आत्मविस्मृति होती है, वरन वह है जिसमे आत्मचेतनता होती है।[२]

मानवतावादी आचारदर्शन का यह आत्मचेतनतावादी दृष्टिकोण जैन आचारदर्शन के अति निकट है। वारनर फिटे के नैतिक दर्शन की यह मान्यता अति स्पष्ट

१. (अ) माणुस्सं सुदुल्लहं।—महावीर
(ब) भवेषु मानुष्यभव. प्रधानम्।—अमितगति
(स) किच्छे मणुस्स पटिलाभो।—धम्मपद, १८२.
(द) गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।—महाभारत, शान्तिपर्व, २९९।२०.

२. कण्टम्पेरेरि एथिकल थ्योरीज, पृ० १७७-१८०.

रूप में जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों में उपलब्ध है। ये आचारदर्शन आत्मचेतनता को अप्रमत्तता या आत्मजागृति कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाद आत्मविस्मृति की अवस्था है और उसे अनैतिकता का प्रमुख आधार कहा गया है। जो भी क्रियाएँ प्रमाद का कारण है या प्रमादपूर्वक की जाती है, वे सभी अनैतिक है। आचाराग मे कहा गया है कि जो प्रसुप्त चेतनावाला है वह अमुनि (अनैतिक) है और जो जाग्रत चेतनावाला है वह मुनि (नैतिक) है।[1] सूत्रकृताग मे प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर[2] यही कहा गया है कि जो क्रियाएँ आत्मविस्मृति को लाती है वे बन्धनकारक है, इसलिए अनैतिक भी है। इसके विपरीत, जो क्रियाएँ अप्रमत्त चेतना की अवस्था मे सम्पन्न होती है वे बन्धनकारक नही होती और वे पूर्णतया विशुद्ध और नैतिक है। इस प्रकार वारनर फिटे का आत्मचेतनतावादी दृष्टिकोण जैन विचारणा के अति निकट है।

बौद्ध दर्शन मे भी आत्मचेतनता को नैतिकता का प्रमुख आधार माना गया है। बुद्ध स्पष्ट कहते है कि अप्रमाद अमरता का मार्ग है और प्रमाद मृत्यु का।[3] बौद्ध दर्शन मे अष्टाग साधना मार्ग मे सम्यक्स्मृति भी इस बात को स्पष्ट करती है कि आत्मस्मृति या जाग्रत चेतना नैतिकता का आधार है जबकि आत्मविस्मृति अनैतिकता का आधार है। नन्द को उपदेश देते हुए बुद्ध कहते है कि जिसके पास स्मृति नही है उसे आर्य सत्य कहाँ से प्राप्त होगा, इसलिए चलते हुए चल रहा हूँ, खड़े होते हुए खड़ा हो रहा हूँ एव इसी प्रकार दूसरे कार्य करते समय अपनी स्मृति बनाये रखो।[4] इस प्रकार बुद्ध भी आत्मचेतनता को नैतिक जीवन का केन्द्र स्वीकार करते है।

गीता मे भी सम्मोह से स्मृतिविनाश और स्मृतिविनाश से बुद्धिनाश ऐसा कहकर यही बताया गया है कि आत्मचेतनता नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है।[5]

२. विवेकवाद[6] और जैन दर्शन

मानवतावाद के समकालीन विचारको मे दूसरा वर्ग विवेक को प्राथमिक मानवीय गुण मानता है। सी० बी० गर्नेट और इस्रराइल लेवन के अनुसार नैतिकता विवेकपूर्ण जीवन जीने मे है। गर्नेट के अनुसार विवेक तार्किक सगति नही, वरन् जीवन मे कौशल या चतुराई है। बौद्धिकता या तर्क उसका एक अग हो सकता है, समग्रता नही। गर्नेट अपनी पुस्तक 'विजडम ऑफ कण्डक्ट' मे प्रज्ञा को ही सर्वोच्च

---

१. आचारांग, ११।३.
२. सूत्रकृतांग, १।८।३.
३. धम्मपद, २।१.
४. सौन्दरनन्द, १४।४३-४५.
५. गीता, २।६३.
६. देखिए (अ) कण्टेम्पररि एथिकल थ्योरीज, पृ० १८१–१८४.
(ब) विजडम आफ कण्डक्ट—सी० बी० गर्नेट.

सद्गुण मानते है और प्रज्ञा या विवेक से निर्देशित जीवन जीने मे नैतिकता के सारतत्त्व की अभिव्यक्ति मानते हे। उनके अनुसार नैतिकता की सम्यक् एवं सार्थक व्याख्या शुभ, उचित, कर्तव्य आदि नैतिक प्रत्ययो की व्याख्या मे नही, वरन् आचरण में विवेक के सामान्य प्रत्यय मे है। आचरण मे विवेक एक ऐसा तत्त्व है, जो नैतिक परिस्थिति के अस्तित्ववान पक्ष अर्थात् चरित्र, प्रेरणाएँ, आदत, रागात्मकता, विभेदीकरण मूल्यनिर्धारण और साध्य को दृष्टि मे रखता है। इन सभी पक्षों को पूर्णतया दृष्टि मे रखे बिना जीवन मे विवेकपूर्ण आचरण की आशा नही की जा सकती। आचरण मे विवेक एक ऐसी लोचपूर्ण दृष्टि हे, जो समग्र परिस्थितियों के सभी पक्षो की सम्यक् विचारणा के साथ खोज करती हुई सुयोग्य चुनाव करती है। लेविन ने आचरण मे विवेक का तात्पर्य एक समयोजनात्मक क्षमता से माना है। उसके अनुसार नैतिक होने का अर्थ मानव की मूलभूत क्षमताओं की अभिव्यक्ति है।

गर्नेट और लेविन के आचरण मे विवेक का प्रत्यय जैन विचारणा तथा अन्य सभी भारतीय विचारणाओ म भी मान्य रहा है। जैन विचारको ने सम्यक्ज्ञान के रूप मे जो साधनामार्ग बताया है वह केवल तार्किक ज्ञान नही हे, वरन् एक विवेकपूर्ण दृष्टि है। जैन परम्परा मे विवेकपूर्ण आचरण के लिए 'यतना' शब्द का प्रयोग हुआ है। दशवैकालिकसूत्र मे स्पष्टरूप से यह बताया गया है कि 'जो जीवन की विभिन्न क्रियाओं को विवेक या सावधानीपूर्वक सम्पादित करता है वह अनैतिक आचरण नही करता है।'[1] बौद्ध परम्परा मे भी यही दृष्टिकोण स्वीकृत हे। बुद्ध ने भी अगुत्तरनिकाय मे महावीर के समान ही इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। गीता मे कर्मकौशल को ही योग कहा है। इस प्रकार भारतीय आचारदर्शनो मे भी आचरण मे विवेक का प्रत्यय स्वीकृत रहा है।

गर्नेट ने आचरण मे विवेक के लिए समग्र परिस्थितियो एव सभी पक्षो का विचार आवश्यक माना है जिसे हम जैन दर्शन के अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट कर सकते है। अनेकान्तवाद कहता हे कि विचार के क्षेत्र मे एकागी दृष्टिकोण रखकर निर्णय नही लेना चाहिए, वरन् एक सर्वागीण दृष्टिकोण रखना चाहिए। गर्नेट का कर्म के सभी पक्षो के विचार का प्रत्यय अनेकान्तवादी सर्वागीण दृष्टिकोण से अधिक दूर नही है।

३. आत्मसंयम का सिद्धान्त और जैन दर्शन

मानवतावादी नैतिक दर्शन के तीसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व इर्विग बबिट[2] करते है। बबिट के अनुसार मानवता एव नैतिक जीवन का सार न तो आत्मचेतना-

---

१. दशवैकालिक, ४।८.

२. बबिट के दृष्टिकोण के लिए देखिए–(अ) कान्टम्परेरि एथिकल थ्योरीज, पृ० १८५–१८६.
(ब) दि ब्रेकडाउन आफ इण्टरनेशनलिज्म
–प्रकाशित 'दि नेशन' खण्ड म (८) जून १९१५.
(स) आन बीइंग क्रिएटिव–बबिट.

मय जीवन जीने में है और न विवेकपूर्ण जीवन में, वरन् वह संयमपूर्ण जीवन या अनुशासन में है। बविट आधुनिक युग के संकट का कारण यह बताते है कि एक ओर हमने परम्परागत (कठोर वैराग्यवादी) धारणाओं को तोड़ दिया और उनके स्थान पर छद्म रूप में आदिम भोगवाद को ही प्रस्तुत किया है। वर्तमान युग के विचारकों ने परम्परागत धारणाओं के प्रतिवाद में एक ऐसी गलत दिशा का चयन किया है जिसमें मानवीय हितों को चोट पहुँची है। उनका कथन है कि मनुष्य में निहित वासनारूपी पाप को अस्वीकृत करने का अर्थ उस बुराई को ही दृष्टि से ओझल कर देना है जिसके कारण मानवीय सभ्यता का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। मनुष्य की वासनाएँ ह पाप ह अनैतिकता है, इस बात को भूलकर हम मानवीय सभ्यता का विनाश करेंगे, और उसके प्रति जाग्रत रहकर मानवीय भ्यता का विकास कर सकेंगे। बविट बहुत ही ओजपूर्ण शब्दों में कहते हैं कि हममे जैविक प्रवेग (Vital Impulse) तो बहुत है, आवश्यकता है जैविक नियन्त्रण की। हमें अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण करना चाहिए। केवल सहानुभूति के नाम पर सामाजिक एकता नही आ सकती। मनुष्यों को सहानुभूति के सामान्य तत्त्व के आधार पर नहीं, वरन् अनुशासन के सामान्य तत्त्व के आधार पर ही एक-दूसरे के निकट लाया जा सकता है। सहानुभूति के विस्तार का नैतिक दर्शन केवल भावनात्मक मानवतावाद की स्थापना करता है, जबकि आवश्यकता ऐसे ठोस मानवतावाद की है जो अनुशासन पर बनता है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भारतीय आचारदर्शन आत्मसंयम के प्रत्यय को स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन नैतिक पूर्णता के लिए संयम को आवश्यक मानता है। उसके त्रिविध साधनापथ में सम्यक् आचरण का भी वही मूल्य है जो विवेक और भावना का है। दशवैकालिकसूत्र में धर्म को अहिंसा, संयम और तपमय बताया है।[1] अहिंसा और तप भी संयम के ही पोषक हैं और इस अर्थ में संयम एक महत्त्वपूर्ण अ । ह । भिक्षु-जीवन और गृहस्थ-जीवन के आचरण मे संयम या अनुशासन को सर्वत्र महत्त्व दिया गया है। महावीर के सम्पूर्ण उपदेश का सार असंयम मे निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति है।[2] इस प्रकार बविट का यह दृष्टिकोण जैन दर्शन के अति निकट है। बविट का यह कहना भी कि वर्तमान युग के संकट का कारण संयमात्मक मूल्यों का ह्रास है, जैन दर्शन को भी स्वीकार है। वस्तुतः आत्म-संयम और अनुशासन आज के युग की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

न केवल जैन दर्शन में, वरन् बौद्ध और वैदिक दर्शनों में भी संयम और अनुशासन को आवश्यक माना गया है। भारतीय नैतिक चिन्तन में संयम का प्रत्यय सभी आचारदर्शनों में और सभी कालों में बराबर स्वीकृत रहा है। संयममय जीवन

---

१. दशवैकालिकसूत्र, १।१.
२. उत्तराध्ययन, ३१।२.

भारतीय सस्कृति की विशेषता रहा है, इसलिए बबिट का यह विचार भारतीय चिन्तन के लिए कोई नयी बात नही है।

समकालीन मानवतावादी विचारको के उपर्युक्त तीनो सिद्धान्त यद्यपि भारतीय चिन्तन मे स्वीकृत है, तथापि भारतीय विचारको की यह विशेषता रही है कि उन्होने इन तीनो को समवेत रूप मे स्वीकार किया है। जैन दर्शन मे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप मे, बौद्ध दर्शन मे शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप मे, तथा गीता मे श्रद्धा, ज्ञान और कर्म के रूप मे प्रकारान्तर से इन्हे स्वीकार किया गया है। यद्यपि गीता की श्रद्धा को आत्मचेतनता नही कहा जा सकता तथापि गीता मे अप्रमाद के रूप मे आत्मचेतनता स्वीकृत है। बौद्ध दर्शन के इस त्रिविध साधनापथ मे समाधि आत्मचेतनता का, प्रज्ञा विवेक का और शील सयम का प्रतिनिधित्व करते है। इसी प्रकार जैन दशन मे सम्यक्दर्शन आत्मचेतनता का, सम्यक्ज्ञान विवेक का और सम्यक्चारित्र सयम का प्रतिनिधित्व करते है।

§ ९. सत्तावादी नीतिशास्त्र और जैन दर्शन

'सत्तावाद' समकालीन दार्शनिक चिन्तन का एक प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय है। किर्केगार्ड, हेडेगर, सार्त्र और जेस्पर्स इस वाद के प्रमुख विचारक है। यद्यपि सत्ता-वादी विचारको मे किसी सीमा तक मतभेद है तथापि कुछ सामान्य प्रश्नो पर वे सभी एकमत है। सत्तावाद की प्रमुख विशेषता यह है कि वह बुद्धिवाद एव विषयगत चिन्तन का विरोधी है तथा आत्मनिष्ठता और अन्तर्ज्ञान पर अधिक बल देता है।[१] आचार दर्शन-विषयक अनेक प्रश्नो मे सत्तावाद जैन दर्शन के अधिक निकट है। अत उसका सक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

आचारदर्शन की प्रमुखता

जैन दर्शन के समान सत्तावाद के प्रमुख विचारक किर्केगार्ड भी तत्त्वमीमासा मे उतनी रुचि नही रखते, जितनी आचारदर्शन मे। उनकी दृष्टि मे केवल सत् शिव और सुन्दर से ऊँचा नही है। नैतिक आत्मसत्ता ही सत् है क्योकि वह गत्यात्मक और उदीयमान है तथा व्यक्ति को महनीयता प्रदान करती है। नैतिक आत्मसत्ता का ज्ञान कोरा ज्ञान नही है, वरन् उसमे हमारे जीवन को अधिक ऊँचा और महान् बनाने की प्रेरणा भी है। जैन दर्शन भी निरे तत्त्वज्ञान का विरोधी है। जो तत्त्वज्ञान आत्मविकास की दिशा मे नही ले जाता वह निरर्थक ही है। उत्तरा-ध्ययनसूत्र मे ऐसे निरर्थक ज्ञान का उपहास किया गया है।[२] जो ज्ञान नैतिक जीवन से सम्बन्धित नही है और नैतिक जीवन को प्रेरणा नही देता, वह ज्ञान सत्तावाद और जैन आचारदर्शन दोनो के लिए ही अनावश्यक है। बुद्ध ने भी निरी तत्त्वमीमासा की उपेक्षा ही की थी।

१. देखिए–समकालिक दार्शनिक चिन्तन, पृ० २२१–२४६.
२. उत्तराध्ययन, ६।९–११; तुलना कीजिए–धम्मपद, २५९.

वैयक्तिक नीतिशास्त्र

आचारदर्शन की दृष्टि से सभी सत्तावादी विचारक व्यक्तिवादी है। उनकी दृष्टि मे आचारदर्शन आत्मसापेक्ष है, परसापेक्ष या समाजसापेक्ष नही। नैतिक आचरण दूसरे लोगों के लिए नही, वरन् स्वयं व्यक्ति के लिए है। नैतिकता का अर्थ लोककल्याण नही, वरन् आत्मोत्थान है। कर्म की नैतिकता का मूल्याकन इस आधार पर किया जाना चाहिए कि उसमे कितनी तीव्र आत्मवेदना या स्व की सत्ता का बोध है, न कि इस आधार पर कि वह कितना अधिक लोकहितकारी है। सत्तावाद के जनक किर्कगार्ड के अनुसार नैतिकता आत्मकेन्द्रित है कहा जाता है कि उन्होने नैतिक चिन्तन मे कोपरनिकसीय क्रान्ति ला दी है। उनके पूर्ववर्ती अधिकाश आचारशास्त्री नैतिकता को परसापेक्ष मानते थे। उनकी दृष्टि मे हमारा नैतिक आचरण दूसरे लोगो के लिए है, यदि हम ऐसे एकान्त स्थान मे रहे जहाँ दूसरा कोई व्यक्ति न हो तो हमारे लिए नैतिकता का कोई प्रश्न ही नही उठता। लेकिन किर्कगार्ड इस विचार मे सहमत नही है। उनके अनुसार नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति की स्वय की आत्मा से है न कि अन्य लोगो या समाज से।

जहा तक जैन आचारदर्शन की बात है, निश्चयनय की दृष्टि से वह व्यक्तिवाद का ही समर्थक है। उसकी मान्यता है कि आत्महित ही नैतिक जीवन का प्रमुख तत्त्व है। आत्महित करते हुए लोकहित सम्भव हो तो किया जा सकता है। लेकिन यदि लोकहित और आत्महित मे विरोध हो तो आत्महित करना ही श्रेयस्कर है।[1] इस प्रकार व्यक्तिवाद के समर्थन मे जैन आचारदर्शन और सत्तावादी नीतिशास्त्र साथ साथ चलते है। दोनो की दृष्टि मे आत्मोत्थान या वैयक्तिक साध्य 'स्व' ही है जिसकी उपलब्धि ही नैतिक जीवन का सार है।

अन्तर्मुखी चिन्तन

सत्तावादी चिन्तक, विशेषरूप से किर्कगार्ड नैतिकता को अनिवार्यतया आत्मकेन्द्रित मानते है। उनकी दृष्टि मे सच्चे नैतिक जीवन का प्रारम्भ आत्मगत चिन्तन या अन्तर्मुखी प्रवृत्ति मे होना है। अन्तर्मुखता या आत्माभिमुख होना नैतिकता का प्रवेशद्वार है। जबतक विषयगत चिन्तन है, विषयाभिमुखता है, तबतक नैतिक जीवन मे प्रवेश सम्भव नही। चिन्तन विषयाभिमुख होने पर उसका स्वय के जीवन पर कोई प्रभाव नही होता— उसमे विचारो की निष्क्रिय भाग-दौड होती है। सैद्धान्तिक कहना-सुनना मात्र होता है। आत्मगत चिन्तन मे हम सत्य मे ही स्थित होते है। उसके अपने शब्दो मे किसी बात को सोचना एक बात है और उस सोची हुई बात मे रहना दूसरी बात है। किर्कगार्ड इस सम्बन्ध मे मृत्यु का उदाहरण देते है। उनका कहना है कि जब तक हम मृत्यु का विषयगत चिन्तन करते है, तब तक उसका हमारे ऊपर कोई प्रभाव नही पड़ता। समाचारपत्रो मे लोगो की मृत्यु के समाचार पढ़ते है, लोगो को मरते हुए देखते है, लेकिन दूसरो की मृत्यु हमे अधिक नही

१. उद्धृत—आत्मसाधनासंग्रह, पृ० ४४१.

खलती है। यदि इसी मृत्यु की बात को हम अपने ऊपर लागू करें कि हमारी मृत्यु हो रही है, तो यह विचार हमारी भावनाओं, धारणाओं, योजनाओं और कार्यकलापों को एकदम बदल देता है। हम अपनी मृत्यु के विचार से एकदम गम्भीर हो जाते है। हमारे आचरण में अन्तर आ जाता है, जीवन मे क्रान्ति हो जाती है। इस प्रकार आत्मगत चिन्तन को नैतिक जीवन का अनिवार्य तत्त्व और नैतिक पथ पर अग्रसर होने का प्रथम चरण मानते है।

जैन आचारदर्शन इस विषय में सत्तावाद का सहगामी है। उसके अनुसार भी सच्ची नैतिकता का उद्भव आत्माभिमुख होने पर होता है। जैन चिन्तन का स्पष्ट निर्देश है कि जितना आत्मरमण है उतनी नैतिकता है और जितना पररमण है उतनी अनैतिकता है।[1] पररमण, पुद्गलपरिणति या विषयाभिमुखता अनैतिकता है और आत्मरमण या स्व मे अवस्थिति नैतिकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि आत्मा जब स्व-स्वभाव मे स्थित होता है तब वह स्व-समय (नैतिक) होता है और जब 'पर' पौद्गलिक कर्मप्रदेशों में स्थित होता हुआ परस्वभाव रूप राग-द्वेष-मोह का परिणमन करता है तब वह पर-समय (अनैतिक) है। इसी जैन दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए मुनि नथमल जी लिखते है कि नैतिकता जब मुझसे भिन्न वस्तु है तो वह मुझसे परोक्ष होगी और परोक्ष के प्रति मेरा उतना लगाव नही होगा जितने की उससे अपेक्षा होती है। वह (नैतिकता) मुझसे अभिन्न होकर ही मेरे स्व में घुल सकती है। सात्म्य हुए बिना कोई औषध भी परिणामजनक नही होती, तब नैतिकता की परिणति कैसे होगी ? नैतिकता उपदेश्य नही है, वह स्वयप्रसूत है। स्व परोक्षता का नाम ही अन-आध्यात्मिकता है। इसकी परिधि में व्यक्ति पूर्ण नैतिक नही बन पाता, इसीलिए महावीर ने कहा था कि जो आत्मरमण है वह अहिंसा है, जितना बाह्य रमण है वह हिंसा है। इसी सत्य की इन शब्दों मे पुनरावृत्ति की जा सकती है कि जितनी आत्म-प्रत्यक्षता है वह नैतिकता है और जितनी आत्म-परोक्षता है वह अनैतिकता है।[2]

जैन दर्शन का सम्यक्दृष्टित्व सत्तावादी दर्शन के आत्मगत चिन्तन, आत्माभिमुखता, आत्म-अवस्थिति का ही पर्यायवाची है। जिस प्रकार सत्तावादी दर्शन में आत्मगत चिन्तन से नैतिक जीवन का द्वार उद्घाटित होता है, उसी प्रकार जैन दर्शन मे सम्यक्दृष्टि की उपलब्धि से ही नैतिक जीवन का प्रवेशद्वार खुलता है। आत्माभिमुख होना ही सम्यक्दर्शन की उपलब्धि का सही स्वरूप है। दोनो मे वास्तविक समानता है। विशेषावश्यक भाष्य मे भी कहा गया है कि धर्म और अधर्म का आधार आत्मा की अपनी परिणति ही है, दूसरो की प्रसन्नता या नाराजगी नही।[3]

१. देखिए—आचारांग, १।२।६।१०२;
ओघनिर्युक्ति, ७५४.
२. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ११.
३. विशेषावश्यकभाष्य, ३२५४.

आत्माभिमुखता के लिए किर्केगार्ड के समान जैन आचार्यों ने भी स्वयं की मृत्यु के विचार का उदाहरण दिया है। जैन आचार्य भी यह मानते हैं कि स्वयं की मृत्यु का विचार समग्र जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला देता है।

दुःखमयता का बोध

किर्केगार्ड के अनुसार जब हम अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करते है और अपनी आन्तरिक सत्ता का विचार करते है तो एक ओर हम अपनी अन्तःचेतना को अक्षुण्ण आनन्द, अनन्त शक्ति, शाश्वत जीवन और पूर्णता की सजीव कल्पना से अभिभूत पाते है; तो दूसरी ओर हमें अपने वर्तमान जीवन की क्षुद्रता दुःखमयता और अपूर्णता का बोध होता है। इसी अन्तर्विरोध में विषाद या वेदना का जन्म होता है। यही विषाद या दुःखबोध सत्तावादी दर्शन में नैतिक प्रगति का प्रथम चरण है।

जैन आचारदर्शन में भी वर्तमान जीवन की दुःखमयता एवं क्षुद्रता का बोध आध्यात्मिकता प्रगति के लिए आवश्यक माना गया है। जैन दर्शन मे प्रतिपादित अनुप्रेक्षाओं में अनित्यभावना, अशरणभावना और अशुचिभावना के प्रत्यय इसी विषाद की तीव्रतम अनुभूति पर बल देते है। बौद्ध दर्शन में भी इसी दुःखबोध के प्रत्यय को प्रथम आर्यसत्य माना गया है। गीता की तो रचना ही 'विषाद योग नामक प्रथम अध्याय से प्रारम्भ होती है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन सत्तावाद के साथ इस विषय में भी एकमत है कि वर्तमान अपूर्णता एवं नश्वरता से प्रत्युत्पन्न विषाद या दुःख की तीव्रतम अनुभूति ही नैतिक साधना का प्रथम चरण है। यह वह प्यास या अभीप्सा है, जो मनुष्य को सत्य या परमात्मा के निकट ले जाती है। तीव्रतम प्यास से पानी की खोज प्रारम्भ होती है, दुःख की वेदना में ही शाश्वत आनन्द की खोज का प्रयत्न प्रारम्भ होता है।

शाश्वत आनन्द पदार्थों के भोग में नहीं

किर्केगार्ड के अनुसार यदि विषाद या दुःखानुभूति क्षणिक है तो व्यक्ति बाह्य संसार में सापेक्ष वस्तुगत सुखों के भोग में अनुराग लेने लगता है। लेकिन बाह्य सासारिक सुख और आन्तरिक अनन्त आनन्द दोनों को एक साथ प्राप्त नही किया जा सकता। वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Either–Or" में कहता है कि या तो हम सांसारिक सुखों के भोग में अनुरक्त रहें और आत्मगत निरपेक्ष आनन्द को प्राप्त न करें या सांसारिक वस्तुगत सापेक्ष सुखों को छोड़कर परम आनन्द की उपलब्धि करें। लेकिन जैसे-जैसे व्यक्ति को भोगमय जीवन की अपूर्णता और हीनता का बोध होने लगता है, वैसे-वैसे वह अन्तर्मुखी होता जाता है और निरपेक्ष आनन्द—सत् और शुभ के प्रति उसकी अभिरुचि बढ़ती जाती है। इस प्रकार सत्तावाद के अनुसार जीवन का सार बाह्य वस्तुगत सुख नहीं, वरन् शाश्वत, अनन्त, पूर्ण और निरपेक्ष आत्मिक आनन्द है।

जैन आचारदर्शन भी सत्तावाद के समान जीवन का परमसाध्य वस्तुगत नश्वर सुखों को नहीं, वरन् शाश्वत आत्मिक आनन्द को ही स्वीकार करता है। जैन

विचारको ने भी भौतिक सुखों को क्षणिक और दुःखपूर्ण मानकर उनके परित्याग का ही निर्देश दिया है। यद्यपि यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन दर्शन और किर्केगार्ड दोनों ही यह मानते है कि भौतिक जीवन एवं शरीर की पूर्ण उपेक्षा सम्भव नही है। किर्केगार्ड के अनुसार मनुष्य को कम से कम ईश्वर-सान्निध्य और आनन्द प्राप्त करने के लिए तो शरीर को स्वस्थ रखना पड़ेगा और इसलिए थोडा-बहुत ईश्वर को भूल कर भी शरीर का रक्षण किया जाता है। यद्यपि शरीर-रक्षा एवं भौतिक जीवन के जीने में कुछ समय के लिए परमात्मा के सान्निध्य से दूर हो जाते है लेकिन ये वचित क्षण व्यक्ति मे तीव्र आत्मग्लानि पैदा करते है और व्यक्ति पुन. उस अवस्था में लौट जाना चाहता है। जैन आचारदर्शन के गुणस्थान सिद्धान्त मे इसी तथ्य को अत्यन्त सूक्ष्मता से समझाया गया है। उसमें बताया गया है कि सच्चा साधक (अप्रमत्त मुनि) सदैव ही आत्मरमण मे लीन रहता है, लेकिन वह भी दैहिक क्रियाओं के निमित्त उस आत्मरमण के अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से नीचे प्रमत्तसंयत गुणस्थान मे उतर आता है और दैहिक क्रियाओं से निवृत्त हो पुनः साधना की अग्रिम भूमिका पर प्रस्थित हो जाता है।

§ १०. मार्क्सवाद और जैन आचारदर्शन

यह कहा जाता है कि वर्तमान मे साम्यवादी दर्शन नीति की मूल्यवत्ता को अस्वीकार करता है, किन्तु इस सम्बन्ध मे मार्क्स के अनुयायी लेनिन का वक्तव्य द्रष्टव्य है। वे कहते है कि 'प्राय. यह कहा जाता है कि हमारा अपना कोई नीतिशास्त्र नही है; बहुधा मध्यवित्तीय वर्ग कहता है कि हम सब प्रकार के नीतिशास्त्र का खण्डन करते है (किन्तु) उनका यह तरीका विचारों को भ्रष्ट करना है, श्रमिकों और कृषकों की आंख मे धूल झोंकना है। हम उनका खण्डन करते हैं जो ईश्वरीय आदेशों से नीतिशास्त्र को आविर्भूत करते है। हम कहते है यह धोखाधड़ी है और श्रमिकों और कृषकों के मस्तिष्कों को पूंजीपतियों और भूपतियों के स्वार्थ के लिए सन्देह में डालना है, हम कहते है कि हमारा नीतिशास्त्र सर्वहारा वर्ग के वर्गसंघर्ष के हितों के अधीन है; जो शोषक समाज को नष्ट करे, जो श्रमिकों को संगठित करे और साम्यवादी समाज की स्थापना करे, वही नीति है (शेष सब अनीति है)।' इस प्रकार साम्यवादी दर्शन नैतिक मूल्यों का मूल्यान्तरण तो करता है, किन्तु स्वयं नीति की मूल्यवत्ता का निषेध नही करता; वह उस नीति का समर्थक है जो अन्याय एवं शोषण की विरोधी है और सामाजिक समता की संस्थापक है, जो पीड़ित और शोषित को अपना अधिकार दिलाती है और सामाजिक न्याय की स्थापना करती है।

यह ठीक है कि मार्क्स भौतिकवादी है, किन्तु वह भौतिकवादी दर्शन, जो सामाजिक एवं साहचर्य के मूल्यों का समर्थक है, नीति की मूल्यवत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। यदि हम मनुष्य को एक विवेकवान सामाजिक प्राणी मानते हैं, तो हमें नैतिक मूल्यों को अवश्य स्वीकार करना होगा। वस्तुतः नीति का अर्थ है किन्हीं विवेकपूर्ण साध्यों की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आचार

और व्यवहार के किन्हीं ऐसे आदर्शों एवं मर्यादाओं ी स्वीकृति जिनके अभाव में मानव की मानवता और मानवीय समाज का अस्तित्व ही खतरे में होगा। यदि नीति की मूल्यवत्ता का निषेध कोई दृष्टि कर सकती है, तो वह मात्र पाशविक भोगवादी दृष्टि है; यह दृष्टि मनुष्य को एक पशु से अधिक नही मानती है। यह सत्य है कि यदि मनुष्य मात्र पशु है तो नीति का कोई अर्थ नही है, किन्तु क्या आज मनुष्य का अवमूल्यन पशु के स्तर पर किया जा सकता है? क्या मनुष्य निरा पशु है? यदि मनुष्य निरा पशु होता तो निश्चय ही उसके लिए नीति की कोई आवश्यकता नही होती। किन्तु आज का मनुष्य पशु हीं है। उसकी सामाजिकता उसके स्वभाव से निस्सृत है। अतः उसके लिए नीति की स्वीकृति आवश्यक है। मार्क्सवाद और जैन दर्शन सामाजिक न्याय और समता पर बल देते है फिर भी दोनों में कुछ आधारभूत भिन्नताएँ है जिनपर विचार कर लेना आवश्यक है।

१. भौतिक एवं आध्यात्मिक आधारों में अन्तर—मार्क्स नैतिकता की व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर करते है। अतः उनके नैतिक आदर्श के निर्धारण में आध्यात्मिकता का कोई स्थान नहीं है। मार्क्सवाद का आधार भौतिक है, जबकि जैन दर्शन में नैतिकता का आधार आध्यात्मिकता है। नैतिकता के लिए आध्यात्मिक आधार इसलिए आवश्यक है कि उसके अभाव मे नैतिकता के लिए कोई आन्तरिक आधार नही मिल पाता है। संकोच, भय, लज्जा और कानून—ये सब अनैतिकता के प्रतिषेध है, लेकिन ये बाह्य है। उसका वास्तविक प्रतिषेध केवल अध्यात्म ही हो सकता है। अध्यात्म सब प्रतिषेधों का प्रतिषेध है, वह नैतिक जीवन का सर्वोच्च प्रहरी है। आध्यात्मिकता ही एक ऐसा आधार है जिसमें नैतिकता बाहर मे थोपी नही जाती, अपितु अन्दर से विकसित होती है। भौतिकवाद में स्वार्थ के निवारण का कोई वास्तविक आधार नहीं है। आध्यात्मिकता ही एक ऐसा आधार है जो व्यक्ति को स्वार्थ से पूर्णतया ऊपर उठा सकता है। जहाँ व्यक्ति को भौतिक स्पर्धाओं में से गुजरने की छूट है और भौतिक विकास ही परम लक्ष्य है, वहाँ व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समाज में विलीन नहीं कर सकता। जब तक व्यक्ति अपने को समाज में विलीन नहीं कर सकता, वह स्वार्थ से ऊपर भी नहीं उठ सकता। अतः नैतिक जीवन के लिए आध्यात्मिक आधार अपेक्षित है।

२. आर्थिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण में अन्तर—मार्क्सवादी नैतिक दर्शन के अनुसार आर्थिक क्रियाएँ ही समग्र मानवीय चिन्तन और प्रगति की केन्द्र है। धर्म, दर्शन, कला एवं सामाजिक संस्थाएँ सभी विकासमान आर्थिक प्रक्रिया पर आश्रित हैं और इसी विकासमान आर्थिक प्रक्रिया में ही नैतिक प्रत्ययों की सार्थकता निहित है। इस प्रकार साम्यवादी दृष्टिकोण अर्थप्रधान है, लेकिन इसके विपरीत जैन दर्शन के अनुसार नैतिक प्रगति का केन्द्र आत्मा है। मार्क्सवाद अपने नैतिक दर्शन में अध्यात्म एवं धर्म को इसलिए कोई स्थान नहीं देन चाहता कि अध्यात्म तथा धर्म

की ओट मे बुराइयाँ पनपती है, लेकिन यदि धार्मिक एव आध्यात्मिक जीवन बुराइयो के पनपने की सम्भावना के कारण त्याज्य है तो फिर आर्थिक जीवन मे भी तो बुराइयाँ पनपती है उसे क्यो नही छोडा जाता ? मार्क्सवादी दर्शन जिस भय से धार्मिक एव आध्यात्मिक जीवन का परित्याग करता है जैन दर्शन उसी भय से अर्थप्रधान जीवन को हेय मानता है। वास्तविक दृष्टि यह होनी चाहिए कि जिन कारणो से बुराइयाँ उत्पन्न होती है, उनका निराकरण किया जाय। जिस प्रकार अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी बुराइयो का निराकरण करना साम्यवाद या मार्क्सवाद का ध्येय है, उसी प्रकार जैन दर्शन धर्म एव अध्यात्म के क्षेत्र की बुराइयो के निराकरण का प्रयास करता है। दोनो ही बुराइयो के निराकरण के लिए प्रयत्नशील है, परन्तु दोनो के दृष्टिकोण भिन्न है। फिर भी जैन दर्शन आर्थिक क्षेत्र मे उत्पन्न बुराइयो के निराकरण को अपनी दृष्टि ओझल नही करता। वह आर्थिक क्षेत्र की बुराइयो का मूल कारण व्यक्ति के आध्यात्मिक पतन मे ही देखता है और उसके निराकरण का प्रयत्न करता है। वस्तुत सामाजिक विषमता का मूल आर्थिक जीवन मे नही, वरन् आध्यात्मिक जीवन मे ही है। यदि आर्थिक विकास ही सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन का आधार है तो आज के सम्पन्न राष्ट्र अर्थलोलुपता से मुक्त क्यो नही है ? आज के सम्पन्न व्यक्ति एव राष्ट्र उतने ही अर्थलोलुप है जितने आदिम युग के कबीले थे। अत सामाजिक विषमता का निराकरण अर्थप्रधान दृष्टि मे नही, वरन् हमारी आध्यात्मिक एव धार्मिक जीवन दृष्टि मे ही सम्भव है।

३. **भोगमय एव त्यागमय जीवनदृष्टि मे अन्तर**—मार्क्सवादी नैतिक दर्शन और जैन आचारदर्शन मे एक मौलिक अन्तर यह है कि जहा जैन दर्शन सयम पर जोर देता है, वहाँ साम्यवाद मे सयम या वासनाओ के नियन्त्रण का कोई स्थान नही है। भोगमय दृष्टि मे साम्यवादी दृष्टिकोण और पूजीवादी दृष्टिकोण समान है। दोनो ही उद्दाम वासनाओ की पूर्ति मे अविराम गति से लगे हुए है। दोनो ही जीवन की आवश्यकताओ और लालसाओ मे अन्तर स्पष्ट नही कर पा रहे है। लेकिन विलासिता की दृष्टि से आज तक कोई भी व्यक्ति एव समाज अपने को शोषण, उत्पीडन और क्रूरता से नही बचा सका है। आज की कठिनाई सम्भवत. यह है कि हम जीवन की आवश्यकताओ एव विलासिता मे अन्तर नही कर पा रहे है। साम्यवादी अथवा भौतिकवादी दृष्टि मे जीवन की आवश्यकता की परिभाषा यह है कि आवश्यकता समाज के द्वारा अनुमोदित होनी चाहिए। समाज को समानता के स्तर पर विलासी बनने का मौका मिले तो मार्क्सवादी एव भौतिकवादी विचारक उसे ठुकराने के पक्ष मे नही है। इसके विपरीत जैन दर्शन की दृष्टि मे आवश्यकता का तात्पर्य इतना ही है कि जो जीवन को बनाये रखे और व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास को कुण्ठित न करे। जैन दर्शन न केवल आवश्यकता के परिसीमन पर जोर देता है, वरन् वह यह भी कहता है कि हमे जीवन की अनिवार्यताओं तथा तृष्णा (लालसा) के अन्तर को स्पष्ट रूप से जानना चाहिए। वस्तुतः सामाजिक विषमता का निराकरण

वासनाओं की पूर्ति के प्रयत्नों से नही अपितु वासनाओं के संयम से ही सम्भव है; क्योंकि तृष्णा की पूर्ति कभी भी सम्भव नही। सामाजिक समत्व का विकास संयम से ही हो सकता है।

इन भिन्नताओं के होते हुए भी दोनो में बहुत-कुछ समानताएँ हैं।

१. **मानव-मात्र की समानता में आस्था**—जैन दर्शन और साम्यवाद दोनों ही मानव मात्र की समानता में निष्ठा रखते है। दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को जीने का समान अधिकार है। अपनी सुख-सुविधाओं के लिए दूसरे का शोषण अनैतिक है।

२. **संग्रह और प्रवृत्ति का विरोध**:—साम्यवाद और जैन दर्शन दोनों ही संग्रह की वृत्ति को अनुचित मानते है। दोनो के अनुसार संग्रह एव वैयक्तिक परिग्रह सामाजिक जीवन के अभिशाप है। जैन दर्शन का परिग्रहपरिमाणव्रत अहिंसक साम्यवाद की स्थापना का प्रथम सोपान है। जैन दर्शन न केवल परिग्रह की मर्यादा पर जोर देता हे, बल्कि यह भी कहता है कि सामाजिक जीवन में समान वितरण भी आवश्यक है। बुद्ध और महावीर के द्वारा अपने भिक्षुसंघ मे प्रतिपादित यह नियम कि 'उपलब्धियों का संविभाग करके भोग करना चाहिए' समवितरण के सिद्धान्त का प्रयोग ही था। इस प्रकार वैयक्तिक परिग्रह की मर्यादा और समवितरण साम्यवाद और जैन दर्शन दोनों को स्वीकृत है।

३. **समत्व का संस्थापन**—जैन आचारदर्शन और साम्यवादी चिन्तन दोनों समत्व की संस्थापना को आवश्यक मानते हैं। यद्यपि साम्यवाद आर्थिक समानता को ही महत्वपूर्ण मानता है। उसके लिए समानता का अर्थ है शोषणरहित समाज-व्यवस्था। जैन दर्शन म नसिक समत्व की स्थापना पर बल देता है। 'साम्य' दोनों को अभिप्रेत है, फिर भी साम्यवाद में साम्य का अर्थ भौतिक या आर्थिक साम्य है, जबकि जैन दर्शन में साम्य का अर्थ चैत्तसिक साम्य है। जैन दर्शन मे साम्य के संस्थापन का सूत्र प्रत्येक व्यक्ति की मनोभूमि से प्रारम्भ होकर सामाजिक जीवन में अभिव्यक्त होता है। साम्यवाद में समत्व का संस्थापन सामूहिक प्रयत्न से होता है, वह सामाजिक साधना है।

४. **साम्य नैतिकता का प्रमापक**—साम्यवाद में वे कर्म नैतिक माने जाते है जो आर्थिक क्षेत्र में समत्व की स्थापना करते हैं, जो सामाजिक आर्थिक समानता को बनाये रखने हैं तथा जो शोषण को समाप्त करते हैं। जैन दर्शन में भी वे कर्म नैतिक माने जाते हैं, जो चैत्तसिक साम्य की स्थापना करने में सहायक हैं। दोनों ही साम्य की संस्थापना को नैतिकता का प्रमापक मानते है, यद्यपि दोनों का साम्य का अर्थ थोड़ा भिन्न है। साम्यवाद का परमशुभ शोषणरहित वर्गविहीन साम्यवादी समाज की रचना है जबकि जैन दर्शन का परमशुभ समभाव या वीतरागदशा की प्राप्ति है। फिर भी दोनों के लिए समत्व, समानता या समता के प्रत्यय समान रूप से नैतिकता के प्रमापक हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि जैन दर्शन और साम्यवादी विचारधारा कुछ अर्थो में एक दूसरे के निकट है। महावीर और बुद्ध की भिक्षु संघ व्यवस्था साम्यमूलक समाजव्यवस्था का ही एक रूप थी जिसमे योग्यता के अनुरूप कार्य या साधना और आवश्यकता के अनुरूप उपलब्धि का सिद्धान्त भी किसी रूप मे स्वीकृत था। फिर भी बाह्य रूप मे दोनो मे जिस समानता पर बल दिया गया है, उसके आधार भिन्न-भिन्न है। साम्यवाद प्रमुख रूप मे भौतिक एव सामाजिक दृष्टिकोण पर जोर देता है, जबकि जैन दर्शन आध्यात्मिक और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पर जोर देता है। जैन दर्शन का प्रमुख प्रत्यय 'साम्यवाद' नही, वरन् साम्ययोग है।

§ ११. डब्ल्यू० एम० अरबन का आध्यात्मिक मूल्यवाद और जैन दर्शन

अरबन[१] के अनुसार मूल्यांकन एक निर्णयात्मक प्रक्रिया है, जिसमे सत् के प्रति प्राथमिक विश्वासो के ज्ञान का तत्त्व भी होता है। इसके साथ ही उसमे भावात्मक तथा सकल्पात्मक अनुक्रिया भी है। मूल्याकन सकल्पात्मक प्रक्रिया का भावपक्ष है। अरबन मूल्याकन की प्रक्रिया मे ज्ञानपक्ष के साथ-साथ भावना और संकल्प की उपस्थिति भी आवश्यक मानते है। मूल्याकन मे निरन्तरता का तत्त्व उनकी प्रामाणिकता का आधार है। जितनी अधिक निरन्तरता होगी उतना ही अधिक वह प्रामाणिक होगा। मूल्याकन और मूल्य मे अन्तर स्पष्ट करते हुए अरबन कहते है कि मूल्याकन मूल्य को निर्धारित नही करता, वरन् मूल्य ही अपनी पूर्ववर्ती वस्तुनिष्ठता के द्वारा मूल्याकन को निर्धारित करते है।

अरबन के अनुसार मूल्य न कोई गुण है, न वस्तु या सम्बन्ध। वस्तुत मूल्य अपरिभाष्य है, तथापि उसकी प्रकृति को उसके सत्ता से सम्बन्ध के आधार पर जाना जा सकता है। वह सत्ता और असत्ता के मध्य स्थित है। अरबन मिनाग के समान उसे वस्तुनिष्ठ कहता है। उसका अर्थ 'होना चाहिए' (Ought to be) मे है। मूल्य सदैव अस्तित्व का दावा करते है, लेकिन उनका सत् होना इसी पर निर्भर है, कि सत् को ही मूल्य के उस रूप मे विवेचित किया जाये, जिसमे सत्ता और अस्तित्व भी हो।

मूल्य की वस्तुनिष्ठता के दो आधार है—प्रथम यह कि प्रत्येक वस्तुविषय मूल्य की विधा मे आता है और दूसरे प्रत्येक मूल्य उच्च और निम्न के क्रम से स्थित है। अरबन के अनुसार मूल्यो की अनुभूति उनकी किसी क्रम से अनुभूति है यह बिना मूल्यो मे पूर्वापरता माने, केवल मनोवैज्ञानिक अवस्था पर निर्भर नही हो सकती।

नैतिक मूल्य—मूल्य की सामान्य चर्चा के बाद अरबन नैतिक मूल्य पर आते है। अरबन के अनुसार नैतिक दृष्टि से मूल्यवान होने का अर्थ है मनुष्य के लिए मूल्यवान होना। नैतिक शुभत्व मानवीय मूल्याकन के सिद्धान्त पर निर्भर है। मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त को कुछ लोगो ने आकारिक नियमो की व्यवस्था के रूप में,

१. देखिए—कण्टेम्परेरि एथिकल थ्योरीज़, अध्याय १७, पृ० २७४–२८८.

और कुछ लोगों ने सुख की गणना के रूप में देखा था, लेकिन अरबन के अनुसार मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त का तीसरा एकमात्र सम्भावित विकल्प है 'आत्म-साक्षात्कार'। आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त के समर्थन में अरबन अरस्तू की तरह ही तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुओं का शुभत्व उनकी कार्यकुशलता में है अङ्गों का शुभत्व जीवन में उनके योगदान में है और जीवन का शुभत्व आत्म-पूर्णता में है। मनुष्य 'आत्म' (self) है और यदि यह सत्य है तो फिर मानव का वास्तविक शुभ उसकी आत्मपरिपूर्णता में ही निहित है। अरबन की यह दृष्टि जैन परम्परा के अति निकट है जो यह स्वीकार करती है कि आत्मपूर्णता ही नैतिक जीवन का लक्ष्य है।

अरबन के अनुसार 'आत्म' सामाजिक जीवन से अलग कोई व्यक्ति नही है, वरन् वह तो सामाजिक मर्यादाओं मे बंधा हुआ है और समाज को अपने मूल्यांकन से और अपने को सामाजिक मूल्यांकन से प्रभावित पाता है। इस सम्बन्ध मे जैन दृष्टिकोण थोडा भिन्न है, क्योंकि जैन परम्परा व्यक्तिवाद के अधिक निकट है।

अरबन के अनुसार स्वहित और परहित की समस्या का सही समाधान न तो परिष्कारित स्वहितवाद मे है और न बौद्धिक परहितवाद में है, वरन् सामान्य शुभ की उपलब्धि के रूप में स्वहित और परहित से ऊपर उठ जाने में है। यह दृष्टिकोण जैन परम्परा में भी ठीक इसी रूप मे स्वीकृत रहा है। जैन परम्परा भी स्वहित और लोकहित की सीमाओ मे ऊपर उठ जाना ही नैतिक जीवन का लक्ष्य मानती है।

अरबन इस समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते है कि मूल्यांकन करनेवाली मानवीय चेतना के द्वारा यह कैसे जाना जाय कि कौन से मूल्य उच्च कोटि के हैं और कौन से मूल्य निम्न कोटि के? अरबन इसके तीन सिद्धान्त बताते है—

पहला सिद्धान्त यह है कि साध्यात्मक या आन्तरिक मूल्य साधनात्मक या बाह्य मूल्यों की अपेक्षा उच्च है। **दूसरा सिद्धान्त** यह है कि स्थायी मूल्य अस्थायी मूल्यों की अपेक्षा उच्च है और **तीसरा सिद्धान्त** यह है कि उत्पादक मूल्य अनुत्पादक मूल्यों की अपेक्षा उच्च है।

अरबन इन्हे व्यावहारिक विवेक के सिद्धान्त या मूल्य के नियम कहते है। ये हमे बताते है कि आंगिक मूल्य जिनमें आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य समाहित है, की अपेक्षा सामाजिक मूल्य जिनमे साहचर्य और चारित्र के मूल्य भी समाहित है, उच्च प्रकार के है। उसी प्रकार सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक मूल्य, जिनमे बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और धार्मिक मूल्य भी समाहित है, उच्च प्रकार के है।

अरबन की दृष्टि में मूल्यों की इसी क्रम व्यवस्था के आधार पर आत्मसाक्षात्कार के स्तर है। आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रस्थित आत्मा की पूर्णता उस स्तर पर है, जिसे मूल्यांकन करनेवाली चेतना सर्वोच्च मूल्य समझती है और सर्वोच्च मूल्य वह है जो अनुभूति की पूर्णता में तथा जीवन के सम्यक् संचालन में सबसे अधिक

योगदान करता है। जैन दृष्टि में इसे हम वीतरागता और सर्वज्ञता की अवस्था कह सकते हैं।

एक अन्य आध्यात्मिक मूल्यवादी विचारक डब्ल्यू० आर० सार्ली जैन परम्परा के निकट आकर यह कहते हैं कि नैतिक पूर्णता ईश्वर के समान बनने में है। किन्तु जैन परम्परा इससे भी आगे बढकर यह कहती है कि नैतिक पूर्णता परमात्मा बनने में ही है। आत्मा से परमात्मा, जीव से जिन, साधक से सिद्ध, अपूर्ण से पूर्ण की उपलब्धि में ही नैतिक जीवन की सार्थकता है।

अरबन की मूल्यों की क्रम-व्यवस्था भी जैन परम्परा के दृष्टिकोण के निकट ही है। जैन एवं अन्य भारतीय दर्शनों में भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों में यही क्रम स्वीकार किया गया है। अरबन के आर्थिक मूल्य अर्थपुरुषार्थ के, शारीरिक एवं मनोरंजनात्मक मूल्य कामपुरुषार्थ के, साहचर्यात्मक और चारित्रिक मूल्य धर्मपुरुषार्थ के तथा सौन्दर्यात्मक, ज्ञानात्मक और धार्मिक मूल्य मोक्षपुरुषार्थ के तुल्य है।

§ १२. भारतीय दर्शनों में जीवन के चार मूल्य

जिस प्रकार पाश्चात्य आचारदर्शन में मूल्यवाद का सिद्धान्त लोकमान्य है उसी प्रकार भारतीय नैतिक चिन्तन में पुरुषार्थ-सिद्धान्त, जोकि जीवनमूल्यों का ही सिद्धान्त है, पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय विचारकों ने जीवन के चार पुरुषार्थ या मूल्य माने हैं—

१ अर्थ (आर्थिक मूल्य)—जीवन यात्रा के निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकता होती है, अत: दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले उन साधनों को उपलब्ध करना ही अर्थपुरुषार्थ है।

२. काम (मनोदैहिक मूल्य)—जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाना अर्थपुरुषार्थ और उन साधनों का उपभोग करना कामपुरुषार्थ है। दूसरे शब्दों में विविध इन्द्रियों के विषयों का भोग कामपुरुषार्थ है।

३. धर्म (नैतिक मूल्य)—जिन नियमों के द्वारा सामाजिक जीवन या लोक-व्यवहार सुचारु रूप से चले, स्व-पर कल्याण हो, और जो व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में ले जाये, वह धर्मपुरुषार्थ है।

४. मोक्ष (आध्यात्मिक मूल्य)—आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण मोक्ष है।

१. जैन दृष्टि में पुरुषार्थचतुष्टय

सामान्यतया यह समझा जाता है निवृत्तिप्रधान जैन दर्शन में मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ है। धर्मपुरुषार्थ की स्वीकृति उसके मोक्षानुकूल होने में ही है। अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का उसमें कोई स्थान नहीं है। जैनविचारकों के अनुसार अर्थ अनर्थ का मूल है,[१] सभी काम दुःख उत्पन्न करनेवाले है।[२] लेकिन यह विचार

१. मरणसमाधि, ६३.

२. उत्तराध्ययन, १३।१६.

एकांगी ही माना जायेगा। कोई भी जिनवचन एकान्त या निरपेक्ष नही है। जैन विचारकों ने सदैव ही व्यक्ति को स्वपुरुषार्थ से धनोपार्जन की प्रेरणा दी है। वे यह मानते है कि व्यक्ति को केवल अपने पुरुषार्थ से उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का अधिकार है। दूसरो के द्वारा उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का उसे कोई अधिकार नही है। गौतमकुलक मे कहा गया है कि पिता के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिए बहन होती है और दूसरो की लक्ष्मी परस्त्री के समान होती है। दोनो का ही भोग वर्जित है। अतः स्वयं अपने पुरुषार्थ से धन का उपार्जन करके ही उसका भोग करना न्यायसंगत है।[१] जैनाचार्यो ने विभिन्न वर्ण के लोगो को किन-किन साधनों मे धनार्जन करना चाहिए, इसका भी निर्देश किया है: ब्राह्मणों को मुख (विद्या) मे, क्षत्रियो को असि (रक्षण) मे, वणिको को वाणिज्य मे और कर्मशील व्यक्तियो को शिल्पादि कर्म से धनार्जन करना चाहिए, क्योकि इन्ही की साधना मे उनकी लक्ष्मी का निवास है।[२] यद्यपि यह सही है कि मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि मे जो अर्थ और काम बाधक है, वे जैनदृष्टि के अनुसार अनाचरणीय एव हेय है। लेकिन जैन दर्शन यह कभी नही कहता कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त रूप से हेय है। यदि वे एकात रूप से हेय होते तो आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्त्रियों की ६४ और पुरुषों की ७२ कलाओं का विधान कैसे करते? क्योकि उनमे अधिकाश कलाएँ अर्थ और काम पुरुषार्थ से सम्बन्धित है।[3] न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल काम का जैन विचारणा मे समुचित स्थान है। जैन विचारकों ने जिसके त्याग पर बल दिया है वह इन्द्रिय-विषयो का भोग नही, भोगो के प्रति आसक्ति या राग-द्वेष की वृत्ति है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म-विपाक से उपलब्ध भोगो से बचा नही जा सकता। इन्द्रियों के सम्मुख उनके विषय उपस्थित होने पर उनके आस्वाद से भी बचना सम्भव नही है, जो सम्भव है वह यह कि उनमे राग द्वेष की वृत्ति न रखी जाये। इतना ही नही जैनाचार्यो ने जीवन के वासनात्मक एव सौन्दर्यात्मक पक्ष को धर्मोन्मुखी बनाने तथा उनके पारम्परिक विरोध को समाप्त करने का भी प्रयास किया है। उनके अनुसार मोक्षाभिमुख परस्पर अविरोध में रहते हुए सभी पुरुषार्थ आचरणीय है। आचार्य हेमचन्द्र कहते है कि गृहस्थ उपासक धर्मपुरुषार्थ, अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ का इस प्रकार आचरण करे कि कोई किसी का बाधक न हो।[४]

आचार्य भद्रबाहु (८वी शती) ने तो आचार्य हेमचन्द्र (११वीं शताब्दि) के पूर्व ही इस बात की उद्घोषणा कर दी थी कि जैन परम्परा में तो पुरुषार्थ-चतुष्टय अविरोध भाव से रहते है। आचार्य बड़े ही स्पष्ट एवं मार्मिक शब्दो मे लिखते है कि धर्म, अर्थ और काम को भले ही अन्य कोई विचारक परस्पर विरोधी

१. प्राकृत सूक्तिसरोज, ११।११.
२. वही, ११।७.
३. देखिए कल्पसूत्र, (भगवान् ऋषभदेव का वर्णन).
४. योगशास्त्र, १।५२.

मानते हो, किन्तु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान मे अवतरित होने के कारण परस्पर असपत्न (अविरोधी) है। अपनी-अपनी भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठान रूप धर्म स्वच्छाशय प्रयुक्त अर्थ और विस्रम्भयुक्त अर्थात् मर्यादानुकूल वैवाहिक नियन्त्रण से स्वीकृत काम, जिनवाणी के अनुसार परस्पर अविरोधी है।[1] ये पुरुषार्थ परस्पर अविरोधी तभी होते है जब वे मोक्षाभिमुख होते है और जब वे मोक्षाभिमुख होकर परस्पर अविरोध की स्थिति मे हो, असपत्न हो, तो वे सम्यक् होते है, इसलिए आचरणीय होते हैं। किन्तु जब मोक्ष मार्ग से विमुख होकर पुरुषार्थ-चतुष्टय परस्पर विरोध मे होते है, तब वे असम्यक् या अनुचित एव अनाचरणीय होते हैं।

बौद्ध दर्शन में पुरुषार्थचतुष्टय

भगवान बुद्ध यद्यपि निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा के अनुगामी है तथापि उनके विचारों मे अर्थ एव काम पुरुषार्थ के सम्बन्ध मे भी दिशाबोध उपलब्ध है। दीघनिकाय मे अर्थ की उपलब्धि के लिए श्रम करते रहने का सन्देश उपलब्ध होता है। बुद्ध कहते है, आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो सन्ध्या (देर) हो गयी, इस प्रकार श्रम से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन हो जाता है। किन्तु जो सर्दी-गर्मी आदि को सहकर कठोर परिश्रम करता है, वह कभी सुख से वंचित नहीं होता।[2] जैसे प्रयत्नवान रहने से मधुमक्खी का छत्ता बढता है, चीटी का वाल्मीक बढ़ता है, वैसे ही प्रयत्नशील मनुष्य का ऐश्वर्य बढता है।[3] इतना ही नही, प्राप्त सम्पदा का उपयोग किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में भी बुद्ध का निर्देश है कि सद्गृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का उपभोग करे, दो भागो को व्यापार आदि कार्यक्षेत्र में लगाये और चौथे भाग को आपत्ति काल मे काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।[4] आज का प्रगतिशील अर्थशास्त्री भी आर्थिक प्रगति के लिए इससे अच्छे सूत्र प्रस्तुत नहीं कर सकता। बुद्ध केवल अर्थशास्त्री के रूप में ही नही, वरन् एक सामाजिक अर्थ-शास्त्री के रूप मे हमारे सामने आते है। वे इस बारे में भी पूर्ण सतर्क है कि यदि समाज मे धन का समुचित वितरण नही होगा तो अराजकता और असुरक्षा उत्पन्न होगी। वे कहते है, निर्धनो को धन नही दिये जानेसे दरिद्रता बहुत बढ़गयी और दरिद्रता के बहुत बढ जाने से चोरी बहुत बढ़ गयी।[5] चोरी के बहुत बढने का अर्थ धन की असुरक्षा है। इसके पीछे बुद्ध का निर्देश यही है कि समाज में धन का समवितरण होना चाहिए ताकि समाज का कोई भी वर्ग अभाव से पीड़ित न हो। बुद्ध की दृष्टि मे अर्थ को कभी भी धर्म से विमुख नही होना चाहिए, वे धर्मयुक्त व्यवसाय में

१. दशवैकालिकनिर्युक्ति, २६२–२६४.
२. दीघनिकाय, ३।८।२.
३. वही, ३।८।४.
४. वही, ३।८।४.
५. वही, ३।३।४.

नियोजित होने का ही निर्देश देते हैं।[१] जो जीवन में धन का दान एवं भोग के रूप में समुचित उपयोग नहीं करता, उसका धन निरर्थक है, क्योंकि मरनेवाले के पीछे उसका धन आदि नहीं जाता है और न धन से जरामरण से ही छुटकारा मिल सकता है।[२] कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यममार्ग का प्रतिपादन करता है। उदान में बुद्ध कहते हैं, "ब्रह्मचर्य जीवन के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है, यह एक अन्त है। कामभोगों के सेवन में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है, मिथ्याधारणा बढ़ती है, व्यक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।"[3] इस आधार पर कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण यही प्रतीत होता है कि जो काम धर्म-अविरुद्ध है, जिससे आध्यात्मिक प्रगति या चित्त की विकलता समाप्त होती है; वह काम आचरणीय है। इसके विपरीत धर्मविरुद्ध मानसिक अशान्तिकारक काम या विषयभोग अनाचरणीय है।

बुद्ध की दृष्टि में भी जैन विचार के समान धर्मपुरुषार्थ निर्वाण या मोक्षपुरुषार्थ का साधन है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं, "भिक्षुओं मैंने बेड़े की भाँति पार जाने के लिए (निर्वाणलाभ के लिए) तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं।"[४] अर्थात् निर्वाण की दिशा में ले जानेवाला धर्म ही आचरणीय है। बुद्ध की दृष्टि में जो धर्म निर्वाण की दिशा में नहीं ले जाता, जिसमें निर्वाणलाभ में बाधा आती हो वह त्याग देने योग्य है। इतना ही नहीं, बुद्ध धर्म को एक साधन के रूप में स्वीकार करते हैं और साध्य की उपलब्धि के लिए उसे भी छोड़ देने का सन्देश देते हैं। उनकी दृष्टि में परममूल्य तो निर्वाण ही है।

३. गीता में पुरुषार्थचतुष्टय

पुरुषार्थचतुष्टय के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। गीता की दृष्टि में भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। वही परम मूल्य है। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ सम्बन्धी धृति को गीताकार ने राजसी कहा है।[५] लेकिन यह मानना भी भ्रान्तिपूर्ण होगा कि गीता में इन पुरुषार्थों का कोई स्थान नहीं है। गीताकार जब काम की निन्दा करता है,[६] धर्म को छोड़ने की बात करता है,[७] तो मोक्षपुरुषार्थ या परमात्मा की प्राप्ति की अपेक्षा से ही। मोक्ष ही परमसाध्य है; धर्म, अर्थ और काम का मोक्ष के निमित्त परित्याग किया जा सकता है। गीताकार की दृष्टि में भी यदि धर्म, अर्थ और काम मोक्ष के अविरोधी हैं तो वे

१. सुत्तनिपात, २६।२९.
२. मज्झिमनिकाय, २।३२।४.
३. उदान, जात्यन्धवर्ग, ८.
४. मज्झिमनिकाय, १।२१।४.
५. गीता, १८।३४.
६. वही, १६।२१.
७. वही, १८।६६.

ग्राह्य हैं। गीताकार की मान्यता भी यही प्रतीत होती है कि अर्थ और काम को धर्माधीन होना चाहिए और धर्म को मोक्षाभिमुख होना चाहिए। धर्मयुक्त, यज्ञ-पूर्वक एवं वर्णानुसार किया गया आजीविकोपार्जन गीता के अनुसार विहित ही है। यद्यपि धन की चिन्ता में डूबे रहनेवाले और धन का तथा धन के द्वारा किये गये दान-पुण्यादि का, अभिमान करनेवाले को गीता में अज्ञानी कहा गया है[१] तथापि इसका तात्पर्य यही है कि धन को एकमात्र साध्य नहीं बना लेना चाहिए और न उसका तथा उसके द्वारा किये गये सत्कार्यों का अभिमान ही करना चाहिए। इसी प्रकार कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण यही है कि उसे धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्राणियों मे धर्म-अविरुद्ध काम मैं हूँ।[२] सभी भोगों से विमुख होने की अपेक्षा गीताकार की दृष्टि में यही उचित है कि उनमें आसक्ति का त्याग किया जाये। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भोगों का मोक्ष के अविरोध में रखने का प्रयास है। इसी प्रकार गीता जब यह कहती है कि बिना यज्ञ के जो भोग करता है, वह चोर है, तो उसका प्रमुख दृष्टिकोण कामपुरुषार्थ को धर्माभिमुख बनाने का ही है।[३]

इस प्रकार हम देखते है कि जैन, बौद्ध और गीता की विचारधाराओं मे चारों पुरुषार्थ स्वीकृत है, यद्यपि सभी ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ को धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए और धर्म को सदैव ही मोक्षाभिमुख होना चाहिए। वस्तुतः यह दृष्टिकोण न केवल जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओ का है, वरन् समग्र भारतीय चिन्तन की इस सन्दर्भ मे यही दृष्टि है। मनु कहते है कि धर्म-विहीन अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिए।[४] महाभारत मे भी कहा है कि जो अर्थ और काम धर्म-विरोधी हों, उन्हें छोड़ देना चाहिए।[५] कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में और वात्स्यायन अपने कामसूत्र में लिखते हैं कि धर्म और अर्थ से अविरोध मे रहते हुए काम का ही सेवन करना चाहिए।[६]

इस प्रकार भारतीय चिन्तकों का प्रयास यही रहा है कि चारों पुरुषार्थो को इस प्रकार संयोजित किया जाये कि वे परस्पर अविरोध की अवस्था में रहें। इस हेतु उन्होंने उनका पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने का प्रयास भी किया। कौन सा पुरुषार्थ सर्वोच्च मूल्यवाला है, इस सम्बन्ध में महाभारत में गहराई से विचार किया गया है और इसके फलस्वरूप विभिन्न दृष्टिकोण सामने भी आये—

१. अर्थ ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि धर्म और काम दोनों अर्थ के होने पर उपलब्ध होते हैं। धन के अभाव में न तो काम-भोग ही प्राप्त होते हैं, और न दान-

१. गीता, १६।१०,१२,१५.
२. वही, ७।११.
३. वही, ३।१३.
४. मनुस्मृति, ४।१७६.
५. महाभारत, अनुशासनपर्व, ३।१८–१९.
६. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १।१७.

पुण्यादि धर्म ही किया जा सकता है।[1] कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है।[2]

२. काम ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि विषयों की इच्छा या काम के अभाव में न तो कोई धन प्राप्त करना चाहता है, और न कोई धर्म करना चाहता है। काम ही अर्थ और धर्म से श्रेष्ठ है।[3] जैसे दही का सार मक्खन है, वैसे ही अर्थ और धर्म का सार काम है।[4]

३. अर्थ, काम और धर्म तीनों ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं, तीनों का समान रूप से सेवन करना चाहिए। जो एक का सेवन करता है वह अधम है, जो दो के सेवन में निपुण है वह मध्यम है और जो इन तीनों में समान रूप से अनुरक्त है, वही मनुष्य उतम है।[5]

४. धर्म ही श्रेष्ठ गुण (पुरुषार्थ) है, अर्थ मध्यम है और काम सबकी अपेक्षा निम्न है। क्योंकि धर्म से ही मोक्ष की उपलब्धि होती हैं, धर्म पर ही लोक-व्यवस्था आधारित है और धर्म में ही अर्थ समाहित है।[6]

५. मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष उपाय के रूप में ज्ञान और अनासक्ति यही परम कल्याणकारक है।[7]

§ १३ चारों पुरुषार्थों की तुलना एवं क्रमनिर्धारण

पुरुषार्थचतुष्टय के सम्बन्ध में उपर्युक्त विभिन्न दृष्टिकोण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, लेकिन सापेक्षिक दृष्टि से इनमें विरोध नहीं रह जाता है। साधन की दृष्टि से विचार करने पर अर्थ ही प्रधान प्रतीत होता है, क्योंकि अर्थाभाव में दैहिक माँगों (काम) की पूर्ति नहीं होती। दूसरी ओर, लोक के अर्थाभाव से पीड़ित होने पर धर्मव्यवस्था या नीति भी समाप्त हो जाती है। कहा ही गया है—भूखा कौन सा पाप नहीं करता ?[8]

यदि साधक (व्यक्ति) की दृष्टि से विचार करें तो दैहिक मूल्य (काम) ही प्रधान प्रतीत होता है। मनोदैहिक मूल्यों (इच्छा एवं काम) के अभाव में न तो नीति-अनीति का प्रश्न खड़ा होता है और न आर्थिक साधनों की ही कोई आवश्यकता। दूसरे, धर्मसाधन और आध्यात्मिक प्रगति भी शरीर से सम्बन्धित है। कहा गया है—धर्मसाधन के लिए शरीर ही प्राथमिक है।[9] दैहिक माँगों की पूर्ति के

१. महाभारत, शान्तिपर्व, १६७।१२–१३.
२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १।७.
३. महाभारत, शान्तिपर्व, १६७।२९.
४. वही, १६७।३५.
५. वही, १६७।४०.
६. वही, १६७।८.
७. वही, १६७।४६.
८. बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?
९. शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।

अभाव में चित्त-शान्ति भी कैसे होगी और जिसका चित्त अशान्त है वह क्या आध्यात्मिक विकास करेगा ?

इसी प्रकार जब हम साधनामार्ग पर सामाजिक सन्दर्भ में विचार करते हैं, तो धर्म ही प्रधान प्रतीत होता है। धर्म ही सामाजिक व्यवस्था का आधार है। धर्म के अभाव में सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है और अस्तव्यस्त सामाजिक जीवन में अर्थोत्पादन एवं आध्यात्मिक साधना दोनों ही सम्भव नहीं होती। भोगों की समरसता समाप्त हो जाती है।

साध्य या आदर्श की दृष्टि से विचार करने पर मोक्ष ही प्रधान प्रतीत होता है, क्योंकि सारे प्रयास जिसके लिए है वह तो आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति ही है। संक्षेप में साधनात्मक दृष्टि से आर्थिक मूल्य (अर्थ), जैविक दृष्टि से मनोदैहिक मूल्य (काम), सामाजिक दृष्टि से नैतिक मूल्य (धर्म) और साध्यात्मक दृष्टि से आध्यात्मिक मूल्य (मोक्ष) प्रमुख हैं।

लेकिन ये सभी मूल्य या पुरुषार्थ एक-दूसरे से स्वतन्त्र या निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते। मोक्ष या आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए धर्म आवश्यक है और धर्म-साधन के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर के निर्वाह के लिए शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति (काम) आवश्यक है, और उनकी पूर्ति के लिए साधन (अर्थ) जुटाना आवश्यक है। इस प्रकार सभी परस्पर सापेक्ष हैं और सभी आवश्यक भी हैं। जैन ग्रन्थ निशीथभाष्य में कहा गया है कि ज्ञानादि मोक्ष के साधन हैं, और ज्ञानादि का साधन देह है और देह का साधन आहार है।[1] इस प्रकार चारों पुरुषार्थों का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है, तथापि सभी का मूल्य समान नहीं माना गया है। जैन विचारकों के अनुसार चारों पुरुषार्थों में एक साध्य-साधन भाव है जिसमें अर्थ मात्र साधन है और मोक्ष मात्र साध्य है। काम अर्थ की अपेक्षा से साध्य और धर्म की अपेक्षा से साधन है। धर्म को अर्थ और काम का साध्य और मोक्ष का साधन माना गया है। जब साधन हीसाध्य बन जाता है तो वह दूसरे के विरोध में खड़ा हो जाता है और जीवन के विकास को अवरुद्ध करता है। जैनागम साहित्य में मम्मन सेठ की कथा अर्थ को साध्य मान लेने का सबसे अच्छा उदाहरण है, जिससे प्रकट है कि जब 'धन' साध्य बन जाता है तो वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों जीवन में कष्ट ही लाता है। इसी आशय को सामने रखते हुए उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा गया है कि 'धन में प्रमत्त पुरुष का धन अर्थात् उस व्यक्ति का धन जिसके लिए धन ही साध्य है न तो इस लोक में और न परलोक में ही ऐसे आदमी की रक्षा कर सकता है। धन के असीम मोह से मूढ़ बना हुआ वह व्यक्ति, दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग को जानते हुए भी मार्ग नहीं देखता, वैसे ही वह भी न्यायमार्ग या धर्ममार्ग को जानते हुए भी उसे नहीं देख पाता। जैसे एक ही नगर को जानेवाले भिन्न-भिन्न मार्ग परस्पर भिन्न दिशाओं में स्थित होते हुए भी

१. निशीथभाष्य, ४७९१.

परस्पर विरोधी नही कहे जाते, उसी प्रकार परस्पर विरोधी पुरुषार्थ मोक्षाभिमुख होने पर असपत्न (अविरोधी) बन जाते है। यही उनमें एक मूल्यात्मक तारतम्य स्पष्ट हो जाता है, जिसमें सर्वोच्च स्थान मोक्ष का है, उसके बाद धर्म का स्थान है। धर्म के बाद काम और सबसे अन्त मे अर्थ का स्थान आता है। किन्तु अर्थपुरुषार्थ जब लोकोपकार के लिए होता है, तब उसका स्थान कामपुरुषार्थ से ऊपर होता है। पाश्चात्य विचारक अरबन ने मूल्य-निर्धारण के तीन नियम प्रस्तुत किये है—(१) साधनात्मक या परतः मूल्यों की अपेक्षा साध्यात्मक या स्वतः मूल्य उच्चतर है; (२) अस्थायी या अल्पकालिक मूल्यो की अपेक्षा स्थायी एवं दीर्घकालिक मूल्य उच्चतर है; (३) असृजक मूल्यो की अपेक्षा सृजक मूल्य उच्चतर है।

यदि प्रथम नियम के आधार पर विचार करें, तो धन, सम्पत्ति, श्रम आदि आर्थिक मूल्य जैविक, सामाजिक और धार्मिक (काम और धर्म) मूल्यों की पूर्ति के साधनमात्र है, वे स्वतः साध्य नही हैं। भारतीय चिन्तन में धन की तीन गतियाँ मानी गयी है—(१) दान, (२) भोग और (३) नाश। वह दान के रूप मे धर्मपुरुषार्थ का और भोग के रूप मे कामपुरुषार्थ का साधन ही सिद्ध होता है। कामपुरुषार्थ सामान्य रूप मे स्वतः साध्य प्रतीत होता है, लेकिन विचारपूर्वक देखने पर वह भी स्वतः साध्य नही कहा जा सकता। प्रथमतः जैविक आवश्यकताओ की पूर्ति के रूप में जो भोग किये जाते है, वे स्वयं साध्य नही, वरन् जीवन या शरीर-रक्षण के साधनमात्र है। इन सबका साध्य स्वास्थ्य एव जीवन है। हम जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए नही जीते है। यदि हम कामपुरुषार्थ को कला, दाम्पत्य, रति या स्नेह के रूप में मानें तो वह भी आनन्द का एक साधन ही ठहरता है। इस प्रकार कामपुरुषार्थ का भी स्वतः मूल्य सिद्ध नहीं होता। उसका जो भी स्थान हो सकता है वह मात्र उसके द्वारा व्यक्ति के आनन्द में की गयी अभिवृद्धि पर निर्भर करता है। यदि अल्पकालिकता या स्थायित्व की दृष्टि से विचार करें तो कामपुरुषार्थ मोक्ष एवं धर्म की अपेक्षा अल्पकालिक ही है। भारतीय विचारकों ने कामपुरुषार्थ को निम्न स्थान उसकी क्षणिकता के आधार पर ही दिया है। तीसरे अपने फल या परिणाम के आधार पर भी काम-पुरुषार्थ निम्न स्थान पर ठहरता है, क्योंकि वह अपने पीछे दुष्पूर-तृष्णा को छोड़ जाता है। उससे उपलब्ध होनेवाले आनन्द की तुलना खुजली खुजाने से की गयी है, जिसकी फल-निष्पत्ति क्षणिक सुख के बाद तीव्र वेदना में होती है। धर्मपुरुषार्थ सामाजिक एवं धार्मिक मूल्य के रूप में स्वतः साध्य है, लेकिन वह भी मोक्ष का साधन माना गया है जो सर्वोच्च मूल्य है। इस प्रकार अरबन के उपर्युक्त मूल्यनिर्धारण के नियमों के आधार पर भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों का यही क्रम सिद्ध होता है जो कि जैन और दूसरे भारतीय आचारदर्शनों में स्वीकृत है, जिसमें अर्थ सबसे निम्न मूल्य है और मोक्ष सर्वोच्च मूल्य है।

१. फण्डामेण्टल्स आफ एथिक्स, पृ० १७०–१७१.

§ १४. मोक्ष सर्वोच्च मूल्य क्यों ?

इस सम्बन्ध में ये तर्क दिये जा सकते हैं—

१. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवमात्र की प्रवृत्ति दु:ख-निवृत्ति की ओर है। क्योंकि मोक्ष दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति है; अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। इसी प्रकार आनन्द की उपलब्धि भी प्राणीमात्र का लक्ष्य है, चूंकि मोक्ष परम आनन्द की अवस्था है, अतः वह सर्वोच्च मूल्य है।

२. मूल्यों की व्यवस्था में साध्य साधक की दृष्टि से एक क्रम होना चाहिए और उस क्रम में कोई सर्वोच्च एवं निरपेक्ष मूल्य होना चाहिए। मोक्ष पूर्ण एवं निरपेक्ष स्थिति है। अत: वह सर्वोच्च मूल्य है। मूल्य वह है जो किसी इच्छा की पूर्ति करे। अत: जिसके प्राप्त हो जाने पर कोई इच्छा ही नहीं रहती है, वही परम मूल्य है। मोक्ष में कोई अपूर्ण इच्छा नही रहती है, अत: वह परम मूल्य है।

३. सभी साधन किसी साध्य के लिए होते है और साध्य की उपस्थिति अपूर्णता की सूचक है। मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् कोई साध्य नहीं रहता, इसलिए वह परम मूल्य है। यदि हम किसी अन्य मूल्य को स्वीकार करेंगे तो वह साधन-मूल्य ही होगा और साधन-मूल्य को परम मूल्य मानने पर नैतिकता में सार्वलौकिकता एवं वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जायेगी।

४. मोक्ष अक्षर एवं अमृतपद है, अत: स्थायी मूल्यों मे वह सर्वोच्च मूल्य है।

५. मोक्ष आन्तरिक प्रकृति या स्वस्वभाव है। वही एकमात्र परम मूल्य हो सकता है, क्योंकि उसमें हमारी प्रकृति के सभी पक्ष अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति एवं पूर्ण समन्वय की अवस्था में होते हैं।

§ १५. भारतीय और पाश्चात्य मूल्य सिद्धान्तों की तुलना

अरबन और एवरेट ने जीवन के विभिन्न मूल्यों की उच्चता एवं निम्नता का जो क्रम निर्धारित किया है, वह भी भारतीय चिन्तन से काफी साम्य रखता है। अरबन ने मूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—
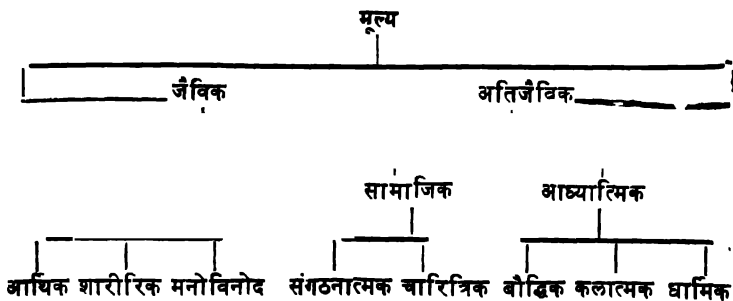
अरबन ने सबसे पहले मूल्यों को दो भागों में बाँटा है—(१) जैविक और (२) अति जैविक। अतिजैविक मूल्य भी सामाजिक और आध्यात्मिक ऐसे दो प्रकार के हैं। इस प्रकार मूल्यों के तीन वर्ग बन जाते हैं—

१. जैविक मूल्य—शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन के मूल्य जैविकमूल्य है। आर्थिक मूल्य मौलिक-रूप से साधन-मूल्य हैं, साध्य नही। आर्थिक शुभ स्वतः मूल्यवान नही है, उनका मूल्य केवल शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को अर्जित करने के साधन होने मे है। सम्पत्ति स्वतः वाञ्छनीय नही है, बल्कि अन्य शुभों का साधन होने के कारण वाञ्छनीय है। सम्पत्ति एक साधन-मूल्य है, साध्य-मूल्य नहीं। शारीरिक मूल्य भी वैयक्तिक मूल्यों के साधक हैं। स्वास्थ्य और शक्ति से युक्त परिपुष्टशरीर को व्यक्ति अच्छे जीवन के अन्य मूल्यों के अनुसरण मे प्रयुक्त कर सकता है। क्रीड़ा स्वयं मूल्य है; किन्तु वह भी मुख्यतया साधन-मूल्य है। उसका साध्य है शारीरिक स्वास्थ्य। मनोरजन चित्तविक्षोभ को समाप्त करने का साधन है। क्रीड़ा और मनोरंजन उच्चतर मूल्यों के अनुसरण के लिए हमें शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रखते है।

२. सामाजिक मूल्य—सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत् साहचर्य तथा चरित्र के मूल्य आते है। आज के मानवतावादी युग मे तो इन मूल्यो का महत्त्व अत्यन्त व्यापक हो गया है। यद्यपि ये दोनों मूल्य किसी अन्य साध्य के साधन-स्वरूप प्रयुक्त होते है, परन्तु कुछ महान् पुरुषों ने सच्चरित्रता एवं समाजसेवा को जीवन के परम लक्ष्य के रूप में ग्रहण किया है। मनुष्य समाज का अंग है। एक असीम आत्मा का साक्षात्कार समाज के साथ अपनी वैयक्तिकता का एकाकार करके ही किया जा सकता है।

३. आध्यात्मिक मूल्य—मूल्यों के इस वर्ग के अन्तर्गत् बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक एव धार्मिक—तीन प्रकार के मूल्य आते है। ये तीनों मूल्य मूलतः साध्यमूल्य हैं। ये आत्मा की सर्वश्रेष्ठ या परम आदर्श प्रकृति अर्थात् सत्यं, शिवं और सुन्दरं की अभिरुचियों को तृप्ति प्रदान करते हैं तथा जैविक एवं सामाजिक मूल्यों से श्रेष्ठ कोटि के हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय दर्शनों के पुरुषार्थचतुष्टय में अर्थ और काम जैविक मूल्य है और धर्म और मोक्ष अतिजैविक मूल्य हैं। अरबन ने जैविक मूल्यों मे आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजात्मक मूल्य माने है। इनमें आर्थिक मूल्य अर्थ-पुरुषार्थ तथा शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य कामपुरुषार्थ के समान हैं। अरबन के द्वारा अतिजैविक मूल्यों में सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य माने गये है। उनमें सामाजिक मूल्य धर्मपुरुषार्थ से और आध्यात्मिक मूल्य मोक्षपुरुषार्थ से सम्बन्धित है। जिस प्रकार अरबन ने मूल्यों में सबसे नीचे आर्थिक मूल्य माने है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन मे भी अर्थपुरुषार्थ को तारतम्य की दृष्टि से सबसे नीचे माना है। जिस प्रकार अरबन के दर्शन में शारीरिक और मनोरंजन सम्बन्धी मूल्यों का स्थान आर्थिक मूल्यों से ऊपर, लेकिन सामाजिक मूल्यों से नीचे है उसी प्रकार भारतीय दर्शनों में भी कामपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ से ऊपर लेकिन धर्मपुरुषार्थ से नीचे है। जिस प्रकार अरबन ने आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च माना है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी मोक्ष को सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। अरबन के दृष्टिकोण की

भारतीय चिन्तन से कितनी अधिक निकटता है, इसे निम्न तालिका से समझा जा सकता है—

पाश्चात्य दृष्टिकोण मूल्य	भारतीय दृष्टिकोण पुरुषार्थ	जैन दृष्टिकोण
जैविक मूल्य		
१. आर्थिक मूल्य	अर्थपुरुषार्थ	अर्थ
२. शारीरिक मूल्य	कामपुरुषार्थ	काम
३. मनोरंजनात्मक मूल्य		
सामाजिक मूल्य		
४. संगठनात्मक मूल्य	धर्मपुरुषार्थ	व्यवहारधर्म
५. चारित्रिक मूल्य		निश्चयधर्म
आध्यात्मिक मूल्य	**मोक्षपुरुषार्थ**	
६. कलात्मक	आनन्द (संकल्प)	अनन्त सुख एव शक्ति
७. बौद्धिक	चित् (ज्ञान)	
८. धार्मिक	सत् (भाव)	अनन्तदर्शन

इस प्रकार अपनी मूल्य-विवेचना में प्राच्य और पाश्चात्य विचारक अन्त में एक ही निष्कर्ष पर आ जाते हैं और वह निष्कर्ष यह है कि आध्यात्मिक मूल्य या आत्म-पूर्णता ही सर्वोच्च मूल्य है एवं वही नैतिक जीवन का साध्य है। यद्यपि भारतीय दर्शन में स्वीकृत सभी जीवन मूल्य और पाश्चात्य आचारदर्शन में स्वीकृत विभिन्न नैतिक प्रतिमान जैन आचारदर्शन में स्वीकृत रहे हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन दर्शन के पास नैतिक प्रतिमान के किसी निश्चित सिद्धान्त का अभाव है। वस्तुतः जैन दर्शन की अनेकान्तवादी दृष्टि ही इसके मूल में है। जिस प्रकार जैन दर्शन तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में विभिन्न परस्पर विरोधी दार्शनिक विचारों को सापेक्ष रूप से स्वीकार करके उनमें समन्वय करता है, उसी प्रकार जैन आचारदर्शन भी विभिन्न नैतिक प्रतिमानों को सापेक्षिक रूप से स्वीकार करके उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

यद्यपि जैन आचारदर्शन में सापेक्ष दृष्टि से नैतिक मानक सम्बन्धी सभी विचार स्वीकार कर लिये गये हैं, फिर भी उसकी दृष्टि में कर्म की शुद्धता इसपर आधारित है कि वह कर्म राग-द्वेष की वृत्तियों से कितना मुक्त है। उसके अनुसार जो कर्म अनासक्त भाव से सम्पादित होते हैं वे ही आत्मपूर्णता की ओर ले जाते हैं। वीत-रागावस्था या समभाव की उपलब्धि ही उसका एकमात्र नैतिक साध्य या परम मूल्य है।

§ १६. नैतिक प्रतिमानों का अनेकान्तवाद

वस्तुत: मनुष्यों की नीति-सम्बन्धी अवधारणाओं, मापदण्डों या प्रतिमानों की विविधता ही नैतिक निर्णयों की भिन्नता का कारण मानी जा सकती है। जब भी हम किसी आचरण का नैतिक मूल्यांकन करते हैं तो हमारे सामने नीति सम्बन्धी कोई मापदण्ड, प्रतिमान या मानक (Moral standard) अवश्य होता है, जिसके आधार पर हम व्यक्ति के चरित्र, आचरण अथवा कर्म का नैतिक मूल्यांकन (Moral valuation) करते हैं। विभिन्न देश, काल, समाज और संस्कृतियों में ये नैतिक मापदण्ड या प्रतिमान अलग-अलग रहे है और समय-समय पर इनमें परिवर्तन होते रहे हैं। प्राचीन ग्रीक संस्कृति में जहाँ साहस और न्याय को नैतिकता का प्रतिमान माना जाता था, वहीं परवर्ती ईसाई संस्कृति में सहनशीलता और त्याग को नैतिकता का प्रतिमान माना जाने लगा। यह एक वास्तविकता है कि नैतिक प्रतिमान या नैतिकता के मापदण्ड अनेक रहे है तथा विभिन्न व्यक्ति और विभिन्न समाज अलग-अलग नैतिक प्रतिमानों का उपयोग करते रहे है। मात्र यही नहीं, एक ही व्यक्ति अपने जीवन में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न नैतिक प्रतिमानों का उपयोग करता है। नैतिक प्रतिमान के इस प्रश्न पर न केवल जन-साधारण मे अपितु नीतिवेत्ताओं में भी गहन मतभेद है।

नैतिक प्रतिमानों (Moral standards) की इस विविधता और परिवर्तनशीलता को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। क्या कोई ऐसा सार्वभौम नैतिक प्रतिमान सम्भव है, जिसे सार्वलौकिक और सार्वकालिक मान्यता प्राप्त हो ? यद्यपि अनेक नीतिवेत्ताओं ने अपने नैतिक प्रतिमान को सार्वलौकिक, सार्वकालीन एवं सार्वजनीन सिद्ध करने का दावा अवश्य किया है; किन्तु जब वे ही आपस में एक मत नहीं हैं तो फिर उनके इस दावे को कैसे मान्य किया जा सकता है ? नीतिशास्त्र के इतिहास की नियमवादी परम्परा में कबीले के बाह्य नियमों की अवधारणा से लेकर अन्तरात्मा के आदेश तक तथा साध्यवादी परम्परा में स्थूल स्वार्थमूलक सुखवाद से प्रारम्भ करके बुद्धिवाद, पूर्णतावाद और मूल्यवाद तक अनेक नैतिक प्रतिमान प्रस्तुत किये गये हैं।

यदि हम नैतिक मूल्यांकन का आधार नैतिक आवेगों (Moral sentiments) को स्वीकार करते हैं तो नैतिक मूल्यांकन में एकरूपता सम्भव नहीं होगी, क्योंकि व्यक्तिनिष्ठ नैतिक आवेगों में विविधता स्वाभाविक है। नैतिक आवेगों की इस विविधता को समकालीन विचारक एडवर्ड वैस्टरमार्क ने स्वयं स्वीकार किया है। उनके अनुसार इस विविधता का कारण व्यक्तियों के परिवेश, धर्म और विश्वासों में पायी जाने वाली भिन्नता है। जो विचारक कर्म के नैतिक औचित्य एवं अनौचित्य के निर्धारण के लिए विधानवादी प्रतिमान अपनाते हैं और जाति, समाज, राज्य या धर्म द्वारा प्रस्तुत विधि-निषेध (यह करो और यह मत करो) की नियमावलियों को नैतिक प्रतिमान स्वीकार करते हैं, उनमें भी प्रथम तो इस प्रश्न को लेकर ही

मतभेद है कि जाति (समाज), राज्य शासन और धर्मग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत अनेक नियमावलियों मे से किसे स्वीकार किया जाए ? पुनः प्रत्येक जाति, राज्य और धर्मग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत ये नियमावलियाँ भी अलग-अलग हैं। इस प्रकार बाह्य विधानवाद नैतिक प्रतिमान का कोई एक सिद्धान्त प्रस्तुत कर पाने में असमर्थ है। समकालीन अनुमोदनात्मक सिद्धान्त (Approbative theories) जो नैतिक प्रतिमान को वैयक्तिक, रुचि-सापेक्ष अथवा सामाजिक एवं धार्मिक अनुमोदन पर निर्भर मानते हैं, किसी एक सार्वभौम नैतिक प्रतिमान का दावा करने में असमर्थ हैं। व्यक्तियों का रुचिवैविध्य और सामाजिक आदर्शों में पायी जानेवाली भिन्नताएँ सुस्पष्ट ही हैं। धार्मिक अनुशंसा भी अलग-अलग होती है, एक धर्म जिन कर्मों का अनुमोदन करता है और उन्हें नैतिक ठहराता है, दूसरा धर्म उन्हीं कर्मों को निषिद्ध और अनैतिक ठहराता है। वैदिक धर्म और इस्लाम जहाँ पशुबलि को वैध मानते हैं, वहीं जैन, वैष्णव और बौद्ध धर्म उसे अनैतिक और अवैध मानते हैं। निष्कर्ष यही है कि वे सभी सिद्धान्त किसी एक सार्वभौम नैतिक प्रतिमान का दावा करने में असमर्थ हैं, जो नैतिकता की कसौटी, वैयक्तिक रुचि, सामाजिक अनुमोदन अथवा धर्मशास्त्र की अनुशंसा को मानते हैं।

अन्तःप्रज्ञावाद अथवा सरल शब्दों में कहें तो अन्तरात्मा के अनुमोदन का सिद्धान्त भी किसी एक नैतिक प्रतिमान को दे पाने में असमर्थ है। यद्यपि यह कहा जाता है कि अन्तरात्मा के निर्णय सरल, सहज और अपरोक्ष होते हैं, फिर भी अनुभव यही बताता है कि अन्तरात्मा के निर्णयों में एकरूपता नहीं होती। प्रथम तो स्वयं अन्तःप्रज्ञावादी ही इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं कि इस अन्तःप्रज्ञा की प्रकृति क्या है, यह बौद्धिक है या भावनापरक। पुनः यह मानना कि सभी की अन्तरात्मा एक-सी है, ठीक नहीं है; क्योंकि अन्तरात्मा की संरचना और उसके निर्णय भी व्यक्ति के संस्कारों पर आधारित होते हैं। पशुबलि के सम्बन्ध में मुस्लिम एवं जैन परिवारों में संस्कारित व्यक्तियों के अन्तरात्मा के निर्णय एक समान नहीं होंगे। अन्तरात्मा कोई सरल तथ्य नहीं है, जैसा कि अन्तःप्रज्ञावाद मानता है, अपितु वह विवेकात्मक चेतना के विकास, पारिवारिक एवं सामाजिक संस्कारों तथा परिवेशजन्य तथ्यों द्वारा निर्मित एक जटिल रचना है और ये तीनों बातें हमारी अन्तरात्मा को और उसके निर्णयों को प्रभावित करती हैं।

इसी प्रकार साध्यवादी सिद्धान्त भी किसी सार्वभौम नैतिक मानदण्ड का दावा नहीं कर सके हैं, सर्वप्रथम तो उनमें इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद है कि मानव-जीवन का साध्य क्या हो सकता है ? मानवतावादी विचारक, जो मानवीय गुण के विकास को ही नैतिकता की कसौटी मानते हैं इस बात पर परस्पर सहमत नहीं हैं कि आत्मचेतना, विवेकशीलता और संयम में किसे सर्वोच्च मानवीय गुण माना जाए। समकालीन मानवतावादियों में जहाँ बारनर फिटे आत्मचेतनता को प्रमुख मानते हैं, वहाँ पी० बी० गर्नेट और इलाइज लेविन विवेकशीलता को तथा इर्विंग

बबिट आत्मसंयम को प्रमुख नैतिक गुण मानते हैं। साध्यवादी परम्परा के सामने यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण रहा है कि मानवीय चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक पक्ष में से किसकी सन्तुष्टि को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाए। इस सन्दर्भ में सुखवाद और बुद्धिवाद का विवाद तो सुप्रसिद्ध ही है। सुखवाद जहाँ मनुष्य के अनुभूत्यात्मक (वासनात्मक) पक्ष की सन्तुष्टि को मानव-जीवन का साध्य घोषित करता है, वहाँ बुद्धिवाद भावना-निरपेक्ष बुद्धि के आदेशों के परिपालन में ही नैतिक कर्त्तव्य की पूर्णता देखता है। इस प्रकार सुखवाद और बुद्धिवाद के नैतिक प्रतिमान एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसका मूल कारण दोनों की मूल्यदृष्टि की भिन्नता है; एक भोगवाद का समर्थक है, तो दूसरा वैराग्यवाद का। मात्र यही नहीं, सुखवादी विचारक भी 'कौन-सा सुख साध्य है ?' इस प्रश्न पर एकमत नहीं हैं ? कोई वैयक्तिक सुख को साध्य बताता है तो कोई समष्टि सुख को अथवा अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का। पुनः यह सुख, ऐन्द्रिक सुख हो या मानसिक सुख हो अथवा आध्यात्मिक आनन्द हो, इस प्रश्न पर भी मतभेद है। वैराग्यवादी परम्पराएँ भी सुख को साध्य मानती हैं, किन्तु वे जिस सुख की बात करती हैं वह सुख वस्तुगत नहीं है, वह इच्छा आसक्ति या तृष्णा के समाप्त होने पर चेतना की निर्द्वन्द्व, तनावरहित, समाधिपूर्ण अवस्था है। इस प्रकार सुख को साध्य मानने के प्रश्न पर उनमें आम सहमति होते हुए भी उनके नैतिक प्रतिमान भिन्न-भिन्न ही होंगे, क्योंकि सुख की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

यद्यपि पूर्णतावाद आत्मोपलब्धि को साध्य मानकर सुखवाद और बुद्धिवाद के बीच समन्वय साधने का प्रयत्न अवश्य करता है; किन्तु वह इस प्रयास में सफल हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। पुनः वह भी किसी एक सार्वभौम नैतिक प्रतिमान को प्रस्तुत कर सकता है, यह मानना भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि व्यक्तियों के हित न केवल भिन्न-भिन्न हैं, अपितु परस्पर विरोधी भी हैं। रोगी का कल्याण और डॉक्टर का कल्याण एक नहीं है, श्रमिक का कल्याण उसके स्वामी के कल्याण से पृथक् ही है; किसी सार्वभौम शुभ (Universal good) की बात कितनी ही आकर्षक क्यों न हो, वह भ्रान्ति ही है। वैयक्तिक हितों के योग के अतिरिक्त सामान्य हित (Common good) मात्र अमूर्त कल्पना है। न केवल व्यक्तियों के हित या शुभ अलग-अलग होंगे अपितु दो भिन्न परिस्थितियों में एक व्यक्ति के हित भी पृथक्-पृथक् होंगे। एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न स्थितियों में दाता और याचक दोनों हो सकता है; किन्तु क्या दोनों स्थितियों में उसका हित समान होगा ? समाज में एक का हित दूसरे के हित का बाधक हो सकता है। मात्र यही नहीं, हमारा एक हित हमारे ही दूसरे हित में बाधक हो सकता है। रसनेन्द्रिय या यौन वासना संतुष्टि के शुभ और स्वास्थ्य-सम्बन्धी शुभ सहगामी हों यह आवश्यक नहीं है। वस्तुतः यह धारणा कि 'मनुष्य का या मनुष्यों का कोई सामान्य शुभ है' अपने-आपमें अयथार्थ है। जिसे हम सामान्य शुभ कहना चाहते हैं वह विभिन्न शुभों का एक ऐसा स्कन्ध है, जिसमे न

केवल भिन्न-भिन्न शुभों की पृथक्-पृथक् सत्ता है, अपितु वे एक दूसरे के विरोध में भी खड़े हुए हैं। शुभ एक नहीं, अनेक है और उनमें पारस्परिक विरोध भी है। क्या आत्मलाभ और आत्मत्याग के बीच कोई विरोध नहीं है ? यदि पूर्णतावादी निम्न-आत्मा (Lower self) के त्याग द्वारा उच्चात्मा (Higher self) के लाभ की बात कहते है तो वे जीवन के इन दो पक्षों में विरोध स्वीकार करते हैं। पुनः निम्नात्मा भी हमारी आत्मा है और यदि हम उसके निषेध को बात स्वीकार करते हैं तो हमें पूर्णतावाद के सिद्धान्त को छोड़कर प्रकारान्तर से बुद्धिवाद या वैराग्यवाद को ही स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार वैयक्तिक आत्मा और सामाजिक आत्मा का, अथवा स्वार्थ और परार्थ का अन्तर्विरोध भी समाप्त नहीं किया जा सकता है; इसीलिए मूल्यवाद किसी एक मूल्य की बात न कहकर 'मूल्यों' या 'मूल्य-विश्व' की बात करता है। मूल्यों की विपुलता के इस सिद्धान्त में नैतिक प्रतिमान की विविधता स्वभावतया ही होगी, क्योंकि प्रत्येक मूल्य का मूल्यांकन किसी दृष्टि-विशेष के आधार पर ही होगा। चूंकि मनुष्यों को जीवनदृष्टियाँ या मूल्यदृष्टियाँ विविध हैं, अतः उनपर आधारित नैतिक प्रतिमान भी विविध ही होंगे। पुनः, मूल्यवाद में मूल्यों के तारतम्य को लेकर सदैव ही विवाद रहा है। एक दृष्टि से जो सर्वोच्च मूल्य लगता है, वही दूसरी दृष्टि से निम्न मूल्य हो सकता है। मनुष्य की जीवनदृष्टि या मूल्यदृष्टि का निर्माण भी स्वयं उसके संस्कारों एवं परिवेशजन्य तथ्यों से प्रभावित होता है; अतः मूल्यवाद नैतिक प्रतिमान के सन्दर्भ में विविधता की धारणा को ही पुष्ट करता है।

इस प्रकार हम देखते हं कि नैतिक प्रतिमान के प्रश्न पर न केवल विविध दृष्टिकोणों से विचार हुआ है, अपितु उसका प्रत्येक सिद्धान्त स्वयं भी इतने अन्तर्विरोधों से युक्त हं कि वह एक सार्वभौम नैतिक मापदण्ड होने का दावा करने में असमर्थ है। आज भी इस सम्बन्ध मे किसी सर्वमान्य सिद्धान्त का अभाव हं।

वस्तुतः नैतिक मानदण्डों की यह विविधता स्वाभाविक ही है और जो लोग किसी एक सर्वमान्य नैतिक प्रतिमान की बात करते हैं वे कल्पनालोक में ही विचरण करते हैं। नैतिक प्रतिमानों की इस विविधता के कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो नैतिकता और अनैतिकता का यह प्रश्न उस मनुष्य के सन्दर्भ में है जिसकी प्रकृति बहुआयामी (Multi-dimensional) और अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण है। मनुष्य केवल चेतनसत्ता नहीं है, अपितु चेतनायुक्त शरीर है; वह केवल व्यक्ति नहीं है, अपितु समाज में जीने वाला व्यक्ति हं। उसके अस्तित्व में वासना और विवेक तथा वैयक्तिकता और सामाजिकता के तत्त्व समाहित हैं। यहाँ हमें यह भी समझ लेना है कि वासना और विवेक में तथा व्यक्ति और समाज में स्वभावतः संगति (Harmony) नहीं है। वे स्वभावतः एक-दूसरे के विरोध में हैं। मनोवैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि 'इड' (वासना-तत्त्व) और 'सुपर ईगो' (आदर्श-तत्त्व) मानवीय चेतना के समक्ष प्रतिपक्षी के रूप में ही उपस्थित होते हैं। उसमें समर्पण और शासन की दो विरोधी

मूल प्रवृत्तियाँ एक साथ काम करती हैं। एक ओर वह अपनी अस्मिता को बचाये रखना चाहता है तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को व्यापक बनाना चाहता है, समाज के साथ जुड़ना चाहता है। ऐसी बहुआयामी एवं अन्तर्विरोधों से युक्त सत्ता के शुभ या हित एक नहीं, अनेक होंगे और जब मनुष्य के शुभ या हित (Good) ही विविध हैं तो फिर नैतिक प्रतिमान भी विविध ही होंगे। किसी परम शुभ (Ultimate good) की कल्पना परम सत्ता (Ultimate reality) के प्रसंग में चाहे सही भी हो; किन्तु मानवीय अस्तित्व के प्रसंग में सही नहीं है। मनुष्य को मनुष्य मानकर चलना होगा—ईश्वर मानकर नहीं; और एक मनुष्य के रूप में उसके हित या साध्य विविध ही होंगे। साथ ही हितों या साध्यों की यह विविधता नैतिक प्रतिमानों की अनेकता को ही सूचित करेगी।

नैतिक प्रतिमान का आधार व्यक्ति की जीवन-दृष्टि या मूल्य-दृष्टि होगी, किन्तु व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि या जीवन-दृष्टि व्यक्तियों के बौद्धिक विकास, संस्कार एवं पर्यावरण के आधार पर ही निर्मित होती है। व्यक्तियों के बौद्धिक विकास, पर्यावरण और संस्कारों में भिन्नताएँ स्वाभाविक हैं, अतः उनकी मूल्य-दृष्टियाँ अलग-अलग होंगी और यदि मूल्य-दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न होंगी तो नैतिक प्रतिमान भी विविध होंगे। यह एक आनुभाविक तथ्य है कि विविध दृष्टिकोणों के आधार पर एक ही घटना का नैतिक मूल्यांकन अलग-अलग होता है। उदाहरण के रूप में परिवार-नियोजन की धारणा, जनसंख्या के बाहुल्य वाले देशों की दृष्टि से चाहे उचित हो, किन्तु अल्प जनसंख्या वाले देशों एवं जातियों की दृष्टियों से अनुचित होगी। राष्ट्रवाद अपनी प्रजाति की अस्मिता की दृष्टि से चाहे अच्छा हो; किन्तु सम्पूर्ण मानवता की दृष्टि से अनुचित है। हम भारतीय ही एक ओर जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद को कोसते हैं तो दूसरी ओर भारतीयता के नाम पर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। क्या हम यहाँ दोहरे मापदण्ड का उपयोग नहीं कर रहे हैं ? स्वतन्त्रता की बात को ही लें। क्या स्वतन्त्रता और सामाजिक अनुशासन सहगामी होकर चल सकते हैं ? आपातकाल को ही लीजिये, वैयक्तिक स्वतन्त्रता के हनन की दृष्टि से या नौकरशाही के हावी होने की दृष्टि से हम उसकी आलोचना कर सकते हैं किन्तु अनुशासन बनाये रखने और अराजकता को समाप्त करने की दृष्टि से उसे उचित ठहराया जा सकता है। वस्तुतः उचितता और अनुचितता का मूल्यांकन किसी एक दृष्टिकोण के आधार पर न होकर विविध दृष्टिकोणों के आधार पर होता है, जो एक दृष्टिकोण या अपेक्षा से नैतिक हो सकता है वही दूसरे दृष्टिकोण या अपेक्षा से अनुचित हो सकता है; जो एक परिस्थिति में उचित हो सकता है, वही दूसरी परिस्थिति में अनुचित हो सकता है। जो एक व्यक्ति के लिए उचित है, वही दूसरे के लिए अनुचित हो सकता है। एक स्थूल शरीर वाले व्यक्ति के लिए स्निग्ध पदार्थों का सेवन अनुचित है, किन्तु कृशकाय व्यक्ति के लिए उचित है; अतः हम कह सकते हैं कि नैतिक मूल्यांकन के विविध दृष्टिकोण हैं और इन

विविध दृष्टिकोणों के आधार पर विविध नैतिक प्रतिमान बनते हैं, जो एक ही घटना का अलग-अलग नैतिक मूल्यांकन करते हैं।

नैतिक मूल्यांकन परिस्थिति-सापेक्ष एवं दृष्टि-सापेक्ष मूल्यांकन हैं; अतः उनकी सार्वभौम सत्यता का दावा करना भी व्यर्थ है। किसी दृष्टि-विशेष या अपेक्षा-विशेष के आधार पर ही वे सत्य होते हैं। संक्षेप में, सभी नैतिक प्रतिमान मूल्य-दृष्टि-सापेक्ष हैं और मूल्य-दृष्टि स्वयं व्यक्तियों के बौद्धिक विकास, संस्कार तथा सांस्कृतिक सामाजिक एवं भौतिक पर्यावरण पर निर्भर करती है और चूँकि व्यक्तियों के बौद्धिक विकास, संस्कार तथा सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भौतिक पर्यावरण में विविधता और परिवर्तनशीलता है, अतः नैतिक प्रतिमानों में विविधता या अनेकता स्वाभाविक ही है।

वैयक्तिक शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक प्रतिमान सामाजिक शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक प्रतिमान से भिन्न होगा। इसी प्रकार वासना पर आधारित नैतिक प्रतिमान विवेक पर आधारित नैतिक प्रतिमान से अलग होगा। राष्ट्रवाद से प्रभावित व्यक्ति की नैतिक कसौटी अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक व्यक्ति की नैतिक कसौटी से पृथक् होगी। पूँजीवाद और साम्यवाद के नैतिक मानदण्ड भिन्न-भिन्न ही रहेंगे; अतः हमें नैतिक मानदण्डों की अनेकता को स्वीकार करते हुए यह मानना होगा कि प्रत्येक नैतिक मानदण्ड अपने उस दृष्टिकोण के आधार पर ही सत्य है।

कुछ लोग यहाँ किसी परम शुभ की अवधारणा के आधार पर किसी एक नैतिक प्रतिमान का दावा कर सकते हैं; किन्तु वह परम शुभ या तो इन विभिन्न शुभों या हितों को अपने में अन्तर्निहित करेगा, या इनसे पृथक् होगा; यदि वह इन भिन्न-भिन्न मानवीय शुभों को अपने में अन्तर्निहित करेगा तो वह भी नैतिक प्रतिमानों की अनेकता को स्वीकार करेगा; और यदि वह इन मानवीय शुभों से पृथक् होगा तो नीतिशास्त्र के लिए व्यर्थ ही होगा, क्योंकि नीतिशास्त्र का पूरा सन्दर्भ मानव-सन्दर्भ है। नैतिक प्रतिमान का प्रश्न तभी तक महत्त्वपूर्ण है जब तक मनुष्य मनुष्य है, यदि मनुष्य मनुष्य के स्तर से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त कर लेता है या मनुष्य के स्तर से नीचे उतरकर पशु बन जाता है तो उसके लिए नैतिकता या अनैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है और ऐसे यथार्थ मनुष्य के लिए नैतिकता के प्रतिमान अनेक ही होंगे। नैतिक प्रतिमानों के सन्दर्भ में यही अनेकान्तदृष्टि सम्यग्दृष्टि होगी। इसे हम नैतिक प्रतिमानों का अनेकान्तवाद कह सकते हैं।

§ १७. जैन दर्शन में सदाचार का मानदण्ड

फिर भी मूल प्रश्न यह है कि जैन दर्शन का चरम साध्य क्या है? जैन दर्शन अपने चरम साध्य के बारे में स्पष्ट है। उसके अनुसार व्यक्ति का चरम साध्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है, वह यह मानता है कि जो आचरण निर्वाण या मोक्ष की दिशा में जाता है वही सदाचार की कोटि में आता है। दूसरे शब्दों में जो आचरण मुक्ति का

कारण है वह सदाचार है; और जो आचरण बन्धन का कारण है, वह दुराचार है। किन्तु यहाँ पर हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि उसका मोक्ष अथवा निर्वाण से क्या तात्पर्य है। जैन धर्म के अनुसार निर्वाण या मोक्ष स्वभाव-दशा एवं आत्मपूर्णता को प्राप्ति है। वस्तुतः हमारा जो निज स्वरूप है उसे प्राप्त कर लेना अथवा हमारी बीजरूप क्षमताओं को विकसित कर आत्मपूर्णता का प्राप्ति ही मोक्ष है। उसकी पारस्परिक शब्दावली में परभाव से हटकर स्वभाव में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यही कारण था कि जैन दार्शनिकों ने धर्म की एक विलक्षण एवं महत्त्वपूर्ण परिभाषा दी है। उनके अनुसार धर्म वह है जो वस्तु का निज स्वभाव है (वत्थुसहावो धम्मो)। व्यक्ति का धर्म या साध्य वही हो सकता जो उसकी चेतना या आत्मा का निज स्वभाव है और जो हमारा निज स्वभाव है उसी को पा लेना ही मुक्ति है। अतः उस स्वभाव दशा की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचरण कहा जा सकता है।

पुनः प्रश्न यह उठता है कि हमारा स्वभाव क्या है। भगवतीसूत्र में गौतम ने भगवान् महावीर के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित किया था। वे पूछते हैं, "भगवान्, आत्मा का निज स्वरूप क्या है और आत्मा का साध्य क्या है ?" महावीर ने उनके सब प्रश्नों का जो उत्तर दिया था वही आज भी समस्त जैन आचारदर्शन में किसी कर्म के नैतिक मूल्यांकन का आधार है। महावीर ने कहा था, "आत्मा समत्व स्वरूप है और उस समत्व स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।" दूसरे शब्दों में समता स्वभाव है और विषमता विभाव है। और जो विभाव से स्वभाव की दिशा में अथवा विषमता से समता की दिशा में ले जाता है वही धर्म है, नैतिकता है, सदाचार है। अर्थात् विषमता से समता की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचार है। संक्षेप में जैन धर्म के अनुसार सदाचार या दुराचार के मानदण्ड समता एवं विषमता अथवा स्वभाव एवं विभाव के तत्त्व हैं। स्वभाव से फलित होने वाला आचरण सदाचार है और विभाव या परभाव से फलित होने वाला आचरण दुराचार है।

यहाँ हमें समता के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से समता का अर्थ परभाव से हटकर शुद्ध स्वभाव दशा में स्थित हो जाना है, किन्तु अपनी विविध अभिव्यक्तियों की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से समता या स्वभाव का अर्थ राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागता या अनासक्त भाव की उपलब्धि है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक समत्व का अर्थ है समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं से रहित मन की शान्त एवं विक्षोभ (तनाव) रहित अवस्था। यही समत्व जब हमारे सामुदायिक या सामाजिक जीवन में फलित होता है तो इसे हम अहिंसा के नाम से अभिहित करते हैं। वैचारिक दृष्टि से इसे हम अनाग्रह या अनेकान्त दृष्टि कहते हैं। जब हम इसी समत्व के आर्थिक पक्ष से विचार करते हैं तो अपरिग्रह के नाम से जानते हैं—साम्यवाद एवं न्यासी-सिद्धान्त इसी अपरिग्रह वृत्ति की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह समत्व ही मानसिक क्षेत्र में

अनासक्ति या वीतरागता के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र में अनाग्रह या अनेकान्त के रूप में और आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः समत्व निर्विवाद रूप से सदाचार का मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु 'समत्व' को सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करते हुए भी हमें उसके विविध पहलुओं पर विचार तो करना ही होगा क्योंकि सदाचार का सम्बन्ध अपने साध्य के साथ-साथ उन साधनों से भी होता है जिसके द्वारा हम उसे पाना चाहते हैं और जिस रूप में वह हमारे व्यवहार में और सामुदायिक जीवन में प्रकट होता है।

जहाँ तक व्यक्ति के चैत्तसिक या आन्तरिक समत्व का प्रश्न है हमे उसे वीतराग मनोदशा या अनासक्त चित्तवृति की साधना मान सकते हैं। फिर भी समत्व की साधना का यह रूप हमारे वैयक्तिक एवं आन्तरिक जीवन से अधिक सम्बन्धित है। यह व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। यह ठीक है कि व्यक्ति की मनोदशा का प्रभाव उसके आचरण पर भी होता है और हम व्यक्ति के आचरण का मूल्यांकन करते समय उसके इस आन्तरिक पक्ष पर विचार भी करते हैं किन्तु फिर भी यह सदाचार या दुराचार का प्रश्न हमारे व्यवहार के बाह्य पक्ष एवं सामुदायिक के साथ अधिक जुड़ा है। जब भी हम सदाचार एवं दुराचार के किसी मानदण्ड की बात करते हैं, तो हमारी दृष्टि व्यक्ति के आचरण के बाह्य पक्ष पर अथवा उस आचरण का दूसरों पर क्या प्रभाव या परिणाम होता है, इस बात पर अधिक होती है। सदाचार या दुराचार का प्रश्न केवल कर्ता के आन्तरिक मनोभावों या वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित नहीं है वह आचरण के बाह्य प्रारूप तथा हमारे सामाजिक जीवन में इसके आचरण परिणामों पर विचार करता है। यहाँ हमें सदाचार और दुराचार की व्याख्या के लिए कोई ऐसी कटौती खोजनी होगी जो आचार के बाह्य पक्ष अथवा हमारे व्यवहार के सामाजिक पक्ष को भी अपने में समेट सके। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में इस सम्बन्ध में एक सर्वमान्य दृष्टिकोण यह है कि परोपकार ही पुण्य है, और परपीड़ा ही पाप है। तुलसीदास ने इसे निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

'परहित सरिस धरम नहि भाई, पर-पीड़ा सम नहि अधमाई।'

अर्थात् वह आचरण जो दूसरों के लिए कल्याणकारी या हितकारी है सदाचार है, पुण्य है; और जो दूसरों के लिए अकल्याणकारी है, अहितकर है, वही पाप है, दुराचार है। जैन धर्म में सदाचार के एक ऐसे ही मानदण्ड की चर्चा हमें आचारांगसूत्र में उपलब्ध होती है। वहाँ कहा गया है, "भूतकाल के जितने अर्हत् हो गये हैं वर्तमान काल में जितने अर्हत् हैं और भविष्य में जितने अर्हत् होंगे वे सभी यह उपदेश करते हैं कि सभी प्राणों, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।" किन्तु मात्र दूसरे की हिंसा नहीं करने के अहिंसा के निषेधात्मक

पक्ष का या दूसरों के हित साधन को ही सदाचार की कसौटी नहीं माना जा सकता है। ऐसी अवस्थाएँ सम्भव हैं कि जब मेरे असत्य सम्भाषण एवं अनैतिक आचरण के द्वारा दूसरों का हितसाधन होता हो, अथवा कम से कम किसी का अहित न होता हो; किन्तु क्या ऐसे आचरण को सदाचार कहने का साहस कर सकेंगे। क्या वेश्या-वृत्ति के माध्यम से अपार धनराशि को एकत्रित कर उसे लोकहित के लिए व्यय करने मात्र से कोई स्त्री सदाचारी की कोटि में आ सकेगी। अथवा यौन वासना की संतुष्टि के वे रूप जिसमें किसी भी दूसरे प्राणी की हिंसा नहीं होती है, दुराचार की कोटि में नहीं आयेंगे। सूत्रकृतांग में सदाचारिता का एक ऐसा ही दावा अन्य तीर्थियों द्वारा प्रस्तुत भी किया गया था, जिसे महावीर ने अमान्य कर दिया था। क्या हम उस व्यक्ति को जो डाके डालकर उस सम्पत्ति को गरीबों में वितरित कर देता है, सदाचारी मान सकेंगे। एक चोर और एक सन्त दोनों ही व्यक्ति को सम्पत्ति के पाश से मुक्त करते हैं फिर भी दोनों समान कोटि के नहीं माने जाते। वस्तुतः सदाचार या दुराचार का निर्णय केवल एक ही आधार पर नहीं होता है। उसमें आचरण का प्रेरक आन्तरिक पक्ष अर्थात् उसकी मनोदशा और आचरण का बाह्य परिणाम अर्थात् सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव दोनों ही विचारणीय हैं। आचार की शुभाशुभता विचार पर, और विचार या मनोभावों की शुभाशुभता स्वयं व्यवहार पर निर्भर करती है। सदाचार या दुराचार का मानदण्ड तो ऐसा होना चाहिए जो इन दोनों को समाविष्ट कर सके।

साधारणतया जैन धर्म सदाचार का मानदण्ड अहिंसा को स्वीकार करता है, किन्तु यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि क्या केवल किसी को दुःख या पीड़ा नहीं देना या किसी की हत्या नहीं करना मात्र ही अहिंसा है? यदि अहिंसा की मात्र इतनी ही व्याख्या है तो फिर यह सदाचार और दुराचार का मानदण्ड नहीं बन सकती। जब कि जैन आचार्यों ने सदैव ही उसे सदाचार का एकमात्र आधार प्रस्तुत किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि अनृतवचन, स्तेय, मैथुन, परिग्रह आदि पापों के जो भिन्न-भिन्न नाम दिये गये वे तो केवल शिष्यबोध के लिए हैं। मूलतः तो वे सब हिंसा ही हैं। वस्तुतः जैन आचार्यों ने अहिंसा को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचारा है। वह आन्तरिक भी है और बाह्य भी। उसके सम्बन्ध व्यक्ति से भी हैं और समाज से भी। इसे जैन परम्परा में स्व की हिंसा और पर की हिंसा ऐसे दो भागों में बाँटा गया है। जब वह हमारे स्व स्वरूप या स्वभाव दशा का घात करती है तो स्व-हिंसा है और जब वह दूसरों के हितों को चोट पहुँचाती है वह पर की हिंसा है। स्व की हिंसा के रूप में वह आन्तरिक पाप है तो पर की हिंसा के रूप में वह सामाजिक पाप। किन्तु उसके ये दोनों रूप दुराचार की कोटि में ही आते हैं। अतः अपने इस व्यापक अर्थ में हिंसा को दुराचार की और अहिंसा को सदाचार की कसौटी माना जा सकता है। □

६

आचारदर्शन का तात्त्विक आधार

६ आचारदर्शन के तात्त्विक आधार

आचारदर्शन आदर्शमूलक विज्ञान है। वह नैतिक जीवन के आदर्श के निर्धारण एवं परमसत्ता से उसके सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है, अतः अपरिहार्य रूप से तात्त्विक चर्चा मे आ जाता है। नैतिकता का चरम साध्य, परमसत्ता (Reality) से उसका सम्बन्ध, आदि कुछ ऐसे प्रश्न है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तात्त्विक समस्याएँ प्रस्तुत कर देते है। इनका निराकरण किये बिना आचारदर्शन का सम्यक् विवेचन सम्भव नही है। प्रस्तुत अध्याय मे भारतीय आचारदर्शन के निम्न तात्त्विक आधारों की चर्चा की जायेगी—

१. आचारदर्शन और तत्त्वमीमासा का पारस्परिक सम्बन्ध।
२. सत् के स्वरूप की नैतिक समीक्षा।
३. जैन, बौद्ध और गीता की तत्त्वयोजना की तुलना।
४. नैतिकता की मान्यताएँ (Posulates of morality)।

§ १. आचारदर्शन और तत्त्वमीमांसा का पारस्परिक सम्बन्ध

तत्त्वमीमासा सत् के स्वरूप पर विचार करती है, जबकि आचारदर्शन जीवन-व्यवहार के आदर्शो एव मूल्यो का विचार करता है। वस्तुतः विचार के ये दोनों क्षेत्र एक-दूसरे के अति निकट है। जब हम एक-एक क्षेत्र मे गहराई से प्रवेश करते है तो निश्चित ही एक की सीमा का अतिक्रमण कर दूसरे क्षेत्र में प्रवेश करना होता है। मैकेंजी का कथन है कि (नीतिशास्त्र मे) जब हम यह पूछते है कि मानव-जीवन का मूल्य क्या है, तब हमे तत्काल यह भी पूछना पड़ता है कि मानव-व्यक्तित्व का तात्त्विक स्वरूप क्या है और वास्तविक जगत् मे उसका स्थान क्या है? निस्सन्देह यह सम्भव है कि नीतिशास्त्र मे हम कुछ दूर तक सत्तामीमांसा की अन्तिम समस्याओ का समाधान प्राप्त किये बिना चल सके, लेकिन (अन्ततोगत्वा) ये (समस्याएँ) हमे इन (तत्त्वमीमासात्मक) समस्याओ मे अनिवार्यतः उलझा ही देती हैं।[१] डा० राधाकृष्णन् भी आचारदर्शन और तत्त्वमीमांसा के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि कोई भी आचारशास्त्र तत्त्वदर्शन पर या चरमसत्य के एक दार्शनिक सिद्धान्त पर आश्रित अवश्य होगा। चरमसत्य के विषय में हमारी भावना के अनुरूप ही हमारा आचरण होगा। दर्शन और आचरण साथ-साथ चलते है।[२]

---

१. नीतिप्रवेशिका, पृ० २८.
२. इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६२६.

वस्तुतः जब तक हमें सत् के स्वरूप अथवा जीवन के आदर्श का बोध नहीं होता तब तक आचरण का मूल्यांकन भी सम्भव नहीं होता, क्योंकि यह मूल्यांकन तो व्यवहार या संकल्प के नैतिक आदर्श के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है और नैतिक आदर्श का निर्धारण सत् के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। यही एक ऐसा बिन्दु है जहाँ तत्त्वमीमांसा और आचारदर्शन मिलते हैं। अतः दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

मानवीय अनुभव के विषयों के एक सीमित भाग के व्यवस्थित अध्ययन को विज्ञान कहते हैं। लेकिन जब अध्ययन को दृष्टि व्यापक होती है और उन अनुभवों की आधारभूत मान्यताओं तक जाती है तब वह दर्शन कहलाती है। यद्यपि आचार-शास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र भी सीमित है, तथापि उसकी अध्ययनदृष्टि व्यापक है और इसी के आधार पर वह दर्शन का अंग है। मानवीय चेतना के तीन पक्ष हैं—(१) ज्ञानात्मक, (२) अनुभूत्यात्मक और (३) क्रियात्मक। अतः दार्शनिक अध्ययन के भी तीन विभाग किये गये, जो क्रमशः (१) तत्त्वदर्शन, (२) धर्मदर्शन और (३) आचारदर्शन कहे जाते हैं। इस प्रकार तत्त्वदर्शन, धर्मदर्शन और आचारदर्शन की विषयवस्तु भिन्न नहीं है, मात्र अध्ययन के पक्षों की भिन्नता है। मैकेंजी कहते हैं कि नीतिशास्त्र जीवन के सम्पूर्ण अनुभव पर संकल्प या क्रियाशीलता के दृष्टिकोण से विचार करता है। वह मनुष्य को कर्त्ता यानी किसी साध्य का अनुसरण करनेवाले प्राणी के रूप में देखता है और ज्ञाता या भोक्ता के रूप में उसे केवल परोक्षतः देखता है। लेकिन वह मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाशीलता का, जिस शुभ को पाने के लिए वह प्रयत्नशील है उसके सम्पूर्ण स्वरूप का, तथा इस प्रयत्न में वह जो कुछ करता है उसके पूरे अर्थ का विचार करता है।[1] चेतना के विविध पक्षों की विभिन्नता के आधार पर भी तत्त्वदर्शन, धर्मदर्शन और आचारदर्शन में एक सीमा के बाद भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि जीवन और जगत् एक ऐसी संगति है जिसमें सभी तथ्य परस्पर में इतने सापेक्ष हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

विचारपूर्वक देखा जाय तो जैन, बौद्ध एवं गीता के दर्शन भी तत्त्वदर्शन, धर्म-दर्शन और आचारदर्शन के मध्य विभाजक रेखा नहीं खींचते हैं। लगभग सभी भारतीय दर्शनों की यह प्रकृति है कि वे आचारशास्त्र को दर्शन से पृथक् नहीं करते हैं। इस सन्दर्भ में डा० रामानन्द तिवारी लिखते हैं कि न वेदान्त में और न किसी अन्य भारतीय दर्शन में आचारशास्त्र को दर्शन से पृथक् किया गया है। दर्शन मनुष्य के जीवन और ज्ञान के चरम सत्य की खोज का प्रतीक है, सत्य एक और अखण्ड है। अतः दर्शन के किसी पक्ष की मीमांसा, उसे अन्य पक्षों से पृथक् करके समुचित रीति से नहीं की जा सकती है। अस्तु, वेदान्त और अन्य भारतीय दर्शनों

१. नीतिप्रवेशिका, पृ० २१.

में यह आचारदर्शन सम्बन्धी चिन्तन सामान्य दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत् ही है, उससे पृथक् नहीं ।[1]

जैन दृष्टिकोण

जैन विचारकों ने जीवन के इन तीनों पक्षों को अलग-अलग देखा तो सही लेकिन उन्हें अलग-अलग किया नहीं। यही कारण है कि जैन दर्शन ने तत्त्वदर्शन, धर्मदर्शन और आचारदर्शन पर विचार तो किया, लेकिन इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं रखा। सभी एक दूसरे में इतने घुले-मिले हैं कि इन्हें एक दूसरे से पृथक् करना सम्भव ही नहीं है। न तो जैन आचारमीमांसा को तत्त्वमीमांसा और धर्ममीमांसा से पृथक् किया जा सकता है और न उनसे अलग कर उसे समझा ही जा सकता है। जैन दर्शन का मुद्रालेख "**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः**" मानवीय चेतना के अनुभूत्यात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक (संकल्पात्मक) तीनों पक्षों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है। यहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र क्रमशः धर्म, तत्त्वज्ञान और आचरण के प्रतीक हैं। इस प्रकार जहाँ मैकेंजी आदि पाश्चात्य विचारक नैतिकता में आचरणात्मक पक्ष को ही सम्मिलित करते हैं, वहाँ जैन विचारक नैतिकता में जीवन के तीनों पक्ष—अनुभूति, ज्ञान और क्रिया को सम्मिलित करते हैं। यही कारण है कि जैन आचारदर्शन का अध्ययन करते समय उसकी तत्त्वमीमांसा और धर्ममीमांसा को छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि उसकी तात्त्विक मान्यता 'अनन्तधर्मात्मक वस्तु' के आधार पर ही अनेकान्तवाद और नयवाद के सिद्धान्त खड़े हैं और अनेकान्तवाद को ही आचारदर्शन के क्षेत्र में वैचारिक अहिंसा कहा गया है। दूसरी ओर, अहिंसा ने जब व्यवहार के क्षेत्र को छोड़ विचार के क्षेत्र में प्रवेश किया तो वह अनेकान्त बन गयी। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से नैतिक सापेक्षता का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इस प्रकार तत्त्वदर्शन और आचारदर्शन एक दूसरे से अलग नहीं रह जाते। जहाँ तक धर्मदर्शन और आचारदर्शन के सम्बन्ध का प्रश्न है, जैन परम्परा में वे पूरी तरह एक दूसरे से मिले हुए हैं। धर्म ही नीति है और नीति ही धर्म है। दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची बन गये हैं। यदि जैन परम्परा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र समवेत रूप में मोक्ष-मार्ग है तो फिर तत्त्वदर्शन, धर्मदर्शन और आचारदर्शन एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् होकर नहीं रह सकते।

पाश्चात्य परम्परा में न केवल तत्त्वदर्शन और आचारदर्शन के सम्बन्ध पर विचार किया गया, वरन् उनकी पूर्वापरता का भी विचार किया गया है। स्पिनोजा प्रभृति कुछ विचारक तत्त्वदर्शन को प्राथमिक मानते हैं और उससे आचारदर्शन को फलित करते हैं। दूसरी ओर रशडाल प्रभृति कुछ विचारक आचारदर्शन को प्राथमिक मानते हैं और उसके आधार पर तत्त्वदर्शन की योजना करते हैं। जहाँ तक जैन विचारणा में तत्त्वज्ञान और आचारदर्शन में पूर्वापरता पर विचार करने का प्रश्न है,

---

१. शङ्कराचार्य का आचारदर्शन, पृ० ८४.

हमारी मान्यता में वहाँ पर आचारदर्शन ही प्राथमिक सिद्ध होता है। वह रशडाल की मान्यता की समर्थक है। जैन दर्शन में आचारदर्शन के आधार पर तत्त्वयोजना की गयी, न कि तत्त्वयोजना के आधार पर उन्होंने आचारदर्शन का निर्माण किया। डा० राधाकृष्णन आदि भी जैन परम्परा को दार्शनिक परम्परा की अपेक्षा आचार-मार्गीय परम्परा ही कहना अधिक पसन्द करते हैं। उसमें नैतिक दर्शन प्राथमिक है। डा० राधाकृष्णन लिखते हैं कि आध्यात्म-विद्या के विषय में जैनमत उन सब सिद्धान्तों के विरोध में है, जो नैतिक उत्तरदायित्व पर बल नहीं देते।[१] प्रो० हरियन्ना भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। वे लिखते हैं, "सच्ची बात यह है कि जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य आत्मा को पूर्ण बनाना है, न कि विश्व की व्याख्या करना।"[२] जैन दर्शन के सम्बन्ध में श्री जे० एल० जैनी का कथन है कि उसका मूलमन्त्र है ज्ञान के लिए जीवन नहीं, बल्कि जीवन के लिए ज्ञान है।[3] जैन तत्त्वमीमांसा में प्रमुख रूप से यही ध्यान रखा गया है कि वह उसके नैतिक दर्शन को परिपुष्ट करे। जैन दर्शन ने अपनी तत्त्व-मीमांसा में नैतिक पक्ष को ही उभारा है। सर्वदर्शनसंग्रह में इसे बड़े ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है—आस्रव संसार (दुःख) का हेतु है और संवर मुक्ति का हेतु है। यही मात्र आर्हत् दृष्टि का सार है, शेष सभी इसी का विस्तार मात्र है।[४]

बौद्ध दृष्टिकोण

बुद्ध न केवल तत्त्वमीमांसा और आचारदर्शन में अपरिहार्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, वरन् ऐसी तत्त्वमीमांसा को, जो नैतिक जीवन की समस्याओं से सम्बन्धित नहीं है, अनावश्यक भी मानते हैं। बुद्ध की दृष्टि में ऐसा समस्त तत्त्व-विवाद जो ब्रह्मचर्यवास (नैतिक जीवन) के लिए नही है, जो नैतिक जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं देता, वरन् उन्हें उलझा देता है, कोई मूल्य नही रखता। प्रो० व्हाइटहेड का बौद्ध धर्म के बारे मे यह कहना ध्यान देने योग्य है कि वह इतिहास में अनुप्रयुक्त तत्त्वमीमांसा का सबसे महान् दृष्टान्त है।[५] प्रो० हरियन्ना भी लिखते हैं कि बुद्ध के उपदेश में हमें शुद्ध तत्त्वमीमांसा का कोई सिद्धान्त नहीं मिलेगा। वह सैद्धान्तिक तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध थे।[६] बुद्ध के द्वारा तत्त्वमीमांसा की निरर्थकता के सम्बन्ध में मालुंक्यपुत्त को दिया गया उपदेश प्रसिद्ध है। वे कहते हैं, "हे मालुंक्यपुत्त, यदि कोई मनुष्य अपने शरीर में बाण का विषैला शल्य घुस जाने से छटपटाता हो तो आप्त-मित्र शल्य-क्रिया करने वाले वैद्य को बुला लायेंगे। परन्तु यदि वह रोगी उससे कहे

१. भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० २८६.
२. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० १७४.
३. आउटलाइन्स आफ जैनीज्म, पृ० ११२.
४. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ८०.
५. रिलीजन इन दी मेकिंग, पृ० ३९.
६. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० १३९.

कि मैं इस शल्य को तब तक हाथ नहीं लगाने दूँगा, जब तक कि मुझे इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि यह तीर किसने मारा ? वह मारने वाला ब्राह्मण था या क्षत्रिय ? वैश्य था या शूद्र ? काला था या गोरा ? उसका धनुष किस प्रकार का था ? धनुष की रस्सी किस पदार्थ की बनी हुई थी ? आदि, तो हे मालुंक्यपुत्त, उस परिस्थिति में वह मनुष्य इन बातों को जाने बिना ही मर जायेगा। इसी प्रकार जो कोई इस बात पर अड़ा रहेगा कि जगत् शाश्वत है या अशाश्वत, आदि बातों का स्पष्टीकरण हुए बिना मैं ब्रह्मचर्य का आचरण नहीं करूँगा, तो वह इन बातों को जाने बिना ही मर जायेगा।

हे मालुंक्यपुत्त, जगत् शाश्वत है या अशाश्वत, ऐसा विश्वास हो तो भी उससे धार्मिक आचरण में सहायता मिलेगी, ऐसी बात नहीं है। यदि ऐसा विश्वास हो कि जगत् शाश्वत है, तो भी जरा, मरण, शोक, परिदेव आदि से मुक्ति नहीं होती। इसी प्रकार जगत् शाश्वत नहीं है, शरीर और आत्मा एक है, या शरीर और आत्मा भिन्न है, मरण के पश्चात् तथागत को पुनर्जन्म प्राप्त होता है या नहीं, आदि बातों पर हम विश्वास रखें या न रखें; जन्म, जरा, मरण, परिदेव तो हैं ही। इसलिए मालुंक्यपुत्त, मैं इन बातों की चर्चा में नहीं पड़ा क्योंकि उस वाद-विवाद से ब्रह्मचर्य में किसी भी प्रकार की स्थिरता नहीं आ सकती। उस वाद से वैराग्य उत्पन्न नहीं होगा, पाप का निरोध नहीं होगा, और शान्ति, प्रज्ञा, सम्बोध एवं निर्वाण की प्राप्ति नहीं होगी।"[1] इस प्रकार बुद्ध ऐसी तत्त्वमीमासा को निरर्थक समझते थे जिसका व्यावहारिक जीवन की समस्याओं से सीधा सम्बन्ध नहीं था और जिसमें किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं था। ऐसे प्रश्नों को उन्होंने 'अव्याकृत' कहकर छोड़ दिया। बुद्ध ने ऐसे तत्त्वविचारकों को जो जगत् शाश्वत है या अशाश्वत है, आत्मा अमर है या नश्वर है, आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में वाद-विवाद करते हुए अपना समय व्यर्थ गँवाते हैं, निर्वाण का अधिकारी नहीं माना। उनकी दृष्टि में ऐसे लोग मार के बन्धन में फँस जाते हैं।[2] वे केवल उन्हीं तात्त्विक प्रश्नों की चर्चा करना उचित समझते थे, जिनका नैतिक जीवन से सीधा सम्बन्ध हो और इस रूप में उन्होंने केवल चार आर्यसत्यों या चार परमार्थों की चर्चा की।

गीता का दृष्टिकोण

गीता में भी तत्त्वमीमांसा और आचारदर्शन में अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। अर्जुन का मोह दूर करने और उसे कर्म में प्रवृत्त करने के लिए गीता में दिये गये अधिकांश तर्क तात्त्विक हैं। प्रथम तत्त्वमीमांसा और फिर उससे आचरण की दिशा-निर्धारण के प्रयत्न गीता में अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं।[3] गीता का आचारदर्शन उसके तत्त्वदर्शन पर खड़ा है। इस प्रकार जहाँ जैन और बौद्ध दर्शन

---

१. मज्झिमनिकाय, चूल मालुंक्यपुत्त सुत्त, ६३, पृ० २५४-२५५.

२. वही, निवापसुत्त, २५, पृ० १०१.

३. विशेष द्रष्टव्य—गीता, अध्याय २, ४, ११, १३ और १८.

आचारदर्शन के आधार पर तत्त्वमीमांसा को फलित करते हैं, वहाँ गीता तत्त्वमीमांसा के आधार पर आचार के नियमों को प्रतिपादित करती है। यहाँ गीता जैन और बौद्ध परम्परा से भिन्न है। यहाँ उसका दृष्टिकोण पाश्चात्य विचारक स्पिनोजा के अधिक निकट है। गीता में प्रस्तुत ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग, सभी पर उसकी तत्त्व-मीमांसा का स्पष्ट प्रभाव है। वे उसके तत्त्वदर्शन या ईश्वर (परमसत्ता) के स्वरूप के आधार पर निकाले गये नैतिक निष्कर्ष हैं। श्री संगमलाल पाण्डे स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि गीता का नीतिशास्त्र तत्त्वज्ञान या तत्त्वदर्शन पर आधारित है।[१] इतना ही नहीं, इस सन्दर्भ में आलोचकों को उत्तर देते हुए वे अधिक बल के साथ यह लिखते हैं कि हम गीता की यह एक बड़ी देन मानते हैं कि इसके अनुसार नीतिशास्त्र को तत्त्वज्ञानमूलक होना चाहिए।[२]

इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि तत्त्वदर्शन और आचारदर्शन में अपरिहार्य सम्बन्ध है। फिर भी जहाँ जैन और बौद्ध परम्पराएँ तात्त्विक समस्याओं को नैतिक दृष्टि से हल करने का प्रयत्न करती हैं, वहाँ गीता नैतिक समस्याओं को तात्त्विक बुद्धि से हल करने का प्रयत्न करती है। जहाँ जैन और बौद्ध परम्पराओं में आचारदर्शन को दृष्टि में रखकर परमार्थ या तत्त्व के स्वरूप की विवेचना की गयी है और तत्त्वदर्शन का निर्माण किया गया है, वहाँ गीता में तत्त्वदर्शन के आधार पर नैतिक जीवन के नियमों को प्रतिफलित किया गया है। जैन व बौद्ध दर्शनों में नैतिक मान्यताएँ आधार वाक्य है और तत्त्वदर्शन निष्कर्ष वाक्य है, जबकि गीता में तत्त्व का स्वरूप आधार वाक्य है और नैतिक नियम निष्कर्ष वाक्य है।

सत् के स्वरूप का आचारदर्शन पर प्रभाव

आचारदर्शन के परमसाध्य या नैतिक आदर्श का परमार्थ या सत् (Reality) के स्वरूप से निकट का सम्बन्ध है। यही नहीं, किसी दर्शन में नैतिकता का क्या स्थान होगा यह बात भी बहुत कुछ उसके सत् के स्वरूप के विवेचन पर निर्भर करती है। इसी प्रकार आचारदर्शन में ज्ञानमार्ग या कर्ममार्ग में से किसे प्रमुखता दी जावे, यह भी उसकी सत्-सम्बन्धी मान्यता पर निर्भर है। जो दर्शन सत् को अविकारी, अपरि-णामी एवं कूटस्थ मानते हैं, वे अपनी नैतिक साधना में ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते हैं, जबकि जो दर्शन सत् को परिणामी या परिवर्तनशील समझते हैं वे मुक्ति के साधन के रूप में आचरण या कर्म को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार परमार्थ या तत्त्व के स्वरूप की व्याख्या से आचारदर्शन प्रभावित होता है।

सत् के स्वरूप की विभिन्नता के कारण

जब मानवीय जिज्ञासुवृत्ति ने इन्द्रियज्ञान में प्रतीत होनेवाले इस जगत् के अन्तिम

---

१. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २८७.

२. वही, पृ० २९३.

रहस्य को समझने के लिए बौद्धिक गहराइयों में उतरना प्रारम्भ किया, तो परिणाम-स्वरूप सत् सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों का उद्भव हुआ। यद्यपि परमसत्ता, परमार्थ या सत् जो भी और जैसा भी है, वह है। लेकिन जब उसे इन्द्रियानुभव, बुद्धि और अन्तर्दृष्टि आदि विविध साधनों के द्वारा जानने एवं विवेचित करने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह इन साधनों की विविधताओं तथा वैचारिक दृष्टिकोणों की विभिन्नता से विविध रूप हो जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद का ऋषि कहता है "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" एक ही सत् को विद्वान् अनेक प्रकार से कहते हैं।[1] जिन्होंने मात्र इन्द्रिय-अनुभवों की प्रामाणिकता को स्वीकार कर उसे समझने का प्रयत्न किया उन्हें वह अनेक और परिवर्तनशील प्रतीत हुआ, और जिन्होंने इन्द्रिय-अनुभवों को प्रामाणिकता में सन्देह कर केवल बुद्धि के माध्यम से उसे समझने का प्रयास किया, उसे अद्वय, अव्यय और अविकार्य (अपरिणामी) पाया।

संक्षेप में सत् सम्बन्धी दृष्टिकोणों की विभिन्नता के निम्न कारण दिये जा सकते हैं—

१. इन्द्रियानुभव, बौद्धिक ज्ञान, अन्तर्दृष्टि आदि ज्ञान के साधनों की विविधता।

२. व्यक्तियों के दृष्टिकोणों, ज्ञानात्मक स्तरों तथा वैचारिक परिवेशों की विभिन्नताएँ।

३. भाषा की अपूर्णता तथा तज्जनित अभिव्यक्ति सम्बन्धी कठिनाइयाँ।

४. सत् एक पूर्णता है, ज्ञाता मनस् उसका ही एक अंश है, अंश अंशी को पूर्णरूपेण नहीं जान सकता। इस प्रकार हमारे ज्ञान की आंशिकता भी सत् सम्बन्धी दृष्टिकोणों की विविधता का कारण है।

भारतीय चिन्तन में सत् सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण

दार्शनिक जगत् में सत्-सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों के मूल मे प्रमुख रूप से तीन प्रश्न रहे हैं—

(अ) सत् के एकत्व और अनेकत्व का प्रश्न : इस सन्दर्भ में प्रमुख रूप से तीन सिद्धान्त सामने आये हैं। (१) एकत्ववाद (Monoism), (२) द्वितत्त्व-वाद (Dualism) और (३) बहुतत्त्ववाद (Pluralism)।

(ब) सत् के परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील होने का प्रश्न : इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो सिद्धान्त हैं—(१) सत् निर्विकार एवं अव्यय है (Being is Real) और (२) सत् का लक्षण परिवर्तनशीलता है या परिवर्तन ही सत् है (Becoming is Real)।

(स) सत् के भौतिक या आध्यात्मिक स्वरूप का प्रश्न : इस सम्बन्ध में भी प्रमुख रूप से दो दृष्टिकोण हैं—(१) भौतिकवाद (Materialism) और (२) अध्यात्मवाद (Idealism)।

१. ऋग्वेद, १।१६४।४६.

दार्शनिक जगत् के सभी तात्त्विक सिद्धान्त उपर्युक्त दृष्टिकोणों के विभिन्न संयोगों का परिणाम हैं। संक्षेप में प्रमुख भारतीय दर्शनों के सत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण निम्नानुसार हैं—

१. चार्वाक् दर्शन सत् को भौतिक, परिणामी एवं अनेक मानता है।

२. प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के अनुसार सत् परिवर्तनशील (अनित्य), अनेक और भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार का है।

३. बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद सम्प्रदाय के अनुसार सत् आध्यात्मिक, अद्वय एवं परिवर्तनशील है।

४. बौद्धदर्शन के माध्यमिक (शून्यवाद) सम्प्रदाय के अनुसार परमार्थ न परिणामी है और न अपरिणामी। वह एक भी नहीं है और नाना भी नहीं है, उसे निःस्वभाव कहा गया है।

५. जैन दर्शन में सत् को पर्यायदृष्टि से परिवर्तनशील, द्रव्यदृष्टि से ध्रौव्य (अव्यय) लक्षणयुक्त, भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार का, तथा अनेक माना गया है।

६. सांख्य दर्शन सत् को भौतिक (प्रकृति) एवं आध्यात्मिक (पुरुष) दोनों प्रकार का मानता है। साथ ही वह प्रकृति के सम्बन्ध में परिणामवाद को और पुरुष के सम्बन्ध में अपरिणामवाद (कूटस्थता के प्रत्यय) को स्वीकार करता है। इसी प्रकार वह प्रकृति के सन्दर्भ में अभेद में भेद की कल्पना करता है, जबकि पुरुष के सम्बन्ध में वास्तविक अनेकता को स्वीकार करता है।

७. न्याय-वैशेषिक दर्शन में सत् की अनेकता पर बल दिया गया है, यद्यपि वह अनेकता में अनुस्यूत एकता को भी स्वीकार करता है। उसमें सत् आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों प्रकार का है।

८. शांकर वेदान्त के अनुसार सत् या परमार्थ (ब्रह्म) आध्यात्मिक, अद्वय एवं अविकार्य है तथा जीव और जगत् की सत्ताएँ मात्र विवर्त हैं।

९. विशिष्टाद्वैतवाद (रामानुज) के अनुसार सत् (ईश्वर) एक ऐसी सत्ता है जिसमें भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों सत्ताएँ समाविष्ट हैं। वे परमसत्ता के परिणामीपन को स्वीकार करते हैं। उनका दर्शन ब्रह्म परिणामवाद है। साथ ही वे अभेद में भेद की सम्भावना को स्वीकार करते हैं।

स्वर्गीय डा० पद्मराजे ने सत्-सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोणों को पाँच वर्गों में विभाजित किया है।[1]

१. प्रथम वर्ग में सत् का अद्वय सिद्धान्त आता है, जो यह मानता है कि सत् अद्वय, अव्यय, अविकार्य एवं कूटस्थ है। परिवर्तन या अनेकता मात्र विवर्त है। सत्-

१. जैन थ्योरीज आफ रीयलिटी ऐण्ड नॉलेज, पृ० २५-२६.

सम्बन्धी इस विचार प्रणाली का प्रतिनिधित्व शंकराचार्य करते हैं। डा० चन्द्रधर शर्मा के मतानुसार विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध विचारणाएँ भी इसी वर्ग में आ सकती हैं।

२. दूसरे वर्ग में सत् का परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त आता है। इसके अनुसार सत् का लक्षण अनित्यता, क्षणिकता एवं परिवर्तनशीलता है। इस विचारधारा का अनुसरण प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन करता है। प्राचीन जैन और बौद्ध आगमों में वर्णित उच्छेदवाद को भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है।

३. तीसरे वर्ग में सत् का वह सिद्धान्त आता है जिसके अनुसार सत् में भेद और अभेद दोनों के होते हुए भी अभेद प्रधान है और भेद गौण है। भेद अभेद के अधीन है। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्तक रामानुज करते हैं। डा० पद्मराजे के अनुसार इनके अतिरिक्त सांख्य दर्शन, निम्बार्क, भास्कराचार्य, यादव प्रकाश तथा पाश्चात्य विचारक हेगल भी इसका समर्थन करते हैं। गीता को भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है। यद्यपि आचार्य शंकर ने उसे अद्वैतवादी और आचार्य मध्व ने उसे द्वैतवादी सिद्ध करने का प्रयास किया है, फिर भी हमारी विनम्र सम्मति में उनकी व्याख्याएँ गीता की मूल आत्मा के अधिक निकट नहीं कही जा सकतीं। गीता के सत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण की मूलात्मा सांख्य दर्शन और रामानुज के अधिक निकट है।

४. चौथे वर्ग का सिद्धान्त भी सत् में भेद और अभेद दोनों को स्वीकार करता है, लेकिन तीसरे वर्ग से इसका अन्तर इस आधार पर है कि यह अभेद को गौण और भेद को प्रमुख मानता है। मध्व इसी मत का प्रतिनिधित्व करते हैं। डा० पद्मराजे ने वैशेषिक दर्शन को भी इसी वर्ग का माना है।

५. पाँचवें वर्ग के सिद्धान्त में सत् को भेद और अभेदमय मानते हुए किसी एक को प्रमुख नहीं माना गया, वरन् दोनों को परस्परापेक्षी और सहयोगी माना गया है। भेद और अभेद दोनों सापेक्ष हैं और एक दूसरे पर निर्भर होकर ही अपना अस्तित्व रखते हैं, स्वतन्त्र होकर नहीं। जैन दर्शन इसी वर्ग में आता है।

यदि हम विभिन्न भारतीय दर्शनों या डा० पद्मराजे के उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर सत्-सम्बन्धी सिद्धान्तों की नैतिक समीक्षा करने का प्रयत्न करेंगे तो काफी विस्तार में जाना होगा तथा कुछ स्थितियों में उनकी एक दूसरे से निकटता के कारण अनावश्यक पुनरावृत्तियों से बचना सम्भव नहीं हो सकेगा। दूसरे, डा० पद्मराजे के इस वर्गीकरण में बौद्ध दर्शन को अद्वैत वेदान्त के ठीक विरोध में दिखाया गया है, यह भी समीचीन नहीं है। अतः हम समीक्षा की सुविधा की दृष्टि से पूर्वचर्चित तीन आधारों पर सत्-सम्बन्धी दो व्याघाती दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे और उनकी नैतिक दृष्टि से समीक्षा करते हुए इस सम्बन्ध में जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन और गीता की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

(अ) सत् का स्वरूप अद्वय, अविकार्य (अपरिणामी) और आध्यात्मिक है।
(शंकर)

(ब) सत् का स्वरूप अनेक, परिवर्तनशील (अनित्य) और भौतिक है।
(अजितकेशकम्बल)

प्राचीन जैन और बौद्ध आगमों में हमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद तथा अक्रियावाद और क्रियावाद के नाम से सत्-सम्बन्धी दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का उल्लेख मिलता है जो बहुत कुछ क्रमशः प्रथम और दूसरे वर्ग के निकट आते हैं।

अब हमें यह देखना है कि सत्-सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों परस्पर विरोधी दृष्टिकोण नैतिक जीवन की व्याख्या करने में कहाँ तक सफल अथवा असफल रहते हैं।

§ २. (अ) सत् के अद्वय, अविकार्य एवं आध्यात्मिक स्वरूप की नैतिक समीक्षा

सत्-सम्बन्धी एकतत्त्ववादी एकान्त धारणा में आचारदर्शन का क्या स्थान हो सकता है, यह चिन्त्य है। यदि सत् (ब्रह्म) भेदातीत है तो न तो उसमें वैयक्तिक साधक की सत्ता बनती है और न शुभाशुभ के लिए कोई स्थान हो सकता है। आचार-दर्शन के बन्धन और मुक्ति के प्रत्यय भी मात्र काल्पनिक ही रह जाते हैं। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं, तो फिर न तो कोई बन्धन में आनेवाला ही शेष रहता है, न मुक्त होनेवाला ही। यदि जीवात्मा अज्ञान से बन्धन में आता है और ज्ञानात्मक साधना द्वारा मुक्त होता है, तो जीवात्मा भी तो ब्रह्म से अभिन्न है। इसका अर्थ तो यह होगा कि ब्रह्म ही बन्धन में आता है, जो स्वयं में ही एक उपहासास्पद धारणा है। यदि यह कहा जाए कि जीव विवर्त है तो फिर जीव के सम्बन्ध में होने वाले बन्धन और मुक्ति भी विवर्त होंगे और बन्धन और मुक्ति के विवर्त होने पर सारी नैतिकता भी विवर्त होगी। ऐसी विवर्तमूलक नैतिकता का क्या मूल्य रहेगा, यह अद्वैतवादियों के लिए विचारणीय ही है।

दूसरे, यदि इस धारणा में विकार, परिवर्तन आदि का भी कोई स्थान नहीं है तो नैतिक पतन और नैतिक विकास या बन्धन और मुक्ति की धारणाएँ भी टिक नहीं पातीं। नैतिक पतन और विकास परिवर्तन ही है, जिनका मूल्यांकन नैतिक आदर्श के सन्दर्भ में किया जाता है।

तीसरे, यदि परमसत्ता आध्यात्मिक है तो बन्धन कैसे होता है? किसके कारण होता है? यह बताना कठिन होता है। दूसरे, तत्त्व की सत्ता माने बिना बन्धन की समीचीन व्याख्या नहीं हो सकती।

स्वयं अद्वैतवाद को भी अनेकता और बन्धन के कारण के लिए माया की धारणा को स्वीकार करना पड़ा। इतना ही नहीं, उसे अनादि भी मानना पड़ा। परमतत्त्व के समानान्तर अनादि माया की धारणा कठोर एकत्ववादी निष्ठा के प्रतिकूल है। बन्धन का कारण माया असत् तो नहीं कही जा सकती, क्योंकि असत् कारण वस्तुतः कारण ही

नहीं होता और यदि असत् को कारण माना जाये तो उसका कार्य भी असत् होगा और ऐसी स्थिति में बन्धन भी असत् होगा। अद्वैत के प्रतिपादक आचार्य शंकर की दृष्टि में भी बन्धन का कारण माया असत् नहीं है।[१] यदि उसे अनिर्वचनीय माना जाता है तो उसकी सत्ता माननी ही पड़ेगी, अनिर्वचनीय माया अभावात्मक नहीं हो सकती। यदि माया भावात्मक है, तो एक ब्रह्म के समक्ष एक दूसरी सत्ता खड़ी हो जायेगी और अद्वैतवाद खण्डित हो जायेगा। यदि उसे स्वतन्त्र सत्ता न मानकर ब्रह्म के आश्रित सत्ता कहा जाए तो आश्रयानुपपत्ति का आक्षेप लागू होगा। चाहे शंकर के अद्वैतवाद, नागार्जुन के शून्यवाद और आर्य असंग के विज्ञानवाद के तर्क तात्त्विक दृष्टि से सबल हों, लेकिन नैतिकता की सक्षम व्याख्या प्रस्तुत करने में तो वे निर्बल पड़ जाते हैं।

अनेक पाश्चात्य चिन्तकों ने भी इस एकत्ववादी सत् की धारणा में आचार-दर्शन की सम्भावना के प्रति शंका प्रकट की है। मेक्समूलर ने शाङ्करवेदान्त को एक कठोर एकत्ववाद की संज्ञा देकर उसमें आचार के मूल्य का अधिक स्थान स्वीकार नहीं किया। डा० अर्कहार्ट का 'सर्वेश्वरवाद और जीवन का मूल्य' सर्वेश्वरवादी (एकत्ववादी) विचारणा में आचारदर्शन की असम्भावना को सिद्ध करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वे लिखते हैं कि यह ब्रह्म (सत्) निर्गुण और भेदातीत है, अतः शुभाशुभ भेद से भी परे है। शुभाशुभ के भेद का निराकरण आचारशास्त्र के आधार का ही उन्मूलन कर देता है। वेदान्त में व्यक्तित्व को भी मिथ्या माना गया है। शुभाशुभ के भेद का निराकरण नैतिक निर्णय को असम्भव बना देता है और उसके साथ ही व्यक्ति की वास्तविकता का निषेध नैतिक निर्णय को अनावश्यक भी बना देता है।[२] कठोर अद्वैतवादी विचारधारा की नैतिक अक्षमता का चित्रण करते हुए आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि एकान्त अद्वैतवाद की धारणा में शुभाशुभ कर्मों का भेद, सुख-दुःखादि का फलभेद, स्वर्ग-नरक आदि का लोकभेद नहीं रहता है और न सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान तथा बन्धन और मोक्ष का ही भेद रहता है।[3] अतः ऐसा सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से सक्षम नहीं हो सकता। नैतिकता के लिए तो द्वैत एवं अनेकता आवश्यक है। डा० नथमल टाँटिया लिखते हैं कि एकान्त अद्वैतवादी धारणा को स्वीकार करने का अर्थ होगा—समाज, वातावरण, परलोक, तथा नैतिक और धार्मिक जीवन एवं तत्सम्बन्धी संस्थाओं की पूर्ण समाप्ति—लेकिन ऐसा दर्शन मानव-जाति के लिए उपादेय नहीं कहा जा सकता।[४] यह एक निश्चित तथ्य है कि कठोर एकतत्त्ववादी सत् की व्याख्या, जो परिवर्तन को मिथ्या स्वीकार करती है, आचारदर्शन का तात्त्विक आधार बनने में समर्थ नहीं है।

१. विवेकचूडामणि, माया निरूपण.
२. शंकराचार्य का आचारदर्शन, पृ० १६-१७.
३. आप्तमीमांसा, २५.
४. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० १७८.

शंकर का दृष्टिकोण एकान्त एकतत्त्ववादी नहीं है

शंकराचार्य के सत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण को ऐकान्तिक रूप में एकतत्त्ववादी मानकर उसमें जो आचारदर्शन की असम्भावना सिद्ध की जाती है, वह उचित नहीं है। डा० रामानन्द ने भी अपने ग्रन्थ 'शंकराचार्य का आचारदर्शन' में एकतत्त्ववादी, सर्वेश्वरवादी एवं मायावादी विचारप्रणाली का निरसन कर शांकर वेदान्त में भी जीव एवं जगत् की सत्ता को स्वीकार किया। वे लिखते हैं, "जीव और जगत् दोनों अत्यन्त विविक्त सत्ताएँ हैं, चाहे वे ब्रह्म से पृथक् कल्पनीय न हों। मायावाद का प्रसिद्ध सिद्धान्त—जगत् की सत्ता के प्रसंग में नितान्त असंगत है। जीवन की सत्ता वेदान्त का मूलाधार है।—मोक्षावस्था में जीवत्व और व्यक्तित्व के अक्षुण्ण रहने की सम्भावना के साथ वेदान्त में आचारदर्शन की सम्भावना भी अवगम्य हो जाती है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचारदर्शन की सम्भावना के लिए सत्-सम्बन्धी कठोर एकतत्त्ववाद एवं अपरिवर्तनशीलता के सिद्धान्त को छोड़ना आवश्यक हो जाता है। डा० रामानन्द ने शांकर दर्शन में आचारदर्शन की सम्भाव्यता को सिद्ध करने के प्रयास में उसे जिस स्तर पर लाकर खड़ा किया है, वहाँ शांकर दर्शन सत् की कठोर एकतत्त्ववादी धारणा से दूर हटकर अभेदाश्रित भेद की उस धारणा पर आ जाता है, जहाँ शंकर और रामानुज में कोई विशेष दूरी नहीं रह जाती। स्वयं डा० रामानन्द भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि रामानुज और शंकर में वह दूरी नहीं है, जैसी परवर्ती शंकरानुयायियों ने बतायी है।[2]

यदि शंकर एकान्त अद्वैतवादी हैं, तो निश्चित ही उनके दर्शन में आचारदर्शन की सम्भावनाएँ धूमिल हो जायेंगी, लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। एकतत्त्ववाद में आचारदर्शन की सम्भावना तो तब समाप्त हो जाती है, जबकि हर स्तर पर ही अभेद को माना जाये। लेकिन अद्वैत के प्रस्तोता आचार्य शंकर भी हर स्तर पर अभेद की धारणा को स्वीकार नहीं करते। अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार परमतत्त्व भेद एवं सीमाओं से निरपेक्ष है। उसका कहना है कि भेद मिथ्या है, लेकिन भेद या अनेकता के मिथ्या होने का अर्थ यह नहीं कि वह प्रतीति का विषय नहीं है। यद्यपि समस्या यह भी है कि मिथ्या अनेकता कैसे प्रतीति का विषय बन जाती है ? लेकिन यहाँ इस चर्चा को गहराई में जाना इष्ट नहीं है। अद्वैतवाद यह मानकर चलता है कि प्रतीति की दृष्टि से न केवल वस्तुगत अनेकता है वरन् व्यक्तिगत अनेकता भी है, और प्रतीति के क्षेत्र में इस भेद तथा अनेकता के कारण बन्धन और मुक्ति एवं नैतिकता और धर्म की सम्भावनाएँ भी हैं। इस प्रकार अद्वैतवादी भी केवल पारमार्थिक स्तर पर ही अभेद को मानते हैं; व्यावहारिक स्तर पर तो उन्हें भी भेद स्वीकार है। व्यावहारिक स्तर पर जब भेद स्वीकार कर लिया जाता है, तो आचारदर्शन की सम्भाव्यता अवगम्य

---

१. शंकराचार्य का आचारदर्शन, पृ० ६६-६७.

२. वही, पृ० ६२.

हो जाती है। हमारी दृष्टि में अद्वैतवादी जब तक पारमार्थिक स्तर पर अभेद और अद्वयता, और व्यावहारिक स्तर पर भेद और अनेकता को स्वीकार करते हैं तब तक कोई गलती नहीं करते। स्वयं जैन विचारक भी संग्रहनय एवं द्रव्यार्थिक दृष्टि से तो वस्तुतत्त्व में अभेद मानते ही हैं।[1] इस आधार पर भी अद्वैतवाद की आलोचना करना उचित नहीं होगा कि अद्वैत दर्शन में नैतिकता की अवगम्यता व्यावहारिक स्तर पर होती है। जैन विचारधारा में भी नैतिकता की अवधारणा व्यवहारनय या पर्यायार्थिक दृष्टि से ही सम्भव है।

शांकरदर्शन की मूलभूत कमजोरी

परमार्थदृष्टि से परमार्थ के अभेद को ही सत्य और व्यवहार के भेद को मिथ्या कहकर भी अद्वैतवादी कोई गलती नहीं करते हैं। पारमार्थिक अभेद की दृष्टि से व्यावहारिक भेद मिथ्या है, यह ठीक है; लेकिन उससे आगे बढ़कर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि व्यावहारिक भेद की अपेक्षा से पारमार्थिक अभेद भी मिथ्या होगा, क्योंकि वस्तुतत्त्व स्वापेक्षा से सत्य होता है, परापेक्षा से तो मिथ्या होता ही है। अद्वैतवादी आधी दूर आकर रुक जाते हैं। आगे बढ़कर व्यावहारिक भेद की अपेक्षा से पारमार्थिक अभेद को मिथ्या कहने का वे साहस नहीं करते। जब पारमार्थिक अभेददृष्टि की अपेक्षा व्यावहारिक भेददृष्टि को मिथ्या कहा जाता है, तो हमें यह ध्यान में रखना होगा कि यहाँ उसके मिथ्यात्व का प्रतिपादन अपेक्षा-विशेष से ही है। एक अपेक्षा के द्वारा दूसरी अपेक्षाओं का समग्र निषेध तो कभी हो नहीं सकता। किसी तीसरी अपेक्षा से दोनों ही यथार्थ हो सकते हैं। यदि हम कहें कि राम दशरथ की अपेक्षा से पुत्र हैं और इसलिए वे दशरथ की अपेक्षा से पिता नहीं हैं, तो इसमें उनके पितृत्व का समग्र निषेध नहीं होता; लव और कुश की अपेक्षा से वे पिता हो सकते हैं। अद्वैतवादी गलती यह करते हैं कि वे परमार्थदृष्टि की अपेक्षा से व्यवहार का पूर्ण निषेध मान लेते हैं। दशरथ की अपेक्षा से राम का पितृत्व मिथ्या है और पुत्रत्व सत्य है, और लव-कुश की अपेक्षा से राम का पुत्रत्व मिथ्या है और पितृत्व सत्य है; लेकिन राम की अपेक्षा से तो न पितृत्व मिथ्या है न पुत्रत्व मिथ्या है, वरन् दोनों ही यथार्थ हैं। उसी प्रकार परमार्थदृष्टि की अपेक्षा से व्यावहारिक भेद मिथ्या है, पारमार्थिक अभेद सत्य है। व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से व्यावहारिक भेद सत्य है, पारमार्थिक अभेद मिथ्या है। लेकिन परमतत्त्व की अपेक्षा से न अभेद मिथ्या है न भेद मिथ्या है, दोनों ही यथार्थ हैं। अद्वैतवादी विचारक यह क्यों भूल जाते हैं कि भेद और अभेद तो परमतत्त्व के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं। वे स्व-अपेक्षा से यथार्थ और पर-अपेक्षा से अयथार्थ होते हुए भी उस परमतत्त्व की अपेक्षा से तो दोनों ही यथार्थ हैं। अद्वैतवादी दर्शन का मानदण्ड लेकर नापनेवाले मनीषी डा० राधाकृष्णन् जैन दर्शन के अनेकान्तवादी यथार्थ-

---

१. (अ) तत्त्वार्थभाष्य, १।३५; (ब) अनुयोगद्वारसूत्र, १२३.

वाद को मार्ग में पड़ाव डालनेवाला कहते हैं।[1] लेकिन वास्तविकता यह है कि अद्वैत-वादी दर्शन केवल अभेद की अपेक्षा से व्यवहार-जगत् के भेद का निषेध कर बीच मार्ग में पड़ाव डाल देता है। वह आगे बढ़कर यह क्यों नहीं कहता कि व्यवहार के भेद की अपेक्षा से परमार्थ का अभेद या अद्वैत होना भी मिथ्या है और इससे भी आगे बढ़कर यह क्यों नहीं स्वीकार करता कि परमतत्त्व की अपेक्षा से तो भेद और अभेद दोनों ही यथार्थ हैं। अद्वैतवादी पारमार्थिक अभेद की अपेक्षा व्यावहारिक भेद को निम्नस्तरीय मानकर गलती करते हैं। पारमार्थिक दृष्टि और व्यावहारिक दृष्टि तो सत् के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं, उनमे से किसी को भी एक-दूसरे से हीन नही माना जा सकता। दोनों ही अपनी-अपनी जगह यथार्थ हैं। व्यावहारिक भेद भी उतना ही यथार्थ है, जितना पारमार्थिक अभेद। दोनों मे कोई तुलना नहीं की जा सकती। किन्हीं दो भिन्न-भिन्न स्थितियों से एक ही वस्तु के खींचे हुए चित्रों में कोई मिथ्या नहीं हो सकता। दोनों ही चित्र उन-उन स्थितियों की अपेक्षा से वस्तु का सही स्वरूप ही प्रकट करते हैं। दोनों ही समानरूप में यथार्थ हैं। उसी प्रकार सत् का भेदवादी दृष्टिकोण भी उतना ही यथार्थ है, जितना सत् का अभेदवादी दृष्टिकोण। क्योंकि दोनों सत्ता के ही पक्ष हैं। शांकरदर्शन की मूलभूत कमजोरी यह है कि वह पारमार्थिक और व्यावहारिक ऐसी दो सत्ताएँ खड़ी कर स्वयं ही अपने सिद्धान्त से पीछे हट जाता है। यदि शंकर दोनों की वास्तविक सत्ता मानते हैं तो उनका अद्वैत खण्डित होता है। दूसरी ओर यदि व्यवहार को मिथ्या कहते हैं, तो व्यावहारिक और पारमार्थिक ऐसी दो सत्ताएँ नही हो सकती। कुमारिल ने भी शंकर के दर्शन में यही दोष दिखाया है।[2] वस्तुतः परमार्थ और व्यवहार दो सत्ताएँ नहीं, सत् के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं और दोनो ही यथार्थ हैं।

जैन दार्शनिकों का अद्वैतवाद से न तो इसलिए कोई विवाद है कि वह पारमार्थिक दृष्टि से अभेद को मानता है, क्योंकि द्रव्यार्थिक दृष्टि से अभेद तो उन्हें भी स्वीकार है और न इसलिए कोई विरोध है कि अद्वैतवाद व्यावहारिक स्तर पर नैतिकता की धारणा को स्वीकार करता है, क्योंकि जैन विचारकों को भी यही दृष्टिकोण मान्य है। जैन दर्शन का अगर अद्वैतवाद से कोई विरोध है तो वह इतना ही है कि जहाँ अद्वैतवाद व्यवहार को मिथ्या मानता है वहाँ जैन दर्शन व्यवहार को भी यथार्थ मानता है। अद्वैतवाद के इस दृष्टिकोण के प्रति जैन दर्शन का आक्षेप यह है कि असत् व्यवहार से सत् परमार्थ को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। असत् नैतिकता सत् परमतत्त्व का साक्षात्कार नही करा सकता। अद्वैतवाद में असत् व्यावहारिक नैतिकता और सत् परमार्थिक परमतत्त्व मे कोई सम्बन्ध ही नही बन पाता क्योंकि उनमें एक असत् और दूसरा सत् है, जबकि जैन विचार में दोनों ही सत् हैं। जैन दर्शन में व्यवहार और परमार्थ दोनों

१. भारतीय दर्शन, खण्ड १, पृ० ३११.
२. जैन थ्योरीज आफ रियलिटी एण्ड नॉलेज, पृ० ३६ पर उद्धृत.

ही सत् की दो दृष्टियाँ होने से परस्पर सम्बन्धित हैं, जबकि अद्वैतवाद में वे परस्पर विरोधी सत्ताएँ होने से असम्बन्धित हैं। यही कारण है कि जैन दर्शन को सत् व्यावहारिक नैतिकता मन् पारमार्थिक आत्मतत्त्व का माक्षात्कार करा मकती हैं, क्योकि सत् मे ही मन् पाया जा मकता है, अमन् से मत् नही पाया जा मकता। विचारपूर्वक देखे तो अद्वैतवाद भी व्यवहार को अमत् कहने का माहस नही कर मकता क्योकि उसकी व्यावहारिक मत्ता को धारणा माया पर अवलम्बित है और यदि माया असत् नही है तो व्यावहारिक स्तर पर होनेवाले भेद एव परिवर्तन भी असत् नही हैं। यहाँ हम शंकर और जैन दर्शन मे उतनी दूरा नही पाते, जितनी कि आलोचको द्वारा बतायी गयी है।

२ (ब) सत् के अनेक, अनित्य और भौतिक स्वरूप की नैतिक समीक्षा

मत के अद्वय, अविकार्य (अव्यय) और आध्यात्मिक स्वरूप के ठीक विपरीत सत् की वह धारणा है जो उसे अनेक, अनित्य और भौतिक मानती है। महावीर के समकालीन अजितकेशकम्बल इस मत को मानने वाले प्रतीत होते हैं। यदि मत् का स्वरूप भौतिक है तो उसमे नैतिकता के लिए कोई भी स्थान नही रहेगा, क्योकि नैतिक विवेक, नैतिक मूल्य और नैतिक निर्णय सभी चैतसिक जीवन की अवस्थाएँ है। नैतिक मूल्य मात्र जैविक नही है, वे अतिजैविक एव आध्यात्मिक भी है। भौतिक सत् मे ऐसे मूल्यो के लिए कोई स्थान नही रह जाता। नैतिक मूल्य और नैतिक परमश्रेय किसी आध्यात्मिक सत्ता पर ही आधृत हो सकते है, उनका आदि-स्रोत आध्यात्मिक सत्ता है, भौतिक सत्ता नही। दूसरे, यदि मत् का स्वरूप भौतिक है और चेतना का प्रत्यय शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है ओर उसके विनष्ट हो जाने पर समाप्त हो जाता है, तो ऐसी स्थिति मे भी नैतिक जीवन के लिए क्या स्थान होगा, यह अवश्य ही विचारणीय है। सूत्रकृताग मे भी सत् की भौतिकवादी तथा देहात्मवादी विचारधारा को नैतिकता की समुचित व्याख्या के लिए असगत माना गया है, क्योकि वह शुभाशुभ कर्मो के फलभोग की व्याख्या नही कर पाती है।[1] काट नैतिकता के लिए आत्मा की अमरता के विचार को अनिवार्य ममझते है। इम प्रकार सत् की भौतिकवादी मान्यता नैतिकता की दृष्टि से अनुपयुक्त ही है।

अब हम सत् की अनित्यवादी और क्षणिकवादी मान्यता पर थोडा विचार करे।

बौद्ध दर्शन का अनित्यवादी दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन के अनुमार परिवर्तन ही सत् है। उसमे सत् को एक प्रक्रिया माना गया है। यहाँ मत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। इसमे वस्तुतत्त्व को उत्पादव्ययधर्मी कहा गया है।[2] परिवर्तन की धारणा को अनेक क्षणिक सत्ताओं की धारणाओ से दूर नही माना गया है, जो प्रथम क्षण मे उत्पन्न होती है और दूसरे क्षण मे किसी नवीन

---

१. सूत्रकृताग, २।१।९.
२. दीघनिकाय, महासुदस्सनसुत्त.

सत्ता को जन्म देकर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार सत् का यह प्रक्रिया या परिवर्तन-शीलता का सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवाद बन जाता है।

अनित्यवाद एवं क्षणिकवाद

सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन दार्शनिकों का इस धारणा के विपरीत यह कहना है कि यह ठीक है कि उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति सम्भव नही है, लेकिन उत्पत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई पदार्थ होना चाहिए। एकान्त नित्य-पदार्थ में परिवर्तन सम्भव नहीं और यदि पदार्थो को एकान्त क्षणिक माना जाय तो परिवर्तित कौन होता है, यह भी नही बताया जा सकता। आचार्य समन्तभद्र इस दृष्टिकोण पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि एकान्त क्षणिकवाद को मानने पर प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) असम्भव होगा और प्रेत्यभाव के अभाव मे पुण्य-पाप क्रियाओं के प्रतिफल तथा बन्धन और मोक्ष भी सम्भव नहीं होंगे। एकान्त क्षणिकवाद में प्रत्यभिज्ञा भी सम्भव नहीं है और प्रत्यभिज्ञा के अभाव में कार्यारम्भ भी नहीं होगा। फिर फल कहाँ से ?[1] युक्त्यनुशासन मे भी कहा गया है कि क्षणिकवाद में बन्धन और मोक्ष का कोई स्थान नहीं। संवृतिसत्य (व्यवहार) के रूप मे भी उन्हें नहीं बताया जा सकता, क्योंकि परमार्थ (सत्) तो मृषा स्वभाव (निःस्वभाव) है (यहाँ नागार्जुन के दृष्टिकोण पर कटाक्ष किया गया है)। मुख्य को समाप्त कर देने पर गौण का विधान सम्भव नहीं। अर्थात् यदि परमार्थ ही निःस्वभाव है तो फिर व्यवहार (संवृतिसत्य) का विधान कैसे होगा ? हे विचारक, तेरी विचारदृष्टि विभ्रान्त है। प्रत्येक क्षण मे उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाने वाले भंगों में बिना किसी नित्यतत्त्व के कोई तादात्म्य नहीं होगा और उनके पृथक्-पृथक् होने पर न तो पारिवारिक सम्बन्ध सम्भव होंगे और न धन का लेनदेन ही सम्भव होगा।[2] संक्षेप मे क्षणिकवाद पर पाँच आक्षेप लगाये गये है—(१) कृतप्रणाश, (२) अकृतभोग, (३) भवभंग, (४) प्रमोक्षभंग और (५) स्मृतिभंग।[3] इस प्रकार एकान्त क्षणिकवाद भी नैतिकता की समीचीन व्याख्या करने से सफल नहीं होता।

बुद्ध का अनित्यवाद उच्छेदवाद नहीं है

अनित्यता और क्षणिकता बौद्ध दर्शन के प्रमुख प्रत्यय हैं। भगवान बुद्ध ने अपने उपदेशों में इनपर बहुत अधिक बल दिया है। यह भी सत्य है कि बुद्ध सत् को एक प्रक्रिया (Process) या प्रवाह के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि मे प्रक्रिया एवं परि-वर्तनशीलता से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। क्रिया है, लेकिन क्रिया से भिन्न कोई कर्ता नहीं है। बौद्ध दर्शन के इन मन्तव्यों को लेकर आलोचकों ने उसे जिस रूप मे प्रस्तुत किया है, वह भगवान् बुद्ध के मूल आशय से बहुत दूर है। आलोचकों ने बुद्ध के

१. आप्तमीमांसा, ४०-४१.
२. युक्त्यनुशासन, १५-१६.
३. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, १८.

क्षणिकवाद को उच्छेदवाद मान लिया और उसी आधार पर उसपर आक्षेप किये हैं जो कि वस्तुतः उसपर लागू नहीं होते।

बुद्ध का क्षणिकवाद उच्छेदवाद नहीं कहा जा सकता। भगवान् बुद्ध ने तो स्वयं उच्छेदवाद की आलोचना की है। बुद्ध का विरोध जितना शाश्वतवाद से है, उतना ही उच्छेदवाद से भी है। वे उच्छेदवाद और शाश्वतवाद में से किसी भी वाद में पड़ना नहीं चाहते थे, इसीलिए उन्होंने वत्सगोत्र परिव्राजक के प्रति मौन रखा।

वत्सगोत्र परिव्राजक भगवान् से बोला, हे गौतम ! क्या 'अस्तिता' है ?

उसके यह पूछने पर भगवान् चुप रहे।

हे गौतम ! क्या 'नास्तिता' है ?

यह पूछने पर भी भगवान् चुप रहे।

तब, वत्सगोत्र परिव्राजक आसन से उठकर चला गया।

वत्सगोत्र परिव्राजक के चले जाने के बाद ही आयुष्मान् आनन्द भगवान् से बोले, भन्ते ! वत्सगोत्र परिव्राजक से पूछे जाने पर भगवान् ने उत्तर क्यों नहीं दिया ?

"आनन्द ! यदि मैं वत्सगोत्र परिव्राजक से 'अस्तिता है' कह देता, तो यह शाश्वतवाद का सिद्धान्त हो जाता और यदि मैं वत्सगोत्र से 'नास्तिता है' कह देता तो यह उच्छेदवाद का सिद्धान्त हो जाता।"[१]

बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के एकान्त-मार्ग से बचने के लिए सुख-दुःख को एकान्त रूप से आत्मकृत और परकृत मानने से इनकार किया, क्योंकि इनमें से किसी भी एक सिद्धान्त को स्वीकार करने पर उन्हें एकान्त या अतिवाद में जाने की सम्भावना प्रतीत हुई।

अचेलकाश्यप के प्रति वे कहते हैं, "काश्यप ! जो करता है वही भोगता है ख्याल कर, यदि कहा जाय कि दुःख अपना स्वयं किया होता है तो शाश्वतवाद हो जाता है। काश्यप ! 'दूसरा करता है और दूसरा भोगता है' ख्याल कर, यदि संसार के फेर में पड़ा हुआ मनुष्य कहे कि दुःख पराये का किया होता है तो उच्छेदवाद हो जाता है। काश्यप ! बुद्ध इन दो अन्तों को छोड़ सत्य को मध्यम प्रकार से बताते हैं।"[२]

बुद्ध तो मध्यममार्ग के प्रतिपादक हैं, भला वे किसी भी एकान्तदृष्टि में कैसे पड़ते ? उन्होंने सत् के एकत्व और अनेकत्व, अस्तित्व (स्थायी) और अनस्तित्व के एकान्तिक मार्गों का परित्याग करके मध्यममार्ग का ही उपदेश दिया है। लोकायतिक ब्राह्मण से अपने संवाद में स्वयं उन्होंने इसे अधिक स्पष्ट कर दिया है।

लोकायतिक ब्राह्मण भगवान् से बोला, हे गौतम ! क्या सभी कुछ है ?

हे ब्राह्मण ! ऐसा कहना कि 'सभी कुछ है' पहली लौकिक बात है।

---

१. संयुत्तनिकाय, अव्याकृतसंयुत्त, आनन्दसुत्त.

२. संयुत्तनिकाय, निदानसंयुत्त, अचेलकस्सपसुत्त.

हे गौतम ! क्या सभी कुछ नहीं है ?

हे ब्राह्मण ! ऐसा कहना कि 'सभी कुछ नहीं है' दूसरी लौकिक बात है ।

हे गौतम ! क्या सभी कुछ एकत्व (अद्वैत) है ?

हे ब्राह्मण ! ऐसा कहना कि 'सभी कुछ एकत्व है' तीसरी लौकिक बात है ।

हे गौतम ! क्या सभी कुछ नाना है ?

हे ब्राह्मण ! 'सभी कुछ नाना है' ऐसा कहना चौथी लौकिक बात है । ब्राह्मण ! इन अन्तों को छोड़ बुद्ध सत्य को मध्यम प्रकार से बताते हैं ।[1]

इसी बात की पुष्टि कात्यायनगोत्रीय श्रमण के सम्मुख की गयी सम्यग्दृष्टि की व्याख्या से भी होती है । आयुष्मान् कात्यायनगोत्र भगवान् से बोले, "भन्ते ! जो लोग 'सम्यक्-दृष्टि' कहा करते है वह 'सम्यक्-दृष्टि' है क्या ?"

"कात्यायन ! संसार के लोग दो अविद्याओं मे पडे है—(१) अस्तित्व की अविद्या मे, और (२) नास्तित्व की अविद्या मे ।

कात्यायन ! 'सभी कुछ विद्यमान है' यह एक अन्त है, 'सभी कुछ शून्य है' यह दूसरा अन्त है । कात्यायन ! बुद्ध इन दो अन्तों को छोड़ सत्य को मध्यम प्रकार से बताते है ।"[2]

इस प्रकार सत्-सम्बन्धी बौद्ध दृष्टिकोण अनित्यतावादी होते हुए भी उच्छेदवाद नही है । आलोचकों ने उसे उच्छेदवाद समझकर जो आलोचनाएँ प्रस्तुत की है, वे चाहे उच्छेदवाद के सन्दर्भ में संगत हो लेकिन बौद्ध दर्शन के सन्दर्भ मे नितान्त असंगत हैं । बुद्ध सत् के परिवर्तनशील पक्ष पर जोर देते है, इतने मात्र से उसे उच्छेदवाद नहीं माना जा सकता । बुद्ध के इस कथन का कि क्रिया है कर्ता नहीं, यह अर्थ कदापि नहीं है कि बुद्ध कर्ता या क्रियाशील तत्त्व की सत्ता का निषेध करते है । उनके इस कथन का तात्पर्य इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्ता नहीं है, परिवर्तन से भिन्न सत्ता नहीं है । सत्ता और परिवर्तन मे पूर्ण तदात्म्य है, सत्ता से भिन्न परिवर्तन और परिवर्तन से भिन्न सत्ता की स्थिति नही है। परिवर्तन और परिवर्तनशील अन्योन्याश्रित या सापेक्ष है, निरपेक्ष नही । वस्तुतः बौद्ध दर्शन का सत् सम्बन्धी दृष्टिकोण जैन दर्शन से उतना दूर नहीं है जितना कि मान लिया गया है। बुद्ध ने निषेधात्मक भाषा में सत् के सम्बन्ध में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद को अस्वीकार किया और उसे अनुच्छेद एवं अशाश्वत कहा ।[3] महावीर ने स्वीकारात्मक भाषा में उसे 'नित्यानित्य' कहा । बौद्ध दर्शन की आलोचना केवल निषेधात्मक पक्ष पर अधिक बल देने के रूप मे ही की जा सकती है ।

सत् के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण

सत् सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों विरोधी दृष्टिकोण नैतिक जीवन की व्याख्या के

१. संयुत्तनिकाय, निदानसंयुत्त, लोकायतिकसुत्त.
२. संयुत्तनिकाय, निदानसंयुत्त, कच्चानगोत्तसुत्त.
३. विशेष द्रष्टव्य—माध्यमिक कारिका, १.

सन्दर्भ में पूर्णतया असंगत है। यही कारण है कि आचारमार्गीय परम्परा के प्रतिनिधि बुद्ध ने उनका परित्याग करना आवश्यक माना। महावीर ने अपनी अनेकान्तवादी और समन्वयवादी परम्परा के अनुसार उनमें समन्वय स्थापित कर नैतिक जीवन के सन्दर्भ में उन्हें संगत बनाने का प्रयत्न किया। कहा जाता है कि महावीर ने केवल 'उपन्नेइवा, विगमइवा और धुवेइवा' इस त्रिपदी का उपदेश दिया और गणधरों ने इसी दर्शन सम्बन्धी मूल आशय के आधार पर द्वादशागों की रचना की।[1] इस प्रकार सत् के स्वरूप सम्बन्धी महावीर का यह उपदेश जैन दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है जिसपर उसकी तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचारदर्शन खड़े हुए हैं। तत्त्वार्थसूत्र मे उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक सत्[2] कहकर सत् को उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता से युक्त कहा है। उत्पाद और व्यय सत् के परिवर्तनशील पक्ष को व्यक्त करते हैं और ध्रुवता उत्पत्ति तथा विनाश के मध्य भी उसके वही बने रहने वाले पक्ष का सूचक है। ध्रुवता उत्पत्ति और विनाश का आधार है और उनके मध्य योजक कडी है। यदि ध्रौव्यात्मक पक्ष को अस्वीकार किया जायगा तो उत्पत्ति और विनाश परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगे और सत्ता अनेक क्षणिक एवं परस्पर असम्बन्धित सत्ताओं मे विभक्त हो जायेगी। अनेक क्षणिक एवं परस्पर असम्बन्धित सत्ताओं की धारणा मे नैतिक व्यक्तितत्त्व का विच्छेद हो जायेगा और नैतिक उत्तरदायित्व तथा बन्धन और मोक्ष की व्याख्या नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार यदि इसके परिवर्तनशील पक्ष को अस्वीकार किया गया तो नैतिक जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ सम्भव नहीं होंगी। नैतिक विकास और नैतिक पतन तथा नैतिक कर्म सभी समाप्त हो जायेंगे। अत: नैतिक दृष्टि मे सत् की यही धारणा समीचीन है। जैन दर्शन सत् मे दोनो पक्षों की अवधारणा कर दोनों प्रकार के आक्षेपों मे अपने को बचा लेता है। इसी प्रकार जैन दर्शन सत् के आध्यात्मिक (जीव) एवं भौतिक (अजीव) ऐसे दो प्रकार को मानकर आत्म के बन्धन के कारण की भी समुचित व्याख्या करता है।

जैन दर्शन मे सत् के अपरिवर्तनशील पक्ष को 'द्रव्य' और परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है, लेकिन द्रव्य और पर्याय अन्योन्याश्रित एवं सापेक्ष हैं और कभी भी एक दूसरे मे स्वतन्त्र नही रहते। द्रव्य के बिना कोई पर्याय नहीं होती और पर्यायों से शून्य कोई द्रव्य नही होता। द्रव्य की पर्यायें (परिवर्तनशील अवस्थाएँ) दो प्रकार की होती हैं[3] (१) स्वभावपर्याय और (२) विभावपर्याय। जो पर के निमित्त से होती हैं वे ही विभावपर्याय है। आत्मद्रव्य की विभावपर्यायें जो पुद्गल के निमित्त से होती है, आत्मा के बन्धन की सूचक है; जबकि स्वभावपर्याय मुक्ति की सूचक है। नैतिक जीवन का अर्थ है विभावपर्याय से स्वभावपर्याय में आना। इस प्रकार जैन

१. जैन सत्यप्रकाश, कार्तिक १९९३, पृ० ३१९ पर सार्व सिद्धान्तनां जड (कापडिया).
२. तत्त्वार्थसूत्र, ५।२९.
३. समयसार टीका, २-३.

दर्शन में सत् दो प्रकार के माने गये है—(१) आध्यात्मिक (जीव) और (२) भौतिक (अजीव)। ये दोनों परिणामीनित्य है।

जैन दृष्टिकोण की गीता से तुलना

गीता का दृष्टिकोण कुछ अर्थों मे जैन दर्शन के समान है और कुछ अर्थों में भिन्न है। जहा जैन दर्शन आध्यात्मिक एवं भौतिक ऐसी दो स्वतन्त्र सत्ताएँ मानता है, वहाँ गीता मे आध्यात्मिक (जीवात्मा) और भौतिक (प्रकृति) सत्ताओं को स्वीकार करते हुए भी उन्हे परमसत्ता का ही अंग माना गया है। जीवात्मा और प्रकृति (माया) दोनों ही परमेश्वर के अंग है। क्षेत्र या भौतिक सत्ता के सन्दर्भ मे गीता और जैन दर्शन दोनों का ही दृष्टिकोण समान है। दोनों ही उसे परिणामीनित्य मानते हैं। जहाँ तक आध्यात्मिक सत्ता (आत्मा) का प्रश्न है, गीता में उसे कूटस्थनित्य माना गया है, जबकि जैन दर्शन मे उसे भी परिणामीनित्य माना गया है।

जैन, बौद्ध और गीता के दर्शनों में सत् के स्वरूप की तुलना को निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है —

दर्शन	सत्ताएँ	स्वरूप
जैन	जीव (आत्मा)	परिणामीनित्य
	अजीव (भौतिक सत्ता)	परिणामीनित्य
बौद्ध	नाम (विज्ञान या चित्त)	परिणामी
	रूप (भौतिक सत्ता)	परिणामी
गीता	परमात्मा	कूटस्थनित्य
	जीव	कूटस्थनित्य
	प्रकृति	परिणामीनित्य

§ ३. जैन, बौद्ध और गीता में तत्त्वयोजना की तुलना

सत् के स्वरूप की चर्चा एवं नैतिक समीक्षा करने के बाद अब हम जैन दर्शन की तत्त्वयोजना की व्याख्या एवं उसकी गीता और बौद्ध दर्शन से तुलना करेंगे।

जैन तत्त्वयोजना एवं उसकी नैतिक प्रकृति

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार (१) जीव, (२) अजीव, (३) बन्ध, (४) पुण्य, (५) पाप, (६) आस्रव, (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष, ये नौ तत्त्व माने गये है।[1] तत्त्वार्थसूत्र मे पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत मानकर सात तत्त्वो का विधान है।[2] जीव की नैतिक कर्ता के रूप मे और अजीव की नैतिक कर्ता के कर्मक्षेत्र बाह्य जगत् के रूप मे तात्त्विक सत्ताएँ है। जीव और अजीव के अतिरिक्त शेष तत्त्व वस्तुतः नैतिक

१. उत्तराध्ययन, २८।१४.

२. तत्त्वार्थसूत्र, १।४.

प्रकृति के हैं। उनका सम्बन्ध सत्ता से नहीं, नैतिक प्रक्रिया से है। वे नैतिक प्रक्रिया के रूप में ही अपना अस्तित्व रखते हैं, उससे स्वतन्त्र उनकी कोई सत्ता नहीं है। मूल द्रव्य तो जीव और अजीव ही है, शेष तत्त्व तो जीव और कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध की सापेक्ष अवस्थाओं का कथन करते हैं। दूसरे शब्दों में, ये विभिन्न नैतिक अवस्थाओं को ही अभिव्यक्त करते हैं। बन्धन का कारण क्या है? बन्धन क्यों और कैसे होता है? उससे छूटने का उपाय क्या है? या कैसे छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है? छुटकारा मिलने के पश्चात् आत्मा किस स्थिति में रहती है? आदि नैतिक समस्याओं के समाधान का प्रयास इस तत्त्वयोजना में परिलक्षित है। पुण्य और पाप कर्मो के शुभत्व अथवा अशुभत्व का निश्चय करते हैं, आस्रव बन्धन के कारण की व्याख्या करता है, तो बन्ध आत्मा के बन्धन के स्वरूप एवं प्रकृति का विवेचन करता है। संवर बन्ध के निरोध का उपाय है, तो निर्जरा बन्धन की शृंखला को तोड़ने की विधि है और मोक्ष सारी नैतिक साधना की फलश्रुति है।

इस तत्त्वयोजना में जीव और अजीव ये दो तत्त्व मात्र ज्ञेय माने गये हैं, जबकि पाप, आस्रव और बन्ध यह तीनों हेय (त्याज्य) और पुण्य, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये चारों उपादेय (वरेण्य) माने गये हैं। पाप, आस्रव और बन्ध इन तीन से बचना चाहिए, जबकि पुण्य, संवर और निर्जरा इन तीन का आचरण करना चाहिए। अन्तिम तत्त्व मोक्ष वह आदर्श है जिसकी उपलब्धि के लिए इनका आचरण किया जाता है। यद्यपि निर्वाण के साधक के लिए पुण्य का आचरण भी लक्ष्य नहीं है, फिर भी साधना-मार्ग में सहायक होने के कारण उसकी आवश्यकता स्वीकार की गयी है। निर्वाण के साधक के लिए पुण्य भी बन्धन का कारण होने से शास्त्रकारों ने पुण्य को भी हेय या त्याज्य ही माना है। आचार्य श्री विनयचन्द्र कहते हैं, "पुण्य-पाप आस्रव परिहरिये, हेय पदारथ मानो रे।" एक अन्य आचार्य ने भी ज्ञेय, हेय एवं उपादेय के वर्गीकरण में पुण्य को हेय ही माना है। उनके अनुसार बन्ध, आस्रव, पुण्य और पाप हेय (त्याज्य) हैं, जीव और अजीव यह दो ज्ञेय हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय (वरेण्य)।[1]

इस प्रकार जैन तत्त्वयोजना की यह प्रकृति उसमें नैतिक पक्ष की प्रमुखता को स्पष्ट करती है और हमारे उस पूर्व कथन का समर्थन करती है कि 'जैन दर्शन में तत्त्व-मीमांसा के आधार पर नैतिकता खड़ी नहीं हुई है, वरन् नैतिकता के आधार पर तत्त्व-मीमांसा की योजना की गयी है।'

बौद्ध तत्त्वयोजना एवं उसकी नैतिक प्रकृति

बौद्ध दर्शन में चार आर्यसत्यों एवं चार परमार्थो का विवेचन उपलब्ध है। चार आर्यसत्य इस प्रकार हैं—(१) दुःख, (२) दुःख का हेतु, (३) दुःखनिरोध और (४) दुःख-निरोध का मार्ग।[2] अभिधम्मत्थसंगहो में निम्न चार परमार्थ बताये हैं—(१) चित्त,

१. आत्मसाधनासंग्रह, पृ० ३१ पर उद्धृत.

२. धम्मपद, २७३.

(२) चैत्तसिक, (३) रूप और (४) निर्वाण।[1] बौद्ध परम्परा के चारों आर्यसत्य पूर्णतः नैतिक जीवन प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं। दुःख चित्त के समस्त विषयों या जागतिक उपादानों की नश्वरता, जन्म-मरण की भवपरम्परा और चित्त के बन्धन का प्रतीक है। दुःख का हेतु जन्म-मरण की भवपरम्परा के कारणों का सूचक है। वह अनैतिक जीवन के कारणों एवं स्थितियों की व्याख्या करता है। वह बताता है कि दुःख या जन्म-मरण की परम्परा अथवा अनैतिकता के हेतु क्या हैं। इन हेतुओं की व्याख्या के रूप में ही उसे प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम भी कहा जाता है। चतुर्थ आर्यसत्य—दुःख-निरोध का मार्ग—यह बताता है कि यदि दुःख सहेतुक है तो हेतु का निराकरण भी सम्भव है। दुःख के हेतुओं का निराकरण कैसे हो सकता है यह बताना चतुर्थ आर्यसत्य का प्रमुख उद्देश्य है। इस रूप में वह नैतिक जीवनपद्धति या अष्टांगमार्ग की व्याख्या करता है। तृतीय आर्यसत्य दुःख-निरोध नैतिक साधना की फलश्रुति के रूप मे निर्वाण-अवस्था का सूचक है। चारों परमार्थो में चित्त को नैतिक जीवन के प्रमुख सूत्रधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। चैत्तसिक चित्त की कुशल, अकुशल या नैतिक-अनैतिक अवस्थाएँ हैं। चैत्तसिक चित्त की अवस्थाएँ है और चित्त चैत्तसिक अवस्थाओं का समूह है। रूप चित्त का आश्रयस्थान एवं कार्यक्षेत्र है। निर्वाण तृष्णा का क्षय हो जाना है।

यदि हम चार आर्यसत्यों और चार परमार्थो पर सम्मिलित रूप से विचार करते हैं तो उनमें तृतीय आर्यसत्य दुःखनिरोध और चतुर्थ परमार्थ निर्वाण एक ही है। चैत्तसिकों का या तो चित्त में अन्तर्भाव हो जाता है या उनका अन्तर्भाव प्रथम तीन आर्यसत्यों में किया जा सकता है। इस प्रकार हमारे पास ६ प्रत्यय बचते हैं— (१) चित्त, (२) रूप, (३) दुःख, (४) दुःखहेतु, (५) दुःखनिरोध का मार्ग और (६) दुःख-निरोध या निर्वाण।

जैन तत्त्वयोजना से तुलना

उपर्युक्त ६ प्रत्ययों की तुलना जैन तत्त्वयोजना से निम्न रूप में की जा सकती है। बौद्ध दर्शन का चित्त या विज्ञान तात्त्विक दृष्टि से जैन दर्शन के जीव के प्रत्यय से भिन्न है, फिर भी नैतिक कर्ता के रूप में दोनों समान हैं। इसी प्रकार रूप का प्रत्यय जैन दर्शन के अजीव के तुल्य है। बौद्ध परम्परा का दुःख जैन परम्परा के बन्धन के समान है, जबकि दुःखहेतु की तुलना आस्रव से की जा सकती है क्योंकि जैन परम्परा में आस्रव को बन्धन का और बौद्ध परम्परा में दुःखहेतु (प्रतीत्यसमुत्पाद) को दुःख का कारण माना गया है। इसी प्रकार दुःखनिरोध का मार्ग (अष्टांगमार्ग) जैन परम्परा के संवर और निर्जरा से तुलनीय हैं। दुःखनिरोध या निर्वाण की तुलना जैन परम्परा के मोक्ष से की जा सकती है।

गीता की तत्त्वयोजना

गीता में परमतत्त्व के रूप में 'परमात्मा' को स्वीकार किया गया है और उसी

---

१. अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० १.

के अंश रूप में जीवात्मा और प्रकृति (माया) की स्थिति मानी है। नैतिक दर्शन की अपेक्षा से गीता का जीवात्मा जैन परम्परा का जीव है और प्रकृति के कारण अज्ञानावृत होना बन्धन है और आत्मा की सत्ता के साररूप परमात्मा को पा लेना मुक्ति है। गीता मे बन्धन के कारणों एवं मुक्ति के उपायों की चर्चा तो है, लेकिन उनका तत्त्व के रूप मे कोई विवेचन नही है।

जैन, बौद्ध और गीता के तत्त्वों की तुलनात्मक तालिका

जैन	बौद्ध	गीता
जीव	नाम (चित्त या विज्ञान)	जीवात्मा
अजीव	रूप	प्रकृति
बन्धन	दुःख	जीवात्मा और प्रकृति का संयोग
आस्रव	दुःखहेतु (प्रतीत्यसमुत्पाद)	अज्ञान
संवर } निर्जरा }	दुःखनिरोध का मार्ग (अष्टांगमार्ग)	ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग
मोक्ष (निर्वाण)	दुःखनिरोध (निर्वाण)	परमात्मा की प्राप्ति (निर्वाण)

§ ४. नैतिक मान्यताएँ

प्रत्येक विज्ञान सुव्यवस्थित अध्ययन के लिए कुछ आधारभूत मान्यताएँ लेकर चलता है जो कि उसकी समग्र तार्किक समीक्षाओं और निष्कर्षों के मूल मे होती है। उन्ही के आधार पर उस विज्ञान मे तर्कसंगत सिद्धान्तो का निर्धारण होता है। अतः प्रत्येक विज्ञान के लिए अपनी मान्यताओ मे विश्वास और निष्ठा रखना आवश्यक है। यदि हम उन आधारभूत मान्यताओं मे निष्ठा नही रखते है तो हमारे लिए उस विज्ञान के निष्कर्ष निरर्थक हो जाते है। उदाहरणार्थ, यदि कोई प्रकृति की समरूपता तथा कारणता के नियम मे विश्वास न रखे तो उसके लिए भौतिक विज्ञान के निष्कर्षों का क्या मूल्य रहेगा ?

आचारदर्शन मे नैतिक मान्यताएँ भी वे आधारभूत तत्त्व है, जिनके अभाव मे नैतिक जीवन भ्रममात्र और दुर्बोध होता है। नैतिक मान्यताएँ आचारदर्शन के भव्य महल के वे स्तम्भ है जिनके जर्जरित हो जाने पर वह भव्य महल ढह जाता है। आचारदर्शन का भव्य महल इन्ही नैतिक मान्यताओं के प्रति अटूट निष्ठा पर अवस्थित है। यदि हम इनके प्रति संदेहशील रहे तो हमारे लिए नैतिकता अर्थहीन हो जायेगी। अतः हमें इनपर निष्ठा रखकर ही आगे बढ़ना होगा। नैतिक मान्यताओं पर निष्ठा रखना इसलिए भी आवश्यक है कि वे वैज्ञानिक स्वयंसिद्धियों से भिन्न है। वैज्ञानिक स्वयंसिद्धियों का बौद्धिक प्रत्याख्यान सम्भव नहीं है, जबकि नैतिक मान्यताओं का बौद्धिक प्रत्याख्यान सम्भव है क्योंकि उनकी सिद्धि तर्कशास्त्र के नियमों से नही होती। नैतिक मान्यताओं का आधार न तर्क है न स्वयंसिद्धि, वरन् आस्था है।

सूत्रकृतांग में सदाचार या नैतिक जीवन के लिए कुछ बातों में आस्तिक्य बुद्धि रखने का स्पष्ट निर्देश है और विस्तारपूर्वक यह बताया है कि कौन-सी मान्यताएँ सदाचारी जीवन में बाधक हैं और कौन-सी मान्यताएँ सहायक हैं।[१]

यदि नैतिक मान्यताएँ मात्र पूर्वकल्पनाएँ या मनोकामना हैं और उनका बौद्धिक प्रत्याख्यान (तार्किक निरसन) सम्भव है तो फिर उनका क्या मूल्य होगा ? यदि हम उन्हें नैतिक दृष्टि से तर्क के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न भी करें तो वह मात्र कामनाओं का औचित्यीकरण होगा।

पाश्चात्य आचारदर्शन में कांट और अरबन ने इस प्रश्न की समीक्षा की है। कांट कहते हैं कि ये मान्यताएँ तर्कसिद्ध सिद्धान्त नहीं हैं, अपितु पूर्वकल्पनाएँ हैं जो व्यवहारतः अनिवार्य हैं। यद्यपि ये हमारे बौद्धिक ज्ञान का विस्तार नहीं करती हैं, तथापि व्यवहार के प्रसंग में बौद्धिक प्रत्ययों को वस्तुनिष्ठ सत्यता (Objective Reality) प्रदान करती हैं।[२] श्री संगमलाल पाण्डे कहते हैं कि कांट ने नैतिक मान्यताओं के बौद्धिक प्रत्याख्यान से यह निष्कर्ष निकाला कि कोरा बौद्धिक विवेचन निस्सार है और नैतिक व्यवहार उस वस्तु को सिद्ध कर देता है जिसे कोरा बौद्धिक विवेचन असिद्ध या संशयग्रस्त छोड देता है।[3] श्री अरबन लिखते हैं कि नैतिक मान्यताओं को कामना (मनोकल्पना) कहने से यह सिद्ध नहीं होता कि नैतिक मान्यताओं में कोई सत्यता नहीं है। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि उस सत्य को पाने की बलवती कामना होने के कारण वह सत्य है और उसकी प्राप्ति भी सम्भव है। विज्ञान की मान्यता केवल उसके प्रतिपाद्य विषय की व्याख्या के लिए है। उसका जीवन और व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु नैतिक मान्यताएँ वास्तव में वे सत्य हैं जिनसे मनुष्य जीते हैं। यदि वे भ्रम या असत्य हो जायें तो वस्तुतः हमारा जीना ही समाप्त हो जाये।[४]

पाश्चात्य आचारदर्शन की नैतिक मान्यताएँ

पाश्चात्य आचारदर्शन में सर्वप्रथम कांट ने तीन नैतिक मान्यताओं की स्थापना की—(१) संकल्प की स्वतन्त्रता, (२) आत्मा की अमरता और (३) ईश्वर का अस्तित्व। केल्डरउड ने संकल्प की स्वतंत्रता एवं अमरता के अतिरिक्त व्यक्तित्व, बौद्धिकता (मनीषा) तथा शक्ति को भी नैतिक जीवन के लिए आवश्यक माना है। कांट नैतिक प्रगति की अनिवार्यता के आधार पर आत्मा की अमरता को सिद्ध करते हैं,

१. सूत्रकृतांग, २।५।१२-२६.
२. कांट्स सेलेक्शन, पृ० ३६८.
३. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ४५-४६.
४. फण्डामेण्टल्स ऑफ इथिक्स, पृ० ३५७-३५९.

जबकि अरबन ने उसे भी स्वतन्त्र रूप से नैतिकता की मान्यता कहा। रशडाल विश्व के बौद्धिक प्रयोजन, काल तथा अमंगल की वास्तविकता को भी नैतिकता की मान्यता के अन्तर्गत ले आते हैं। बोसांके भी अमंगल की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हैं। संक्षेप में, पाश्चात्य आचारदर्शन में स्वीकृत मुख्य नैतिक मान्यताएँ हैं— (१) मनीषा (विवेकबुद्धि) और कर्मशक्ति से युक्त आत्मा (व्यक्तित्व), (२) आत्मा की अमरता, (३) आत्मा की स्वतन्त्रता, (४) ईश्वर का अस्तित्व (नैतिक मूल्यों का स्रोत एवं नैतिक जीवन का आदर्श), (५) नैतिक प्रगति (नैतिक पूर्णता की सम्भावना) तथा (६) अमंगल (अशुभ) की वास्तविकता।

भारतीय आचारदर्शन की नैतिक मान्यताएँ

भारतीय आचारदर्शन में कर्मसिद्धान्त को नैतिकता की मूलभूत मान्यता कहा जा सकता है। कर्मसिद्धान्त कर्म और उनके प्रतिफल के अनिवार्य सम्बन्ध को सूचित करता है। कर्मसिद्धान्त की सहयोगी नैतिक मान्यताएँ हैं—पुनर्जन्म की धारणा (आत्मा की अमरता) एवं कर्म के चयन की स्वतन्त्रता। इसी प्रकार कर्मफल के प्रदाता अथवा नैतिक जीवन के आदर्श के रूप में ईश्वर के अस्तित्व की मान्यता भी भारतीय आचारदर्शन में रही है। इनके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में बन्धन (दुःख) और उसके कारण तथा बन्धन से मुक्ति (दुःख-विमुक्ति) और उसके उपाय (साधनापथ) भी नैतिक मान्यता के अन्तर्गत आते हैं।

जैनदर्शन की नैतिक मान्यताएँ

जैन दर्शन की तत्त्वयोजना में स्वीकृत नव तत्त्वों का बहुत कुछ सम्बन्ध नैतिक मान्यता से है। फिर भी पाश्चात्य परम्परा के साथ सुविधापूर्ण तुलना के लिए जैन तत्त्व-योजना के आधार पर नैतिक मान्यताओं को निम्न रूप में रखा जा सकता है।

(अ) कर्ता से सम्बन्धित नैतिक मान्यताएँ—(१) आत्मा का बौद्धिक एवं आनन्दमय स्वरूप, (२) आत्मा की अमरता या पुनर्जन्म का प्रत्यय, (३) आत्मा की स्वतन्त्रता।

(ब) कर्म से सम्बन्धित नैतिक मान्यताएँ—(४) कर्मसिद्धान्त, (५) बन्धन (दुःख) तथा उसके कारण, (६) कर्म का शुभत्व, अशुभत्व एवं शुद्धत्व, (७) बन्धन से मुक्ति के उपाय (संवर एवं निर्जरा)।

(स) नैतिक साध्य से सम्बन्धित नैतिक मान्यताएँ—(८) नैतिक जीवन का ऐहिक आदर्श (अर्हत्व), (९) नैतिक जीवन का चरम साध्य (मोक्ष)।

बौद्ध आचारदर्शन की नैतिक मान्यताएँ

चार आर्यसत्य ही बौद्ध दर्शन की नैतिक मान्यताएँ हैं। दुःख या अमंगल की उपस्थिति यह प्राथमिक नैतिक मान्यता है। दुःख के कारण की व्याख्या के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद दूसरी नैतिक मान्यता है जो कि जैन दर्शन में स्वीकृत कर्मसिद्धान्त

के समान ही है। चतुर्थ आर्यसत्य मे बौद्ध दर्शन दुःखनिवृत्ति के उपाय के रूप में अपने साधना मार्ग का निर्देश करता है। बौद्ध दर्शन की यह मान्यता जैन दर्शन के त्रिविध साधनापथ के समान ही है। बौद्ध दर्शन मे तीसरे आर्यसत्य के रूप मे निर्वाण की धारणा है जो नैतिक साध्य है।

गीता की नैतिक मान्यताएँ

गीता के आचारदर्शन मे नैतिक मान्यताओं के रूप मे जीवात्मा, कर्मसिद्धान्त और ईश्वर के प्रत्यय स्वीकृत रहे है।

नैतिक मान्यताएँ आचारदर्शन के मौलिक तात्त्विक आधार है, वे आचारदर्शन की नींव के समान है। उनके अभाव मे आचार के भव्य महल का निर्माण सम्भव नही है।

भारतीय चिन्तन मे आत्मा के अस्तित्व की अवधारणा कर्मसिद्धान्त की अवधारणा और ईश्वर के अस्तित्व की अवधारणा के पीछे मूलरूप से नीतिशास्त्र को एक ठोस तात्त्विक आधार प्रदान करने की दृष्टि रही है। इसलिए चाहे आत्मा के अस्तित्व को या ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न हो, उसे नैतिक आधार पर ही पुष्ट करने का प्रयास हुआ है। □

७

आत्मा का स्वरूप और नैतिकता

७ आत्मा का स्वरूप और नैतिकता

§ १. नैतिकता और आत्मा

नैतिकता जीवन के आदर्श की उपलब्धि का प्रयास है। वह एक मार्ग है जो उस आदर्श की ओर जाता है। वह एक गति है जो आदर्श की उपलब्धि की दिशा की ओर जाती है। नैतिकता एक क्रिया भी है, एक मार्ग भी है; वह आदर्श की उपलब्धि का प्रयास होने से क्रिया है और आदर्शाभिमुख होने से मार्ग। वह ऐसी क्रिया है जो अपूर्णता से पूर्णता की ओर, बन्धन से मुक्ति की ओर, दुःख से दुःखविमुक्ति की ओर ले जाती है।[1]

लेकिन विसुद्धिमग्ग के अनुसार यदि केवल यह कहा जाय कि वहाँ मात्र क्रिया है कर्त्ता नहीं, मार्ग है चलनेवाला नहीं, दुःख है दुःखित नहीं, परिनिर्वाण (दुःखविमुक्ति) है परिनिवृत नहीं[2]—तो इतने से बुद्धि को सन्तोष नहीं होता। यद्यपि बौद्ध दर्शन के अनुसार क्रिया से भिन्न कर्त्ता की स्थिति नहीं है तथापि सामान्य व्यक्ति के लिए तो बिना कर्त्ता के क्रिया की सम्भावना ही नहीं है। बिना पथिक के मार्ग का कोई अर्थ नहीं है।

नैतिक चिन्तन शुभाशुभ का विवेक है, और वह विवेक किसी चैतन्य तत्त्व में हो सकता है। बिना किसी ऐसे विवेक क्षमतायुक्त, शुभाशुभ के ज्ञाता चैतन्यतत्त्व की स्वीकृति के नैतिक दर्शन का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। नैतिकता कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं वरन् एक वास्तविक या यथार्थ प्रत्यय है। नैतिकता का सम्बन्ध संकल्प और क्रिया (शुभेच्छा एवं कर्म) से है, लेकिन संकल्प और क्रिया चेतन-तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ ही तो हैं। आचारदर्शन के अनुसार जिसमें नैतिक आदर्श का बोध, नैतिक विवेक और नैतिक जीवन का अनुसरण करने की क्षमता है, उसे आत्मा या 'स्व' (Self) कहा जाता है।

कोई भी आचारदर्शन बिना आत्म-तत्त्व के विवेचन के आगे नहीं बढ़ता। आत्म-तत्त्व वह केन्द्र-बिन्दु है जिसके आसपास नैतिक दर्शन गति करता है। नैतिकता की कोई भी व्याख्या आत्मा के अभाव में सम्भव नहीं है। नैतिकता का प्रत्यय आत्मा के प्रत्यय का अनुगामी है। नैतिक जीवन और नैतिक दर्शन आत्म-सापेक्ष हैं। नैतिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना के लिए आत्म-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना अनिवार्य है। किसी

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, १।३।२८.

२. विसुद्धिमग्ग, उद्धृत—बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० ५११.

भी नैतिक सिद्धान्त का समुचित मूल्यांकन आत्मासम्बन्धी सिद्धान्त के प्रकाश में और आत्मासम्बन्धी सिद्धान्त का मूल्यांकन नैतिक सिद्धान्त के प्रकाश में ही किया जा सकता है। बुद्ध के अनात्मवाद के सिद्धान्त के पीछे अनासक्ति का नैतिक दर्शन ही था और उपनिषदों के एकात्मवाद के पीछे नैतिक दर्शन का आत्मवत् दृष्टि या समत्वभाव का सिद्धान्त ही था। जो लोग आत्मस्वरूप की व्याख्या के अभाव में किसी भी नैतिक विचार का मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं अथवा नैतिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ के बिना ही उसके आत्मासम्बन्धी सिद्धान्त को समझने की कोशिश करते हैं, वे भ्रान्ति में हैं।

§ २. आत्मा के प्रत्यय की आवश्यकता

आत्मा का प्रत्यय नैतिक विचारणा के लिए क्यों आवश्यक है? इस प्रश्न का समुचित उत्तर निम्न तर्कों के आधार पर दिया जा सकता है—

१. नैतिकता एक विचार है, जिसे किसी विचारक की अपेक्षा है।

२. नैतिकता या अनैतिकता कार्यों के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है। सामान्य जन विचारपूर्वक सम्पादित कार्यों के आधार पर उसके कर्त्ता को नैतिक अथवा अनैतिक मानता है, अतः विचारपूर्वक कार्यों को सम्पादित करनेवाला स्वचेतन कर्त्ता नैतिक दर्शन के लिए आवश्यक है।

३. शुभाशुभ का ज्ञान एवं विवेक नैतिक उत्तरदायित्व की अनिवार्य शर्त है। नैतिक उत्तरदायित्व किसी विवेकवान चेतना के अभाव में सम्भव नहीं है।

४. नैतिक या अनैतिक कर्मों के लिए कर्त्ता उसी स्थिति में उत्तरदायी है, जब कर्म स्वयं कर्त्ता का हो। यह स्व (Self) का विचार आत्मा का विचार है एवं आत्माश्रित है।

५. नैतिक उत्तरदायित्व के लिए कर्म कर्त्ता के संकल्प (Will) का परिणाम होना चाहिए। संकल्प-चेतना (आत्मा) के द्वारा ही हो सकता है।

६. नैतिक एवं अनैतिक कर्म के सम्पन्न होने के पूर्व विभिन्न इच्छाओं एवं वासनाओं के मध्य संघर्ष होता है और उसमें से किसी एक का चयन होता है, अतः इस संघर्ष का द्रष्टा एवं चयन का कर्त्ता कोई स्वचेतन आत्म-तत्त्व ही हो सकता है।

७. नैतिक उत्तरदायित्व में संकल्प की स्वतन्त्रता अनिवार्य शर्त है और संकल्प की स्वतन्त्रता स्वचेतन (आत्मचेतन) आत्मतत्त्व में ही हो सकती है।

८. यदि नैतिकता एक आदर्श है तो आदर्श की अभिस्वीकृति और उसकी उपलब्धि का प्रयास आत्मा के द्वारा ही सम्भव है।

जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न पर समुचित रूप से विचार करने के लिए हमें यह जान लेना होगा कि किसी तर्कसिद्ध नैतिक दर्शन के लिए किस प्रकार के आत्मसिद्धान्त की आवश्यकता है और जैन दर्शन की तत्सम्बन्धी मान्यताएँ कहाँ तक नैतिक विचारणा के अनुकूल हैं। यहाँ तात्त्विक समालोचनाओं में न जाकर मात्र नैतिकता की दृष्टि से ही आत्म-सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार किया गया है।

§ ३. आत्मा का अस्तित्व

जहाँ तक नैतिक जीवन का प्रश्न है आत्मा के अस्तित्व पर शंका करके आगे बढना असम्भव है। जैन दर्शन में नैतिक विकास की पहली शर्त आत्मविश्वास है। जैन विचारकों ने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं—

१. जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है, क्योंकि असद् की कोई सार्थ संज्ञा ही नहीं बनती।[१]

२. जीव है या नहीं, यह सोचना मात्र ही जीव की सत्ता को सिद्ध करता है। देवदत्त जैसा सचेतन प्राणी ही यह सोच सकता है कि वह स्तम्भ है या पुरुष।[२]

३. शरीर स्थित जो यह सोचता है कि मैं नहीं हूँ, वही तो जीव है। जीव के अतिरिक्त संशयकर्ता अन्य कोई नहीं है। यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव ही कैसे हो कि मैं हूँ? जो निषेध कर रहा है वह स्वयं ही आत्मा है। संशय के लिए किसी ऐसे तत्त्व की अनिवार्यता है जो उसका आधार हो। बिना अधिष्ठान के किसी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। संशय का अधिष्ठान कोई न कोई अवश्य होना चाहिए। महावीर गौतम से कहते है, हे गौतम! यदि संशयी ही नहीं है तो 'मैं हूँ' या 'नहीं हूँ' यह संशय कहाँ से उत्पन्न होता है? यदि तुम स्वयं ही अपने खुद के विषय में सन्देह कर सकते हो तो फिर किसमें संशय न होगा।[3] क्योंकि संशय आदि जितनी भी मानसिक और बौद्धिक क्रियाएँ है, सब आत्मा के कारण ही हैं। जहाँ संशय होता है, वहाँ आत्मा का अस्तित्व अवश्य स्वीकारना पडता है। जो प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। आत्मा स्वयंसिद्ध है, क्योंकि उसी के आधार पर संशयादि उत्पन्न होते हैं। सुखदुःखादि को सिद्ध करने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। ये सब आत्मपूर्वक ही हो सकते है।[४] आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है, वही आत्मा है।[५]

आचार्य शंकर भी ब्रह्मसूत्रभाष्य में ऐसे ही तर्क देते हुए कहते हैं कि जो निरसन कर रहा है वही तो उसका स्वरूप है।[६] आत्मा के अस्तित्व के लिए स्वतः बोध को शंकर भी एक प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार करते है। वे कहते है कि सभी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, कोई भी ऐसा नहीं कहता है कि मैं नहीं हूँ।[७] अन्यत्र शंकर स्पष्ट रूप से यह भी कहते है कि बोध से सत्ता को और सत्ता से बोध को पृथक

१. विशेषावश्यक भाष्य, १५७५.
२. वही, १५७१.
३. वही, १५५७.
४. जैन दर्शन, पृ० १५४.
५. आचारांग, १।५।५।१६६.
६. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, ३।१।७.
७. वही, १।१।२.

नहीं किया जा सकता।[1] यदि हमे आत्मा का स्वतः बोध होता है तो उसकी सत्ता निर्विवाद है।

पाश्चात्य विचारक देकार्त ने भी इसी तर्क के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। वह कहता है कि सभी के अस्तित्व मे सन्देह किया जा सकता है, परन्तु सन्देह मे सन्देह करना तो सम्भव नही है, सन्देह का अस्तित्व सन्देह से परे है। सन्देह करना विचार करना है और विचारक के अभाव मे विचार नही हो सकता। मै विचार करता हू, अतः मै हूँ। इस प्रकार देकार्त के अनुसार भी आत्मा का अस्तित्व स्वयसिद्ध है।[2]

आत्मा अमूर्त्त है, अतः उसको उस रूप मे तो नही जान सकते जैसे घट पट आदि वस्तुओ का इन्द्रियप्रत्यक्ष के रूप मे ज्ञान होता है। लेकिन इतने मात्र से उसका निषेध नही किया जा सकता। जैन आचार्यों ने इसके लिए गुण और गुणी का तर्क दिया है। घट आदि जिन वस्तुओ को हम जानते है उनका भी यथार्थप्रत्यक्ष नही हो सकता क्योंकि हम जिनका प्रत्यक्ष होता है, वह घट के रूपादि गुणो का प्रत्यक्ष है। लेकिन घट मात्र रूप नही है, वह तो अनेक गुणो का समूह है जिन्हे हम नही जानते, रूप (आकार) तो उनमे से एक गुण है। जब रूपगुण के प्रत्यक्षीकरण को घट का प्रत्यक्षीकरण मान लेते है और हमे कोई संशय नही होता, तो फिर ज्ञानगुण से आत्मा का प्रत्यक्ष क्यो नही मान लेते।[3]

आधुनिक वैज्ञानिक भी अनेक तत्त्वो का वास्तविक प्रत्यक्ष नही कर पाते है, जैसे ईथर; फिर भी कार्यों के आधार पर उनका अस्तित्व मानते है एवं स्वरूप-विवेचन भी करते है। फिर आत्मा के चेतनात्मक कार्यों के आधार पर उसके अस्तित्व को क्यो न स्वीकार किया जाय ? वस्तुतः आत्मा या चेतना के अस्तित्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विवाद का विषय नही है। भारतीय चिन्तको मे चार्वाक एवं बौद्ध तथा पश्चिम मे ह्यूम, जेम्स आदि विचारक आत्मा के अस्तित्व का निषेध करते है। वस्तुतः उनका निषेध आत्मा के अस्तित्व का निषेध नही, वरन् उसकी नित्यता का निषेध है। वे आत्मा को एक स्वतन्त्र नित्य द्रव्य के रूप मे स्वीकार नही करते है, लेकिन चेतन अवस्था या चेतना-प्रवाह के रूप मे आत्मा का अस्तित्व तो उन्हे भी स्वीकार है। चार्वाक दर्शन भी यह नही कहता कि आत्मा का सर्वथा अभाव है, उसका निषेध मात्र आत्मा को स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व मानने से है। बौद्ध विचारक अनात्मवाद की प्रतिस्थापना मे आत्मा (चेतना) का निषेध नही करते, वरन् उसकी नित्यता का निषेध करते है। ह्यूम भी अनुभूति से भिन्न किसी स्वतन्त्र आत्मतत्त्व का ही निषेध करते है। उद्योतकर का न्यायवार्तिक मे यह कहना समुचित जान पड़ता है कि आत्मा

---

१. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, ३।२।२१; तुलना कीजिए—आचारांग, १।५।५.

२. पश्चिमी दर्शन, पृ० १०६.

३. विशेषावश्यक भाष्य, १५५८.

के अस्तित्व के विषय में दार्शनिकों में सामान्यतः कोई विवाद ही नहीं है; यदि विवाद है तो उसका सम्बन्ध आत्मा के विशेष स्वरूप से है (न कि उसके अस्तित्व से)। स्वरूप की दृष्टि से कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को, और कोई विज्ञान-संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्मतत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।[1] जैन दर्शन और गीता आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

§ ४. आत्मा एक मौलिक तत्त्व

आत्मा एक मौलिक तत्त्व है अथवा अन्य किसी तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। सभी दर्शन यह मानते हैं कि संसार आत्म और अनात्म का संयोग है, लेकिन इनमें मूल तत्त्व क्या है? यह विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में चार प्रमुख धारणाएँ हैं—(१) मूल तत्त्व जड (अचेतन) है और उसी से चेतन की उत्पत्ति होती है। अजितकेशकम्बलिन, चार्वाक दार्शनिक एवं भौतिकवादी इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (२) मूल तत्त्व चेतन है और उसी की अपेक्षा से जड की सत्ता मानी जा सकती है। बौद्ध विज्ञानवाद, शांकर वेदान्त तथा बर्कले इस मत का प्रतिपादन करते है। (३) कुछ विचारक ऐसे भी हैं जिन्होंने परमतत्व को एक मानते हुए भी उसे जड-चेतन उभयरूप स्वीकार किया और दोनों को ही उसका पर्याय माना। गीता, रामानुज और स्पिनोजा इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (४) कुछ विचारक जड और चेतन दोनों को ही परमतत्व मानते हैं और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करते है। सांख्य, जैन और देकार्त इस धारणा में विश्वास करते हैं।

जैन विचारक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कभी भी जड से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती। सूत्रकृतांग की टीका में इस मान्यता का निराकरण किया गया है। शीलांकाचार्य लिखते है कि भूत समुदाय स्वतन्त्रधर्मी है, उसका गुण चैतन्य नहीं है क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों के अन्य पृथक्-पृथक् गुण हैं, अन्य गुणोंवाले पदार्थों से या उनके समूह से भी किसी अपूर्व (नवीन) गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे रुक्ष बालुका कणों के समुदाय में स्निग्ध तेल की उत्पत्ति नहीं होती। अतः चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है, भूतों का नही। जड भूतों से चेतन आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[2] शरीर भी ज्ञानादि चैतन्य गुणों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर भौतिक तत्त्वों का कार्य है और भौतिक तत्त्व चेतनाशून्य हैं। जब भूतों में ही चैतन्य नहीं है तो उनके कार्य मे चैतन्य कहाँ से आ जायेगा। प्रत्येक कार्य, कारण में अव्यक्त रूप से रहता है। जब वह कारण कार्यरूप में परिणत होता है, तब वह शक्तिरूप से रहा हुआ कार्य व्यक्त रूप में सामने आ जाता है। जब भौतिक तत्त्वों में चेतना नहीं है, तब यह कैसे सम्भव है कि शरीर चैतन्यगुण वाला हो जाय? यदि चेतना प्रत्येक

---

१. न्यायवार्तिक, पृ० ३६६ (आत्ममीमांसा पृ० २ पर उद्धृत).

२. सूत्रकृतांग टीका, १।१।८.

भौतिक तत्त्व में नहीं है तो उन तत्त्वों के संयोग से भी वह उत्पन्न नहीं हो सकती। रेणु के प्रत्येक कण में न रहने वाला तैल रेणुकणों के संयोग से उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः यह कहना युक्तिसंगत नहीं कि चैतन्य चतुर्भूत के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है।[1] गीता भी कहती है कि असत् का प्रादुर्भाव नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता है।[2] यदि चैतन्य भूतों में नहीं है तो वह उनके संयोग से निर्मित शरीर में भी नहीं हो सकता। शरीर में चैतन्य की उपलब्धि होती है; अतः उसका आधार शरीर नहीं, आत्मा है। आत्मा की जड़ से भिन्नता सिद्ध करने के लिए शीलांकाचार्य एक दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषय अलग-अलग हैं, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ही ज्ञान करती है, जब कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों का एकत्रीभूत रूप में ज्ञान करने वाला अन्य कोई अवश्य है और वह आत्मा है।[3]

इसी सम्बन्ध में शंकर की भी एक युक्ति है। जिसके सम्बन्ध में प्रो० ए० सी० मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'नेचर आफ सेल्फ' में काफी प्रकाश डाला है। शंकर पूछते हैं कि भौतिकवादियों के अनुसार भूतों से उत्पन्न होनेवाली उस चेतना का स्वरूप क्या है? उनके अनुसार या तो चेतना उन तत्त्वों की प्रत्यक्ष कर्ता होगी या उनका ही एक गुण होगी। प्रथम स्थिति में यदि चेतना गुणों की प्रत्यक्ष कर्ता होगी, तो वह उनसे प्रत्युत्पन्न नहीं होगी। दूसरे यह कहना भी हास्यास्पद होगा कि भौतिक गुण अपने ही गुणों को ज्ञान की विषयवस्तु बनाते हैं। यह मानना कि चेतना जो भौतिक पदार्थों का ही एक गुण है, उनसे ही प्रत्युत्पन्न है, उन भौतिक पदार्थों को ही अपने ज्ञान का विषय बनाती है—उतना ही हास्यास्पद है जितना यह मानना कि आग अपने को ही जलाती है अथवा नट अपने ही कंधों पर चढ़ सकता है। इस प्रकार शंकर का निष्कर्ष भी यही है कि चेतना (आत्मा) भौतिक तत्त्वों से व्यतिरिक्त और ज्ञानस्वरूप है।[4]

आक्षेप एवं निराकरण

सामान्य रूप से जैन विचारणा में आत्मा या जीव को अपौद्गलिक, विशुद्ध चैतन्य एवं जड़ से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना जाता है। लेकिन दार्शनिकों का आक्षेप है कि जैन विचार में जीव का स्वरूप बहुत कुछ पौद्गलिक बन गया है। यह आक्षेप अजैन दार्शनिकों का ही नहीं, अनेक जैन चिन्तकों का भी है और उसके लिए आगमिक आधारों पर कुछ तर्क भी प्रस्तुत किये गये हैं। प० जुगलकिशोर मुख्तार ने इस विषय में एक प्रश्नावली भी प्रस्तुत की थी।[5] यहाँ उस प्रश्नावली के कुछ उन प्रमुख मुद्दों

१. जैन दर्शन, पृ० १५७.
२. गीता, २।१६.
३. सूत्रकृतांग टीका, १।१।८.
४. दा नेचर आफ सेल्फ, पृ० १४१-१४३.
५. अनेकान्त, जून १९४२.

पर ही चर्चा करना अपेक्षित है, जो जैन दार्शनिक मान्यताओं में ही पारस्परिक विरोध को प्रकट करते हैं—

१. जीव यदि पौद्गलिक नहीं है तो उसमें सौक्ष्म्य-स्थौल्य अथवा संकोच-विस्तार क्रिया और प्रदेश परिस्पन्द कैसे बन सकता है? जैन विचारणा के अनुसार सौक्ष्म्य स्थौल्य को पुद्गल का पर्याय माना गया है। (२)

२. जीव के अपौद्गलिक होने पर आत्मा में पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना भी कैसे बन सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्ब का ग्राहक पुद्गल ही होता है। जैन-विचार में ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थों के आत्मा मे प्रतिबिम्बित होने से ही मानी गयी है। (३)

३. अपौद्गलिक और अमूर्तिक जीवात्मा का पौद्गलिक एवं मूर्तिक कर्मों के साथ बद्ध होकर विकारी होना कैसे बन सकता है? (इस प्रकार के बन्ध का कोई दृष्टान्त भी उपलब्ध नहीं है। स्वर्ण और पाषाण के अनादिबन्ध का जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह विषम दृष्टान्त है और एक प्रकार से स्वर्णस्थानी जीव का पौद्गलिक होना ही सूचित करता है। (८)

४. रागादिक को पौद्गलिक कहा गया है और रागादिक जीव के परिणाम हैं—बिना जीव के उनका अस्तित्व नहीं। (यदि जीव पौद्गलिक नहीं तो रागादिक पौद्गलिक कैसे सिद्ध हो सकेंगे? इसके सिवाय अपौद्गलिक जीवात्मा में कृष्ण नीलादि लेश्याएँ कैसे बन सकती है?) (१०)

जैन दर्शन जड़ और चेतन के द्वैत को और उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। वह सभी प्रकार के अद्वैतवाद का विरोध करता है, चाहे वह शंकर का आध्यात्मिक अद्वैतवाद हो अथवा चार्वाक एवं अन्य वैज्ञानिकों का भौतिक अद्वैतवाद हो। लेकिन इस सैद्धान्तिक मान्यता से उपर्युक्त शंकाओं का समाधान नहीं होता। इसके लिए हमें जीव के स्वरूप को उस सन्दर्भ में देखना होगा जिसमें उपर्युक्त शंकाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। प्रथमतः संकोच-विस्तार तथा उसके आधार पर होने वाले सौक्ष्म्य एवं स्थौल्य तथा बन्धन और रागादिभाव का होना सभी बद्ध जीवात्माओं या हमारे वर्तमान सीमित व्यक्तित्व के कारण हैं। जहाँ तक सीमित व्यक्तित्व या बद्ध जीवात्मा का प्रश्न है, वह एकान्त रूप से न तो भौतिक है और न अभौतिक। जैन चिन्तक मुनि नथमल जी इन्हीं प्रश्नों का समाधान करते हुए लिखते हैं कि मेरी मान्यता यह है कि हमारा वर्तमान व्यक्तित्व न सर्वथा पौद्गलिक है, और न सर्वथा अपौद्गलिक। यदि उसे सर्वथा पौद्गलिक मानें तो उसमें चैतन्य नहीं हो सकता और उसे सर्वथा अपौद्गलिक मानें तो उसमें संकोच-विस्तार, प्रकाशमय अनुभव, ऊर्ध्वगौरवधर्मिता, रागादि नहीं हो सकते। मैं जहाँ तक समझ सका हूँ, कोई भी शरीरधारी जीव अपौद्गलिक नहीं है। जैन आचार्यों ने उसमें संकोच-विस्तार बन्धन आदि माने हैं, अपौद्गलिकता उसकी अन्तिम परिणति है जो शरीर-मुक्ति से पहले कभी प्राप्त नहीं होती।[1] मुनि जी के इस

१. तट दो प्रवाह एक, पृ० ५४.

कथन को अधिक स्पष्ट रूप में यों कहा जा सकता है कि जीव का अपौद्गलिक स्वरूप उपलब्धि नहीं, आदर्श है। जैन साधना का लक्ष्य इसी अपौद्गलिक स्वरूपकी उपलब्धि है। जीव की पौद्गलिकता तथ्य है, आदर्श नहीं और जीव की अपौद्गलिकता आदर्श है, जागतिक तथ्य नहीं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप अभौतिक ही है, यद्यपि वह तथ्य नहीं क्षमता है जिसे उपलब्ध किया जा सकता है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष वास्तविक रूप में कहीं उपलब्ध नहीं होता, लेकिन सत्ता तो रहती ही है जो विकास की प्रक्रिया में जाकर वास्तविकता बन जाती है। इसी प्रकार नैतिक विकास की प्रक्रिया से ही जीव उस अभौतिक स्वरूप को जो मात्र प्रसुप्त सत्ता में था, वास्तविकता बना देता है। जैन विचार यह भी स्वीकार करता है कि नैतिक जीवन के लिए जीवात्मा का सर्वथा अपौद्गलिक स्वरूप और सर्वथा पौद्गलिक स्वरूप दोनों ही व्यर्थ है। नैतिक जीवन क्रियाशीलता है, जो आत्मा के सर्वथा अपौद्गलिक स्वरूप में सम्भव नहीं है। नैतिक जीवन के लिए एक सशरीरी व्यक्तित्व चाहिए। लेकिन जब तक आत्मा को अपौद्गलिक स्वरूप उपलब्ध नहीं हो जाता, नैतिक साध्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जब तक आत्मा शरीर में आबद्ध है, वह अपनी सीमितता या अपूर्णता से ऊपर नहीं उठ सकता। अतः नैतिक आदर्श की दृष्टि से आत्मा का अपौद्गलिक स्वरूप भी स्वीकार करना होगा। जब तक हम सीमितताओं और अपूर्णताओं से ऊपर नहीं उठ जाते हैं, तब तक हम सशरीर व्यक्तित्व बने रहेंगे और हमारे सामने नैतिकता का कार्यक्षेत्र भी बना रहेगा।

§ ५. आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

हमारा वर्तमान व्यक्तित्व पूर्णतया अभौतिक नहीं है। वह शरीर और आत्मा का विशिष्ट संयोग है। नैतिक दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि आत्मा और शरीर का क्या सम्बन्ध है, क्या आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है अथवा आत्मा वही है जो शरीर है? यदि यह माना जाये कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है तो शरीर-धर्म (भूख, प्यास, मैथुन, निद्रा-प्रमाद आदि) का सम्बन्ध नैतिकता से नहीं रहेगा, न हिंसा-व्यभिचार आदि अनैतिक कर्म होंगे। साथ ही समस्त शारीरिक कर्मों की शुभाशुभता के लिए आत्मा को उत्तरदायी नहीं माना जा सकेगा। कायकृत कर्मों का फल उसे नहीं मिलना चाहिए। इस जन्म के शरीर के कर्मों का फल दूसरे जन्म का शरीर भोगे यह भी न्यायोचित नहीं होगा, क्योंकि दोनों शरीर भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में अकृतागम का दोष होगा। साथ ही आत्मा और शरीर को एकांत रूप से भिन्न मानने पर शरीर से दूसरे की सेवा, स्तुति, कायिक तप आदि नैतिक एवं शुभ क्रियाओं का भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। ये क्रियाएँ आत्मविकास में सहायक नहीं मानी जा सकेंगी। दूसरे, यदि आत्मा वही है जो शरीर है—यह माना जावे तो शरीर के विनाश के साथ आत्मा का विनाश मानना होगा और ऐसी स्थिति में अनेक

शुभाशुभ कर्मो का प्रतिफल अभोग्य ही रह जायेगा। नैतिक दृष्टि से कृतप्रणाश का दोष उपस्थित हो जायेगा। अतः आत्मा और शरीर को एक ही मानने में वे भी सभी दोष उपस्थित हो जावेंगे जो अनित्य आत्मवाद के हैं। इस प्रकार दोनों ही एकान्तिक दृष्टिकोण नैतिक दर्शन की उपपत्ति में सहायक नहीं होते।

(अ) जैन दृष्टिकोण

महावीर के सम्मुख जब यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि 'भगवन्! जीव वही है जो शरीर है या जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है?' तो महावीर ने उत्तर दिया, "हे गौतम! जीव शरीर भी है और जीव शरीर से भिन्न भी है।"[1] इस प्रकार महावीर ने आत्मा और देह के मध्य भिन्नत्व और एकत्व दोनों को स्वीकार करके नैतिक मर्यादा की स्थापना को सम्भव बनाया। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा और शरीर के एकत्व और भिन्नत्व को लेकर यही विचार प्रकट किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा और देह एक ही है, लेकिन निश्चयदृष्टि से आत्मा और देह कदापि एक नहीं हो सकते।[2] वस्तुतः आत्मा और शरीर में एकत्व माने बिना स्तुति, वंदन, सेवा आदि अनेक नैतिक आचरण की क्रियाएँ सम्भव नहीं। दूसरी ओर आत्मा और देह में भिन्नता माने बिना आसक्तिनाश और भेदविज्ञान की सम्भावना नहीं हो सकती। नैतिक विवेचन की दृष्टि से एकत्व और अनेकत्व दोनों अपेक्षित हैं। यही जैन नैतिकता की मान्यता है। महावीर ने ऐकान्तिक वादों को छोड़कर अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किया और दोनों वादों का समन्वय किया।

(ब) बौद्ध दृष्टिकोण

भगवान् बुद्ध भी नैतिक दृष्टि से दोनों को ही अनुचित मानते हैं। उनका कथन है कि हे भिक्षु! जीव वही है जो शरीर है, ऐसी दृष्टि रखने पर ब्रह्मचर्यवास (नैतिकाचरण) सम्भव नहीं होता। हे भिक्षु! जीव अन्य है और शरीर अन्य है ऐसी दृष्टि रखने पर भी ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं होता है। हे भिक्षु! इसी लिए तथागत दोनों अन्तों को छोड़कर मध्यममार्ग का धर्मोपदेश देते हैं।[3]

इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने दोनों ही पक्षों को सदोष जानकर उन्हें छोड़ने का निर्णय लिया। उनके अनुसार, भेदपक्ष और अभेदपक्ष दोनों गलत हैं और जो इनमें से किसी एक को स्वीकार करता है, मिथ्यादृष्टि को उत्पन्न करता है। महावीर ने दोनों पक्षों को ऐकान्तिक रूप में सदोष तो माना, लेकिन उनको छोड़ने की अपेक्षा उन्हें सापेक्ष रूप में स्वीकार किया।

(स) गीता का दृष्टिकोण

गीता के अनुसार शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता और दूसरा

१. भगवतीसूत्र, १३।७।४९५.
२. समयसार, २७.
३. संयुक्तनिकाय, १२।१३५.

शरीर ग्रहण करता है। जैसे व्यक्ति वस्त्रों को जीर्ण होने पर बदल देता है वैसे यह आत्मा जीर्ण शरीरों को बदलता रहता है।[१] गीता मे शरीर को क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहा गया है[२] और यह माना गया है कि हमारे वर्तमान व्यक्तित्व क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ या आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।[३]

इस प्रकार आत्मा को एक आध्यात्मिक मौलिक तत्व के रूप मे स्वीकार किया गया है, लेकिन जहाँ तक नैतिक कर्ता के रूप मे हमारे व्यक्तित्वो का प्रश्न है उसे एक मनो-भौतिक या शरीरयुक्त आत्मा के रूप मे ही स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार व्यक्तित्व आत्मा और पुद्गल का विशिष्ट संयोग है। बौद्ध दर्शन के अनुसार भी मनुष्य नाम (मानसिक) और रूप (भौतिक) का संयोग है। गीता उसे क्षेत्र (जड़ प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का सयोग मानती है।

§ ६. आत्मा के लक्षण

नैतिकता के लिए आत्मा या व्यक्तित्व का होना ही पर्याप्त नही है, वरन् उसमे कुछ विशिष्ट क्षमताएं भी होनी चाहिए जिनके आधार नैतिक साध्य का अनुसरण किया जा सके तथा नैतिक विवेक एवं सकल्प की क्षमता के आधार पर नैतिक उत्तरदायित्व की समुचित व्याख्या की जा सके। डा० यदुनाथ सिन्हा के अनुसार आत्मा को एक वास्तविक, स्थायी, आत्मचेतन एवं स्वतंत्र कर्ता होना चाहिए। स्व के भीतर आत्म-सचालन तथा आत्मनिर्णय की शक्ति (सकल्प स्वातन्त्र्य) होना चाहिए। तर्क अथवा बुद्धि को आत्मा का एक अनिवार्य तत्व होना चाहिए।[४] श्री केल्डरउड के अनुसार आत्मा केवल मनीषा के रूप मे ही नही, शक्ति के रूप मे भी प्रकट होती है। मैं एक आत्मचेतन, बुद्धिमान् तथा आत्मनिर्णायक शक्ति हूं। इस प्रकार व्यक्तित्व मे आत्मचेतन सत्ता, आत्मनियन्त्रित बुद्धि तथा आत्मनिर्णायक क्रिया का समावेश होता है।[५] जैन दार्शनिकों ने आत्मा मे अनन्त चतुष्टय अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सौख्य (आनन्द) और वीर्य (शक्ति) की अनन्तता को स्वीकार किया है। दर्शन आत्मचेतन सत्ता का, ज्ञान आत्मनियन्त्रित बुद्धि का और वीर्य संकल्पशक्ति या साध्य का अनुसरण करने की क्षमता एव क्रिया का समानार्थक है। प्रमाणनयतत्त्वालोक मे आत्मा के निम्न लक्षण वर्णित हैं, 'आत्मा चैतन्यस्वरूप, परिणामी, कर्ता साक्षात् भोक्ता, स्वदेह-परिमाण, प्रत्येक शरीर मे भिन्न-भिन्न और पौद्गलिक कर्मों से युक्त है।''[६] जीव का लक्षण उपयोग कहा गया है।[७] उपयोग शब्द चेतना को अभिव्यक्त करता है। यह स्मरणीय है

१. गीता, २।२२.
२. वही, १३।१.
३. वही, १३।२६.
४. नीतिशास्त्र, पृ० २८१-२८२.
५. वही, पृ० २८३ पर उद्धृत.
६. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ७।५६.
७. (अ) तत्त्वार्थसूत्र, २।८. (ब) उत्तराध्ययन, २८।११.

कि जैन दर्शन चेतना को आत्मा का स्व लक्षण मानता है, न्याय-वैशेषिक दर्शन के समान चेतना को आत्मा का आगन्तुक गुण नही मानता। इस सम्बन्ध मे जैन दर्शन का विचार शकर के अनुरूप है कि निर्वाण या मुक्ति की अवस्था मे भी आत्मा चैतन्य ही रहता है। मुक्ति की अवस्था मे उसकी चेतना-शक्ति अबाधित एव पूर्ण होती है, और संसारावस्था मे उसकी चेतना-शक्ति आवरित होती है, यद्यपि जीव की चेतना-शक्ति का पूर्ण आवरण कभी नही होता है।[1] इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक दर्शन मुक्तावस्था मे आत्मा मे चेतना का अभाव मानते हैं। यदि मुक्तावस्था मे चेतना का सद्भाव नही माना जाता है तो मुक्ति का आदर्श अधिक आकर्षक नही रहता। इसलिए आलोचकों ने यहाँ तक कह दिया कि न्याय-वैशेषिक दर्शन का मुक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा तो वृन्दावन मे शृगाल-योनि मे विचरण करना कही अधिक अच्छा है।[2] हे गौतम, तुम्हारी यह पाषाणवत् मुक्ति तुम्हे ही मुबारक हो, तुम सचमुच ही गोतम (बल) हो।[3]

लेकिन जहा तक नैतिक जीवन-क्षेत्र की बात है, वहाँ तक सभी आत्मा मे चेतना के अस्तित्व को स्वीकार करते है। साख्य, योग और वेदान्त दर्शन इसे स्वलक्षण की अपेक्षा मे स्वीकार करते है और न्याय-वैशेषिक इसे आगन्तुक लक्षण की अपेक्षा से स्वीकार करते हैं। इतना ही नही, देहात्मवादी चार्वाक और अनात्मवादी बौद्ध भी व्यक्तित्व मे चेतना को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः चेतना नैतिक जीवन की अनिवार्य स्थिति है, नैतिक उत्तरदायित्व और नैतिक विवेक चेतना के अभाव मे सम्भव नही है। जैन दर्शन मे चेतना के स्थान पर 'उपयोग' शब्द का प्रयोग हुआ है। तत्वार्थसूत्र मे उपयोग (चेतना) दो प्रकार का माना गया है—(१) ज्ञानात्मक (ज्ञानोपयोग) और (२) अनुभूत्यात्मक (दर्शनोपयोग)।[4] डा० कलघाटगी उपयोग शब्द मे चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और सकल्पात्मक तीनो ही पक्षो को समाहित करते है।[5] वस्तुतः नैतिक जीवन की दृष्टि से आत्मा के ये तीनो पक्ष आवश्यक है। प्रो० सिन्हा ने भी आत्मा मे इन तीनो की उपस्थिति को आवश्यक माना है। आगे हम इन तीनों पर थोड़े विस्तार से चर्चा करेगे।

(अ) ज्ञानोपयोग

जैन विचारणा मे ज्ञान को आत्मा का स्वभाव या स्वलक्षण माना गया है। वस्तुतः यदि आत्मा मे ज्ञान नही हो तो नैतिक जीवन मे निम्न तीन बाते असम्भव होंगी—(१) नैतिक आदर्श का बोध, (२) शुभाशुभ का विवेक और (३) नैतिक उत्तर-दायित्व।

१. नन्दिसूत्र, सूत्र ४२.
२. लिबरेशन, पृ० ९३ पर उद्धृत.
३. नैषधचरित्र, १७.७५
४. तत्त्वार्थसूत्र, २।९.
५. सम प्राबलेम्स इन जैन साइकोलाजी, पृ० ४.

नैतिक साध्य का बोध नैतिक जीवन की प्रथम शर्त है, क्योंकि जबतक परम-श्रेय का बोध नहीं होगा तबतक न तो शुभाशुभ और न औचित्य-अनौचित्य का विवेक होगा और न सम्यक् दिशा में नैतिक प्रगति ही सम्भव होगी। जहाँ तक नैतिक अथवा अनैतिक कहे जानेवाले आचरण का प्रश्न है, वह आचरण मात्र कर्ता की अपेक्षा नहीं करता, वरन् शुभाशुभ की विवेक-क्षमता-युक्त कर्ता की अपेक्षा करता है। क्योंकि जड पदार्थों की क्रियाओं के नैतिक अथवा अनैतिक होने के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं करता। इतना ही नहीं, पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में तो शुभाशुभ विवेक की शक्ति के अभाव में भी किसी कर्ता के कर्म नैतिक अथवा अनैतिक नहीं माने जाते, जैसे बालक अथवा मनोविकृत का आचरण। यद्यपि जैन विचारणा इस सम्बन्ध में थोडी भिन्न दृष्टि रखती है। वह यह तो स्वीकार करती है कि चेतना के अभाव में जड पदार्थों की क्रियाएँ नैतिक या अनैतिक नही होती। वह पाश्चात्य विचारकों के साथ इस बात में भी सहमत है कि नैतिक विवेक शक्ति के वास्तविक अभाव में किसी के भी कर्मों को नैतिक अथवा अनैतिक नहीं माना जा सकता। लेकिन जैन विचारक यह मानते हैं कि सभी चैतन्य प्राणियों में मूलतः शुभाशुभ का विवेक करनेवाली शक्ति निहित है। आत्मा और विवेक अलग-अलग नहीं रहते—जहाँ चेतना या आत्मा है वहाँ विवेक है ही। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं जिसमें मूलतः नैतिक विवेक का अभाव हो। जैन विचारक कहते है कि विवेक-क्षमता (Capacity) तो सभी में है लेकिन विवेक योग्यता (Ability) सबमें नहीं है। नैतिक विवेक का अस्तित्व सभी में है, लेकिन उसका प्रकटन सभी में नहीं है। किसी प्राणी के कर्मों का नैतिकता या अनैतिकता की सीमा में आना विवेक-शक्ति के प्रकटन पर नहीं, वरन् उसके अस्तित्व पर निर्भर करता है। जैन दर्शन के अनुसार, आत्मा में निहित विवेक-शक्ति को प्रकट न करना स्वयं में ही सबसे बड़ी अनैतिकता है। इस प्रकार जहाँ पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में पागल, बालक आदि प्राणियों का व्यवहार नैतिकता की सीमा में नहीं आता, वहाँ जैन विचारकों की दृष्टि में इन सबका व्यवहार नैतिकता की सीमा में आता है। नैतिक विवेक की क्षमता अनिवार्य रूप से नैतिक उत्तरदायित्व को ले आती है। यदि हमें यह बोध हो सकता है कि अमुक शुभ है और अमुक अशुभ है, तो हम शुभ का अनुसरण नहीं करने के लिए और अशुभ का अनुसरण करने के लिए उत्तरदायी ठहराये जा सकते हैं।

जैन विचारणा आत्मा में ज्ञान-क्षमता को स्वीकार कर नैतिक साध्य के बोध, नैतिक विवेक और नैतिक उत्तरदायित्व के प्रत्ययों को अपने आचारदर्शन में स्थान दे देती है। आत्मा अपनी इस सीमित क्षमता को नैतिक जीवन के माध्यम से विकसित करते हुए अन्त में उसे पूर्ण ज्ञान की योग्यता (अनन्तज्ञान) में बदल लेता है। ज्ञान के माध्यम से ही आत्मा का नैतिक विकास होता है और नैतिक विकास के द्वारा ज्ञान पूर्णता को प्राप्त करता है।

ज्ञानोपयोग पाँच प्रकार का है—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधि-

ज्ञान, (४) मनःपर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान। आधुनिक नैतिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः (१) अनुभवात्मकज्ञान, (२) बौद्धिक या विमर्शमूलक ज्ञान, (३) अपरोक्ष ज्ञान या अन्तर्दृष्टयात्मकज्ञान, (४) आत्मचेतनता और (५) आत्म-साक्षात्कार कह सकते हैं। आधुनिक आचारदर्शन में भी ज्ञान के इन पाँच प्रकारों पर आधारित पाँच प्रकार के नैतिक दर्शन हैं—(१) अनुभवात्मकज्ञान पर आधारित बेन्थम, मिल आदि के सुखवादी सिद्धान्त, (२) बौद्धिक ज्ञान पर आधारित स्पीनोजा और कांट के बुद्धिमूलक सिद्धान्त, (३) अपरोक्षज्ञान या अन्तर्दृष्टि पर आधारित शैफ्टस्बरी, हचीसन, मार्टिन्यू, कडवर्थ आदि का सहज ज्ञानवादी सिद्धान्त, (४) आत्मचेतनता पर आधारित वारनरफिटे का मानवतावादी सिद्धान्त तथा किर्केगार्ड का अस्तित्ववादी सिद्धान्त और (५) आत्मसाक्षात्कार पर आधारित ब्रेडले, ग्रीन आदि के आत्मपूर्णतावादी सिद्धान्त। जैन विचारणा ज्ञान के इन पाँच प्रकारों को स्वीकार कर उपर्युक्त पाँच प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों के समन्वय का अच्छा आधार प्रस्तुत करती है।

(ब) दर्शनोपयोग

दर्शन ज्ञान की प्रथम भूमिका है, यह चेतना का अनुभूत्यात्मक पक्ष है। जैन दर्शन में दर्शनोपयोग चार प्रकार का है—(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधि-दर्शन और (४) केवलदर्शन। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इन्हें क्रमशः (१) प्रत्यक्षीकरण, (२) संवेदना, (३) अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष और (४) आत्मानुभूति कहा जा सकता है। अनुभूति या साक्षात्कार निष्ठा या श्रद्धा का आधार है। ज्ञान में सन्देह हो सकता है, लेकिन अनुभूति में सन्देह नहीं होता। यही कारण है कि आत्मा की यह अनुभूत्यात्मक क्षमता (दर्शनोपयोग) जैन नीतिशास्त्र में 'श्रद्धा' के अर्थ में रूढ़ हो गया। श्रद्धा के अर्थ में 'दर्शन' जैन आचारमीमांसा का आधार है। यदि आत्मा में अनुभूत्यात्मक क्षमता न होगी, तो नैतिक मूल्यों का बोध सम्भव नहीं होगा। नैतिक मूल्य बौद्धिक नहीं, अनुभूत्यात्मक हैं। बिना अनुभूत्यात्मक क्षमता के उनकी अनुभूति कैसे होगी? नैतिक आदेशों का बोध इसी पर निर्भर है। आत्मा की इस क्षमता को दृष्टि या निष्ठा के रूप में भी देखा जा सकता है। साधना के क्षेत्र में इसकी अन्तिम परिणति निर्विकल्प समाधि (शुक्लध्यान) में आत्मसाक्षात्कार की अवस्था मानी गयी है।

(स) आत्म-निर्णय की शक्ति (वीर्य)

चेतना (उपयोग) का तीसरा पक्ष संकल्पात्मक माना गया है। इसे आत्म-निर्णय की शक्ति भी कह सकते हैं। यह एक प्रकार से संकल्प शक्ति (वीर्य) है। यदि आत्मा में आत्मनिर्णय की क्षमता (संकल्पस्वातन्त्र्य) नहीं मानी जायेगी, तो नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। आत्मनिर्णय की शक्ति नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। उसके बिना नैतिक आदेश भी बाह्य हो जायेगा और बाह्य नैतिक आदेश या बाह्य नैतिक बाध्यता (External Moral Sanction)

नैतिक जीवन को मच्चा अर्थ नहीं देते है। नैतिक बाध्यता या नैतिक आदेश को आन्तरिक होने के लिए संकल्प स्वातन्त्र्य और नैतिक उत्तरदयित्व के लिए आत्मा में आत्म-निर्णय की शक्ति आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में उपयोग (चेतना) लक्षण के अन्तर्गत ज्ञानोपयोग के रूप में नैतिक विवेकक्षमता को, दर्शनोपयोग के रूप में मूल्यात्मक अनुभूति की क्षमता को तथा वीर्य अथवा मंकल्प की दृष्टि मे आत्मनिर्णय (मंकल्प) की शक्ति को स्वीकार किया है। अनन्तचतुष्टय की दृष्टि से आत्मा की ये तीनों शक्तियाँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य के अन्तर्गत आ जाती हैं। ये तीनों शक्तियाँ आत्मा में पूर्ण रूप में विद्यमान है, उसके स्वलक्षण हैं, यद्यपि हमारे सीमित व्यक्तित्वों में वे आवरित या कुण्ठित हैं। नैतिक जीवन का लक्ष्य इनको पूर्णता की दिशा में विकमित करना है।

आनन्द

जैन दर्शन में आनन्द (मौख्य) को भी आत्मा का स्वलक्षण माना गया है। यदि आनन्द आत्मा का स्वलक्षण नहीं माना जायेगा तो नैतिक आदर्श शुष्क हो जायेगा तथा नैतिक जीवन में कोई भावात्मक पक्ष नहीं रहेगा। आनन्द आत्मा का भावात्मक पक्ष है। यदि आनन्द को आत्मा का स्वलक्षण न मानकर आत्मा मे बाह्य माना जायेगा तो नैतिक जीवन का साध्य भी आत्मा मे बाह्य होगा और नैतिकता आन्तरिक नहीं होकर बाह्य तथ्यों पर निर्भर होगी। यदि आनन्दक्षमता आत्मगत न होकर वस्तुगत होगी तो नैतिकता भौतिक मुखों की उपलब्धि पर निर्भर होगी। फिर अनुभवात्मक जीवन में भी हम देखते हैं कि आनन्द का प्रत्यय पूर्णतया बाह्य नहीं होता। वह वस्तुओं की अपेक्षा हमारी चेतना पर निर्भर होता है। अतः आनन्द को आत्मा का ही स्वलक्षण मानना होगा। जैन दर्शन का दृष्टिकोण तर्कसंगत है। भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य विचारणाएँ सौख्य या आनन्द को आत्मा का स्वलक्षण नहीं मानतीं। सांख्य के अनुमार आनन्द सत्त्वगुण का परिणाम है, अतः वह प्रकृति का ही गुण है, आत्मा का नहीं। न्याय-वैशेषिक दर्शन उसे चेतना पर निर्भर मानते हैं, चूँकि उनके अनुमार चेतना भी आत्मा का स्वलक्षण नहीं होकर आगन्तुक गुण है, अतः मुख भी आगन्तुक गुण है। इम मम्बन्ध में वेदान्त का दृष्टिकोण जैन दर्शन के निकट है। उसमें ब्रह्म को मत् और चित् के साथ-साथ आनन्दमय भी माना गया है।

आत्मा के इन चार मूलभूत लक्षणों की चर्चा के उपरान्त हम जैन दर्शन में आत्मा सम्बन्धी अन्य मान्यताओं की चर्चा तथा उनकी नैतिक समीक्षा करेंगे।

§ ७. आत्मा परिणामी है

जैन-दर्शन आत्मा को परिणामी मानता है और सांख्य एवं शांकर वेदान्त आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानते हैं। बुद्ध के समकालीन विचारक पूर्णकाश्यप भी

आत्मा को अपरिणामी मानते थे। आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानने का तात्पर्य यह है कि आत्मा में कोई विकार, परिवर्तन या स्थित्यन्तर नहीं होता। पूर्णकाश्यप के सिद्धान्तों का वर्णन बौद्ध साहित्य में इस प्रकार मिलता है—'अगर कोई क्रिया करे, कराये, काटे, कटवाये, कष्ट दे या दिलाये, चोरी करे, प्राणियों को मार डाले परदारागमन करे या असत्य बोले तो भी उसे पाप नही लगता। तीक्ष्ण धारवाले चक्र मे यदि कोई इस संसार के प्राणियों के मांस का ढेर लगा है तो भी उसे कोई पाप नहीं, दोष नहीं होता। दान, धर्म और सत्य-भाषण मे कोई पुण्यप्राप्ति नहीं होती।'[1]

इस धारणा को देखकर सहज ही शंका होती है कि इस प्रकार का उपदेश देनेवाला व्यक्ति कोई यशस्वी, लोक-सम्मानित व्यक्ति नहीं हो सकता वरन् कोई धूर्त होना चाहिए। लेकिन पूर्णकाश्यप एक लोकपूजित शास्ता थे, अतः यह निश्चित है कि यह नैतिक दृष्टिकोण उनका नहीं हो सकता। लेकिन यह उनके अक्रिय आत्मवाद का नैतिक फलित है जो उनके विरोधी दृष्टिकोण वाले लोगों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। फिर भी यह सत्य है कि पूर्णकाश्यप आत्मा को अपरिणामी मानते थे। उनकी उक्त मान्यता का भ्रान्त निष्कर्ष निकालकर उन्हें अनैतिक आचरण का समर्थक दर्शाया गया है। यह बता पाना तो बड़ा कठिन है कि सांख्य-परम्परा और पूर्णकाश्यप की यह परम्परा एक ही थी अथवा अलग-अलग। इनमें कौन पूर्ववर्ती थी इसका भी निश्चय नहीं किया जा सकता। यद्यपि धर्मानन्द कौसम्बी और राहुल सांकृत्यायन यह सिद्ध करते हैं कि पूर्णकाश्यप की इस परम्परा के आधार पर सांख्य दर्शन और गीता की विचारणा का विकास हुआ है।[2] डा० राधाकृष्णन् आदि पूर्णकाश्यप को सांख्य परम्परा का ही आचार्य मानते हैं।[3] यहाँ तो हमारा तात्पर्य इतना ही है कि समालोच्य नैतिक विचारणाओं के विकास काल में यह धारणा भी बलवती थी कि आत्मा अपरिणामी है। सूत्रकृतांग में भी आत्मा के अक्रियावाद को माननेवालों का उल्लेख है। कहा गया है कि 'कुछ दूसरे धृष्टतापूर्वक कहते हैं कि करना-कराना आदि क्रिया आत्मा नहीं करता, वह तो अकर्ता है।'[4]

अपरिणामी आत्मवाद की नैतिक समीक्षा

१. आत्मा को अपरिणामी मानने की स्थिति में आत्मा के भावों में परिवर्तन मिथ्या होगा। यदि आत्मा के भावों में विकार और परिवर्तन की सम्भावना नहीं है, तो आत्मा को या तो नित्य-मुक्त मानना होगा या नित्य-बद्ध, और दोनों अवस्थाओं में नैतिक जीवन के लिए कोई स्थान नहीं रह जायेगा। नैतिक साधना बन्धन से मुक्ति का प्रयास है और यदि बन्धन नित्य है तो फिर मुक्ति के लिए

---

१. मज्झिमनिकाय, चूलसारोपमसुत्त.

२. भगवान बुद्ध, पृ० १८४.

३. वही.

४. सूत्रकृतांग, १।१।१३.

प्रयास का कोई अर्थ नहीं। दूसरे, यदि आत्मा नित्य-मुक्त है तो भी मुक्ति का प्रयास निरर्थक ही है।

२. आत्मा को अविकारी मानने पर बन्धन का कारण समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि आत्मा का बन्धन दूसरे के कारण नही हो सकता और आत्मा स्वयं अविकारी होने से अपने बन्धन का कारण नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि अपरिणामी आत्म-बाद बन्धन की समुचित व्याख्या करने में समर्थ नहीं है।

३. नैतिक विकास और नैतिक पतन दोनों आत्म-परिणामवाद की अवस्था में ही सम्भव हैं। शुभत्व और अशुभत्व दोनों परिणामी आत्मा में ही घट सकते हैं।

४. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी आत्मा को अपरिणामी मानने पर सुख-दुःखादि भावों को नही घटाया जा सकता।

आत्म-अपरिणामवाद की इन कठिनाइयों के कारण ही जैन विचारक आत्मा को परिणामी मानते हैं। जैन विचारकों ने यह माना है कि सत् उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक है, अतः आत्मा भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। इसी आधार पर आत्मा में पर्याय-परिवर्तन सम्भव है। आत्मा में तत्व-दृष्टि से ध्रौव्यता होते हुए भी पर्यायदृष्टि से उसमें परिवर्तन होते रहते हैं।

बौद्ध दर्शन भी परिवर्तन (परिणामीपन) को स्वीकार करता है। उसके अनुसार तो चैत्तसिक वृत्तियों या मानसिक अवस्थाओं से भिन्न कोई आत्मा नामक तत्व ही नहीं है। बुद्ध और महावीर दोनों ने ही तात्कालिक उन मान्यताओं का खण्डन किया जो आत्मा को अपरिणामी मानती थीं। रही गीता के दृष्टिकोण की बात, तो वह आत्म परिणामवाद को स्वीकार नहीं करती। वह आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानती है। इस सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण मध्यस्थ है। जहाँ बौद्ध दर्शन उसे मात्र परिणामी (प्रतिक्षण परिवर्तनशील) मानता है, वहाँ गीता उसे कूटस्थ-नित्य कहती है। जैन दर्शन अपनी समन्वयवादी पद्धति के अनुरूप उसे परिणामी नित्य कहता है।

परिणामी आत्मवाद का प्रश्न आत्मा के कर्तृत्व से निकट रूप से सम्बन्धित है, अतः अब उसपर विचार करेंगे।

§ ८. आत्मा कर्ता है

नैतिक दृष्टि से आत्मा ही नैतिक कर्मों का कर्ता है। लेकिन हमें यह विचार करना है कि यह आत्मा किस अर्थ में कर्ता है। पाश्चात्य नैतिक विचारणा में नैतिक अथवा अनैतिक कर्मों का कर्ता मनुष्य को मान लिया गया है, अतः वहाँ कर्तृत्व की समस्या विवाद का विषय नहीं रही है, लेकिन भारतीय परम्परा में यह प्रश्न महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय विचारक इस सम्बन्ध में तो एकमत हैं कि मनुष्य नैतिक-अनैतिक कर्मों का कर्ता है। लेकिन भारतीय विचारक और गहराई में उतरे। उन्होंने बताया कि मनुष्य तो भौतिक शरीर और चेतन आत्मा के संयोग का परिणाम है, उसमें चित् अंश भी

है और अचित् अंश भी है। अतः प्रश्न यह है कि चित् एवं अचित् अंश में कौन नैतिक कर्मों का कर्ता एवं उत्तरदायी है ? इस प्रश्न का उत्तर तीन प्रकार से दिया गया। कुछ विचारकों ने अचित् अंश, अचेतन जड़-प्रकृति को कर्ता माना। सांख्य विचारकों ने बताया कि जड़-प्रकृति ही शुभाशुभ कर्मों की कर्त्री है।[1] वही नैतिक उत्तरदायित्व के आधार पर बन्धन मे आती है और मुक्त होती है।[2] शंकर ने इस कर्तृत्व को मायाधीन पाया और उसे एक भ्रान्ति माना। इस प्रकार सांख्य दर्शन एवं शंकर ने आत्मा को अकर्ता कहा, दूसरी ओर न्यायवैशेषिक आदि विचारकों ने आत्मा को कर्ता माना, लेकिन जैन विचारकों ने इन दानो ऐकान्तिक मान्यताओं के मध्य का रास्ता चुना।

जैन आचारग्रन्थों मे यह वचन बहुतायत से उपलब्ध होते हैं कि आत्मा कर्ता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्ता और भोक्ता है।[3] यह भी कहा गया है कि सिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता जितना दुराचरण मे प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है।[4]

यही नहीं, सूत्रकृताग मे आत्मा को अकर्ता माननेवाले लोगों की आलोचना करते हुए स्पष्ट रूप मे कहा गया है—कुछ दूसरे (लोग) तो धृष्टतापूर्वक कहते हैं कि करना कराना आदि क्रिया आत्मा नही करता, वह तो अकर्ता है। इन वादियों को सत्य ज्ञान का पता नहीं और न उन्हें धर्म का ही भान है।[5] उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर को नाव और जीव को नाविक कहकर जीव पर नैतिक कर्मों का उत्तरदायित्व डाला गया है।[6]

लेकिन उक्त सन्दर्भो के आधार पर यह समझ लेना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा कि जैन आचारदर्शन आत्मकर्तृत्ववाद को मानता है, क्योंकि ऐकान्तिक रूप में माना गया आत्मकर्तृत्ववाद भी नैतिक समीक्षा की कसौटी पर दोषपूर्ण उतरता है।

एकान्त कर्तृत्ववाद के दोष

१. यदि आत्मा को एकान्त रूप से कर्मो का कर्ता माना जाय, तो कर्तृत्व उसका स्वलक्षण होना चाहिए और ऐसी स्थिति मे निर्वाणावस्था में भी उसमें कर्तृत्व रहेगा। यदि कर्तापन आत्मा का स्वलक्षण है तो वह कभी छूट नहीं सकता और जो छूट सकता है वह स्वलक्षण नही हो सकता।

२. जिस प्रकार स्वर्ण स्वर्णाभूषण का कारण हो सकता है, रजताभूषण का नहीं; उसी प्रकार यदि आत्मा को कर्ता माना जाय तो वह मात्र चैत्तसिक अवस्थाओं का ही कर्ता सिद्ध हो सकता है, जड़ (भौतिक) कर्मो का कर्ता नही। जैन नैतिक विचारणा

१. सांख्यकारिका, ५६-५७.
२. वही, ६२
३. उत्तराध्ययन, २०।३७.
४. वही, २०।४८.
५. सूत्रकृतांग, १।१।१३-२१.
६. उत्तराध्ययन, २३।७३; तुलना कीजिए कठोपनिषद्, १।३।३.

में आत्मा को कर्मों का कर्ता माना जाता है, लेकिन जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं ही प्रश्न किया है कि कर्म तो जड़ है और आत्मा चेतन, दोनों भिन्न हैं; फिर आत्मा को जड़ कर्मों का कर्ता कैसे माना जाय ? आत्मा जड़ में नहीं और जड़ आत्मा में नहीं, फिर वह चेतन आत्मा जड़ कर्मों का कर्ता कैसे हो सकता है ? तप्त लौह-पिण्ड में अग्नि रहते हुए भी वह उसका कर्ता या कारण नहीं हो सकती, वस्तुतः तो वहाँ भी लौह लौह में है और अग्नि अग्नि में।[1]

३. आत्मा को स्वलक्षण की दृष्टि से कर्ता मानने पर मुक्ति की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि यदि कर्तृत्व स्वलक्षण है तो मोक्षदशा में भी रहेगा और इसके कारण उसे बन्धन में आने की सम्भावना बनी रहेगी।

आत्म-कर्तृत्व के सम्बन्ध में कुन्दकुन्द के विचार

इन आक्षेपों को दृष्टि में रखते हुए महावीर के परवर्ती कुछ जैन विचारकों ने भी जब आत्मकर्तृत्व की इस समस्या की गहन समीक्षा की तो उन्होंने भी यह कह दिया कि आत्मा कर्ता नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में एक गहन समीक्षा के पश्चात् स्पष्ट रूप में कह दिया कि जीव (आत्मा) अकर्ता है, गुण ही कर्मों के कर्ता हैं।[2] जो यह जानता है कि आत्मा (कर्मों का) कर्ता नहीं है, वही (सच्चा) ज्ञानी है। आत्मा को धर्म (शुभ) अथवा पाप (अशुभ) आदि के वैचारिक परिणामों का कर्ता कहा जाता है, लेकिन वह किसी भी प्रकार कर्ता नहीं होता है, जो इस प्रकार जानता है, वही ज्ञानी है।[3] इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द आत्म-कर्तृत्व की मान्यता का स्पष्ट निषेध करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यह विचारणा आचार्य की स्वयं की है और पूर्ववर्ती साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं है। सर्वाधिक प्राचीन जैनागम आचारांगसूत्र में भी ऐसा संकेत मिलता है कि जो गुण (इन्द्रियविषय) है, वही बन्धन है।[4] इस प्रकार यहाँ भी बन्धन अथवा कर्तृत्व का उत्तरदायित्व आत्मा पर नहीं, वरन् गुणों (इन्द्रियविषयों) पर डाला गया है। पूर्ववर्ती बन्धन अपने विपाक में नया बन्धन अर्जित करता है और यह परम्परा चलती रहती है, आत्मा तो कहीं बीच में आता ही नहीं है। फिर उसे कर्ता कैसे माना जाये ? इस प्रकार जहाँ एक ओर अनेक जैनाचार्यों के आत्मा को कर्ता कहा, वहाँ कुन्दकुन्द ने उसके अकर्तृत्व पर बल दिया। इन परस्पर-विरोधी दो दृष्टिकोणों का कथन हम एक ही आचार-दर्शन में पाते हैं। लेकिन दोनों ही दृष्टिकोण सापेक्ष रूप में सत्य हैं, क्योंकि यदि आत्मा को एकान्तरूप से अकर्ता माना जाए तो भी नैतिक दृष्टि से कुछ समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

---

१. समयसार, ११०-१४०; समयसारटीका, कलश १६.

२. वही, ११२.

३. वही, ७५.

४. जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे।—आचारांग, १।१।५.

एकान्त अकर्तृत्ववाद के दोष

१. यदि आत्मा अकर्ता है तो उसे शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी भी नहीं माना जा सकेगा।

२. यदि आत्मा अकर्ता है तो शुभाशुभ कर्मों का कर्ता भी नहीं होगा और शुभाशुभ का कर्ता नहीं होने से वह बन्धन में नहीं आयेगा।

३. उत्तरदायित्व के अभाव में नैतिकता का प्रत्यय अर्थहीन होता है, यदि आत्मा को अकर्ता माना जाए तो उत्तरदायित्व की व्याख्या सम्भव नहीं है।

४. नैतिक आदेश किसी कर्ता की अपेक्षा करते हैं। यदि आत्मा अकर्ता है तो नैतिक आदेश किसके लिए है ?

५. मुक्ति यदि नैतिक आचरण का परिणाम है तो अकर्ता आत्मा के लिए उसका क्या अर्थ रहेगा ?

निष्कर्ष

आत्मकर्तृत्ववाद और आत्म-अकर्तृत्ववाद के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण भी एकांगी नहीं, क्योंकि ऐकान्तिक मान्यताओं से इसका सम्यक् निराकरण नहीं हो सकता। आचार्य ने समयसार में लगभग ७५ गाथाओं में इस समस्या की गहन समीक्षा प्रस्तुत की है।[1] आचार्य भी कर्तृत्व और अकर्तृत्व के विवाद का समाधान सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही करते हैं, उनके सारे निर्णयों को निम्न तीन दृष्टिकोणों में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

१. व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से आत्मा शरीर के सहयोग से (क्रियाओं का) कर्ता है।[2] जब तक आत्मा कर्म-शरीर से युक्त है, वह कर्मों का कर्ता है और उस स्थिति तक शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी भी है।

२. पर्यायार्थिक निश्चयदृष्टि (अशुद्धनिश्चयनय) के अनुसार आत्मा जड़ कर्मों का कर्ता नहीं है, वरन् मात्र कर्म पुद्गल के निमित्त से अपने चैत्तसिक भावों (अध्यवसाय) का कर्ता है।[3]

३. शुद्धनिश्चयनय या द्रव्यार्थिक (परमार्थ) दृष्टि से आत्मा अकर्ता है।[4]

बौद्ध दृष्टिकोण की समीक्षा

बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है। उसमें आत्मकर्तृत्ववाद की समस्या ही नहीं है। वह चेतना के कर्तृत्व को स्वीकार करता है एवं चेतना या मनोवृत्ति के आधार पर ही

१. समयसार, कर्तृकर्माधिकार, ७०-१४४.
२. वही, ८४.
३. वही, ८१-८३.
४. वही, ९२.

कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का नैतिक निर्णय करता है। लेकिन उसकी वह चेतना तो प्रवाह है। अतः जिसे नैतिक या अनैतिक कर्मों का कर्ता माना जाय अथवा उत्तरदायी बनाया जाय, ऐसी कोई चेतना बच नही रहती। नदी के प्रवाह मे डुबाने-वाली जल-धारा के समान वह तो परिवर्तनशील है। वास्तविक दृष्टि से देखें तो डूबने की क्रिया मात्र है, डुबानेवाला कोई नही। क्रिया सम्पन्न होने तक भी जिसका अस्तित्व नही रहता, उसे कर्ता कैसे कहा जाय ? फिर भी, व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति को कर्ता माना गया है। बुद्ध कहते हैं, अपने से उत्पन्न, अपने से किया पाप, अपने कर्ता दुर्बुद्धि मनुष्य का वैसे ही विदीर्ण कर देता है जैसे मणि को वज्र काट देता है।[1] अपने से किया पाप अपने को ही मलिन करता है, अपने से पाप नही करे तो स्वयं ही शुद्ध रहता है। शुद्धि-अशुद्धि प्रत्येक की अलग है, दूसरा दूसरे को शुद्ध नही कर सकता।[2] इस प्रकार नैतिक जीवन की दृष्टि से बौद्ध दर्शन 'प्रवाही आत्मा' को कर्ता एव उत्तरदायी मानता है।

गीता का दृष्टिकोण

गीता कूटस्थ आत्मवाद को मानती है। गीता में ऐसे वचनों का अभाव नहीं है जो आत्मा के अकर्तृत्व को सूचित करते हैं। श्रीकृष्ण कहते है कि जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही सम्यक् द्रष्टा है।[3] सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं, तो भी अहंकार से मोहित अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा मान लेता है।[4] हे अर्जुन, गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्व को जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण गुणों में वर्तते हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता।[5] गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर मे स्थित होते हुए भी वास्तव में न करता है (और) न लिप्त होता है।[6]

इस प्रकार गीता मे आत्मा को अकर्ता माना गया है। फिर भी गीतोक्त नैतिक आदेशों का पालन नही करने से प्रत्युत्पन्न उत्तरदायित्व की संगत व्याख्या आत्मा के कर्तृत्व को माने बिना नही हो पाती। गीता में आत्मा को अकर्ता कहने का अर्थ इतना ही है कि प्रकृति से भिन्न विशुद्ध आत्मा अकर्ता है। आत्मा का कर्तृत्व प्रकृति के संयोग से ही है। जैसे जैन दर्शन में तत्त्वदृष्टि से अकर्ता आत्मा में कर्मपुद्गलों के निमित्त से कर्तृत्वभाव माना गया है, वैसे ही गीता में भी अकर्ता आत्मा में प्रकृति

---

१. धम्मपद, १६१.
२. वही, १६५.
३. गीता, १३।२९.
४. वही, ३।२७.
५. वही, ३।२८.
६. वही, १३।३१.

के संयोग से कर्तृत्व का आरोपण हो सकता है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो गीता का दृष्टिकोण आचार्य कुन्दकुन्द के दृष्टिकोण के अत्यधिक निकट प्रतीत होता है।[1]

आत्मा भोक्ता है

यदि नैतिक जीवन के लिए आत्मा को कर्ता मानना आवश्यक है तो उसे भोक्ता भी मानना पड़ेगा। क्योंकि जो कर्मों का कर्ता है उसे ही उनके फलों का भोग भी करना चाहिए। जैसे आत्मा का कर्तृत्व कर्मपुद्गलों के निमित्त से सम्भव है, वैसे ही आत्मा का भोक्तृत्व भी कर्मपुद्गलों के निमित्त से ही सम्भव है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व, दोनों ही शरीरयुक्त बद्धात्मा मे पाये जाते हैं, मुक्तात्मा या शुद्धात्मा में नही। भोक्तृत्व वेदनीय कर्म के कारण ही सम्भव है। जैन दर्शन आत्मा का भोक्तृत्व भी सापेक्ष दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा में स्वीकार करता है।

१. व्यावहारिक दृष्टि मे शरीरयुक्त बद्धात्मा भोक्ता है।

२. अशुद्धनिश्चयनय या पर्यायदृष्टि से आत्मा मानसिक अनुभूतियों का वेदक है।

३. परमार्थदृष्टि से आत्मा भोक्ता और वेदक नहीं, मात्र द्रष्टा या साक्षी-स्वरूप है।[2]

नैतिक दृष्टि से भोक्तृत्व कर्म और उसके प्रतिफल के संयोग के लिए आवश्यक है। जो कर्ता है, वह अनिवार्य रूप से उनके फलों का भोक्ता भी है अन्यथा कर्म और उसके फलभोग मे अनिवार्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में नैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। अतः यह मानना होगा कि आत्मा भोक्ता है, लेकिन आत्मा का भोक्ता होना बद्धात्मा या सशरीर आत्मा के लिए ही समुचित है। मुक्तात्मा भोक्ता नहीं है, वह तो मात्र साक्षीस्वरूप या द्रष्टा होता है। गीता और बौद्ध दर्शन भी सशरीर जीवात्मा में भोक्तृत्व को स्वीकार करते हैं।

§ १०. आत्मा स्वदेह परिमाण है

यद्यपि जैन विचारणा में आत्माओं को रूप, रस वर्ण, गन्ध, स्पर्श आदि से विवर्जित कहा गया है, तथापि आत्मा को शरीराकार स्वीकार किया गया है। आत्मा के आकार के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो दृष्टियाँ हैं : एक के अनुसार आत्मा विभु (सर्वव्यापी) है, दूसरी के अनुसार अणु है। सांख्य, न्याय और अद्वैत वेदान्त आत्मा को विभु मानते हैं और रामानुज अणु मानते है। जैन दर्शन की इस सम्बन्ध में मध्यस्थ दृष्टि है। उसके अनुसार आत्मा अणु भी है और विभु भी। वह सूक्ष्म इतना है कि एक आकाश प्रदेश के अनन्तवें भाग के बराबर है और विभु है तो इतना है कि समग्र लोक को

१. समयसार ११२; गीता, ३।२७-२८.
२. समयसार, ८१-९२.

व्याप्त कर सकता है।[1] जैन दर्शन आत्मा में संकोच-विस्तार को स्वीकार करता है और इस आधार पर आत्मा को स्वदेह-परिमाण मानता है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे कमरे में रहने पर छोटे कमरे को और बड़े कमरे में रहने पर बड़े कमरे को प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा भी जिस देह में रहता है उसे चैतन्याभिभूत कर देता है।

आत्मा के विभुत्व की नैतिक समीक्षा

१. यदि आत्मा विभु (सर्वव्यापक) है तो वह दूसरे शरीरों में भी होगा, फिर उन शरीरों के कर्मों के लिए उत्तरदायी होगा। यदि यह माना जाये कि आत्मा दूसरे शरीरों में नहीं है, तो फिर वह सर्वव्यापक नहीं होगा।

२. यदि आत्मा विभु है तो दूसरे शरीरों में होनेवाले सुख-दुःख के भोग से कैसे बच सकेगा ?

३. विभु आत्मा के सिद्धान्त में कौन आत्मा किस शरीर का नियामक है, यह बताना कठिन है। वस्तुतः नैतिक जीवन के लिए प्रत्येक शरीर में एक आत्मा का सिद्धान्त ही सगत हो सकता है, ताकि उस शरीर के कर्मों के आधार पर उसे उत्तर-दायी ठहराया जा सके।

४. आत्मा की सर्वव्यापकता का सिद्धान्त अनेकात्मवाद के साथ कथमपि संगत नहीं हो सकता। दूसरी ओर अनेकात्मवाद के अभाव में नैतिक जीवन की सगत व्याख्या सम्भव नहीं। यद्यपि गीता परमात्मा को विभु मानती है,[2] लेकिन उसे जीवात्मा के रूप में सम्पूर्ण शरीर में स्थित[3] तथा एक शरीर से दूसरे शरीर में सक्रमण करनेवाला भी मानती है।[4]

§ ११. आत्माएँ अनेक हैं

आत्मा एक है या अनेक—यह दार्शनिक दृष्टि से विवाद का विषय का रहा है। जैन दर्शन के अनुसार आत्माएँ अनेक हैं और प्रत्येक शरीर की आत्मा भिन्न है। यदि आत्मा को एक माना जाता है तो नैतिक दृष्टि से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

एकात्मवाद की नैतिक समीक्षा

१. आत्मा को एक मानने पर सभी जीवों की मुक्ति और बन्धन एक साथ होंगे। इतना ही नहीं, सभी शरीरधारियों के नैतिक विकास एवं पतन की विभिन्न अवस्थाएँ भी युगपद् होंगी। लेकिन ऐसा तो दिखता नहीं। नैतिक स्तर भी सब प्राणियों का

१. क्रमशः निगोद एवं केवलीसमुद्घात की अवस्था में.
२. गीता, २।२४.
३. वही, १३।३२.
४. वही, १५।८.

अलग-अलग हैं। यह भी माना जाता है कि अनेक व्यक्ति मुक्त हो चुके हैं और अनेक अभी बन्धन में हैं।

२. आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिक नैतिक प्रयासों का मूल्य समाप्त हो जायेगा। यदि आत्मा एक ही है तो व्यक्तिगत प्रयासों एवं क्रियाओं से न तो उसकी मुक्ति सम्भव होगी न वह बन्धन में ही आयेगा।

३. आत्मा के एक मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व तथा तज्जनित पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था का भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। सारांश में आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है और वैयक्तिकता के अभाव में नैतिक विकास, नैतिक उत्तरदायित्व और पुरुषार्थ आदि नैतिक प्रत्ययों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसीलिए विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि सुख-दुःख, जन्म-मरण, बन्धन-मुक्ति आदि के सन्तोषप्रद समाधान के लिए अनेक आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता मानना आवश्यक है।[1] सांख्यकारिका में भी जन्म-मरण, इन्द्रियों की विभिन्नताओं, प्रत्येक की अलग-अलग प्रवृत्ति और स्वभाव या नैतिक विकास की विभिन्नता के आधार पर आत्मा की अनेकता सिद्ध की गयी है।[2]

अनेकात्मवाद की नैतिक कठिनाई

अनेकात्मवाद नैतिक जीवन के लिए वैयक्तिकता का प्रत्यय तो प्रस्तुत कर देता है, तथापि अनेक आत्माएँ मानने पर भी कुछ नैतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन नैतिक कठिनाइयों में प्रमुखतम यह है कि नैतिकता का समग्र प्रयास जिस अहं के विसर्जन के लिए है उसी अहं (वैयक्तिकता) को ही यह आधारभूत बना देता है। अनेकात्मवाद में अहं कभी भी पूर्णतया विसर्जित नहीं हो सकता। इसी अहं से राग और आसक्ति का जन्म होता है। अहं तृष्णा का ही एक रूप है, 'मैं' भी बन्धन ही है।

जैन दर्शन का निष्कर्ष

जैन दर्शन ने इस समस्या का भी अनेकान्त दृष्टि से सुन्दर हल प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार आत्मा एक भी है और अनेक भी। समवायांग और स्थानांगसूत्र में कहा कहा गया है कि आत्मा एक है।[3] अन्यत्र उसे अनेक (भी) कहा गया है।[4] टीका-कारों ने इसका समाधान इस प्रकार किया कि आत्मा द्रव्यापेक्षा से एक है अ पर्यायापेक्षा से अनेक; जैसे सिन्धु का जल न एक है न अनेक, वह जलराशि की दृष्टि से एक है और जल-बिन्दुओं की दृष्टि से अनेक भी। समस्त जल-बिन्दु अपना स्वतन्त्र

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, १५८२.
२. सांख्यकारिका, १८.
३. समवायांग, १।१; स्थानांग, १।१.
४. भगवतीसूत्र, २।१.

अस्तित्व रखते हुए उस जलराशि से अभिन्न ही हैं। उसी प्रकार अनन्त चेतन आत्माएँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी अपने चेतना स्वभाव के कारण एक चेतन आत्म-द्रव्य ही हैं।[1]

महावीर ने इस प्रश्न का समाधान बड़े सुन्दर ढंग से टीकाकारों के पहले ही कर दिया था। वे सोमिल नामक ब्राह्मण को अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'हे सोमिल। द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ, ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों की प्रधानता से मैं दो हूँ। कभी न्यूनाधिक नहीं होनेवाले आत्मप्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। तीनों कालों में बदलते रहनेवाले उपयोगस्वभाव की दृष्टि से मैं अनेक हूँ।'[2]

इस प्रकार महावीर जहाँ एक ओर द्रव्यदृष्टि (Substancial view) से आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं, वहीं दूसरी ओर पर्यायार्थिक दृष्टि से एक ही जीवात्मा में चेतन पर्यायों के प्रवाह के रूप में अनेक व्यक्तित्वों की संकल्पना को भी स्वीकार कर शंकर के अद्वैतवाद और बौद्ध क्षणिक आत्मवाद की खाई को पाटने की कोशिश करते हैं।

इस प्रकार जैन विचारक आत्माओं में गुणात्मक अन्तर नहीं मानते हैं। लेकिन विचार की दिशा में केवल सामान्य दृष्टि से काम नहीं चलता, विशेष दृष्टि का भी अपना स्थान है। सामान्य और विशेष के रूप में विचार की दो दृष्टियाँ हैं और दोनों का अपना महत्त्व है। महासागर की जलराशि सामान्य दृष्टि से एक है, लेकिन विशेष दृष्टि से वही जलराशि अनेक जल-बिन्दुओं का समूह प्रतीत होती है। यही बात आत्मा के विषय में है। चेतना पर्यायों की विशेष दृष्टि से आत्माएँ अनेक हैं और चेतना द्रव्य की दृष्टि से आत्मा एक है। जैन दर्शन के अनुसार आत्म द्रव्य एक प्रकार का है, लेकिन उसमें अनन्त वैयक्तिक आत्माओं की सत्ता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक वैयक्तिक आत्मा भी अपनी परिवर्तनशील चैत्तसिक अवस्थाओं के आधार पर स्वयं भी एक स्थिर इकाई न होकर प्रवाहशील इकाई है। जैन दर्शन यह मानता है कि आत्मा का चरित्र या व्यक्तित्व परिवर्तनशील है। वह देशकालगत परिस्थितियों में बदलता रहता है, फिर भी वह वही रहता है। हमारे में भी अनेक व्यक्तित्व बनते और बिगड़ते रहते हैं। फिर भी वे हमारे ही अंग हैं, इस आधार पर हम उनके लिए उत्तरदायी बने रहते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन अभेद में भेद, एकत्व में अनेकत्व की धारणा को स्थान देकर नैतिकता के लिए एक ठोस आधार प्रस्तुत करता है।

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन अनेक चित्तप्रवाहों को स्वीकार करता है। वह मानता है कि इस जगत्

---

१. समवायांगटीका, ११.

२. भगवतीसूत्र, १८।१०.

में अनेक चित्तधाराएँ हैं। प्रत्येक व्यक्तित्व एक स्वतन्त्र चित्तप्रवाह है। 'क' $क_1$ $क_2$ $क_3$ $क_4$ के रूप में एक चित्तप्रवाह है तो 'ख' $ख_1$ $ख_2$ $ख_3$ $ख_4$ के रूप में दूसरा चित्तप्रवाह है। जगत् का प्रत्येक प्राणी एक ऐसा ही चित्तप्रवाह है। जैन दर्शन जिन्हें जीव की पर्याय अवस्थाओं की धारा कहता है, बौद्ध दर्शन उसे चित्तप्रवाह कहता है। जिस प्रकार जैन दर्शन में प्रत्येक जीव अलग है, उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में प्रत्येक चित्त-प्रवाह अलग है। जैसे बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद में आलयविज्ञान है वैसे जैन दर्शन में आत्मद्रव्य है; यद्यपि इन सबमें रहे हुए तात्त्विक अन्तर को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

गीता का दृष्टिकोण

गीता में जीवात्माओं की अनेकता स्वीकृत है, लेकिन उन्हें परमात्मा का अंश माना गया है।[1] इस अर्थ में तात्त्विक आत्मा को एक ही माना है।[2] फिर भी साधारण अर्थ में जीवात्माओं की अनेकता और उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्वों की धारणा गीता में स्वीकृत है। श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि वास्तव में न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तू नहीं था अथवा ये सभी राजा लोग नहीं थे, और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।[3] इससे स्पष्टतया यह सिद्ध हो जाता है कि गीता अनेक स्वतन्त्र व्यक्तित्वों को स्वीकार करती है।

सांख्य दार्शनिकों ने भी आत्मा की अनेकता को स्वीकार किया है। उन्होंने अनेकता के लिए तीन तर्क दिये हैं—(१) जन्म, मृत्यु, इन्द्रियों एवं शरीरों की विभिन्नता (२) प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ (क्रियाकलाप) और (३) व्यक्तियों के स्वभावों की भिन्नता जो उनमें सत्त्व, रज और तम की असमानता के कारण होती है।[4] भारतीय दर्शनों में केवल अद्वैत वेदान्त तथा चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी ने प्रत्येक प्राणी की आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है। वस्तुतः नैतिक जीवन के लिए व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता आवश्यक है। हार्फडिंग लिखते हैं कि नैतिक जीवन व्यक्तिगत जीवन है। नैतिक आदर्श की प्राप्ति व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में करता है। अगर व्यक्ति का या उसकी नैतिक आत्मा का परमात्मा में विलय हो जाय तो उसके नैतिक जीवन का अन्त हो जायेगा। नैतिक जीवन हमेशा व्यक्तिगत होता है। उसका न प्रकृति में विलय हो सकता है और न परमात्मा में।[5] इस प्रकार नैतिक जीवन की व्याख्या के लिए अनेक आत्माओं (व्यक्तित्वों) की धारणा ही एक तर्कसंगत सिद्धान्त हो सकता है।

---

१. गीता, १५।७.
२. वही, ६।६, १३।३०-३१.
३. वही, २।१२.
४. सांख्यकारिका, १८.
५. पश्चिमी दर्शन, पृ० २१६.

§ १२. आत्मा के भेद

जैन दर्शन अनेक आत्माओं की सत्ता को स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्येक आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर उसके भेद करता है। जैन आगमों में विभिन्न पक्षों की अपेक्षा से आत्मा के आठ भेद किये गये हैं[1]—

१. द्रव्यात्मा—आत्मा का तात्त्विक स्वरूप।

२. कषायात्मा—क्रोध, मान, माया आदि कषायों या मनोवेगों से युक्त चेतना की अवस्था।

३. योगात्मा—शरीर से युक्त होने पर चेतना की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं की अवस्था।

४. उपयोगात्मा—आत्मा की ज्ञानात्मक और अनुभूत्यात्मक शक्तियाँ। यह आत्मा का चेतनात्मक व्यापार है।

५. ज्ञानात्मा—चेतना की विवेक और तर्क की शक्ति।

६. दर्शनात्मा—चेतना की भावात्मक अवस्था।

७. चारित्रात्मा—चेतना की संकल्पात्मक शक्ति।

८. वीर्यात्मा—चेतना की क्रियात्मक शक्ति।

उपर्युक्त आठ प्रकारों में द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा और दर्शनात्मा ये चार तात्त्विक आत्मा के स्वरूप के ही द्योतक हैं, शेष चार कषायात्मा, योगात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा ये चारों आत्मा के अनुभवाधारित स्वरूप के निदर्शक हैं। तात्त्विक आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य होती है यद्यपि उसमें ज्ञानादि की पर्यायें होती रहती हैं। अनुभवाधारित आत्मा चेतना की शरीर से युक्त अवस्था है। यह परिवर्तनशील एवं विकारयुक्त होती है। आत्मा के बन्धन का प्रश्न भी इसी अनुभवाधारित आत्मा से सम्बन्धित ह। विभिन्न दर्शनों में आत्म-सिद्धान्त के सन्दर्भ में जो पारस्परिक विरोध दिखाई देता है, वह आत्मा के इन दो पक्षों में किसी पक्षविशेष पर बल देने के कारण होता है। भारतीय परम्परा में बौद्ध दर्शन ने आत्मा के अनुभवाधारित पक्ष पर अधिक बल दिया, जबकि सांख्य और शांकर वेदान्त ने आत्मा के तात्त्विक स्वरूप पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की। जैन दर्शन दोनों हो पक्षों को स्वीकार कर उनके बीच समन्वय का कार्य करता है। नैतिक साधना की दृष्टि से कह सकते हैं कि यह अनुभवाधारित या व्यावहारिक आत्मा नैतिक साधक है और अनुभवातीत शुद्ध द्रव्यात्मा नैतिक साध्य है।

विवेक-क्षमता के आधार पर आत्मा के भेद

विवेक-क्षमता की दृष्टि से आत्माएँ दो प्रकार की मानी गई हैं—(१) समनस्क,

१. भगवतीसूत्र, १२।१०।४६७.

(२) अमनस्क । समनस्क आत्माएँ वे हैं जिन्हें विवेक-क्षमता युक्त मन उपलब्ध है और अमनस्क आत्माएँ वे हैं जिन्हें ऐसा विवेक-क्षमता से युक्त मन उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक नैतिक जीवन के क्षेत्र का प्रश्न है, समनस्क आत्माएँ ही नैतिक आचरण कर सकती हैं और वे ही नैतिक साध्य की उपलब्धि कर सकती हैं, क्योंकि विवेक-क्षमता से युक्त मन की उपलब्धि होने पर ही आत्मा में शुभाशुभ का विवेक करने की क्षमता होती है, साथ ही इसी विवेकबुद्धि के आधार पर वे वासनाओं का संयमन भी कर सकती हैं। जिन आत्माओं में ऐसी विवेक-क्षमता का अभाव है, उनमें संयम की क्षमता का भी अभाव होता है, इसलिए वे नैतिक प्रगति भी नहीं कर सकतीं। नैतिक जीवन के लिए आत्मा में विवेक और संयम दोनों का होना आवश्यक है और वह केवल पंचेन्द्रिय जीवों में भी उन्हीं में सम्भव है जो समनस्क हैं। यहाँ जैविक आधार पर भी आत्मा के वर्गीकरण पर विचार अपेक्षित है, क्योंकि जैन धर्म का अहिंसा-सिद्धान्त बहुत कुछ उसी पर निर्भर है।

जैविक आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण

जैन दर्शन के अनुसार जैविक आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण निम्न तालिका से स्पष्ट हो सकता है—
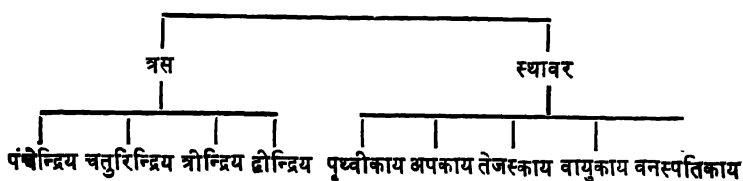
जैविक दृष्टि से जैन परम्परा में दस प्राण-शक्तियाँ मानी गयी हैं। स्थावर एकेन्द्रिय जीवों में चार शक्तियाँ होती हैं—(१) स्पर्श-अनुभव शक्ति, (२) शारीरिक शक्ति, (३) जीवन (आयु) शक्ति और (४) श्वसन शक्ति। द्वीन्द्रिय जीवों में इन चार शक्तियों के अतिरिक्त स्वाद और वाणी की शक्ति भी होती है। त्रीन्द्रिय जीवों में इन छः शक्तियों साथ ही गन्धग्रहण की क्षमता भी होती है। चतुरिन्द्रिय जीवों में इन सात शक्तियों के अतिरिक्त देखने की सामर्थ्य भी होती है। पंचेन्द्रिय अमनस्क जीवों में इन आठ शक्तियों के साथ-साथ श्रवण-शक्ति भी होती है। और समनस्क पंचेन्द्रिय जीवों में इनके अतिरिक्त मनःशक्ति भी होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में कुल दस जैविक शक्तियाँ या प्राण-शक्तियाँ मानी गयी हैं। हिंसा-अहिंसा के अल्पत्व और बहुत्व आदि का विचार इन्हीं जैविक शक्तियों की दृष्टि से किया जाता है। जितनी अधिक प्राण-शक्तियों से युक्त प्राणी की हिंसा की जाती है, वह उतनी ही भयंकर समझी जाती है।

गतियों के आधार पर जीवों का वर्गीकरण

जैन परम्परा में गतियों के आधार पर जीव चार प्रकार के माने गए हैं—(१) देव, (२) मनुष्य, (३) पशु (तिर्यञ्च) और (४) नारक। जहाँ तक शक्ति और क्षमता का प्रश्न है देव का स्थान मनुष्य से ऊँचा माना गया है। लेकिन जहाँ तक नैतिक साधना की बात है जैन परम्परा मनुष्यजन्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानती है। उसके अनुसार मानवजीवन ही ऐसा जीवन है जिससे मुक्ति या नैतिक पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। जैन परम्परा के अनुसार केवल मनुष्य ही सिद्ध हो सकता है, अन्य कोई नहीं। बौद्ध परम्परा में भी उपर्युक्त चारों जातियाँ स्वीकृत रही हैं लेकिन उनमें देव और मनुष्य दोनों में ही मुक्त होने की क्षमता को मान लिया गया है। बौद्ध परम्परा के अनुसार एक देव बिना मानव जन्म ग्रहण किये देवगति से ही निर्वाण लाभ कर सकता है, जबकि जैन परम्परा के अनुसार केवल मनुष्य ही निर्वाण का अधिकारी है। इस प्रकार जैन परम्परा मानवजन्म को चरम मूल्यवान बना देती है।

इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का नैतिक दृष्टि से विवेचन करने के पश्चात् अगले अध्याय में हम आत्मा की अमरता की नैतिक मान्यता के सम्बन्ध में विचार करने का प्रयत्न करेंगे। □

८

आत्मा की अमरता

आत्मा की अमरता

आत्मा की अमरता का प्रश्न नैतिकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्य विचारक कांट आत्मा की अमरता को नैतिक जीवन की संगत व्याख्या के लिए आवश्यक मानते हैं। भारतीय आचारदर्शनों के प्राचीन युग में आत्मा की अमरता का सिद्धान्त विवाद का विषय रहा है। उस युग मे यह प्रश्न आत्मा की नित्यता एवं अनित्यता के रूप मे अथवा शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के रूप में बहुचर्चित रहा है। वस्तुतः आत्म-अस्तित्व को लेकर दार्शनिकों में इतना विवाद नहीं है, विवाद का विषय है—आत्मा की नित्यता और अनित्यता। यह विषय तत्त्वज्ञान की अपेक्षा भी नैतिक दर्शन से अधिक सम्बन्धित है। जैन विचारकों ने नैतिक व्यवस्था को प्रमुख मानकर उसके आधार पर ही आत्मा की नित्यता और अनित्यता की समस्या का हल खोजने की कोशिश की। अतः यह देखना भी उपयोगी होगा कि आत्मा को नित्य अथवा अनित्य मानने पर नैतिक दृष्टि से कौन-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

§ १. अनित्य आत्मवाद

अनित्य आत्मवाद को भूतात्मवाद, देहात्मवाद और उच्छेदवाद भी कहा जाता है। चार्वाक दर्शन और अजितकेशकम्बल इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इनके अनुसार आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है, वरन् उसकी उत्पत्ति भूतों के योग से होती है। सूत्रकृतांग में इस सिद्धान्त का उल्लेख इस रूप में मिलता है कि 'कुछ लोगों के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं। इन पंच महाभूतों के योग से आत्मा उत्पन्न होती है और इनका विनाश हो जाने पर नष्ट हो जाती है।'[1] उत्तराध्ययन में यही बात इन शब्दों में है, 'शरीर में जीव स्वतः उत्पन्न होता है और शरीर नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है, बाद में नहीं रहता है।'[2] बौद्धागमों में प्रस्तुत अजितकेशकम्बल की विचारणा के अनुसार भी आदमी चार महाभूतों का बना है। जब मरता है (शरीर की) पृथ्वी-पृथ्वी में, पानी-पानी में, अग्नि-अग्नि में और वायु-वायु में मिल जाते हैं—मूर्ख हो चाहे पण्डित, शरीर छोड़ने पर सभी उच्छिन्न हो जाते हैं।[3]

१. सूत्रकृतांग, १।१।७-८.
२. उत्तराध्ययन, १४।१८.
३. दीघनिकाय, सामण्णफलसुत्त.

एकान्त अनित्य आत्मवाद की नैतिक समीक्षा

नैतिक दर्शन की दृष्टि से तर्क की कसौटी पर अनित्य आत्मवाद के प्रति निम्न आक्षेप प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१. अनेक अशुभ कृत्यों का फल इस जीवन में नहीं मिल पाता है। यदि आत्मा देह के साथ नष्ट हो जाता है तो फिर अवशेष कृत्यों का फल मिलना सम्भव नहीं होगा। यदि सभी शुभाशुभ कृत्यों का फल नहीं मिल पाता है तो नैतिक अव्यवस्था उत्पन्न होगी। दूसरे, यदि शुभाशुभ की फलप्राप्ति का आकर्षण और भय सामान्य व्यक्ति को नहीं हो तो वह न तो शुभाचरण की ओर प्रेरित होगा, न अशुभाचरण से विमुख होगा। सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों का फल प्राप्त होता है, कर्मवाद के इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर हमें आत्मा की नित्यता को स्वीकार करना होगा, क्योंकि अनित्य आत्मवाद की धारणा नैतिक दृष्टि से उचित नहीं बैठती है। उसके आधार पर कर्मविपाक एवं कर्मफल के सिद्धान्त को नहीं समझाया जा सकता।

२. वासनाओं और कर्त्तव्य के संघर्ष पर विजय प्राप्त करना ही नैतिकता है। परन्तु यह कार्य इतना कठिन है कि एक सीमित जीवन में उसे पूर्ण करना सम्भव नहीं है। अनित्य आत्मवाद को मानने पर दूसरे जीवन की सम्भावना ही नहीं रहेगी और नैतिकता के ध्येय को प्राप्त नहीं किया जा सकेगा।

३. संसार में अनेक व्यक्तियों को जन्म से ही मानसिक, शारीरिक एवं भौतिक उपलब्धियाँ एवं विकास के अवसर प्राप्त होते हैं, जब कि अनेकों को प्रयास करने पर भी सफलता नहीं मिल पाती। यह सब उपलब्धि या अनुपलब्धि मात्र वर्तमान जीवन का तो कारण नहीं हो सकती। यदि यह अकारण है, तो जगत् में कारण नियम की सार्वभौमिकता नहीं होगी और यदि सकारण है तो देहात्मवाद अथवा अनित्यात्मवाद के आधार पर उसका कारण नहीं समझाया जा सकता।

४. देहात्मवाद मानने पर शरीर की सभी उपाधियाँ आत्मा की उपाधियाँ होंगी और तब शारीरिक वासनाओं की पूर्ति को ही नैतिक मानना पड़ेगा तथा किसी भी उच्च नैतिक सिद्धान्त की स्थापना सम्भव नहीं होगी।

५. शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानने पर शारीरिक शक्तियाँ ही व्यवहार की प्रेरक होंगी और नैतिकता में नियतिवाद आ जायेगा, स्वतन्त्र चयन का अभाव रहेगा और आध्यात्मिक मूल्यों का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहेगा।

६. अनित्य आत्मवाद में जीव की उत्पत्ति माननी होगी। और जहाँ जीव की उत्पत्ति मानी जाती है वहाँ न तो बन्धन का कोई समुचित कारण होता है और न मुक्ति का कोई अर्थ। अतः अनित्यात्मवाद में नैतिक दृष्टि से बन्धन और मुक्ति की कोई व्याख्या सम्भव नहीं।

७. अनित्य आत्मवाद की धारणा में पुण्यसंचय तथा परोपकार, दान आदि नैतिक आदेशों के परिपालन के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता है।

८. अनित्य-आत्मवाद की स्थिति में नैतिक साधना का कोई अर्थ नहीं। नैतिक साधना का आदर्श जिस परमार्थ की उपलब्धि है, उसके लिए अनित्य आत्मवाद में कोई स्थान नहीं।

इन कठिनाइयों के कारण अनित्य आत्मवाद का नैतिकता में कोई स्थान नहीं हो सकता।

पाश्चात्य चिन्तक कांट ने भी व्यावहारिक बुद्धि की अपेक्षा से नैतिक जीवन के लिए आत्मा की अमरता के विचार का समर्थन किया है। उनके अनुसार, प्रथमतः शुभाशुभ कर्मों का फल मिलना आवश्यक है और चूँकि वह इस जन्म में ही पूरी तरह से सम्पन्न नहीं हो पाता, अतः वह अगले जन्म की अनिवार्यता को सूचित करता है। दूसरे, नैतिक विकास की दृष्टि से भी आत्मा की अमरता आवश्यक है। कांट लिखते हैं कि संसार में निःश्रेयस् की उपलब्धि नीति-निधार्य इच्छा का आवश्यक विषय है, किन्तु इस इच्छा में नैतिक नियम से मन की पूर्ण अनुरूपता निःश्रेयस् की सबसे बड़ी शर्त है। इस अनुरूपता को कोई भी विवेकशील मनुष्य जीवन भर में भी नहीं प्राप्त कर सकता। यह अनन्त प्रगति केवल इस मान्यता पर सम्भव है कि मनुष्य के व्यक्तित्व और अस्तित्व की स्थिरता अनन्त है अर्थात् आत्मा अमर है। निःश्रेयस् की सिद्धि इस प्रकार आत्मा की अमरता की मान्यता पर निर्भर है। अस्तु, आत्मा की अमरता नैतिक नियम से अनिवार्यतः सम्बद्ध होने के कारण नैतिकता की एक मान्यता है।[1]

जैन दर्शन ने भी मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक आधारों पर आत्मा की अनित्यता का खण्डन और नित्यता का प्रतिपादन किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी आत्मा यदि अनित्य हो, तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि सम्भव नहीं। साथ ही, यह भी बोध नहीं हो सकता कि मैं वही हूँ जो कभी बच्चा था और आज बड़ा हो गया हूँ। नैतिक दृष्टि से प्रथमतः यदि आत्मा नित्य न हो तो नैतिक व्यवस्था टिक नहीं सकती। कृतप्रणाश और अकृताभ्युपगम के दोष होंगे। अर्थात् कृतकर्मों का फल नहीं मिल सकेगा और अकृतकर्मों का फल भोगना होगा और मोक्ष (भवप्रमोक्ष) का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा, क्योंकि कोई स्थायी जीव है ही नहीं, तो मोक्ष फिर किसका हो सकता है? इस प्रकार नैतिक दृष्टि से आत्मा की नित्यता की मान्यता अपेक्षित है।[2]

§ २. नित्य-आत्मवाद

नित्य-आत्मवाद के अनुसार आत्मा अनादि एवं शाश्वत है। नैतिक दृष्टि से नित्य-आत्मवाद शुभाशुभ कृत्यों के फल के लिए मरणोत्तर जीवन को स्वीकार करता है। यद्यपि मरणोत्तर जीवन की धारणा में जहाँ भारतीय विचारक पुनर्जन्म को स्वीकार कर नैतिक विकास के लिए विभिन्न अवसरों की सम्भावना को मानते हैं, वहीं ईसाई

---

१. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ५०-५१.

२. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, १८.

और इस्लाम धर्म पुनर्जन्म नहीं मानते हैं। भारतीय दर्शनों में चार्वाक आत्मा की नित्यता एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नही मानता। बौद्ध दर्शन भी नित्य-आत्मवाद को नही मानता, लेकिन पुनर्जन्म मानता है। शेष सभी दर्शन नित्य-आत्मवाद एवं पुनर्जन्म को स्वाकार करते ह। उपनिषद्, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और मीमांसक सभी का आत्मा की नित्यता मे विश्वास है। गीता मे भी आत्मा को अज, शाश्वत एवं नित्य कहा गया है। जैन दर्शन ने भी तत्त्व-दृष्टि से आत्मा को नित्य माना है।

एकान्त नित्य-आत्मवाद की नैतिक कठिनाई

१. आत्मा की नित्यता का विचार भी एक आत्मासक्ति है, इसलिए तृष्णा ही है। जहाँ आत्मा को नित्य माना जाता है, वहाँ उससे 'मेरा' आत्मा ऐसा लगाव उत्पन्न हो जाता है। यह राग है और बन्धन का कारण है। पूर्ण निर्वेद के लिए सभी पदार्थों को और उनके सम्बन्धों को अनित्य रूप मे देखना होगा, चाहे वह आत्मा ही हो। यदि उन्हे नित्य माना गया तो पूर्ण विराग नही हो सकता। इस प्रकार आत्मा की नित्यता की धारणा भी आत्मासक्ति है जो नैतिक साधना के लिए अनुचित है।

२. यदि आत्मा की ध्रौव्यता को स्वीकार किया गया और उसमे होनेवाले उत्पाद-व्यय को स्वीकार नही किया गया तो आत्मा की पर्यायावस्थाएँ नही होंगी और पर्यायावस्थाओ के अभाव मे किसी भी प्रकार का स्थित्यन्तर सम्भव नही होगा। फिर बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप आदि अवस्थाएँ आत्मा पर लागू नही होंगी। इस प्रकार एकान्त-नित्यता की मान्यता मे वे सभी दोष उठ खड़े होंगे जो अपरिणामी आत्मवाद के हैं।

§ ३. जैन दृष्टिकोण

जैन विचारकों ने नैतिक विचारणा तथा संसार और मोक्ष की उपपत्ति के लिए न तो नित्य-आत्मवाद को उपयुक्त समझा और न अनित्य-आत्मवाद को; एकान्त नित्यवाद और एकान्त अनित्यवाद दोनों ही सदोष है। आचार्य हेमचन्द्र दोनों को नैतिक दर्शन की दृष्टि से अनुपयुक्त बताते हुए लिखते हैं, यदि आत्मा को एकान्त नित्य मानें तो इसका अर्थ होगा कि आत्मा में अवस्थान्तर अथवा स्थित्यन्तर नही होता। यदि इसे मान लिया जाये तो सुख-दुःख, शुभ-अशुभ आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ आत्मा में घटित नही होगी। फिर स्थित्यन्तर या भिन्न-भिन्न परिणामों, शुभाशुभ भावों की शक्यता न होने से पुण्य-पाप की विभिन्न वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ भी सम्भव नहीं होंगी, न बन्धन और मोक्ष की उपपत्ति की जा सकेगी। एकान्त रूप से आत्मा को अनित्य या क्षणिक मानने पर भी सत्कर्म और दुष्कर्म के विपाक के फलस्वरूप होनेवाले सुख-दुःख का भोग, पुण्य-पाप तथा बन्धन और मोक्ष की उपपत्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि वहाँ एक क्षण के पर्याय में जो कार्य किया था, उसका फल दूसरे क्षण के पर्याय को मिलेगा, क्योकि वहाँ उन सतत् परिवर्तनशील पर्यायों के मध्य कोई अनुस्यूत एक स्थायी तत्त्व (द्रव्य) नहीं है, अतः यह कहा जा सकेगा कि जिसने किया था उसे फल नहीं

मिला और जिसने नहीं किया था उसे मिला, अर्थात् नैतिक कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से अकृतागम और कृतप्रणाश का दोष होगा।[1] अतः आत्मा को नित्य मानकर भी सतत परिवर्तनशील (अनित्य) माना जाये तो उसमें शुभाशुभ आदि विभिन्न भावों की स्थिति मानने के साथ ही उसके फलों का भवान्तर में भोग भी सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार जैन दर्शन सापेक्ष रूप से आत्मा को नित्य और अनित्य दोनों स्वीकार करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा अमूर्त होने के कारण नित्य है।[2] भगवतीसूत्र में भी जीव को अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य कहा गया है।[3] लेकिन इन सब स्थानों पर नित्यता का अर्थ परिणामी नित्यता ही समझना चाहिए। भगवतीसूत्र एवं विशेषावश्यकभाष्य में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है। भगवतीसूत्र में महावीर ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मा को शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा है।

"भगवन् ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?"
"गौतम ! जीव शाश्वत (नित्य) भी है और अशाश्वत (अनित्य) भी।"
"भगवन् ! यह कैसे कहा गया कि जीव नित्य भी है, अनित्य भी ?"
"गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, भाव की अपेक्षा से अनित्य।"[4]

आत्मा द्रव्य (सत्ता) की अपेक्षा से नित्य है अर्थात् आत्मा न तो कभी अनात्म (जड़) से उत्पन्न होता है और न किसी भी अवस्था में अपने चेतना लक्षण को छोड़कर जड़ बनता है। इसी दृष्टि से उसे नित्य कहा जाता है। लेकिन आत्मा की मानसिक अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अतः इस अपेक्षा से उसे अनित्य कहा गया है। आधुनिक दर्शन की भाषा में जैन दर्शन के अनुसार तात्त्विक आत्मा नित्य है और अनुभवाधारित आत्मा अनित्य है। जिस प्रकार स्वर्णाभूषण स्वर्ण की दृष्टि से नित्य और आभूषण की दृष्टि से अनित्य है, उसी प्रकार आत्मा आत्मतत्त्व की दृष्टि से नित्य और विचारों और भावों की दृष्टि से अनित्य है।

जमाली के साथ हुए प्रश्नोत्तर में महावीर ने अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है कि वे किस अपेक्षा से जीव को नित्य मानते हैं और किस अपेक्षा से अनित्य। महावीर कहते हैं, 'हे जमाली, जीव शाश्वत है। तीनों कालों में ऐसा कोई समय नहीं है जब यह जीव (आत्मा) नहीं था, नहीं है, अथवा नहीं होगा। इसी अपेक्षा से यह जीवात्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अक्षय और अव्यय है। हे जमाली, जीव अशाश्वत है, क्योंकि नारक मरकर तिर्यंच होता है, तिर्यंच मरकर मनुष्य होता है, मनुष्य मरकर देव होता है। इस प्रकार इन नानावस्थाओं को प्राप्त करने के कारण उसे

१. वीतरागस्तोत्र, ८।२-३.
२. उत्तराध्ययन, १४।१९.
३. भगवतीसूत्र, ९।६।३।८७.
४. वही, ७।२।२७३.

अनित्य कहा जाता।"[१] नैतिक विचारणा की दृष्टि से आत्मा को नित्यानित्य (परिणामीनित्य) मानना ही समुचित है। नैतिकता की धारणा में जो विरोधाभास है, उसका निराकरण केवल परिणामीनित्य आत्मवाद में ही सम्भव है। नैतिकता का विरोधाभास यह है कि जहाँ नैतिकता के आदर्श के रूप मे जिस आत्मतत्त्व की विवक्षा है उसे नित्य, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, सदैव समरूप में स्थित, निर्विकार होना चाहिए अन्यथा पुनः बन्धन एवं पतन की सम्भावनाएँ उठ खड़ी होंगी, वहीं दूसरी ओर नैतिकता की व्याख्या के लिए जिस आत्मतत्त्व को विवक्षा है उसे कर्ता, भोक्ता, वेदक एवं परिवर्तनशील होना चाहिए अन्यथा कर्म और उनके प्रतिफल और साधना की विभिन्न अवस्थाओं की तरतमता की उपपत्ति नहीं होगी। जैन विचारकों ने इस विरोधाभास की समस्या के निराकरण का प्रयास किया है। प्रथमतः उन्होंने एकान्त नित्यात्मवाद और अनित्यात्मवाद के दोषों को स्पष्ट कर उनका निराकरण किया, फिर यह बताया है कि विरोधाभास तो तब होता है जब नित्यता और अनित्यता को एक ही दृष्टि से माना जाय। लेकिन जब विभिन्न दृष्टियों से नित्यता और अनित्यता का कथन किया जाता है, तो उसमें कोई विरोधाभास नहीं रहता है। जैन दर्शन आत्मा को पर्यायार्थिक दृष्टि (व्यवहारनय) की अपेक्षा से अनित्य मानकर तथा द्रव्यार्थिक दृष्टि (निश्चयनय) की अपेक्षा से नित्य मानकर अपनी आत्मा सम्बन्धी धारणा को नैतिक दर्शन के अनुकूल सिद्ध करता है।

§ ४. बौद्ध दृष्टिकोण

भगवान् बुद्ध भी आत्मा की शाश्वतवादी और उच्छेदवादी धारणाओं को नैतिक एवं साधनात्मक जीवन की दृष्टि से अनुचित मानते हैं। संयुत्तनिकाय में बुद्ध ने आत्मा के सम्बन्ध में शाश्वतवादी और उच्छेदवादी दोनों प्रकार की धारणाओं को मिथ्यादृष्टि कहा है। वे कहते हैं, "रूप, वेदना, संज्ञा आदि के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होने पर ऐसी मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है—मैं मरकर नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अविपरिणामधर्मा होऊँगा। अथवा ऐसी मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है कि सभी उच्छिन्न हो जाते हैं, लुप्त हो जाते हैं, मरने के बाद नहीं रहते।"[२] बुद्ध की दृष्टि में यदि यह माना जाता है कि वही अपरिवर्तिष्णु आत्मा मरकर पुनर्जन्म लेती है तो शाश्वतवाद हो जाता है और यदि यह माना जाए कि माता-पिता के संयोग से चार महाभूतों से आत्मा उत्पन्न होती है और इसलिए शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी उच्छिन्न, विनष्ट और विलुप्त होती है तो यह उच्छेदवाद है।[3] अचेलकाश्यप को बुद्ध ने सविस्तार यह स्पष्ट कर दिया था कि वे शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, इन दो अन्तों (ऐकान्तिक मान्यताओं) को छोड़कर सत्य को मध्यम प्रकार से बताते हैं।[४] बुद्ध सदैव ही इस सम्बन्ध में सतर्क रहे हैं कि उनका कोई

१. भगवतीसूत्र, ९।६।३८७; १।४।४२.
२. संयुत्तनिकाय, २३।१।१-५.
३. आगम युग का जैन दर्शन, पृ० ४७.
४. संयुत्तनिकाय, १२।२।७.

भी कथन ऐसा न हो जिसका अर्थ शाश्वतवाद अथवा उच्छेदवाद के रूप में लगाया जा सके। इसलिए बुद्ध ने दुःख स्वकृत है या परकृत, जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है या जीव वही है जो शरीर है, तथागत का मरने के बाद क्या होता है? आदि प्रश्नों का निश्चित उत्तर न देकर उन्हें अव्याकृत बताया। क्योंकि इन प्रश्नों का हाँ या ना में ऐकान्तिक उत्तर देने पर शाश्वतवाद या उच्छेदवाद में किसी एक विचार का अनुसरण होता है। बुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में किसी भी ऐकान्तिक दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं। बुद्ध स्पष्ट कहते हैं कि 'मैं हूँ' यह गलत विचार है, 'मै नहीं हूँ' यह गलत विचार है, 'मैं होऊँगा' यह गलत विचार है, और 'मैं नहीं होऊँगा' यह गलत विचार है। ये गलत विचार रोग हैं, फोड़े हैं, काँटे हैं। बुद्ध ने इन्हें रोग, फोड़े और शल्य इसलिए कहा कि इस प्रकार के विचारों से मानव मन को शान्ति नहीं मिल सकती। बुद्ध यह नहीं चाहते थे कि मनुष्य यह सोचे कि कहीं मैं मृत्यु के बाद विनष्ट तो नहीं हो जाऊँगा, क्योंकि ऐसा सोचेगा तो उसे अत्यन्त वेदना होगी। स्वयं भगवान् बुद्ध के शब्दों में उसे आन्तरिक अशनि-त्रास होगा। ऐसे होगा जैसे हृदय पर बिजली गिर पड़ी हो—हा! मैं उच्छिन्न हो जाऊँगा। हा! मैं नष्ट हो जाऊँगा। हाय! मैं नहीं रहूँगा! इस प्रकार अज्ञ पुरुष शोक करता है, मूर्च्छित होता है।[1] उच्छेदवाद मानव को शान्ति प्रदान नहीं कर सकता। यह भी सम्भव है कि उच्छेदवाद को मानने पर दुराचारों को ओर प्रवृत्ति हो जाये, क्योंकि दुराचारों का प्रतिफल भावी जन्मों में मिलेगा ऐसा विचार भी मानव मन में नहीं रहेगा। इस प्रकार एक ओर अनावश्यक भय मानव मन को आक्रान्त करेंगे, दूसरी ओर अनैतिक जीवन की ओर प्रवृत्ति होगी। बुद्ध यह भी नहीं चाहते थे कि मनुष्य यह सोचे कि मरकर मैं तो नित्य, ध्रुव, शाश्वत, निर्विकार होऊँगा और अनन्त वर्षों तक वैसे ही स्थित रहूँगा; क्योंकि उनकी दृष्टि में ऐसा विचार आसक्तिवर्धक है। आत्मा को शाश्वत मानने पर मनुष्य यह विचार करने लगता है कि मैं विगत जन्म में क्या था, कौन मेरा था, मैं भविष्य में क्या होऊँगा। बुद्ध की दृष्टि में ये विचार भी चित्त के विराग के लिए नहीं होते, उल्टे इनसे आसक्ति बढ़ती है, राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। बुद्ध के शब्दों में ये विचार अमनसिकरणीयधर्म (अयोग्य विचार) हैं।[2] इस प्रकार बुद्ध साधक को आत्मा के सम्बन्ध में उच्छेदवाद और शाश्वतवाद की मिथ्या धारणाओं से बचने का ही सन्देश देते हैं। लेकिन आखिर बुद्ध का आत्मा के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है, इसे भी तो जानना होगा। यदि बुद्ध के आत्म-सिद्धान्त के बारे में कुछ कहना है तो उसे अशाश्वतानुच्छेदवाद ही कह सकते हैं।

बुद्ध के आत्मवाद के सम्बन्ध में दो गलत दृष्टिकोण

यद्यपि बुद्ध ने आत्मा के सम्बन्ध में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद की ऐकान्तिक

---

१. मज्झिमनिकाय, १।१।२.
२. वही, १।१।२.

धारणाओं का विरोध किया, फिर भी उनके अनित्य, अनात्म, अव्याकृत तथा मौन को सम्यक् रूप से समझे बिना विचारकों ने उन्हें किसी एक अति की ओर ले जाने का प्रयत्न किया। एक ओर प्राचीन एवं मध्य युग के बौद्ध दर्शन के सभी दार्शनिक आलोचकगण तथा सम्प्रतियुग के बौद्ध दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् प० राहुल सांकृत्यायन हैं, तो दूसरी ओर सम्प्रतियुग के रायज़डेविड्स, कु० आई० बी० हार्नर, आनन्द के० कुमारस्वामी और डा० राधाकृष्णन् जैसे मनीषी हैं।

प्रथम वर्ग बुद्ध के अनित्य, क्षणिक और अनात्म पर अधिक बल देकर उनका अर्थ उच्छेदवादी दृष्टिकोण से करता है। यही कारण है कि बौद्ध दर्शन के इन दार्शनिक आलोचकों ने उसपर कृतप्रणाश, अकृतभोग, स्मृतिभंग और प्रमोक्षभंग के दोष लगाकर उसकी दार्शनिक मान्यताओं को नैतिक दर्शन के प्रतिकूल सिद्ध किया। यह इसलिए हुआ कि बौद्ध दर्शन का यह आलोचक वर्ग केवल आलोचना के उद्देश्य से बुद्ध के मन्तव्यों का अर्थ लगाना चाहता था ताकि बौद्ध दर्शन को तर्क की दृष्टि से निर्बल, अव्यावहारिक तथा नैतिक जीवन की व्याख्या करने में असफल सिद्ध कर सके। इन विचारकों में साम्प्रदायिक अभिनिवेश एवं दोषदर्शनबुद्धि का प्राधान्य था। पं० राहुलजी भी बौद्ध मन्तव्यों की व्याख्या में उच्छेदवादी दृष्टिकोण के समर्थक प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं, "बुद्ध का अनित्यवाद भी दूसरा उत्पन्न होता है दूसरा नष्ट होता है—के कहे के अनुसार किसी एक मौलिक तत्त्व का बाहरी परिवर्तन मात्र नहीं, बल्कि एक का बिलकुल नाश और दूसरे का बिलकुल नया उत्पाद है। बुद्ध कार्य-कारण की निरन्तर या अविच्छिन्न सन्तति को नहीं मानते। प्रतीत्यसमुत्पाद कार्य-कारण नियम को अविच्छिन्न नहीं विच्छिन्न प्रवाह बतलाता है।"[1] लेकिन यह मानने पर बौद्ध दर्शन को कृतप्रणाश और अकृतभोग के दोषों से बचाया नहीं जा सकता। दूसरे, यदि बुद्ध का मन्तव्य यही था कि दूसरा उत्पन्न होता दूसरा विनष्ट होता है, तो फिर उन्हें उच्छेदवाद का समर्थन करने में कौन-सा दोष प्रतीत हुआ? उन्होंने अचेलकाश्यप के सामने यह क्यों स्वीकार नही किया कि सुख-दुःख का भोग स्वकृत नहीं है? फिर इस आधार पर बुद्ध के कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या कैसे होगी? हमारे दृष्टिकोण से बुद्ध के मन्तव्यों की ऐसी व्याख्या उनके नैतिक आदर्शों के अनुकूल सिद्ध नहीं होगी। दूसरे, यह मानना कि प्रतीत्यसमुत्पाद कार्यकारण नियम को विच्छिन्न प्रवाह बताता है, नितान्त असंगत है। प्रवाह सदैव ही विच्छिन्न नहीं, अविच्छिन्न होता है। यदि विच्छिन्न होगा, तो वह प्रवाह ही नहीं रह जायगा। कार्यकारण के प्रत्यय सदैव ही अविच्छिन्न (अभिन्न) होते हैं। यदि वे विच्छिन्न हैं, एक-दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र हैं, तो फिर उनमें कार्य-कारण (सन्तान-सन्तानिए) का सम्बन्ध कैसे होगा? कार्य-कारण या प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम वस्तुतः परिवर्तनशीलता का द्योतक है, न कि उच्छेद

१. दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ५१४.

का। सम्भवतः राहुलजी ऐसी व्याख्या इसलिए कर गये ताकि वे बुद्ध के दर्शन को वर्तमान भौतिकवादी चौखटे में फिट कर सकें।

दूसरे वर्ग ने बुद्ध के मौन, अव्याकृत एवं पिटक ग्रन्थों के कुछ अन्य सन्दर्भों के आधार पर बुद्ध के आत्मा-सम्बन्धी दृष्टिकोण में औपनिषदिक आत्मा को खोजने का प्रयास किया है। रायज़डेविड्स, कु० आई० बी० हार्नर, आनन्द के० कुमारस्वामी एवं डा० राधाकृष्णन् का प्रयत्न इसी दिशा में रहा है। डा० राधाकृष्णन् का कथन है उपनिषदें आत्मा के एक आवरण के बाद दूसरे आवरण को दूर करती हुई अन्त में सब वस्तुओं की आधारभूमि तक पहुँचती हैं। इस प्रक्रिया के अन्त में वे सार्वभौम व्यापक आत्मा की उपलब्धि करती हैं, जो कि इन सब सान्त वस्तुओं में से एक भी नहीं है, यद्यपि उन सबकी आधारभूमि है। बुद्ध का भी वस्तुतः यही मत है, यद्यपि निश्चित रूप से वे इसको कहते नहीं हैं।[1] कु० हार्नर और कुमारस्वामी भी लिखते हैं कि बुद्ध के समस्त सिद्धान्तवाक्यों में यह कहीं भी नहीं लिखा मिलता कि आत्मा नहीं है। यह आत्मा व्यावहारिक आत्मा (जीवात्मा) से, जिसका पुनः-पुनः क्षय होता रहता है, भिन्न है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से आत्मा की प्रतिष्ठा ही की गयी है। बार-बार दुहराये गये कथन कि यह मेरी आत्मा नहीं है, आत्मा की स्थापना के सबल प्रमाण हैं। प्रत्येक बौद्ध से यह आशा की जाती है कि वह उस आत्मा का, जो उसकी आत्मा की अपेक्षा प्रधान है, आदर करेगा। यह प्रधान आत्मा ही आत्मा का स्वामी है या आत्मा का चरम लक्ष्य है। बुद्ध अपने इस कथन में कि मैंने आत्मा की शरण ले ली है, अपनी शरण की ओर संकेत नहीं करते, वरन् वे इसी 'आत्मा' की ओर संकेत करते हैं। इसी 'आत्मा' का वर्णन उनके इन कथनों में भी मिलता है—आत्मा की खोज करो (अत्तानं गवेसेय्याथ) आत्मा को अपना आश्रय और दीपक बनाओ (अत्तसरण अत्तदीप)। यहाँ पर महान् आत्मा तथा लघु आत्मा में भेद स्पष्ट हो जाता है। अतः यह निश्चित है कि बुद्ध ने न तो ईश्वर की, न आत्मा की और न शाश्वत की उपेक्षा की है।[2] लेकिन बुद्ध-मन्तव्यों में औपनिषदिक आत्मा को खोजने का प्रयास भी अनधिकार चेष्टा ही कहा जायेगा। श्री भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में, 'हमारा विनम्र मन्तव्य है कि (इस उपर्युक्त आख्यान के) अत्तानं गवेसेय्याथ (आत्मा को ढूंढो) में औपनिषद 'आत्मा' के उपदेश को देखना बेकार है, चाहे भले ही डा० राधाकृष्णन्, कुमारस्वामी और आई० बी० हार्नर ने इस प्रकार का अनधिकारपूर्ण प्रयत्न किया हो।'[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन के आत्म-सिद्धान्त को समझने में दोनों ही दृष्टिकोण उचित नहीं हैं। वस्तुतः इन भ्रान्तियों के मूल में जहाँ आग्रह दृष्टि है वहीं बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त अनात्म,

१. गौतम दि बुद्ध, पृ० ३९-४०.
२. गौतम बुद्ध, पृ० ३२-३३.
३. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४५९.

अनित्य, अव्याकृत, बुद्ध के मौन तथा आत्मा शब्द की सम्यक् व्याख्या का अभाव भी है। अतः आवश्यक है कि इनके सम्यक् अर्थ को समझने का थोड़ा प्रयास किया जाये।

§ ५. भ्रान्त धारणाओं का कारण

अनात्म (अनत्त) का अर्थ

बौद्ध दर्शन में 'अत्ता' शब्द का अर्थ है मेरा, अपना। बुद्ध जब अनात्म का उपदेश देते हैं तो उनका तात्पर्य यह है कि इस आनुभविक जगत् में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसे मेरा या अपना कहा जा सके, क्योंकि सभी पदार्थ, सभी रूप, सभी वेदना, सभी संस्कार और सभी विज्ञान (चैत्तसिक अनुभूतियाँ) हमारी इच्छाओं के अनुरूप नहीं हैं, अनित्य हैं, दुःखरूप हैं। उनके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि वे अपने हैं, अतः वे अनात्म (अपने नहीं) हैं। बुद्ध के द्वारा दिया गया वह अनात्म का उपदेश हमें कुन्दकुन्द के उन वचनों की याद दिलाता है जिसमें उन्होंने ज्ञाता (आत्मा) का ज्ञान के समस्त विषय से विभेद बताया है।[१] बौद्ध आगमों में ये ही मूलभूत विचार अनात्मवाद के उपदेश के रूप में पाये जाते हैं। इनका यह फलितार्थ नहीं मिलता है कि आत्मा नहीं है। श्री भरतसिंह उपाध्याय का मन्तव्य है कि बुद्ध का एक भी वचन सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक में इस निर्विशेष अर्थ का उद्धृत नहीं किया जा सकता कि आत्मा नहीं है। जहाँ उन्होंने 'अनात्मा' कहा, वहाँ पंच स्कन्धों की अपेक्षा से ही कहा है, बारह आयतनों और अठारह धातुओं के क्षेत्र को लेकर ही कहा है।[२] इस प्रकार बुद्ध-वचनों में अनात्म का अर्थ 'अपना नहीं' इतना ही है। वह सापेक्ष कथन है। इसका यह अर्थ नहीं है कि 'आत्मा नहीं है'। बुद्ध ने आत्मा को न शाश्वत कहा, न अशाश्वत कहा, न यह कहा कि आत्मा है, न यह कहा कि आत्मा नहीं है; केवल रूपादि पंचस्कन्धों का विश्लेषण कर यह बता दिया कि इनमें कहीं आत्मा नहीं है। बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद को उसके आचारदर्शन के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। बुद्ध के आचारदर्शन का सारा बल तृष्णा के प्रहाण पर है। तृष्णा न केवल स्थूल पदार्थों पर होती है, वरन् सूक्ष्म आध्यात्मिक पदार्थों पर भी हो सकती है। वह अस्तित्व की भी हो सकती है (भवतृष्णा) और अनस्तित्व की भी (विभवतृष्णा)। अतः उस तृष्णा के सभी निवेशनों (आश्रय स्थानों) को उच्छिन्न करने के लिए बुद्ध ने अनात्म का उपदेश दिया। वस्तुतः अनात्मवाद विनम्रता की आत्यन्तिक कोटि, अनासक्ति की उच्चतम अवस्था और आत्मसंयम की एकमात्र कसौटी है। इस अनात्म का उपदेश उन्होंने तृष्णा के प्रहाण एवं ममत्व के विसर्जन के लिए दिया। यदि उन्हें अनात्म का अर्थ 'आत्मा नहीं' अभिप्रेत होता तो वे उच्छेदवाद का विरोध ही क्यों करते ? बुद्ध ने उच्छेदवाद को अस्वीकार किया है, अतः बौद्ध मन्तव्य में अनात्म का अर्थ 'आत्मा नहीं है' करना अनुचित है।

१. समयसार, ३९०-४०२.
२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४३९-४४०.

आत्मा (अत्ता) का अर्थ

पिटक-साहित्य में जहाँ अनात्म (अनत्त) का प्रयोग हुआ है, वहीं उसमें आत्मा (अत्ता) शब्द का भी प्रयोग हुआ है। बुद्ध ने यह भी उपदेश दिया है कि आत्मा की शरण स्वीकार करो (अत्तसरण), आत्मा को ही अपना प्रकाश बनाओ (अत्तदीप); आत्मा की खोज करो (अत्तानं गवेसेय्याथ)। इसी आधार पर आनन्द के० कुमारस्वामी, कु० हार्नर और डा० राधाकृष्णन् ने बौद्ध दर्शन में औपनिषदिक आत्मा को खोजने का प्रयास किया है। लेकिन यह प्रयत्न सम्यक् नहीं है। श्री उपाध्याय के शब्दो में यह अनधिकारपूर्ण प्रयत्न ही है। यहाँ बुद्ध किसी पारमार्थिक अविनाशी एवं अक्षय आत्मा की शरण ग्रहण करने या खोज करने की बात नहीं कहते हैं। सम्पूर्ण बुद्ध वचनों के प्रकाश मे यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ स्वयं (Self) या परिवर्तनशील स्व है। जिस प्रकार अनात्म का अर्थ 'अपना नहीं' है उसी प्रकार आत्म का अर्थ 'अपना' या 'स्वयं' है।[1]

अनित्य का अर्थ

अनित्य का अर्थ विनाशशील माना जाता है, लेकिन यदि अनित्य का अर्थ विनाशी करेंगे तो हम फिर उच्छेदवाद की ओर होंगे। वस्तुतः अनित्य का अर्थ है परिवर्तनशील। परिवर्तन और विनाश अलग-अलग हैं। विनाश में अभाव हो जाता है, परिवर्तन में वह पुनः एक नये रूप में उपस्थित हो जाता है। जैसे बीज पौधे के रूप में परिवर्तित हो जाता है, विनष्ट नहीं होता। बुद्ध सत्त्व की अनित्यता या क्षणिकता का उपदेश देते हैं, तो उनका आशय यह नहीं है कि वह विनष्ट हो जाने वाला है, वरन् यही है कि वह परिवर्तनशील है, वह एक क्षण भी बिना परिवर्तन के नहीं रहता। बौद्ध दर्शन में अनित्य और क्षणिक का मतलब है सतत् परिवर्तनशील। जैन दर्शन जिसे परिणामी कहता है, उसे ही बौद्ध दर्शन मे अनित्य या क्षणिक कहा गया है।

अव्याकृत का सम्यक् अर्थ

बुद्ध ने जीव और शरीर की भिन्नता, तथागत की परिनिर्वाण के पश्चात् की स्थिति आदि प्रश्नों को अव्याकृत कोटि में रखा है। बुद्ध का अव्याकृत कहने का आशय यही है कि अस्ति और नास्ति की कोटियों से सीमित व्यावहारिक भाषा उसे बता पाने में असमर्थ है। हाँ और ना में इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। जैन दर्शन में जो अर्थ 'अवक्तव्य' का है, वही अर्थ बौद्ध दर्शन में 'अव्याकृत' का है।

बुद्ध मौन क्यों रहे ?

बुद्ध के मौन रहने का अर्थ यह है कि आत्मा-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर हाँ और ना में नहीं दिया जा सकता, अतः जहाँ किसी ऐकान्तिक मान्यता में जाने की सम्भावना हो वहाँ मौन रहना ही अधिक उपयुक्त है। बुद्ध ने आनन्द के समक्ष अपने मौन का कारण

---

१. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४५६.

स्पष्ट कर दिया था कि वे यदि 'हाँ' कहते तो शाश्वतवाद हो जाता और 'ना' कहते तो उच्छेदवाद हो जाता।

§ ६. जैन और बौद्ध दृष्टिकोण की तुलना

महावीर तथा बुद्ध दोनों ही आत्मा के सम्बन्ध में उच्छेदवादी एवं शाश्वतवादी ऐकान्तिक दृष्टिकोणों के विरोधी हैं। दोनों में अन्तर केवल यह है कि जहाँ महावीर विधेयात्मक भाषा में आत्मा को नित्यानित्य कहते हैं, वहाँ बुद्ध निषेधात्मक भाषा में उसे अनुच्छेदाशाश्वत कहते है। बुद्ध जहाँ अनित्य आत्मवाद और नित्य आत्मवाद के दोषों को दिखाकर दोनों दृष्टिकोणों को अस्वीकार कर देते हैं, वहाँ महावीर उन ऐकान्तिक मान्यताओं के अपेक्षामूलक समन्वय के आधार पर उनके दोषों का निराकरण करने का प्रयत्न करते हैं।[1]

बुद्ध ने आत्मा के परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल दिया और इसी आधार पर उसे अनित्य भी कहा और यह भी बताया कि इस परिवर्तनशील चेतना से स्वतन्त्र कोई आत्मा नहीं है या क्रिया से भिन्न कारक की सत्ता नहीं है। बुद्ध अविच्छिन्न, परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह के रूप में आत्मा को स्वीकार करते हैं, लेकिन बुद्ध का यह मन्तव्य जैन विचारणा से उतना अधिक दूर नहीं है जितना कि समझा जाता है। जैन विचारणा द्रव्य-आत्मा की शाश्वतता पर बल देकर यह समझती है कि उसका मन्तव्य बौद्ध विचारणा का विरोधी है, लेकिन जैन विचारणा में द्रव्य का स्वरूप क्या है ? यही न कि जो गुण और पर्याय से युक्त है वह द्रव्य है।[2]

जैन विचारणा में द्रव्य पर्याय से अभिन्न ही है और यदि इसी अभिन्नता के आधार पर यह कहा जाय कि क्रिया (पर्याय) से भिन्न कर्ता (द्रव्य) नहीं है, तो उसमें कहाँ विरोध रह जाता है ? द्रव्य और पर्याय, ये आत्मा के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं, दो विविक्त सत्ताएँ नहीं है। उनकी इस अभिन्नता के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जैन दर्शन का आत्मा भी सदैव ही परिवर्तनशील है। फिर अविच्छिन्न चेतना-प्रवाह (परिवर्तनों की परम्परा) की दृष्टि से आत्मा को शाश्वत मानने में बौद्ध दर्शन को भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि उसके अनुसार भी प्रत्येक चेतन धारा का प्रवाह बना रहता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि बुद्ध के मन्तव्य में भी चेतना-प्रवाह या चेतना-परम्परा की दृष्टि से आत्मा नित्य (अनुच्छेद) है और परिवर्तनशीलता की दृष्टि से आत्मा अनित्य (अशाश्वत) है। जैन परम्परा में द्रव्यार्थिक नय का आगमिक नाम अव्युच्छिति नय और पर्यायार्थिक नय का व्युच्छिति नय भी है। हमारी सम्मति में अव्युच्छिति नय का तात्पर्य है प्रवाह या परम्परा की अपेक्षा से और व्युच्छिति नय का तात्पर्य है अवस्था-विशेष की अपेक्षा से। यदि इस आधार पर कहा जाये कि जैन दर्शन चेतन-धारा की अपेक्षा से (अव्युच्छिति नय से) आत्मा

१. माध्यमिककारिका, १९।६, १८-१०; तुलनीय—पद्मनन्दि पंचविंशतिका, ८।१३.

२. गुण-पर्यायवद्द्रव्यम्।-तत्त्वार्थ सूत्र, ५।३७.

को नित्य और चेतन अवस्था-विशेष (व्युच्छित्ति नय) की दृष्टि से आत्मा को अनित्य मानता है तो वह अपने को बौद्ध दर्शन के निकट ही खड़ा पाता है ।

§ ७. गीता का दृष्टिकोण

आत्म की नित्यता के प्रश्न पर गीता का दृष्टिकोण बिलकुल स्पष्ट है । गीता में आत्मा को स्पष्टरूप से नित्य कहा गया है । श्री कृष्ण कहते हैं कि जीवात्मा के ये सभी शरीर नाशवान कहे गये हैं, लेकिन यह जीवात्मा तो अविनाशी है । न तो यह कभी उत्पन्न होता है और न मरता है । यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है । शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नही होता । वह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वव्यापक, अचल और सनातन है । इस आत्मा को जो मारनेवाला समझता है और जो दूसरा (कोई) इस आत्मा को देह के नाश से मैं नष्ट हो गया—ऐसे नष्ट हुआ मानता है—अर्थात् हननक्रिया का कर्म मानता है, वे दोनों ही अहंप्रत्यय के विषयभूत आत्मा को अविवेक के कारण नहीं जानते । यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता और मरता भी नहीं ।[1] इस प्रकार गीता आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करती है ।

जैन, बौद्ध और गीता के दृष्टिकोणों की तुलना

जैन दर्शन के समान गीता भी तात्त्विक आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करती है । इतना ही नही, गीता मे जीव की विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं की अनित्यता का संकेत भी उपलब्ध है ।[2] इस आधार पर गीता का मन्तव्य भी जैन दृष्टिकोण से अधिक दूर नही है । यद्यपि गीता आत्मा के अविनाशी स्वरूप पर ही अधिक जोर देती है ।

इस प्रकार हम देखते है कि जहाँ एक ओर बौद्ध दर्शन आत्मा के अनित्य या परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल देता है, वहाँ दूसरी ओर गीता आत्मा के नित्य या शाश्वत पक्ष पर अधिक बल देती है । जबकि जैन दर्शन दोनों पक्षों पर समान बल देते हुए उनमें सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता है ।

§ ८. आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म

आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म का प्रत्यय जुड़ा हुआ है । भारतीय दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर शेष सभी दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । जब आत्मा को अमर मान लिया जाता है, तो पुनर्जन्म भी स्वीकार करना हो होगा । गीता कहती है जिस प्रकार मनुष्य वस्त्रों के जीर्ण हो जाने पर नये वस्त्र ग्रहण करता रहता है, वैसे ही यह आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर ग्रहण करता रहता है । न केवल गीता में, वरन् बौद्ध दर्शन में भी इसे माना गया है ।[3] डा० रामानन्द

---

१. गीता, २।१८-२०, २३-२४; तुलना करें—आचारांग, १।३।३.

२. वही, १५।१६.

३. वही, २।२२; तुलना करें—थेरगाथा, १।३८।६८८.

तिवारी पुनर्जन्म के पक्ष में लिखते हैं कि एकजन्म के सिद्धान्त के अनुसार चिरन्तन आत्मा और नश्वर शरीर का सम्बन्ध एक काल विशेष में आरम्भ होकर एक काल विशेष में ही अन्त हो जाता है, किन्तु चिरन्तन का कालिक सम्बन्ध अन्याय (तर्कविरुद्ध) है और इस (एकजन्म के) सिद्धान्त से उसका कोई समाधान नहीं है—पुनर्जन्म का सिद्धान्त जीवन की एक न्यायसंगत और नैतिक व्याख्या देना चाहता है। एक-जन्म-सिद्धान्त के अनुसार जन्मकाल में भागदेयो के भेद को अकारण एवं संयोगजन्य मानना होगा।[1]

§ ९. कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म

डा० मोहनलाल मेहता कर्मसिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनके शब्दों में, कर्मसिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म के प्रत्यय से संलग्न है, पूर्ण विकसित पुनर्जन्म-सिद्धान्त के अभाव में कर्मसिद्धान्त अर्थशून्य है।[2] आचारदर्शन के क्षेत्र में यद्यपि पुनर्जन्म-सिद्धान्त और कर्मसिद्धान्त एक दूसरे के अति निकट हैं, फिर भी धार्मिक क्षेत्र में विकसित कुछ आचारदर्शनों ने कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं किया है। कट्टर पाश्चात्य निरीश्वर-वादी दार्शनिक नित्शे ने कर्मशक्ति और पुनर्जन्म पर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं, कर्म-शक्ति के जो हमेशा रूपान्तर हुआ करते हैं, वे मर्यादित है तथा काल अनन्त हैं। इसलिए कहना पड़ता है कि जो नामरूप एक बार हो चुके हैं वही फिर आगे यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते ही है।[3]

§ १०. ईसाई और इस्लाम धर्मों का दृष्टिकोण

ईसाइ और इस्लाम आचारदर्शन यह तो मानते हैं कि व्यक्ति अपने नैतिक शुभा-शुभ कृत्यों का फल अनिवार्य रूप से प्राप्त करता है और यदि वह अपने कृत्यों के फलों को इस जीवन मे पूर्णतया नहीं भोग पाता है तो मरण के बाद उनका फल भोगता है, लेकिन फिर भी वे पुनर्जन्म को स्वीकार नही करते है। उनकी मान्यता के अनुसार, व्यक्ति को सृष्टि के अन्त मे अपने कृत्यो की शुभाशुभता के अनुसार हमेशा के लिए स्वर्ग या किसी निश्चित समय के लिए नरक में भेज दिया जाता है, वहाँ व्यक्ति अपने कृत्यों का फल भोगता रहता है। इस प्रकार वे कर्मसिद्धान्त को मानते हुए भी पुन-र्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं।

§ ११. उक्त दृष्टिकोण की समीक्षा

१. जो विचारणाएँ कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी पुनर्जन्म को नहीं मानती हैं, वे इस तथ्य की व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं कि वर्तमान जीवन

---

१. शंकर का आचारदर्शन, पृ० ६८.

२. जैन साइकालॉजी, पृ० १७३.

३. गीतारहस्य, पृ० २६८.

में जो नैसर्गिक वैषम्य है उसका कारण क्या है ? क्यों एक प्राणी सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है अथवा जन्मना ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक क्षमता से युक्त होता है और क्यों दूसरा दरिद्र एवं हीन कुल में जन्म लेता है और जन्मना हीनेन्द्रिय एवं बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है ? क्यों एक प्राणी को मनुष्य-शरीर मिलता है और दूसरे को पशु-शरीर मिलता है ? यदि इसका कारण ईश्वरेच्छा है तो ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है। दूसरे, व्यक्ति को अपनी अक्षमताओं और उनके कारण उत्पन्न अनैतिक कृत्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकेगा। खानाबदोश जातियों मे जन्म लेने वाला बालक संस्कारवश जो अनैतिक आचरण का मार्ग अपनाता है, उसका उत्तरदायित्व किस पर होगा ? वैयक्तिक विभिन्नताएँ ईश्वरेच्छा का परिणाम नहीं, वरन् व्यक्ति के अपने ही कृत्यों का परिणाम है। वर्तमान जीवन मे जो भी क्षमता एवं अवसरों की सुविधा उसे अनुपलब्ध है और जिनके फलस्वरूप उसे नैतिक विकास का अवसर प्राप्त नहीं होता है उनका कारण भी वह स्वयं ही है और उसका उत्तरदायित्व भी उसी पर है।

२. नैतिक विकास केवल एक जन्म की साधना का परिणाम नहीं है, वरन् उसके पीछे जन्म-जन्मान्तर की साधना होती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्राणी को नैतिक विकास के हेतु अनन्त अवसर प्रदान करता है। ब्रैडले नैतिक पूर्णता की उपलब्धि को अनन्त प्रक्रिया मानते हैं।[1] यदि नैतिकता आत्मपूर्णता एवं आत्मसाक्षात्कार की दिशा मे सतत् प्रक्रिया है तो फिर बिना पुनर्जन्म के इस विकास की दिशा मे आगे कैसे बढ़ा जा सकता है ? गीता मे भी नैतिक पूर्णता की उपलब्धि के लिए अनेक जन्मों की साधना आवश्यक मानी गयी है।[2] डा० टाँटिया भी लिखते हैं कि 'यदि आध्यात्मिक पूर्णता (मुक्ति) एक तथ्य है तो उसके साक्षात्कार के लिए अनेक जन्म आवश्यक है।'[3]

३. साथ ही आत्मा के बन्धन के कारण की व्याख्या के लिए भी पुनर्जन्म की धारणा को स्वीकार करना होगा, क्योंकि वर्तमान बन्धन की अवस्था का कारण भूतकालीन जीवन में ही खोजा जा सकता है।

४. जो नैतिक दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार नही करते, वे व्यक्ति के साथ समुचित न्याय नही करते। अपराध के लिए दण्ड आवश्यक है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नही कि विकास या सुधार का अवसर ही समाप्त कर दिया जाये। जैन नैतिकता पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करके व्यक्ति को नैतिक विकास के अनेक अवसर प्रदान करती है तथा अपने को एक प्रगतिशील नैतिक दर्शन सिद्ध करती है। पुनर्जन्म की धारणा दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्त का समर्थन करती है, जबकि पुनर्जन्म को नहीं माननेवाली नैतिक विचारणाएँ दण्ड के बदला लेने के सिद्धान्त का समर्थन करती हैं, जोकि वर्तमान युग में एक परम्परागत अनुचित धारणा है।

---

१. एथिकल स्टडीज, पृ० ३१३.

२. गीता, ६।४५.

३. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२१.

§ १२ वैयक्तिक विभिन्नताओं के लिए वंशानुक्रम का तर्क एवं उसका उत्तर

जीवविज्ञान ने अपनी वैज्ञानिक गवेषणाओं के आधार पर जिस वंशानुक्रम के सिद्धान्त की स्थापना की है उससे कर्मसिद्धान्त पर वेष्ठित पुनर्जन्मवाद का निरसन हो जाता है। इस धारणा के अनुसार वैयक्तिक विभिन्नताओं का आधार वंशानुक्रम एवं परिवेश है, लेकिन यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। यह ठीक है कि वंशानुक्रम एवं परिवेश के आधार पर व्यक्तित्व की शिथिलता को समझने का प्रयास किया जा सकता है, लेकिन प्रथम तो वंशानुक्रम एवं परिवेश हमारे व्यक्तित्व के समग्ररूपेण निर्णायक नहीं हैं, दूसरे वंशानुक्रम एवं परिवेश के निश्चय का आधार क्या है? यदि हम यहाँ केवल संयोग को स्वीकार करेंगे तो फिर नैतिक जीवन एवं उत्तरदायित्व की व्याख्या ही असम्भव होगी, जो किसी भी नैतिक विचारणा को अभीष्ट नहीं होगी। डा० मेहता के शब्दों में 'शुद्ध वंशानुक्रम जैसा कोई तथ्य ही नहीं है। कोई भी वंशानुक्रम व्यक्ति के पूर्व चरित्र एवं कर्मों से अप्रभावित नहीं है।'[1] अर्थात् जो वंशानुक्रम हमें उपलब्ध हुआ है उसके कारण की व्याख्या के लिए भी पूर्वजन्म के कर्मों की मान्यता आवश्यक लगती है। यद्यपि अभी तक वैज्ञानिक आधारों पर पुनर्जन्म की धारणा को सिद्ध नहीं किया जा सका है, तथापि हमारे अनुभवात्मक जगत् में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं जिनका समुचित एवं बोधगम्य समाधान पुनर्जन्म की धारणा में ही खोजा जा सकता है। प्रो० बनर्जी ने राजस्थान विश्वविद्यालय के परामनोविज्ञान विभाग में अपूर्व स्मृति एवं पूर्वजन्म की स्मृति से सम्बन्धित देश एवं विदेश की अनेक घटनाओं का संकलन एवं सत्यापन करने का प्रयास किया है और उनमें से अनेक को प्रामाणिक भी पाया है।[2] उन प्रामाणिक घटनाओं की संगति केवल, पुनर्जन्म के सिद्धान्त के द्वारा ही खोजी जा सकती है।

§ १३. पूर्वजन्मों की स्मृति के अभाव का तर्क एवं उसका उत्तर

पुनर्जन्म के विरुद्ध यह भी तर्क दिया जाता है कि यदि वही आत्मा (चेतना) पुनर्जन्म ग्रहण करती है तो फिर उसे पूर्वजन्मों की स्मृति क्यों नहीं रहती है? यदि हमें पूर्वजन्मों की घटनाओं की स्मृति नहीं है तो फिर पुनर्जन्म को किस आधार पर माना जाये? लेकिन यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि हम अक्सर देखते हैं कि हमें अपने वर्तमान जीवन की अनेक घटनाओं की भी स्मृति नहीं रहती। यदि हम वर्तमान जीवन के विस्मरित भाग को अस्वीकार नहीं करते हैं तो फिर केवल स्मरण के अभाव में पूर्वजन्मों को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार हमारे वर्तमान जीवन की अनेक घटनाएँ अचेतन स्तर पर रहती हैं, वैसे ही पूर्वजन्मों की घटनाएँ भी अचेतन स्तर पर बनी रहती हैं और विशिष्ट अवसरों पर चेतना के स्तर

---

१. जैन साइकालॉजी, पृ० १७५.

२. नई दुनिया, सोमवार अंक, अप्रैल-मई १९६८.

पर भी व्यक्त हो जाती हैं। यह भी तर्क दिया जाता है कि हमें अपने जिन कृत्यों की स्मृति नहीं है, हम क्यों उनके प्रतिफल का भोग करें? लेकिन यह तर्क भी समुचित नहीं है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि हमें अपने कर्मों की स्मृति है या नहीं? यदि हमने उन्हें किया है तो उनका फल भोगना ही होगा। यदि कोई व्यक्ति इतना अधिक मद्यपान कर ले कि नशे में उसे अपने किये हुए मद्यपान की स्मृति भी नहीं रहे, लेकिन इससे क्या वह उसके नशे से बच सकता है? जो किया है, उसका भोग अनिवार्य है, चाहे उसकी स्मृति हो या न हो।[1]

जैन दृष्टिकोण

जैन चिन्तकों ने इसीलिए कर्मसिद्धान्त की स्वीकृति के साथ-साथ आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि प्राणियों में क्षमता एवं अवसरों की सुविधा आदि का जो जन्मना नैसर्गिक वैषम्य है, उसका कारण प्राणी के अपने ही पूर्वजन्मों के कृत्य हैं। संक्षेप में वंशानुगत एवं नैसर्गिक वैषम्य पूर्वजन्मों के शुभाशुभ कृत्यों का फल है। यही नहीं, वरन् अनुकूल एवं प्रतिकूल परिवेश की उपलब्धि भी शुभाशुभ कृत्यों का फल है। स्थानांगसूत्र में भूत, वर्तमान और भावी जन्मों में शुभाशुभ कर्मों के फल-सम्बन्ध की दृष्टि से आठ विकल्प माने गये हैं—(१) वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में ही फल देवें। (२) वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें। (३) भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें। (४) भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें। (५) वर्तमान जन्म के शुभ कर्म वर्तमान जन्म मे फल देवें। (६) वर्तमान जन्म के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें। (७) भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें। (८) भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें।[2]

इस प्रकार जैन दर्शन में वर्तमान जीवन का सम्बन्ध भूतकालीन एवं भावी जन्मों से माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार चार प्रकार की योनियाँ हैं—(१) देव (स्वर्गीय जीवन), (२) मनुष्य, (३) तिर्यंच (वानस्पतिक एवं पशु जीवन), और (४) नारक (नारकीय जीवन)।[3] प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन योनियों में जन्म लेता है। यदि वह शुभ कर्म करता है तो देव और मनुष्य के रूप में जन्म लेता है और अशुभ कर्म करता है तो पशु गति या नारकीय गति प्राप्त करता है। मनुष्य मरकर पशु भी हो सकता है और देव भी। प्राणी भावी जीवन में क्या होगा यह उसके वर्तमान जीवन के नैतिक आचरण पर निर्भर करता है।

१. देखिए—जैन साइकालाजी, पृ० १७५.
२. स्थानांग, ६।२।७.
३. तत्त्वार्थसूत्र, ८।११.

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। जातक कथाओं में बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएँ संकलित हैं। संयुक्तनिकाय में बुद्ध कहते है, सभी जीव मरेंगे, मृत्यु में ही जीवन का अन्त होता है, उनकी गति अपने कर्म के अनुसार होगी, पुण्य-पाप के फल से, पाप करने से नरक को, पुण्य करने से सुगति को, इसलिए सदा पुण्य कर्म करे जिसमे परलोक बनता है। अपना कमाया पुण्य ही प्राणियों के लिए परलोक में आधार होता है।' बौद्ध दर्शन की यह निश्चित मान्यता है कि सत्व (प्राणी) अनेक जन्मों में संसरण कर अपने कर्मों का भोग करता है।[1] उसमें भी वर्तमान जीवन के कर्मफल का सम्बन्ध भावी जन्मों से माना गया है। इस दृष्टि से उसमें तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं—(१) दृष्टधर्म-वेदनीय–इसी जन्म में फल देने-वाला, (२) उपपद्य-वेदनीय–अगले जन्म में फल देनेवाला, (३) अपरपर्याय वेदनीय–अगले जन्म के पश्चात् किसी भी जन्म में फल देनेवाला।[2] बौद्ध दर्शन में भी जैन दर्शन के समान योनियाँ मानी गई हैं। बौद्ध दर्शन में इन्हें भूमियाँ कहा गया हैं। ये भूमियाँ चार हैं—(१) अपायभूमि (दुर्गतियाँ—नारक, तिर्यच, प्रेत और असुर), (२) कामसुगतभूमि (सुगतियाँ—मनुष्य और कुछ देव जातियाँ), (३) रूपावचर-भूमि (विशिष्ट देव जातियाँ) और (४) अरूपावचरभूमि।[3] बौद्ध दर्शन में जैन दर्शन की चारों गतियाँ स्वीकृत हैं। नैतिक विकास के आधार पर इनके अनेक भेद दोनों ही दर्शनों में मान्य हैं, उनमें नाम वर्गीकरण के दृष्टिकोण आदि में भी बहुत कुछ समानता है। ध्यान रखने योग्य एक विशेष बात यह है कि जहाँ बौद्ध दर्शन में कुछ विशिष्ट देव योनियों से सीधे निर्वाण की प्राप्ति को सम्भव माना गया है, वहाँ जैन दर्शन केवल मनुष्य-जन्म से निर्वाण की उपलब्धि सम्भव मानता है।

क्या बौद्ध अनात्मवाद पुनर्जन्म की व्याख्या कर सकता है ?

सामान्यतया विपक्षी विचारकों ने बौद्ध-धर्म के अनात्मवाद और क्षणिकवाद को पुनर्जन्म की व्याख्या की दृष्टि से असंगत माना है। लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं, 'नैरात्म्यवाद से पुनर्जन्म और कर्म के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को क्षति नहीं पहुँचती। आत्मा की प्रतिज्ञा करना भूल है, सन्तति का उल्लेख करना चाहिए।'[4] अनात्मवाद या क्षणिकवाद के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त कैसे संगत हो सकता है, इसकी विवेचना भदन्त नागसेन ने राजा मिलिन्द के सामने की थी। जब मिलिन्द ने नागसेन से अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद की विवेचना सुनी तो उनके हृदय में भी पुनर्जन्म की असम्भावना की शंका उठ खड़ी हुई। उन्होंने नागसेन

---

१. बौद्ध धर्मदर्शन, पृ० २८४.
२ अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० ६०.
३. वही, पृ० ५६.
४. बौद्ध धर्मदर्शन, पृ० २८६.

से समाधान के लिए प्रश्न किया, भन्ते नागसेन ! कौन उत्पन्न होता है (पुनर्जन्म ग्रहण करता है) ? क्या वह वही रहता है या अन्य हो जाता है ? नागसेन ने उत्तर दिया, न तो वही और न अन्य। जैसे एक युवक वृद्ध होने तक न तो वही रहता है और न अन्य हो जाता है, वैसे जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है वह न तो वही रहता है, न अन्य हो जाता है। मिलिन्द फिर भी सन्तुष्ट न हो सका। उसने यह जानना चाहा कि वह क्या है जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है ? नागसेन ने इसके उत्तर में स्पष्ट किया कि यह नामरूपात्मक सन्तति-प्रवाह ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है। वे कहते हैं, राजन् ! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है, वह तो एक अन्य नामरूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह एक अन्य। किन्तु द्वितीय (नामरूप) प्रथम (नामरूप) में से ही निकलता है।[1] अतः हे महाराज ! धर्म-सन्तति ही संसरण करती है। भगवान् बुद्ध के समय में साति केवट्टपुत्त नामक भिक्षु को यह मिथ्या धारणा उत्पन्न हुई थी कि वही एक विज्ञान आवागमन करता है। इसपर भगवान् ने उसे समझाया था कि विज्ञान तो प्रतीत्यसमुत्पन्न है। वह तो भौतिक पदार्थों की अपेक्षा भी अधिक क्षणिक है। वह शाश्वत रूप से संसरण करनेवाला नहीं हो सकता। वस्तुस्थिति यह है कि एक जन्म के अन्तिम विज्ञान (चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है। इस कारण न तो वही जीव रहता है और न दूसरा ही हो जाता है।[2]

बौद्ध दर्शन अनेक चित्तधाराओं को स्वीकार करता है। वह यह मानता है कि क $क_1$ $क_2$ $क_3$ $क_4$ एक चित्तधारा है और ख $ख_1$ $ख_2$ $ख_3$ $ख_4$ दूसरी चित्त-धारा है। यद्यपि $क_1$ $क_2$ $क_3$ एकदूसरे से अभिन्न नहीं हैं और $ख_1$ $ख_2$ $ख_3$ भी एकदूसरे से अभिन्न नहीं है, तथापि इनमें से प्रत्येक आत्मसन्तान के सदस्यों के बीच जो बन्धुता है, वह एक आत्मसन्तान के एक सदस्य और दूसरी आत्मसन्तान के सदस्य अर्थात् $क_1$ या $ख_1$ के बीच नहीं है। बौद्ध धर्म आत्मा का ऐसी स्थायी सत्ता के रूप में जो बदलती हुई शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के बीच स्वयं अपरि-वर्तित बनी रहे, अवश्य निषेध करता है; पर उसके स्थान पर एक तरल आत्मा को स्वीकार करता है। बौद्ध दर्शन उपादान के अभेद के अर्थ में एकता को तो अस्वीकार करता है, लेकिन उसके स्थान पर सातत्य को स्वीकार करता है।[3] यह आत्मसन्तानों की प्रवाही धाराओं का सातत्य ही बौद्ध दर्शन का 'आत्मा' है। यही तरल आत्मा पुनर्जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार बौद्ध अनात्मवाद और क्षणिकवाद की भूमि को क्षति पहुँचाए बिना पुनर्जन्म की व्याख्या सम्भव है।

गीता का दृष्टिकोण

गीता भी जैन दर्शन के समान आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म को स्वीकार

१. मिलिन्दपन्हो (लक्खणपन्हो); उद्धृत-बौद्ध धर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४८४.
२. वही, पृ० ४८५.
३. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० १४६-१४७.

करती है। श्रीकृष्ण कहते हैं, जैसे जीवात्मा को इस शरीर में कुमार, युवा और वृद्ध अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही इसे अन्य शरीरों की प्राप्ति भी होती है।[1] जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को बदलकर नवीन वस्त्र ग्रहण करता है, वैसे ही यह आत्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नये शरीर ग्रहण करता है।[2] गीताकार नैतिक साध्य की प्राप्ति के निमित्त अनेक जन्मों की साधना को आवश्यक मानते हैं।[3] इस आधार पर पुनर्जन्म का समर्थन भी किया गया है। गीता में अनेक स्थानों पर पुनर्जन्म सम्बन्धी निर्देश उपलब्ध हैं। गीता में यह भी माना गया है कि प्राणी को अपने शुभाशुभ कर्मों के आधार पर उच्चलोक (दैवीय जीवन) मध्यलोक (मानवीय जीवन) और अधोलोक (नारकीय एवं पशु जीवन) की प्राप्ति होती है।[4]

उपनिषदों से भी इसका समर्थन होता है कि यदि प्राणी शुभाचरण करता है तो वह शुभ योनियों में जन्म लेता है और अशुभ आचरण करता है तो निम्न योनियों में जन्म लेता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करने के लिए किसी योनि को प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भाव वृक्षादि की जाति को प्राप्त हो जाते हैं।[5] छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है कि जो अच्छा आचरण करेंगे वे अगले जीवन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि का अच्छा जीवन प्राप्त करेंगे, लेकिन जो दुराचारी होंगे वे शूकर, कुत्ते और शूद्र आदि की निम्न योनियों में जन्म लेंगे।[6]

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि वह जहाँ एक ओर व्यक्ति में अवसर की अनेकता के आधार पर घोर निराशा के क्षणों मे भी आशावादिता का संचार करता है, वहाँ यह बताता है कि हम जब तक नैतिक साध्य निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर लेते हैं तब तक हमें प्रकृति की ओर से अवसर प्रदान किए जाते रहेंगे ताकि हम अपने साध्य को प्राप्त कर सकें। दूसरी ओर, व्यक्ति के हृदय से मृत्यु के भय को समाप्त करता है।

§ १४. पाश्चात्य दर्शन में आत्मा की अमरता या मरणोत्तर जीवन

पाश्चात्य दार्शनिक क्षेत्र में भी इस प्रश्न पर गहराई से विचार किया गया है। प्लेटो से लेकर वर्तमान युग तक आत्मा की अमरता या मरणोत्तर जीवन की सिद्धि के

१. गीता, २।१३.
२. वही, २।२२.
३. वही, ६।४५, ७।१९.
४. वही, १४।१८, १६।२०.
५. कठोपनिषद्, २।२।७.
६. छान्दोग्योपनिषद्, ५।१०।७.

लिए दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा नैतिक युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। कुछ प्रमुख विचारकों की युक्तियाँ निम्नानुसार है—

दार्शनिक युक्तियाँ—प्लेटो ने आत्मा की अमरता के लिए निम्न दार्शनिक युक्तियाँ दी है—(१) अवयवहीन होने से आत्मा की अमरता सिद्ध होती है। आत्मा निरावयव है, अविभाज्य है। इसलिए आत्मा अमर है। (२) स्रष्टा की अच्छाई से भी आत्मा की अमरता सिद्ध होती है। यदि ईश्वर अच्छा है तो वह आत्मा को नष्ट नहीं होने देगा और उसके कर्मों के फल से वंचित नहीं करेगा। (३) आत्मा सत् है और सत् असत् नहीं हो सकता। (४) बुद्धि आत्मा का स्वरूप है। ऐन्द्रियता और इच्छा आत्मा के मरणशील अंश हैं, क्योंकि ये शरीर के ऊपर निर्भर है। लेकिन बुद्धि आत्मा का अमर अंश है। (५) आत्मा का पहले भी अस्तित्व था और इसलिए आगे भी रहेगा। शरीर के पैदा होने से पहले आत्मा थी, इसलिए शरीर का नाश होने के बाद भी रहेगी। शरीर के नाश होने से आत्मा नामक अभौतिक सत्ता के अस्तित्व पर कोई असर नही होता। (६) आत्मा मे शरीर और उसके बन्धनों से मुक्त होने की अप्रतिहत इच्छा पायी जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह स्वरूपतः अमर है।

अरस्तू भी यह मानता है कि आत्मा का ऐन्द्रिक अंश मरणशील है, यहाँ तक कि उसकी निष्क्रिय बुद्धि भी, जो कि शरीर के ऊपर निर्भर है, मरणशील है। लेकिन उसकी सक्रिय बुद्धि अभौतिक है और इसलिए अमर है। बर्कले भी आत्मा की निरवयवता, अविभाज्यता और अभौतिकता से उसकी अमरता को सिद्ध करता है। लाइब्नीज भी आत्मा की अभौतिकता से उसकी अमरता सिद्ध करता है।

वैज्ञानिक युक्ति—मार्टिन्यू ने शक्ति-अक्षयता (ऊर्जा की नित्यता) की वैज्ञानिक धारणा के आधार पर आत्मा की अमरता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि मृत्यु अपने भौतिक रूप में केवल शक्ति का परिवर्तन है। मृत्यु होने पर शरीर की शक्तियाँ विशृंखल हो जाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप शरीर नष्ट हो जाता है। परन्तु शक्ति-अक्षयता के नियम के अनुसार ये शक्तियाँ पूर्णतः नष्ट नहीं हो सकतीं। या तो शक्ति-अक्षयता नियम में मानसिक शक्ति सम्मिलित रहती है अथवा नहीं रहती। यदि यह भौतिक शक्ति पर लागू होता है तो मन पदार्थ से पृथक् अथवा स्वतन्त्र रहता है अर्थात् मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रह सकती है। परन्तु यदि यह नियम भौतिक और मानसिक दोनों शक्तियों पर लागू होता है तो ठीक जिस प्रकार भौतिक शक्ति पूर्णतः कभी भी समाप्त नहीं हो सकती, वरन् किसी न किसी रूप में बची ही रहती है, उसी प्रकार मानसिक शक्ति भी मृत्यु के उपरान्त पूर्णतः समाप्त नहीं हो सकती वरन् यह किसी न किसी रूप में मौजूद रहती है। इस प्रकार मानवीय आत्मा की अमरता शक्ति-अक्षयता नियम के विरुद्ध नहीं है।[1]

---

१. उद्धृत—नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २९१.

नैतिक युक्तियाँ—आधुनिक युग में आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए दार्शनिक युक्तियों की अपेक्षा नैतिक युक्तियों को अधिक पसन्द किया जाता है। मार्टिन्यू, कांट, जेम्स सेथ और हार्फडिंग आदि ने निम्नलिखित नैतिक युक्तियाँ दी हैं—

(अ) ज्ञान की पूर्णता के लिए—मार्टिन्यू आत्मा की अमरता को आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि हमारी मनीषा दिक-काल से मर्यादित होती है। मनीषा को विकास हेतु क्रमशः दिक्-काल की मर्यादाओं से ऊपर उठना होता है। परन्तु वर्तमान सीमित जीवन में मानस दिक्-काल की मर्यादाओं को पूर्णतः नहीं लांघ सकता। अतः यह आशा करना तर्कसंगत होगा कि मृत्यु के पश्चात् एक भविष्य जीवन होता है जिसमें मनीषा अपनी पूर्णता प्राप्त करेगी तथा दिक्-काल की मर्यादाओं का पूर्ण उल्लंघन कर सकेगी। जैन दर्शन के अनुसार भी जब तक आत्मा पूर्ण ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेता है, वह पुनः-पुनः जन्म धारण करता है।[१]

(ब) नैतिक आदर्श की पूर्णता या चरित्र के पूर्ण विकास के लिए—मार्टिन्यू का कहना है कि नैतिक आदर्श असीम होता है। यह वर्तमान जीवन में पूर्णतः प्राप्त नहीं किया जा सकता। नैतिक प्रगति जितनी अधिक होती है, नैतिक आदर्श भी उतना ही अधिक उच्च होता जाता है। अतः नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिए अनश्वर अथवा अमर जीवन की आवश्यकता होती है।[२] कांट इसका वर्णन इस प्रकार करता है—इच्छा एवं कर्तव्य के मध्य संघर्षों को कभी भी पूर्णतः सीमित जीवन में समाप्त नहीं किया जा सकता। अतः वर्तमान जीवन के ही क्रम में एक भावी जीवन भी होना चाहिए, जहाँ मानवीय आत्मा का व्यक्तित्व जीवित रहकर इच्छा एवं कर्तव्य के मध्य सामंजस्य स्थापित कर सके।[3] जेम्स सेथ ने इस नैतिक दलील को इस प्रकार दिया है—नैतिक आदर्श अपरिच्छिन्न है। सीमित काल में उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए आत्मा का अस्तित्व अनन्त काल तक रहना चाहिए अर्थात् आत्मा को अमर होना चाहिए। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य असीम है। इस छोटे-से जीवन में उसको पूरा पा जाना असम्भव है। यह जीवन तो भावी जीवन के लिए तैयार होने का समय है। मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। शक्तियों की सार्थकता तभी है, जब उनकी पूरी अभिव्यक्ति हो। ऐसी शक्ति को मानना जिसकी पूरी अभिव्यक्ति न हो सके, स्वविरोधी है।[४]

(स) मूल्यों के संरक्षण के लिए—हार्फडिंग ने मूल्यों की नित्यता के सिद्धान्त को माना है और कहा है कि इस जीवन में हम जिन मूल्यों को उपलब्ध करते हैं, वे नैतिक दुनिया में सुरक्षित रहते हैं। उनका नाश नहीं होता और अपने अधिष्ठान के रूप में

१. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण पृ० २९२.
२. वही, पृ० २९२.
३. वही, पृ० २९२.
४. पश्चिमी दर्शन, पृ० २१६.

उन्हें आत्मा का सनातन अस्तित्व चाहिए।[1] इस प्रकार मूल्यों की नित्यता का सिद्धान्त आत्मा की अमरता सिद्ध करता है।

(ब) **शुभाशुभ के फल-भोग के लिए**—कांट ने आत्मा की अमरता के समर्थन में एक और नैतिक दलील दी है। हमें इस बात का पक्का विश्वास होता है कि पुण्य करनेवाले को सुख मिलना चाहिए और पाप करनेवाले को दुःख। लेकिन पुण्य करने वाले इस दुनिया में बहुत कम सुखी होते हैं। इसलिए हम यह मान लेते हैं कि मरने के बाद एक दूसरा जीवन होगा जिसमें पुण्य करनेवालों को उचित मात्रा में सुख और पाप करनेवालों को उचित मात्रा में दुःख मिलेगा। देखा जाता है कि यहां पापियों को भी पूरा दण्ड नहीं मिलता। शारीरिक यातना, कारावास इत्यादि से भी पापियों को उचित मात्रा में दुःख नहीं मिलता। इसलिए भविष्य के जीवन में उनको उचित मात्रा में दुःख मिलेगा।[2] इसलिए इस जन्म के नैतिक कर्मों के फलभोग के लिए मरणोत्तर जीवन को स्वीकार करना होगा। एक व्यक्ति जीवन भर सत्कर्म करता है लेकिन उसे बुरा फल मिलता है और दूसरा व्यक्ति जीवन भर असत्कर्म करता है लेकिन उसे अच्छा फल मिलता है तो हमारी यह मान्यता होती है कि इस जीवन के पूर्व जीवन में पहले व्यक्ति ने असत्कर्म किये होंगे और दूसरे ने सत्कर्म, जिनका प्रतिफल उन्हें इस जीवन में मिल रहा है। इस प्रकार इस जीवन के पूर्व जीवन को स्वीकार करना होता है। इस प्रकार वर्तमान जीवन के जन्म से पूर्व और वर्तमान जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व मानना ही आत्मा की अमरता की मान्यता है। बिना आत्मा की अमरता को स्वीकार किये कर्मफलव्यतिक्रम की सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती। ☐

१. पश्चिमी दर्शन, पृ० २१६.
२. वही, पृ० २१६.

आत्मा की स्वतन्त्रता

६ आत्मा की स्वतन्त्रता

§ १. नैतिक जीवन और स्वतन्त्रता

पाश्चात्य विचारक कांट नैतिक आदेश को एक निरपेक्ष आदेश मानते हैं जब कि गीता उसे ईश्वरीय आदेश मानती है। चाहे निरपेक्ष आदेश कहें या ईश्वरीय आदेश, कर्म-संकल्प की स्वतन्त्रता को मानना आवश्यक है। आदेश का अर्थ है 'तुम्हें यह करना चाहिए।' लेकिन 'चाहिए' में स्वतन्त्रता छिपी हुई है। कांट कहते हैं कि तुम्हें करना चाहिए, क्योंकि तुम कर सकते हो।[1] स्वतन्त्रता के अभाव में 'चाहिए' का कोई अर्थ ही नहीं रहता है। यदि हम गीता और कांट की तरह नैतिकता को आदेश के रूप में न मानें, वरन् जैन और बौद्ध विचारकों के समान नैतिकता को एक ऐसे आदर्श के रूप में स्वीकार करें, जिसे प्राप्त करना है, तो भी कर्म एवं संकल्प की स्वतन्त्रता को मानना आवश्यक है। नैतिकता के लिए हर स्थिति में मनुष्य में कर्म एवं संकल्प की स्वतन्त्रता की धारणा आवश्यक है। नैतिक आचरण एक संकल्पात्मक कर्म है। यदि हम संकल्प करने और तदनुरूप आचरण करने में व्यक्ति को स्वतन्त्र नहीं मानते हैं तो नैतिक उत्तरदायित्व का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यदि मनुष्य नैतिक आदर्श को प्राप्त करने की कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं रखता अथवा वह नैतिक आदेश का पालन करने और नहीं करने में स्वतन्त्र नहीं है तो उसके लिए नैतिक आदेश एवं नैतिक आदर्श दोनों ही निरर्थक हो जाते हैं। डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं, 'यदि मनुष्य केवल सहज वृत्ति से चलनेवाला सीधा-सादा प्राणी हो, यदि उसकी इच्छाएँ और उसके निर्णय केवल अनुवांशिकता और परिवेश की शक्तियों के ही परिणाम हों तब नैतिक निर्णय बिलकुल असंगत है।[2] मैकेंजी का कथन है, यदि नैतिक आदेश में कोई सार्थकता है तो संकल्प पूरी तरह से परिस्थितियों के अधीन नहीं हो सकता, बल्कि किसी अर्थ में उसे स्वतन्त्र अवश्य होना चाहिए।[3] स्वतन्त्रता के अभाव में व्यक्ति को पुण्य और पाप के लिए उत्तरदायी भी नहीं ठहराया जा सकता, न उसे शुभ और अशुभ कर्म के फल के रूप में पुरस्कार और दण्ड ही दिया जा सकता है। यदि व्यक्ति शुभाशुभ कर्मों का चयन करने और उनका आचरण करने में स्वतन्त्र नहीं है तो वह उनके फल का अधिकारी भी नहीं हो सकता। दूसरे, चाहे संकल्प और कर्म की स्वतन्त्रता के अभाव में नैतिक आदर्श की प्राप्ति मानी भी जाये, लेकिन यह एक ऐसी उपलब्धि होगी जिसमें

१. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ६९.
२. भगवद्गीता (रा०), पृ० ५०.
३. नीतिप्रवेशिका, पृ० ७१.

व्यक्ति का अपना कुछ भी नहीं होगा। जिस आदर्श का चयन व्यक्ति के द्वारा न हो और जिसकी उपलब्धि में उसका अपना कोई ऐच्छिक कार्य न हो, वह उसका आदर्श नहीं होगा और वह उपलब्धि भी उसकी नहीं कही जा सकेगी। व्यक्ति जो कुछ कर सकता है वही उसका कर्तव्य बन सकता है। जिस कार्य के सम्पन्न करने की क्षमता[1] व्यक्ति में नहीं है वह कार्य उसका कर्तव्य भी नहीं हो सकता। अरस्तू ने कहा है, आदर्श को मनुष्य के लिए व्यवहार्य और प्राप्तियोग्य होना चाहिए।[2] जिस आदर्श को व्यक्ति उपलब्ध नहीं कर सकता, उसे उसका आदर्श या लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। जो विचारक व्यक्ति में ऐसी स्वतन्त्र संकल्प और आचरण की शक्ति का अभाव मानते हैं वे आचारदर्शन को आदर्शमूलक विज्ञान की अपेक्षा प्रकृत-इतिहास बना देते हैं और इस प्रकार आचारदर्शन के मूल स्वरूप को ही समाप्त कर देते हैं।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के दो दृष्टिकोण

यदि स्वतन्त्रता आवश्यक है तो प्रश्न यह उठता है कि क्या व्यक्ति स्वतन्त्र है? इस विषय में प्राचीन काल से ही दो दृष्टिकोण रहे हैं। जिन लोगों ने इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक रूप में दिया और यह माना कि व्यक्ति कृत्यों के चयन और उनके सम्पादन में स्वच्छन्द है, उन्हें प्राचीन भारतीय दर्शन में यदृच्छावादी कहा जाता है और पाश्चात्य विचारणा में अतन्त्रतावादी या अनिर्धारणवादी कहा जाता है। इसके विपरीत जिन विचारकों ने इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक रूप में दिया और यह माना कि व्यक्ति में ऐसी स्वच्छन्दता का अभाव है, उन्हें भारतीय चिन्तन में नियतिवादी, भाग्यवादी, दैववादी आदि के रूप में जाना जाता है। पश्चिम में इन्हें नियतिवादी, परतन्त्रतावादी या निर्धारणवादी कहते हैं। यदृच्छावादी और नियतिवादी धारणाएँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार प्रस्तुत करती हैं, अतः सामान्य व्यक्ति के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह किसे सत्य और किसे असत्य कहे। दार्शनिकों ने प्राचीन काल से इन सिद्धान्तों की गहन समीक्षा की है और इनके औचित्य का ठीक-ठीक मूल्यांकन करने का भी प्रयास किया है। अगले पृष्ठों में उनकी समीक्षाएँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

§ २. महावीरकालीन नियतिवादी मान्यताएँ

अनिर्धारणवाद (पुरुषार्थवाद) यह मानता है कि व्यक्ति अपने लक्ष्य का निर्धारण करने में, उसकी प्राप्ति के प्रयास में और उस लक्ष्य की उपलब्धि करने में स्वच्छन्द एवं सक्षम है। लेकिन यह धारणा अनुभवात्मक जीवन में खरी नहीं उतरती और अनुभवात्मक जीवन की अनेक घटनाओं की व्याख्या करने में पुरुषार्थवाद असफल हो जाता है। अनुभवात्मक जीवन में एक ओर व्यक्ति के निरन्तर लक्ष्यात्मक, उचित

१. क्षमता से हमारा तात्पर्य योग्यता (ability) से न होकर क्षमता (capability) से है।

२. नीतिप्रवेशिका, पृ० ७१.

एवं कठिन प्रयासों के बाद भी सफलता उसका बरण नहीं करती, जबकि दूसरी ओर कोई व्यक्ति अनायास ही सफलता प्राप्त कर लेता है, तो व्यक्ति की आस्था पुरुषार्थवाद से डगमगा उठती है। वह पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त को थोथा समझकर दूर फेंक देता है और नियतिवाद को अपना लेता है।

नियतिवाद की शरण में जाकर मानव अपनी सामर्थ्य और शक्ति भूलकर यह मानने लगता है कि वैयक्तिक उपलब्धि ही नहीं, वरन् वैयक्तिक प्रयास और वैयक्तिक संकल्प सभी या तो पूर्व-नियत है या किसी अन्य सत्ता के द्वारा निर्धारित हैं। उनके पाने या न पाने, करने या न करने में व्यक्ति उनके अधीन है। लेकिन यह नियन्त्रक सत्ता क्या है ? इस विषय मे नियतिवादी विचारक विभिन्न मत रखते हैं। जैन और बौद्ध आचारदर्शनों के समकालीन भारतीय साहित्य में भी नियतिवादी परम्परा के कुछ रूप मिलते हैं। ये सभी नियतिवादी परम्पराएँ व्यक्ति के अवश एवं निर्धारित होने के निष्कर्ष की दृष्टि से एकमत होते हुए भी अपने आधारों को भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत करती हैं। तत्कालीन चिन्तन मं निर्धारणवाद के निम्न रूप मिलते हैं—(१) भवितव्यतावाद, (२) कालवाद, (३) स्वभाववाद, (४) भाग्यवाद, (५) सर्वज्ञतावाद और (६) ईश्वरवाद।

१. भवितव्यतावाद

महावीर तथा बुद्ध के समकालीन प्रमुख विचारकों में गोशालक इस विचार के प्रतिपादक प्रतीत होते हैं। गोशालक की इस नियतिवादी विचारधारा के प्रमाण हमे जैनागम सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति और उपासकदशांग में एवं बौद्ध त्रिपिटक के दीघनिकाय आदि ग्रन्थों मे मिलते हैं। गोशालक की मान्यता को उपासकदशांग के छठे अध्याय में निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। मंखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति में (व्यक्ति मे) उत्थान (कर्मसंकल्प), कर्म (क्रिया), बल (शारीरिक शक्ति), वीर्य (आत्मतेज), पारुष (कर्म करने की सामर्थ्य) और पराक्रम स्वीकार नही किया गया है। विश्व के समस्त परिवर्तन नियत है।[१] दीघनिकाय में कहा गया है, 'हेतु के बिना प्राणी अपवित्र होते है, हेतु के बिना प्राणी शुद्ध होते हैं—अपनी सामर्थ्य से कुछ नहीं होता, कोई पुरुष कुछ नहीं कर सकता। (किसी में) बल नहीं है, वीर्य नहीं है। पुरुष की कोई शक्ति नहीं है, पराक्रम नहीं है। सर्वसत्त्व, सर्वप्राणी, सर्वभूत, सर्वजीव तो अवश, दुर्बल एवं निर्वीर्य हैं। वे नियति, संगति (परिस्थिति) एवं स्वभाव के कारण परिणत होते हैं और छः मे से किसी एक जाति में रहकर सुख-दुःख का भोग करते हैं। अगर कोई कहे कि इस शील से, इस व्रत से, इस तप से, अथवा ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्म को परिपक्व बनाऊँगा और परिपक्व कर्म के फलों का भोग करके उसे नष्ट कर दूँगा तो वह उससे नहीं हो सकेगा।[२]

१. उपासकदशांग, ६।१६६.
२. दीघनिकाय, सामण्णफलसुत्त.

गोशालक यह मानते हैं कि भावी घटनाएँ (भवितव्यता) पूर्वनियत हैं, उसमें परिवर्तन सम्भव नहीं है। यदि भवितव्यता में परिवर्तन सम्भव नहीं, तो इच्छा-स्वातन्त्र्य और पुरुषार्थ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह दृष्टिकोण किसी घटना की उत्पत्ति के कारण के रूप में व्यक्ति के पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता, वरन् यह मानता है कि घटनाएँ पूर्वनियत हैं और जिस प्रकार सूत का गोला खुलता जाता है और सूत बाहर आता जाता है उसी प्रकार कालरूपी गोला खुलता जाता है और पूर्व नियत घटनाएँ घटित होती रहती हैं।

समीक्षा

यह भवितव्यता या पूर्वनिर्धारणवादी नियतिवाद आचारदर्शन को यदृच्छावाद के दोषों से बचाकर नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या करने का प्रयास करता है। साथ ही नैतिक जीवन में सन्तोष पर बल देते हुए भूत और भविष्य की दुश्चिन्ताओं एवं आकांक्षाओं से बचाता है। लेकिन वह स्वयं एक दूसरी अति की ओर चला जाता है जिसमे नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या सम्भव नही होती। जब व्यक्ति के समस्त क्रिया-कलापों को पूर्वनियत मान लिया जाता है तो नैतिक उत्तरदायित्व एवं नैतिक आदेश का कोई अर्थ नहीं रहता।

२. कालवाद

कालवाद यह मानता है कि काल ही प्रमुख तत्त्व है। काल के द्वारा ही क्रिया-कलापों का निर्धारण होता है। सृष्टि की सारी क्रियाएँ एवं घटनाएँ काल के अधीन हैं और काल के गर्भ में स्थित हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी काल के गर्भ में समाहित हैं। कालातीत दृष्टि से विचार करने पर भविष्य भविष्य नहीं रहेगा और सभी घटनाएँ काल में पूर्वनियत होंगी। यदि घटनाएँ काल में नियत हैं तो व्यक्ति उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता और इस अर्थ में व्यक्ति के पुरुषार्थ और स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अथर्ववेद में कहा गया है कि काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते हैं, काल के कारण ही आँखें देखती हैं, काल ही ईश्वर है। वह प्रजापति का भी पिता है।[1] महाभारत में काल को समस्त जगत् के सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि का कारण कहा गया है—लाभ-हानि, सुख-दुःख, काम-क्रोध, अभ्युदय और पराभव तथा बन्धन और मोक्ष सभी काल के द्वारा होता है।[2] गीता में भी जीवन-मरण आदि का कारण काल ही कहा गया है।[3] जैन ग्रन्थ गोम्मटसार में इस सिद्धान्त को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है, 'काल ही सबको उत्पन्न करनेवाला एवं नष्ट करनेवाला है। वह सोये

१. अथर्ववेद, १९।६।५३-५४.
२. महाभारत, शान्तिपर्व, २२७।८३-८४.
३. गीता, ११।३२.

हुए लोगों में भी जागता है। उसे कोई भी धोखा नहीं दे सकता।'[१] इस प्रकार कालवाद काल को महत्त्व देकर यह बताता है कि काल के पकने पर ही कार्यनिष्पत्ति सम्भव है। काललब्धि की परिपक्वता ही वैयक्तिक विकास में सहायक या बाधक बनती है।

कालवाद का नैतिक जीवन में योगदान

कालवाद कर्तृत्वभाव एवं अहंकार का निराकरण कर किस रूप में नैतिक विकास में सहायक होता है, इसका सुन्दर चित्रण महाभारत में मिलता है। बलि इस सिद्धान्त के माध्यम से इन्द्र को समभाव का सुन्दर पाठ पढ़ाते हैं। वे कहते हैं, सभी का कारण काल है, अतः विद्वान् पुरुष नाश, विनाश, ऐश्वर्य, सुख-दुःख के प्राप्त होने पर न तो प्रसन्न होता है और न खेद करता है।[२]

समीक्षा

फिर भी कालवाद का सिद्धान्त मानने पर नैतिकता की व्याख्या सम्भव नहीं। क्योंकि (१) कालवाद में पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं है, वह व्यक्ति को पुरुषार्थहीन मान लेता है, जबकि नैतिक दृष्टि से व्यक्ति में पुरुषार्थ की सम्भावना मानना अनिवार्य है। (२) काल को ही एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता, यद्यपि यह सही है कि समयमर्यादा के पूर्ण होने पर कच्चा फल पकता है, समय के आने पर ही वृक्ष फल देने में समर्थ होता है। फिर भी समय ही एकमात्र प्रमुख कारण नहीं माना जा सकता। पुरुषार्थ के द्वारा भी कुछ बातें समय पकने के पूर्व ही उपलब्ध की जा सकती हैं। आम के एक वृक्ष में यदि सामान्यतया पाँच वर्ष के पश्चात् फल आते हों तो हम अपने प्रयास, जल और खाद के द्वारा एक-दो वर्ष पूर्व ही फल प्राप्त कर सकते हैं। कालवाद के एकांगी दृष्टिकोण की आलोचना शास्त्रवार्तासमुच्चय में भी की गयी है।

जैन दर्शन में कालवाद का स्थान

जैन विचारकों ने अपनी तत्त्वमीमांसा में काल को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में स्वीकार कर उसे समस्त परिवर्तनों का आधार माना है। उनके अनुसार, वस्तुतत्त्व में परिवर्तनशीलता के गुण का कारण काल है।[3] जैन कर्मवाद में भी काल का समुचित मूल्यांकन हुआ है। कर्मवाद में प्रत्येक प्रकार की कर्मवर्गणाओं के बन्धन से मुक्ति तक के काल के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हुआ है, फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि कर्मवाद में काल पुरुषार्थ के लिए एक सहायक तत्त्व तो बनता है लेकिन वह पुरुषार्थ का स्थान नहीं ले सकता। दूसरे, कर्मवाद में यह भी माना गया है कि नियत काल के पहले ही पुरुषार्थ द्वारा कर्मों का फल प्राप्त किया जा सकता है। कर्मसिद्धान्त में 'उदीरणा' का

१. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ८७९.
२. महाभारत, शान्तिपर्व, २२९।७३-७४.
३. तत्त्वार्थसूत्र, ५।२२.

विधान जैन दर्शन में कालवाद के ऊपर पुरुषार्थवाद की स्वीकृति को अभिव्यक्त करता है।

३. स्वभाववाद

जगत् विविधताओं का पुंज है और स्वभाववाद के अनुसार स्वभाव ही इस विविधता का कारण है। अग्नि की उष्णता और जल की शीतलता स्वभावगत ही है। आम की गुठली से आम और बेर की गुठली से बेर ही उत्पन्न होगा, क्योंकि उनका स्वभाव ऐसा ही है। आचार्य गुणरत्न षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति में तथा आचार नेमिचन्द्र गोम्मटसार में स्वभाववाद की धारणा को निम्न शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं, 'काँटे की तीक्ष्णता, मृग एवं पक्षियों की विचित्रता, ईख में माधुर्य, नीम में कटुता का कोई कर्ता नहीं है, वे गुण-स्वभाव से ही निर्मित होते हैं।[१] नैतिक जगत् में भी विविधताएँ हैं। एक व्यक्ति सदाचार की ओर प्रवृत्त होता है, दूसरा दुराचार की ओर। आखिर इस विविधता का कारण क्या है? स्वभाववादियों के अनुसार इसका कारण 'स्वभाव' ही है। महाभारत में शुभाशुभ प्रवृत्तियों का प्रेरक स्वभाव माना गया है।[२] स्वभाववाद यह मानता है कि सभी कुछ स्वभाव से निर्धारित है, व्यक्ति अपने प्रयत्न या पुरुषार्थ से उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। महाभारत मे कहा गया है कि सभी तरह के भाव और अभाव स्वभाव से प्रवर्तित एवं निर्वर्तित होते हैं, पुरुष के प्रयत्न से कुछ नहीं होता।[3] गीता में कहा गया है कि लोक का प्रवर्तन स्वभाव से ही हो रहा है।[४]

स्वभाववाद का नैतिक योगदान

स्वभाववाद का नैतिक योगदान दो रूपों में है—एक तो स्वभाववाद आदत के रूप में हमारे चरित्र की व्याख्या प्रस्तुत करता है, वह नैतिक जीवन में आदत या स्वभाव का महत्त्व स्पष्ट करता है। दूसरे स्वभाववाद कर्तृत्वभाव एवं अभिमान के दोषों से बचा लेता है तथा दुर्जनों पर भी करुणा भाव रखने का सन्देश देता है। यदि सभी शुभाशुभ प्रवृत्ति स्वभाव से ही होती है तो अपनी श्रेष्ठता का अभिमान एवं कर्तृत्व भाव भी वृथा होगा।[५] दूसरे, यदि दुर्जन की दुर्जनता भी स्वभाव के कारण है तो वह हमारे क्रोध का नहीं वरन् दया का पात्र ही होना चाहिए। इस प्रकार स्वभाववादी शुभाशुभ स्थितियों में किसी को दोषी नहीं मानते हुए समभाव का पाठ पढ़ाता है।

समीक्षा

स्वभाववाद जागतिक वैचित्र्य की व्याख्या कर सकता है, लेकिन नैतिकता के क्षेत्र

१. (अ) चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ० १४३.
   (ब) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ८८३.
२. महाभारत, शान्तिपर्व, २२२।२२.
३. वही, २२२।१५.
४. गीता, ५।१४.
५. महाभारत, शान्तिपर्व, २२२।२२.

में वह पूर्णतया तर्कसंगत सिद्ध नहीं होता क्योंकि स्वभाववाद मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व की समस्या उत्पन्न होगी। दूसरे, स्वभाववाद नैतिक जीवन में पुरुषार्थ की अवहेलना करेगा और पुरुषार्थ के अभाव में नैतिक प्रगति एवं नैतिक आदेश का कोई अर्थ नहीं रहेगा। तीसरे, यदि स्वभाववाद यह मानता है कि स्वभाव निर्मित होता है तो वह निरपेक्ष सिद्धान्त नही कहा जा सकता और फिर स्वभाव किस कारण बनता है यह प्रश्न भी तो महत्त्वपूर्ण होगा। चौथे, स्वभाववाद यदि यह मान लेता है कि सब कुछ 'स्वभाव' से होता है तो आत्मा में विभाव मानना उचित नहीं होगा और अनैतिक आचरण, असद्प्रवृत्ति, ज्ञान-शक्ति की सीमितता आदि के कारण क्या हैं यह बताना कठिन होगा। पाँचवें, सदाचरण और दुराचरण यदि स्वभावजन्य हैं तो फिर दुराचारी कभी भी सदाचारी न हो सकेगा और इस प्रकार नैतिक विकास अथवा मुक्ति का कोई भी अर्थ नही रहेगा।

स्वभाववाद का जैन दर्शन में स्थान

लेकिन उपर्युक्त आलोचनाओं का यह अर्थ नहो है कि स्वभाववाद का कोई स्थान ही नही है। जैन दर्शन मे स्वभाव का मूल्य स्वीकृत है। भौतिक जगत् मे तो स्वभाव (प्रकृति) का एकछत्र राज्य है ही, लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी विकास स्वभाव पर ही निर्भर करता है। नैतिक लक्ष्य आत्मा के स्वस्वरूप की उपलब्धि और नैतिक साधना का अर्थ आत्मा के स्वगुण को प्रकट करना ही है। जैन कर्मसिद्धान्त मे भी स्वभाव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर्मसिद्धान्त यह बताता है कि मूल स्वभाव का अवरोध हो जाना ही बन्धन (कर्मावरण) है, और कर्मावरण का अलग हट जाना और मूल का स्वभाव प्रकट हो जाना ही मुक्ति है। कर्मसिद्धान्त यह भी मानकर चलता है कि नैतिक जीवन केवल स्वभाव को ही प्रकट करता है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि गुण आत्मा का स्वभाव है, तभी तो नैतिक साधना के द्वारा उन्हे प्रकट किया जा सकता है। इतना ही नहो, वहाँ तो नैतिक जीवन या सम्यक्चारित्र भी आत्मा का लक्षण माना गया है, क्योंकि तभी तो उसे अपनाया जा सकता है।

जैन दर्शन का विरोध स्वभाववाद से नहीं है, बल्कि स्वभाववाद के एकांगी दृष्टिकोण से है। मात्र स्वभाववाद के आधार पर नैतिक जीवन की व्याख्या सम्भव नहीं। स्वभाव का नैतिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन उसे नैतिक जीवन का सबकुछ मानना भ्रान्ति होगी। जैन दार्शनिकों के अनुसार नैतिकता विभाव से स्वभाव की ओर प्रयाण है, और स्वस्वभाव मे स्थित रहना ही नैतिक पूर्णता है। गीता जब 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का उद्घोष करती है, तो यही कहती है। लेकिन स्वभाववाद मात्र स्वभाव की व्याख्या करता है, विभाव (विकृति) की नहीं, और इसलिए वह नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपूर्ण है। यह अपूर्णता उसके कर्मसिद्धान्त के विरोधी होने मे है। स्वभाववाद यदि कर्मसिद्धान्त और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का एकान्त विरोधी बनता है तभी उसका नैतिक मूल्य समाप्त होता है। लेकिन स्वभाववाद कर्मसिद्धान्त

का विरोधी नही है। महाभारत मे स्पष्ट कहा है कि समस्त कर्म अपने स्वभाव को सूचित करते है।[1] स्वभाव और कुछ नहीं, पूर्व कर्मों के द्वारा निर्धारित आदत है, वह पूर्व चरित्र से निर्मित वर्तमान चरित्र है और इस अर्थ में नैतिकता का एक महत्त्वपूर्ण अंग भी है। जैन कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में व्यक्ति की पूर्वबद्ध कर्मप्रकृतियाँ ही उसका स्वभाव है,[2] जिससे वह निर्धारित होता है। लेकिन यह कर्मप्रकृति आत्मा का स्वलक्षण नहीं है, एक आरोपित अवस्था है।

४. भाग्यवाद

भवितव्यतावाद निर्धारण के किसी कारण को प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं समझता। उसके अनुसार सभी घटनाएँ पूर्वनियत हैं, उनका कोई कारण या हेतु नहीं है। जिस समय मे जो जैसा होना है वह वैसा ही होगा, उसका कोई कारण नहीं दिया जा सकता। इसके विपरीत भाग्यवाद कारणता के प्रत्यय को स्वीकार कर कर्मसिद्धान्त की कठोर व्याख्या के आधार पर अपने नियतिवादी निष्कर्ष को प्रस्तुत करता है। भाग्य पूर्वकर्म ही है जो वर्तमान जीवन का निर्धारण करते है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक क्रिया या कर्म का फल होता है और वह फल स्वयं मे एक क्रिया होता है जो किसी अनुवर्ती फल का कारण बन जाता है। प्रत्येक कर्म अपने पूर्ववर्ती कर्म का कार्य होता है और अनुवर्ती कर्म का कारण होता है, और इस प्रकार यह कार्य और परिणाम की यह शृंखला स्वतः चलती रहती है। हमारे पूर्ववर्ती जीवन के घटनाक्रम से वर्तमान जीवन के घटनाक्रम का निश्चय होता है और यही घटनाक्रम हमारे भावी जीवन के घटनाक्रम का निश्चय करता है। भूत के कारण हमारे वर्तमान का निश्चय हो चुका होता है और वही वर्तमान हमारे भावी का निश्चय करता है। व्यक्ति अपने वर्तमान में, जो पूर्वभूत से निश्चित है, परिवर्तन नही कर सकता और यदि व्यक्ति वर्तमान में परिवर्तन नही कर सकता तो वह अपने भावी मे भी परिवर्तन नही कर सकता, क्योंकि वह तो उसी अपरिवर्तनीय वर्तमान से उत्पन्न है। यही बात इस प्रकार भी रखी जा सकती है कि हमारे पूर्व निर्मित चरित्र के आधार पर वर्तमान के कर्म निःसृत होते हैं जो स्वयं हमारे भावी चरित्र का निर्माण करते है। इस प्रकार हमारे चरित्र का प्रवाह भूत से भविष्य की ओर बहता रहता है, व्यक्ति उसमे स्वेच्छा से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। इस प्रकार भाग्यवाद कारणता के प्रत्यय को स्वीकार कर जब व्यक्ति में वर्तमान में परिवर्तन करने की क्षमता को स्वीकार नही करता, तब वह नियतिवाद बन जाता है।

समीक्षा

भाग्यवाद यह तो स्वीकार करता है कि व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, लेकिन जब वह कार्य-कारणता की कठोर व्याख्या के आधार पर यह भी मान लेता है

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, २२२।२५.
सर्वार्थसिद्धि), ८।३; तत्त्वार्थसूत्र (राजवार्तिक), ८।३.

कि व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माण कर लेने पर उसमें परिवर्तन नही कर सकता, तब वह नियतिवाद बन जाता है। यदि हम यह मान लें कि हम अपने भविष्य को बना सकते है, लेकिन उसके साथ ही यह भी स्वीकार कर लें कि हम अपने वर्तमान में, जो हमारे भूत का परिणाम है, कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो हम अपने भावी के निर्माता भी नही रहते। पूर्व निर्धारणवादी नियतिवाद सर्वकालों के लिए व्यक्ति के हाथ से जीवननिर्माण की शक्ति छीन लेता है, जब कि भाग्यवाद कहता है कि भूत तुम्हारा था, भविष्य भी तुम्हारा है; लेकिन वर्तमान तुम्हारे भूत के अधिकार में है, तुम उसमें स्वेच्छया कुछ नही कर सकते। लेकिन भूत और भावी को अपने हाथ में मान लेने पर भी यदि वर्तमान हमारे अधिकार मे नही है तो भूत और भावी भी वस्तुतः हमारे अधिकार में नही है और इस प्रकार नैतिक और आध्यात्मिक विकास की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। भाग्यवाद कर्मसिद्धान्त को तो स्वीकार करता है, लेकिन उसे इतना कठोर बना देता है कि उसमें पुरुषार्थवादी कर्मसिद्धान्त नियतिवाद बन जाता है। भारतीय कर्मसिद्धान्त की कठोर व्याख्या स्वयं एक नियतिवादी निष्कर्ष की ओर ले जाती है। यदि हम यह मान लेते हैं कि हमारे वर्तमान आचरण की छोटी-बड़ी सभी क्रियाएँ पूर्व कर्मों का फल होती हैं तो फिर भावी चरित्र के निर्माण के लिए हमारे पास कुछ नहीं रह जाता। यही कारण है कि बुद्ध ने वर्तमानकालिक क्रियाओं को समग्ररूपेण पूर्वकर्म से निर्धारित होना स्वीकार नहीं किया, न यह स्वीकार किया कि जो भी कर्म किया जाता है उस सबका भोग अनिवार्य है।[1] लेकिन आचार्य शंकर गीता की टीका में ऐसी व्याख्या करते हैं जिससे नियतिवाद को समर्थन मिलता है। वे लिखते हैं कि 'जीवन के लिए जो कुछ आंख खोलने या मूंदने आदि की चेष्टा की जाती है, वे भी पहले किये हुए पुण्य-पाप का परिणाम है।'[2] जैन दर्शन के अनुसार भी व्यक्ति का जीवन और उसका परिवेश सभी उसके पूर्व कर्मो से निर्धारित होते हैं। लेकिन इन आधारों पर जैन दर्शन और गीता को इस वर्ग में नहीं लिया जा सकता। क्योंकि जैन दर्शन और गीता यह भी मानते हैं कि व्यक्ति केवल कर्म-नियम से शासित होनेवाला ही नहीं है, उससे ऊपर भी है। समग्र व्यक्तित्व को कर्म के नियम के अन्तर्गत नहीं बांधा जा सकता।

५. ईश्वरवाद

जब ईश्वरवादी धारणाओं में यह मान लिया जाता है कि सब कुछ ईश्वर की इच्छा से होता है और हमारी वैयक्तिक इच्छाएँ एवं कर्म भी उसकी इच्छा से प्रेरित होते हैं तो हम पुनः एक बार नियतिवाद की ओर चले जाते हैं। ईश्वरीय या दैवी पूर्वनिर्णयन के इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त शक्ति परमात्मा के हाथों में होती है। व्यक्ति तो नितान्त असहाय, स्वतन्त्र रूप से संकल्प और प्रयत्न करने में असमर्थ और

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।६१, ३।९९.
२. गीता (शांकरभाष्य), १८।१५.

ईश्वरीय हाथों का एक उपकरण मात्र होता है। जो ईश्वरवादी दर्शन यह स्वीकार कर लेते हैं कि ईश्वरीय संकल्प ही एकमात्र संकल्प है, व्यक्ति तो उस संकल्पपूर्ति में एक निमित्त मात्र है, अथवा यह स्वीकार करते हैं कि वैयक्तिक विकास और मुक्ति ईश्वरीय चुनाव पर निर्भर है—ईश्वर जिसका विकास करना चाहता है उसे सन्मार्ग में नियोजित कर देता है, तो वे नियतिवादी धारणा के शिकार बन जाते हैं। इस विचारधारा के मूल में ईश्वर को सर्वशक्तिसम्पन्न मानने की धारणा है। समालोच्य आचारदर्शनों के पूर्वकाल में यह विचारधारा विद्यमान थी। उपनिषद् साहित्य में इस विषय के अनेक सन्दर्भ खोजे जा सकते हैं। डा० आत्रेय के शब्दों में उपनिषदों में यहाँ तक भी कहा गया है कि जिसको वे (परमात्मा) ऊपर उठाना चाहते हैं, उससे अच्छे कर्म कराते हैं और जिसको नीचे गिराना चाहते हैं, उससे बुरे कर्म कराते हैं।[1] कठोपनिषद् में कहा गया है, जब यह परमात्मा स्वयं चुनता है तभी यह उसके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।[2] ईसाई धर्म में भी सेण्ट ऑगस्टाइन यही मानते थे कि मनुष्य का उद्धार केवल भगवान् की दया से हो सकता है, यद्यपि पैलेगियस ने उनकी इस धारणा का विरोध किया था और स्वतन्त्र संकल्प की धारणा को स्वीकार किया था।[3]

गीता में अनेक स्थानों पर इस धारणा का समर्थन मिलता है और यही कारण है कि कई विचारकों ने उसे नियतिवादी विचारणा के समर्थक ग्रन्थ के रूप में देखा, यद्यपि यह धारणा समुचित नहीं है। इसपर हम अगले पृष्ठों में प्रकाश डालेंगे।

६. सर्वज्ञतावाद

सर्वज्ञता की धारणा श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओं की प्राचीन धारणा है। सर्वज्ञतावाद यह मानता है कि सर्वज्ञ देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठकर कालातीत दृष्टि से सम्पन्न होता है और इस कारण उसे भूत के साथ-साथ भविष्य का भी पूर्वज्ञान होता है। लेकिन जो ज्ञात है उसमें सम्भावना, संयोग या अनियतता नहीं हो सकती। नियत घटनाओं का पूर्वज्ञान हो सकता है, अनियत घटनाओं का नहीं। यदि सर्वज्ञ को भविष्य का पूर्वज्ञान होता है और वह यथार्थ भविष्यवाणी कर सकता है, तो इसका अर्थ है कि भविष्य की समस्त घटनाएँ नियत हैं। भविष्यदर्शन और पूर्वज्ञान में पूर्वनिर्धारण गर्भित है। यदि भविष्य की सभी घटनाएँ पूर्वनियत हैं तो वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और पुरुषार्थ का क्या अर्थ है? यदि जीवन की समस्त घटनाएँ पूर्वनियत हैं तो फिर नैतिक आदर्श, वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और पुरुषार्थ का कोई अर्थ नहीं रहता। सर्वज्ञ के पूर्वज्ञान में कर्म का चयन निश्चित होता है, उसमें कोई अन्य विकल्प नहीं होता; तब वह चयन चयन ही नहीं होगा और चयन नहीं है तो उत्तरदायित्व भी नहीं

---

१. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० ६४९.
२. कठोपनिषद्, १।२३.
३. भगवद्गीता (रा०), पृ० ६४-६५.

होगा। अर्थात् सर्वज्ञतावाद अनिवार्यतः नियतिवाद की ओर ले जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि उपर्युक्त छः प्रकार के नियतिवाद प्राचीन भारतीय चिन्तन में उपलब्ध हैं, लेकिन पाश्चात्य आचारदर्शन में जो नियतिवाद स्वीकृत है, उसका आधार इनसे भिन्न है। वह वैज्ञानिक जगत् के कारणता के नियम पर आधारित है। इस प्रसंग में उसपर भी थोड़ी चर्चा कर लेना आवश्यक है।

§ ३. पाश्चात्य दर्शन में नियतिवाद की धारणा

पाश्चात्य आचारदर्शन में नियतिवाद की धारणा वैज्ञानिक कारण-सिद्धान्त पर आधारित है। उसे हम 'वैज्ञानिक नियतिवाद' कह सकते हैं। यद्यपि वैज्ञानिक नियतिवाद घटनाओं को पूर्वनियत तो नही मानता, लेकिन जब हम कारणता के नियमों को ही जगत् का एकमात्र सत्य स्वीकार कर लेते है तो भी हम नियतिवाद के घेरे में आबद्ध हो जाते है। यदि सभी अनुवर्ती घटनाएँ अपनी पूर्ववर्ती घटनाओं से कारणता के नियम के आधार पर बँधी हुई है, तो फिर वैयक्तिक आचरण मे संकल्प-स्वातन्त्र्य का क्या स्थान रह जायेगा? पाश्चात्य आचारदर्शन मे इसी कारण-सिद्धान्त के आधार पर निर्धारणवाद का विकास हुआ है। पाश्चात्य दर्शन के अनेक विद्वानों ने प्रकृत विज्ञानों के प्रभाव में आकर कारणता के नियम को पूर्णरूप से मानवीय प्रकृति पर भी थोपने का प्रयास किया और परिणाम यह हुआ कि वे नियतिवाद के दलदल में फँस गये। इन्होंने यह मान लिया कि मनुष्य एक आत्मचेतन प्राणी तो अवश्य है, लेकिन उसके समस्त सकल्प एवं संकल्पजन्य कर्म भौतिक परिस्थितियों और शारीरिक तथा मानसिक दशाओं से ठीक उसी प्रकार नियत होते है, जिस प्रकार पारस्परिक आकर्षण और विकर्षण से ग्रहों को गति नियत होती है। इस वैज्ञानिक कारणतावादी यान्त्रिक धारणा में मनुष्य के समग्र संकल्प एवं कर्म परिवेश और वशानुक्रम के परिणाम होते है, उन्हीं से नियत होते है और मानवीय स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। मनुष्य मानवीय शरीर के रूप में एक ऐसा आत्मचेतन यन्त्र होता है जो परिवेशरूपी शक्ति से प्रभावित एवं चालित होता है। संकल्प एवं कर्म उसके अपने नहीं होते, वरन् प्रकृति की नियामक शक्ति का परिणाम होते हैं। इस समग्र विचारणा में कारणतावादी धारणा पर ही अधिक जोर दिया गया है। पाश्चात्य चिन्तन में इसके अनेक रूप हैं, जिनमें प्रमुख है वाटसन का परिस्थितिवादी नियतिवाद और फ्रायड का मानसिक नियतिवाद। पश्चिम में नियतिवादी विचारकों की एक लम्बी परम्परा है जिसमें स्पीनोजा, ह्यूम, बेन्थम, मिल, कडवर्थ आदि उल्लेखनीय है। कारणतावादी नियतिवाद भी पुरुषार्थ एवं संकल्प-स्वातन्त्र्य की धारणा का उतना ही विरोधी सिद्ध होता है जितना संयोगवाद या यदृच्छावाद। वस्तुतः किसी भी ऐकान्तिक विचारप्रणाली में, चाहे वह कारणता की हो या अकारणता की, मानवीय पुरुषार्थ का यथार्थ मूल्यांकन नहीं हो सकता; नैतिक जीवन के लिए दोनों आवश्यक है। लेकिन अपने ऐकान्तिक रूप में दोनों ही नैतिक जीवन को असम्भव बना देते है। यही कारण है कि जैन दार्शनिक ऐकान्तिक मान्यता को असम्यक् मानते हैं।

नियतिवाद के सामान्य लाभ

नियतिवाद के सम्बन्ध में सभी भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों की नैतिक समीक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके गुण-दोषों का सम्यक् मूल्यांकन कर लिया जाये। नियतिवादी विचारक अपने सिद्धान्त के समर्थन में कहते है कि (१) नियतिवाद संकल्प की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है। वह यह बताता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व तथा बलवती प्रेरणाएँ ही उसके संकल्प के मूल में है। संकल्प संयोगजन्य (Casual) नहीं है वरन् उसके चरित्र से ही निर्गमित है, अतः वह उसके लिए उत्तरदायी है। (२) यदृच्छावाद मे संकल्प संयोगजन्य (आकस्मिक) होता है, अतः उसमे उत्तरदायित्व नहीं आता, जबकि नियतिवाद में संकल्प चरित्र का परिणाम होता है, अतः वह उत्तरदायित्व की सम्यक् व्याख्या करता है।

नियतिवाद अपने सिद्धान्त का समर्थन निम्न तर्कों के आधार पर करता है

१. संकल्प का मनोविज्ञान—इसके अनुसार संकल्प स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि प्रबलतम प्रवर्तन के द्वारा निर्धारित होता है।

२. मानव-स्वभाव की भविष्यवाणी की सम्भावना—यदि मानव-कर्म पूर्वपरिस्थितियों के द्वारा निर्धारित न होकर पूर्णतया स्वतन्त्र होते तो उनका पूर्वज्ञान सम्भव न होता, जैसा कि साधारणतः होता है।

३. कार्य-कारण नियम—चूँकि कोई भी घटना अकारण नहीं होती, इसलिए संसार में कोई वस्तु कारणहीन नहीं है। अतः संकल्प भी स्वतन्त्र नहीं है।

४. शक्ति-नित्यता का नियम—विश्व में शक्ति का परिणाम सदा समान रहता है, किन्तु संकल्प-स्वातन्त्र्य में नूतन भौतिक शक्ति की सृष्टि तथा विश्व में शक्ति के निश्चित परिमाण की वृद्धि गर्भित है।

५. विश्व-विषयक जड़वादी परिकल्पना—मन मस्तिष्क का उपविकार है, और इसलिए उसमें कारण-शक्ति और स्वतन्त्रता नहीं।

६. विश्व की सर्वेश्वरवादी परिकल्पना—इसके अनुसार ईश्वर ही एकमात्र सत्य है तथा मनुष्य के मन की अपनी स्वतन्त्र सत्ता और फलस्वरूप संकल्प-स्वातन्त्र्य नहीं हैं।

७. ईश्वर का पूर्वज्ञान—मनुष्य के भावी कर्मों को पहले से जानने के कारण, ईश्वर उन्हें पहले ही निर्धारित कर चुका है।[1]

नियतिवाद की व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता

नियतिवाद की व्यावहारिक जीवन में क्या उपयोगिता है, यह बात महाभारत एवं पाश्चात्य विचारक स्पीनोजा के कथनों से स्पष्ट हो जाती है। महाभारत के शान्तिपर्व में नियतिवादी विचार की उपयोगिता का स्पष्ट निर्देश है—

१. नीतिशास्त्र, पृ० २८८-२८९.

१. सभी भाव स्वभाव से उत्पन्न होते हैं, जो इस बात को निश्चित रूप से जान लेता है उसका दर्प या अभिमान क्या बिगाड़ सकता है ?[1] अर्थात् नियतिवाद को मानने पर दर्प या अभिमान नहीं होता।

२. मुझे जो अवस्था प्राप्त हुई, ऐसी ही होनहार (भवितव्यता) थी। जो इसे जान लेता है, वह कभी भी मोह में नहीं पड़ता।[2]

३. जो वस्तु नहीं मिलनेवाली होती है उसको कोई मनुष्य मन्त्र, बल, पराक्रम, बुद्धि, पुरुषार्थ, शील, सदाचार और धन-सम्पत्ति से भी नहीं पा सकता, फिर उसकी अनुपलब्धि के लिए शोक क्यों किया जाय ?[3] इस प्रकार नियतिवाद को मानने पर कठिन परिस्थितियों में भी कोई शोक नहीं होता।

४. सभी कुछ काल के अधीन है, इस प्रकार जगत् की नियतता जाननेवाले को क्या व्यथा हो सकती है ?[4] वह तो लाभ-अलाभ या सुख-दुःख में भी समभाव रखता है।

इस प्रकार नियतिवाद दुःखद अवस्थाओं में भी धैर्य एवं समभाव का पाठ पढ़ाकर तथा सुखद अवस्थाओं में अहंकार और कर्तृत्वभाव के दोषों से बचाकर, पूर्णतया निष्काम जीवन जीना सिखाता है। स्पीनोजा ने ईश्वरवादी नियतिवाद के निम्न लाभ बताये हैं,[5] जिनका महाभारत की विचारणा से काफी साम्य है।

१. यह हमें सर्वथा ईश्वरीय विधान के अनुसार चलना सिखाता है और ईश्वरीय स्वभाव का भागी बनाता है। ऐसा सिद्धान्त हमारी आत्मा को केवल पूर्ण शान्ति ही प्रदान नहीं करता, बल्कि यह भी बतलाता है कि हमारा निरतिशय सुख, हमारी धन्यता या कृतकृत्यता एक ईश्वर के ज्ञान में है जिसके द्वारा हमारे कार्य प्रेम और धर्मनिष्ठा की चोदना के अनुसार ही होते हैं।

२. यह सिद्धान्त हमें आचरण की उन बातों को निर्धारित मानने की सीख देता है जो हमारी शक्ति से बाहर है। यह हमें दैवी विधान या भाग्य की अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति में भी धैर्य और सहनशीलतापूर्वक मन की साम्यावस्था रखने का पाठ पढ़ाता है।

३. यह सिद्धान्त हमारे सामाजिक जीवन को उदात्त बनाता है, क्योंकि यह हमें किसी भी मनुष्य से घृणा, तिरस्कार, उपहास, ईर्ष्या या क्रोध न करना सिखाता है।

नियतिवाद की उपयोगिता के सम्बन्ध में जैन दर्शन का दृष्टिकोण भी यही है। वह अपने सर्वज्ञतावाद एवं कर्मवाद के सिद्धान्त के द्वारा उसी समत्व-भावना और निष्काम दृष्टि का पाठ पढ़ाता है। वह कहता है कि सर्वज्ञ ने जैसा अपने ज्ञान में देखा

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, २२२।२७.
२. वही, २२६।१२.
३. वही, २२६।२०.
४ वही, २२४।१६.
५. स्पीनोजा और उसका दर्शन, पृ० ९३.

है, वैसा ही होता है अथवा होगा,[1] उसमें तिलमात्र भी परिवर्तन नहीं होता। अतः न तो शोक करना चाहिए और न व्यर्थ की चिन्ता ही करनी चाहिए—'राई घटे न तिल बढ़े रह रह जीव निशंक।' इसी प्रकार कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार वह कहता है कि सुख-दुःख, आपत्ति और सम्पत्ति सभी पूर्वकर्म के अधीन हैं। अतः न तो इनके लिए व्याकुलता एवं आसक्ति रखनी चाहिए और न इनके निमित्त बनने वालों के प्रति घृणा, तिरस्कार या क्रोध करना चाहिए।

गीता में नियतिवाद का तत्त्व जिस ईश्वरीय विधान के रूप में प्रतिपादित है, उसके पीछे भी यही निर्देश है कि सभी कुछ ईश्वरीय इच्छा से संचालित हो रहा है, अतः न तो कर्तृत्व का अभिमान करना चाहिए और न अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में विचलित होना चाहिए, वरन् ईश्वरीय यन्त्र के रूप में अनासक्त एवं तटस्थ भाव से आचरण करते रहना चाहिए, उसकी कृपा से ही परम शान्ति प्राप्त होगी।[2]

नियतिवाद के सामान्य दोष

नियतिवाद के उपर्युक्त लाभ होते हुए भी उसमें न तो नैतिक प्रगति के लिए मानवीय पुरुषार्थ का कोई महत्त्व रहता है और न किसी प्रकार के नैतिक उत्तरदायित्व की स्थापना ही सम्भव होती है और न नैतिक आदेश ही कोई अर्थ रखता है। जबकि, नैतिकता के लिए नैतिक प्रगति और नैतिक उत्तरदायित्व अनिवार्य है। नैतिक आदेश की सार्थकता इसी में है कि व्यक्ति में चयन की स्वतन्त्र सम्भावनाओं को स्वीकार किया जाये। व्यक्ति को जो कुछ करना है वह यदि पूरी तरह निश्चित है, तो यह कहने का क्या अर्थ रह जाता है कि उसे यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए? इसी प्रकार नैतिक प्रगति के लिए पुरुषार्थ-क्षमता को स्वीकार करना आवश्यक है। यदि व्यक्ति में स्वतन्त्र रूप से कुछ करने की क्षमता नहीं है तो फिर उससे नैतिक प्रगति की अपेक्षा करना व्यर्थ है। साथ ही नैतिक उत्तरदायित्व के लिए भी यह आवश्यक है कि चुनाव व्यक्ति ने स्वयं किया हो या वह चुनाव के लिए बाध्य नहीं किया गया हो और इस अर्थ में कर्म स्वयं उसका हो। लेकिन नियतिवाद इसे स्वीकार नहीं करता और इस प्रकार नैतिकता की समुचित व्याख्या करने में असफल सिद्ध होता है।

§ ४. यदृच्छावाद

भारतीय साहित्य में नियतिवाद का विरोधी सिद्धान्त यदृच्छावाद है। श्वेताश्वतर उपनिषद् और गीता में यदृच्छावाद का उल्लेख है।[3] यदृच्छावाद नियतिवाद का विरोधी है। वह मानवीय संकल्प एवं वरण (चयन) को कार्य-कारण नियम से परे एवं अहेतुक मानता है। यदृच्छा शब्द का अर्थ आकस्मिकता या संयोग है।[4] यदृच्छा

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३२१-३२.

२. गीता, १८।६१-६२.

३. श्वेताश्वतर उपनिषद्, १।२ ; गीता, २।३२,४।२२.

४. श्वेताश्वतर उपनिषद् (भा०), १।२.

भवितव्यता से इस अर्थ में भिन्न है कि भवितव्यता में घटनाओं को पूर्वनियत माना गया है और यदृच्छावाद में अनियत माना गया है। यदृच्छावाद में संयोग ही महत्त्व-पूर्ण है, वह प्रत्येक घटना को एक संयोग के रूप में देखता है और उस संयोग को आकस्मिक मानता है। यदृच्छावाद एक प्रकार से अतन्त्रतावाद है। पाश्चात्य नैतिक चिन्तन के सन्दर्भ में यदृच्छावाद का विवेचन इच्छा स्वातन्त्र्य सिद्धान्त के एक अंग के रूप में किया जा सकता है, क्योंकि यह मानता है कि इच्छाओं का कोई हेतु नहीं होता, वे अहेतुक हैं।

यदृच्छावाद का नैतिक मूल्य

यदृच्छावाद का इच्छा-स्वातन्त्र्य के रूप में कुछ मूल्य अवश्य हो सकता है। यदृच्छावादी नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या का प्रयत्न करता है, क्योंकि उसके अनु-सार कार्य की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। ब्रैडले ने उत्तरदायित्व की समस्या पर विचार करते हुए कहा है कि नैतिक जीवन में व्यक्ति को उत्तरदायी बनाने की दृष्टि से नियतिवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य दोनों का स्थान है।[1] यद्यपि पूर्वसंस्कारों (पूर्वकर्म) को वर्तमान चरित्र के निर्माण का कारण माना गया है, तथापि पूर्व-संस्कारों को ही सब कुछ मानने पर हम नियतिवाद के निकट होंगे। वास्तव में यदृच्छा का सिद्धान्त कारण का अभाव नहीं, वरन् कारण के ऊपर कर्ता की स्वतन्त्र इच्छा का स्वीकरण है और नैतिक उत्तरदायित्व एवं नैतिक आदेश की दृष्टि से कर्ता की इच्छा की स्वतन्त्रता का अपना मूल्य है।

यदृच्छावाद के पक्ष में युक्तियाँ[2]

१. वरण का अर्थ—यदृच्छावादी जब किसी इच्छा का वरण करता है और कोई संकल्प करता है तब वह पूर्ण स्वतन्त्र है। उसपर किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु का अंकुश नहीं होता। वह आन्तरिक प्रेरणाओं और इच्छाओं से भी स्वतन्त्र है, क्योंकि इनके विपरीत भी वह वरण कर सकता है। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि जो लोग उसको भलीभाँति जानते हैं वे उसके वरण को तब तक ठीक तरह से नहीं बता सकते जब तक कि उसने वरण न कर लिया हो। उसके वरण की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। अगर कोई भविष्यवाणी कर दे तो वह अपने वरण से उसको गलत सिद्ध कर देता है। इससे स्पष्ट है कि वरण पूर्णतया समस्त हेतुओं से रहित है, या अहेतुक है।

२. दायित्व की व्याख्या—यदृच्छावादी कहता है कि उत्तरदायित्व की व्याख्या यदृच्छावाद से ही हो सकती है। यदृच्छावादी अपने कर्म के लिए उत्तरदायी है, क्योंकि उसके कार्य की भविष्यवाणी कोई नहीं कर सकता। यदृच्छावाद को न मानने से व्यक्ति का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है।

१. एथिकल स्टडीज, पृ० ३२-३३.
२. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, ५७-५८.

३. परिवर्तनवाद—यदृच्छावादी परिवर्तनवादी है। वह व्यक्तित्व को नित्य या स्थायी नहीं मानता। उसका कहना है कि चरित्र स्थिर नहीं, अपितु अस्थिर है। उसमें किसी भी क्षण आमूल परिवर्तन सम्भव है। वह व्याध से वाल्मीकि अथवा सिद्धार्थ से बुद्ध हो सकता है।

समीक्षा

यदि इच्छा-स्वातन्त्र्य का अर्थ अकारण या अकस्मात् है तो फिर उत्तरदायित्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जब तक व्यक्ति यह नहीं जान लेता कि वह क्या करने वाला है तब तक उसे नैतिक कृत्यों के लिए उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। यदि इच्छा-स्वातन्त्र्य का अर्थ पूर्ण तरह अनियतता एवं भविष्यवाणी की असम्भावना है तो फिर कर्म का चयन मात्र संयोग (Chance) ही होगा और तब नैतिक उत्तरदायित्व नहीं आता है। इस प्रकार यदृच्छावाद नैतिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से असंगत है।

भारतीय आचारदर्शन और यदृच्छावाद

जैन कर्म-सिद्धान्त मे यदृच्छा का समुचित मूल्यांकन हुआ है। कर्म-सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि यद्यपि व्यक्ति शुभाशुभ क्रियाओं के करने मे पूर्वकर्मप्रकृतियों से प्रभावित होता है, फिर भी व्यक्ति मे शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के चयन की स्वतन्त्रता रहती है। कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति का निर्देशन तो बनता है, लेकिन शासक नहीं। जैन दर्शन मे आत्मा की स्वतन्त्रता कर्म-सिद्धान्त की नियामकता पर ही स्वीकृत है।

कर्मवर्गणाएँ आत्मा की निर्णायक शक्ति का अपहरण नहीं करती यद्यपि कुण्ठित अवश्य करती है। और, यदि यदृच्छा का अर्थ नैतिक जीवन मे निर्णय की स्वतन्त्रता मानते है तो कह सकते है कि जैन कर्म-सिद्धान्त मे उसका समुचित मूल्यांकन हुआ है। यद्यपि यदृच्छा के सयोगवादी दृष्टिकोण का समर्थन जैन परम्परा में नहीं है। जैन विचारणा के अनुसार जगत् मे भौतिक एवं चैतसिक दोनों स्तरों पर कारणता का प्रत्यय काम करता है। हमारे संकल्पों के पीछे भी पूर्वकर्म या पूर्वसंस्कार कार्य कर रहे है। वस्तुतः जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र नही है, उसमे स्वतन्त्रता की सम्भावनाएँ है और वह पूर्ण स्वतन्त्रता की दिशा मे ऊपर उठ सकता है।

बौद्ध दर्शन प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम को स्वीकार कर यदृच्छावाद के अहेतुवादी या संयोगवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार करता है। वह अहेतुवाद को नैतिक दृष्टि से अनुपयोगी मानता है, यद्यपि दूसरी ओर हेतुवाद को भी अपने ऐकान्तिक अर्थ में नैतिक जीवन के लिए अनुपयुक्त मानता है। बुद्ध ने दोनों विचारधाराओं का अतिवाद के रूप मे विरोध किया है। वे तो मध्यम मार्ग का ही अनुसरण करते है।

गीता में यदृच्छावाद की कोई समीक्षा उपलब्ध नहीं है, फिर भी इतना अवश्य है कि गीता यदृच्छावाद के अहेतुवादी पक्ष का समर्थन नहीं करती है। वह कर्ता की स्वतन्त्रता को मानते हुए भी कर्म और संकल्प को अहेतुक नहीं मानती।

वस्तुतः समालोच्य आचारदर्शन नियतिवाद और यदृच्छावाद का ऐकान्तिक समर्थन नहीं करते, उनमें दोनों का सापेक्ष स्थान है।

§ ५. जैन आचारदर्शन में पुरुषार्थ और नियतिवाद

महावीर द्वारा पुरुषार्थ का समर्थन

जैन विचारधारा पुरुषार्थवाद की समर्थक रही है। उपासकदशांगसूत्र में क्रिया, बल (शारीरिक शक्ति), वीर्य (आत्मशक्ति), पुरुषाकार (पौरुष) और पराक्रम को स्वीकार किया गया है। विश्व के समस्त भाव अनियत (अणियया सव्व भावा) माने गये हैं।[1] इस प्रकार महावीर नियतिवाद या निर्धारणवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने जीवन भर गोशालक के नियतिवाद का विरोध किया। उपासकदशांग में महावीर ने सकडालपुत्र श्रावक के सम्मुख अनेक युक्तियों से नियतिवाद का निरसन करके पुरुषार्थवाद का समर्थन किया है।[2]

जैन दर्शन में नियतिवाद के तत्त्व

(अ) सर्वज्ञता—यद्यपि उपासकदशांग के आधार पर सम्पूर्ण घटनाक्रम को अनियत मानकर पुरुषार्थवाद की स्थापना तो हो जाती है, लेकिन इस कथन की संगति जैन विचारणा की त्रिकालज्ञ सर्वज्ञता की धारणा के साथ नहीं बैठती है। यदि सर्वज्ञ त्रिकालज्ञ है तो फिर वह भविष्य को भी जानेगा, लेकिन अनियत भविष्य नहीं जाना जा सकता। यहाँ पर दो ही मार्ग हैं, या तो सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता की धारणा को छोड़कर उसका अर्थ आत्मज्ञान या दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान लिया जाये अथवा इस धारणा को छोड़ा जाये कि सब भाव अनियत हैं।

(ब) कर्मसिद्धान्त—यदि सर्वज्ञता की त्रिकालज्ञ धारणा से अलग हटकर अनियतता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें, तो भी दूसरे अन्य प्रश्न सामने आते हैं। प्रथम तो यह कि सब भावों को अनियत मानने पर यदृच्छावाद (संयोगवाद) के दोष आ जावेंगे और कार्य-कारण सिद्धान्त या हेतुवाद को अस्वीकृत कर संयोगवाद मानना पड़ेगा जिसमें नैतिक उत्तरदायित्व के लिए कोई स्थान नहीं होगा क्योंकि यदि हमारे कार्य संयोग का परिणाम हैं तो हम उसके लिए उत्तरदायी नहीं हो सकते। दूसरे, अनियत भावों की संगति कर्म-सिद्धान्त से भी नहीं बैठती। यदि सभी भाव अनियत हैं तो फिर शुभाशुभ कृत्यों का शुभाशुभ फलों से अनिवार्य सम्बन्ध भी नहीं होगा। यदि शुभाशुभ कृत्यों का उनके फलों से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं माना जायेगा तो फिर व्यक्ति की सारी नैतिक आस्था ही डगमगा जायेगी। तीसरे, अनियतता का अर्थ कारणता या हेतु का अभाव भी नहीं होता। कारणता के प्रत्यय को अस्वीकार करने पर सारा कर्म-सिद्धान्त ही ढह जायेगा। कर्म-सिद्धान्त नैतिक जगत् में स्वीकृत कारणता के सिद्धान्त का ही एक रूप है।

---

१. उपासकदशांग, ६।१६६.

२. वही, ७।१९१-१९७.

जैन विचारणा मे कर्म-सिद्धान्त के साथ-साथ त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ की धारणा स्वीकृत रही है। यही दो ऐसे प्रत्यय हैं जिनके द्वारा नियतिवाद का तत्त्व भी जैन विचारणा मे प्रविष्ट हो जाता है।

सर्वज्ञता का प्रत्यय और पुरुषार्थ की सम्भावना

जैन विचार मे सर्वज्ञता की धारणा स्वीकृत रही है, लेकिन इसके आधार पर जैन आचारदर्शन को नियतिवादी कहना इस बात पर निर्भर करता है कि सर्वज्ञता का क्या अर्थ है।

सर्वज्ञता का अर्थ

जैन दर्शन सर्वज्ञता को स्वीकार करता है। जैनागमों में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें तीर्थकरों एवं केवलज्ञानियों को त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ कहा गया है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, अंतकृतदशागसूत्र एवं अन्य जैनागमों मे इस त्रिकालज्ञ सर्वज्ञतावादी धारणा के अनुसार गोशालक, श्रेणिक, कृष्ण आदि के भावी जीवन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी की गयी है। यह भी माना गया है कि सर्वज्ञ जिस रूप मे घटनाओं का घटित होना जानता है, वे उसी रूप मे घटित होती है। कार्तिकेयानप्रेक्षा मे कहा गया है कि जिसकी जिस देश, जिस काल और जिस प्रकार मे जन्म अथवा मृत्यु की घटनाओं को सर्वज्ञ ने देखा है वे उसी देश, उसी काल और उसी प्रकार मे होगी। उसमे इन्द्र या तीर्थकर कोई भी परिवर्तन नही कर सकता।[1] उत्तरकालीन जैन ग्रन्थो मे इस त्रैकालिक ज्ञान सम्बन्धी सर्वज्ञत्व की धारणा का मात्र विकास ही नही हुआ, वरन् उसको तार्किक आधार पर सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है। यद्यपि बुद्ध ने महावीर की त्रिकालज्ञ सर्वज्ञता की धारणा का खण्डन करते हुए उसका उपहासात्मक चित्रण भी किया और अपने सम्बन्ध मे त्रिकालज्ञ सर्वज्ञता की इस धारणा का निषेध भी किया था,[2] लेकिन परवर्ती बौद्ध साहित्य मे बुद्ध को भी उसी अर्थ मे सर्वज्ञ स्वीकार कर लिया गया जिस अर्थ में जैन तीर्थंकरो अथवा ईश्वरवादी दर्शनों मे ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है।

सर्वज्ञत्व के इस अर्थ को लेकर कि सर्वज्ञ हस्तामलकवत् सभी जागतिक पदार्थों की त्रैकालिक पर्यायो को जानता है, जैन विद्वानों ने भी काफी ऊहापोह किया है। इतना ही नही, सर्वज्ञता की नयी परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गयी।

कुन्दकुन्द और हरिभद्र का दृष्टिकोण

प्राचीन युग मे आचार्य कुन्दकुन्द और याकिनी सूनू हरिभद्र ने सर्वज्ञता की त्रिकालदर्शी उपर्युक्त परम्परागत परिभाषा को मान्य रखते हुए भी नयी परिभाषाएँ प्रस्तुत कीं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार एवं प्रवचनसार में कहा कि सर्वज्ञ लोकालोक जैसी आत्मेतर वस्तुओं को जानता है यह व्यवहारनय है, जबकि यह कहना कि सर्वज्ञ

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३२१-३२२.
२. मज्झिमनिकाय, २।३।६, २।३।१.

स्व-आत्म स्वरूप को जानता है यह परमार्थदृष्टि है। आचार्य हरिभद्र ने भी सर्वज्ञता का सर्वसम्प्रदाय-अविरुद्ध अर्थ किया।[1]

पं० सुखलालजी का दृष्टिकोण

वर्तमान युग के पण्डित सुखलालजी ने आचारांग एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति के सन्दर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि आत्मा, जगत् एवं साधनामार्ग सम्बन्धी दार्शनिक ज्ञान को ही उस युग मे सर्वज्ञत्व माना जाता था, न कि त्रैकालिक ज्ञान को। जैन परम्परा का सर्वज्ञत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण मूल में केवल इतना ही था कि द्रव्य और पर्याय उभय को समानभाव से जानना ही ज्ञान की पूर्णता है। बुद्ध जब मालुंक्यपुत्त नामक अपने शिष्य से कहते हैं कि मै चार आर्यसत्यों के ज्ञान का ही दावा करता हूँ और दूसरे अगम्य एवं काल्पनिक तत्त्वों के ज्ञान का नहीं, तब वह वास्तविकता की भूमिका पर है। उसी भूमिका के साथ महावीर के सर्वज्ञत्व की तुलना करने पर भी फलित यही होता है कि अत्युक्ति और अल्पोक्ति नही करनेवाले सन्त प्रकृति के महावीर द्रव्य पर्यायवाद की पुरानी निर्ग्रन्थ परम्परा के ज्ञान को ही सर्वज्ञत्व रूप मानते होगे। जैन और बौद्ध परम्परा में इतना फर्क अवश्य रहा है कि अनेक तार्किक बौद्ध विद्वानों ने बुद्ध को त्रैकालिक ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ स्थापित करने का प्रयत्न किया है तथापि अनेक असाधारण (प्रतिभासम्पन्न) बौद्ध विद्वानो ने उनको सीधेसादे अर्थ मे ही सर्वज्ञ घटाया है, जबकि जैन परम्परा मे सर्वज्ञ का सीधा-सादा अर्थ भुला दिया जाकर उसके स्थान मे तर्कसिद्ध अर्थ ही प्रचलित एवं प्रतिष्ठित हो गया। जैन परम्परा मे सर्वज्ञ के स्थान पर प्रचलित पारिभाषिक शब्द केवलज्ञानी भी अपने मूल अर्थ में दार्शनिक ज्ञान की पूर्णता को ही प्रगट करता है, न कि त्रैकालिक ज्ञान को। 'केवल' शब्द सांख्य दर्शन मे भी प्रकृतिपुरुषविवेक के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है और यदि यह शब्द सांख्य परम्परा से जैन परम्परा मे आया है यह माना जाये, तो इस आधार पर भी केवलज्ञान का अर्थ दार्शनिक ज्ञान अथवा तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ही होगा न कि त्रैकालिक ज्ञान। आचारांग का यह वचन 'जे एगं जाणई से सव्वं जाणइ' यही बताता है कि जो एक आत्मस्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है वह उसकी सभी कषायपर्यायों को भी यथार्थ रूप से जानता है न कि त्रैकालिक सर्वज्ञता। केवलज्ञानी के सम्बन्ध में आगम का यह वचन कि 'सी जाणइ सी ण जाणइ' (भगवतीसूत्र) भी यही बताता है केवलज्ञान त्रैकालिक सर्वज्ञता नही है, वरन् विशुद्ध आध्यात्मिक या दार्शनिक ज्ञान है।[2]

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री का दृष्टिकोण

सर्वज्ञता के स्थान पर प्रयुक्त होनेवाला अनन्तज्ञान भी त्रैकालिक ज्ञान नही हो सकता। अनन्त का अर्थ सर्व नही माना जा सकता। वस्तुतः यह शब्द स्तुतिपरक

---

१. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ५५०.

२. वही, पृ० ५५१-५५२.

अर्थ में ही आया है जैसे वर्तमान में भी किसी असाधारण विद्वान् के बारे में कह देते हैं कि उनके ज्ञान का क्या अन्त, उनका ज्ञान तो अथाह है। इसी प्रकार दूसरा पर्यायवाची शब्द केवलज्ञान आत्म-अनात्म के विवेक या आध्यात्मिक ज्ञान से सम्बन्धित है।[1]

यदि इन सब आधारों पर सर्वज्ञता का अर्थ मात्र पूर्ण दार्शनिक ज्ञान या आध्यात्मिक ज्ञान अथवा तत्त्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करें, तब तो जैन दर्शन में पुरुषार्थ का स्थान स्पष्ट हो जाता है और उसके द्वारा गोशालक के नियतिवाद के विरुद्ध प्रस्तुत पुरुषार्थवादी धारणा की रक्षा भी की जा सकती है।

सर्वज्ञता का त्रैकालिक ज्ञान सम्बन्धी अर्थ और पुरुषार्थ की सम्भावना

लेकिन एक गवेषक विद्यार्थी के लिए यह उचित नहीं होगा कि परम्परासिद्ध त्रैकालिक सर्वज्ञता की धारणा की अवहेलना कर दी जाये। न केवल जैन परम्परा में, वरन् बौद्ध और वेदान्त की परम्परा में भी सर्वज्ञता का त्रैकालिक ज्ञानपरक अर्थ स्वीकृत रहा है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कहकर कि 'उन अनेक जन्मों को मैं जानता हूँ, तू नहीं,' अपनी सर्वज्ञता का ही निर्देश किया है।[2] यह प्रश्न शंका की दृष्टि से देखा जा सकता है कि महावीर, बुद्ध और कृष्ण सर्वज्ञ थे या नहीं; अथवा किसी व्यक्ति को ऐसा त्रैकालिक ज्ञान हो सकता है या नहीं। फिर भी त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ की कल्पना तर्कविरुद्ध नहीं कही जा सकती। देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठकर त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ की धारणा सिद्ध हो जाती है। प्रबुद्ध वैज्ञानिक एवं सापेक्षवाद के प्रवर्तक आइन्स्टीन ने निरपेक्ष दृष्टा की परिकल्पना को स्वीकार किया था।[3] कोई त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ अस्तित्व में है या था, यह चाहे सत्य न हो लेकिन कोई त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ हो सकता है यह तार्किक सत्य अवश्य है। क्योंकि यदि जगत् एक नियमबद्ध व्यवस्था है तो उस व्यवस्था के ज्ञान के साथ ही ठीक वैसे ही त्रैकालिक घटनाओं के ज्ञान की सम्भावना स्पष्ट हो जाती है, जैसे एक ज्योतिषी को नक्षत्र-विज्ञान के नियमों के ज्ञान के आधार पर भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी सूर्य एवं चन्द्र ग्रहणों की घटनाओं का त्रैकालिक ज्ञान हो जाता है। यदि सर्वज्ञ आत्म-द्रव्य की सभी पर्यायों को जानता है तो हमें आत्मा की सभी पर्यायों को नियत भी मानना होगा। यह मान्यता स्पष्ट रूप से निर्धारणवाद की दिशा में ले जाती है। यद्यपि नियतिवाद और जैन सर्वज्ञता की धारणा में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ नियतिवाद में पुरुषार्थ या व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अस्वीकार कर नियतता को स्वीकार किया जाता है वहाँ सर्वज्ञ के ज्ञान में पुरुषार्थ और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मानकर ही सब भावों की नियतता को स्वीकार किया जाता है। उपाध्याय हस्तीमलजी ने अपने एक लेख में इसका समर्थन किया है।[4] यद्यपि

१. डा० इन्द्रचन्द्र से चर्चा के आधार पर.

२. गीता, ४।५.

३. कॉस्मोलाजी ओल्ड एण्ड न्यू, भूमिका पृ० १३.

४. श्रमणोपासक, २० जुलाई १९६७, पृ० ६०.

उन्होंने महावीर के जीवनप्रसंगों के आधार पर घटनाओं को नियतानियत मानकर सर्वज्ञता और पुरुषार्थवाद मे संगति बिठाने का प्रयास किया है, तथापि पर्यायों को नियतानियत मानने मे त्रिकालज्ञ सर्वज्ञता की धारणा काफी निर्बल हो जाती है। त्रिकालज्ञ सर्वज्ञता की धारणा मे पुरुषार्थ की सम्भावना नियत पुरुषार्थ के रूप मे ही हो सकती है। पाश्चात्य विचारक स्पीनोजा ने भी ऐसे ही नियत पुरुषार्थ की धारणा को स्वीकार किया है। सर्वज्ञता की धारणा में पुरुषार्थ नियत होता है अनियत नही, वह पुरुषार्थ या वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण तो नही करती, लेकिन उसे अनियत भी नही रहने देती। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं कि नियतिवाद पुरुषार्थ का अपलाप नहीं करता है, वह कहता है कि सिद्धिरूप साध्य भी नियत है तथैव पुरुषार्थरूप साधन भी नियत है। दोनो ही आत्मा की पर्याय है। एक सिद्धिरूप पर्याय है दूसरी साधनरूप पर्याय है। नियतिवाद मे पुरुषार्थ को स्थान नही है, बिना कारण के ही वहाँ कार्य होता है, यह बात नही है। नियति मे पुरुषार्थ होता है पर वह भी नियत ही होता है, अनियत नही।[1] साथ ही सर्वज्ञता की धारणा मे पुरुषार्थ का अपलाप इसलिए भी नही होता कि सर्वज्ञता की धारणा नियतता का प्रमाण हो सकती है, लेकिन कारण नही। सर्वज्ञता का प्रत्यय व्यक्ति का नियामक नही बनता, वह मात्र उसकी नियतता को जानता है। पुरुषार्थ ज्ञान की दृष्टि से नियत अवश्य होता है, लेकिन पुरुषार्थ जिसके द्वारा किया जाता है वह तो ज्ञाता है और ज्ञाता ज्ञान से नियत नही होता। इस प्रकार सर्वज्ञता के प्रत्यय मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कुण्ठन नहीं होता। सर्वज्ञ से व्यक्ति का कर्तृत्व निर्धारित नही होता, वरन् सर्वज्ञ भविष्य मे जो किया जानेवाला है, उसको जानता है। सर्वज्ञ जो जानता है, व्यक्ति वैसा करने को बाध्य है ऐसा नही, वरन् जो व्यक्ति के द्वारा किया जानेवाला है, उसे सर्वज्ञ जानता है। ऐसा मानने पर सर्वज्ञता की धारणा मे पुरुषार्थ और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपलाप नही होता। श्री यदुनाथ सिन्हा भी लिखते है कि ईश्वर का पूर्वज्ञान भी मानवीय स्वतन्त्रता का विरोधी नही है। प्राक्दृष्टि अथवा पूर्वज्ञान का अर्थ अनिवार्यतः पूर्वनिर्धारण नही है।[2] इस प्रकार हम देखते है कि सर्वज्ञतावाद निर्धारणवाद नही है।

§ ७. क्या जैन कर्म-सिद्धान्त निर्धारणवाद है ?

जैन कर्म-सिद्धान्त को एकान्त रूप में नियतिवाद या निर्धारणवाद नही कहा जा सकता। जैन कर्म-सिद्धान्त यह अवश्य मानता है कि व्यक्ति का प्रत्येक संकल्प एवं प्रत्येक क्रिया अकारण नही होती है, उसके पीछे कारण रूप मे पूर्ववर्ती कर्म रहते है। हमारी सारी क्रियाएँ, समग्र विचार और मनोभाव पूर्वकर्म का परिणाम होते हैं, उनसे निर्धारित होते है। लेकिन इतने मात्र से कर्म सिद्धान्त को निर्धारणवाद मान लेना संगत नहीं होगा। प्रथम तो यह कि जैन कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति की समग्र स्वतन्त्रता का

१. अमर भारती, सितम्बर १९६७, पृ० ५९-६१.
२. नीतिशास्त्र, पृ० २९०.

अपहरण नहीं करता। जैन कर्म सिद्धान्त कर्मों की अवस्थाओं में संक्रमण, अपवर्तन, उदीरणा और प्रदेशोदय की धारणा एवं आत्मा में अपूर्वकरण की शक्ति को स्वीकार कर कर्म-नियम के ऊपर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लेता है। जैन कर्म-सिद्धान्त की एक विशेषता यह भी है कि वह यह स्वीकार कर लेता है कि व्यक्ति जैसे-जैसे अपनी स्वतन्त्रता को समझता है और अन्य (पर) के निर्धारण से अपने को बचाता है, वैसे-वैसे कर्म-नियम के ऊपर अपना अधिकार प्राप्त करता जाता है। अपूर्वकरण अनावृतिकरण एवं केवलीसमुद्घात के प्रत्यय कर्म-नियम के ऊपर व्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थक हैं। दूसरे, यदि यह भी मान लिया जाये कि कर्म-सिद्धान्त में निर्धारणवाद या नियतिवाद का तत्त्व है तो भी कर्मसिद्धान्त में निर्धारक तत्त्व बाह्य नहीं है। कर्मसिद्धान्त एक प्रकार से आत्मनिर्धारणवाद है। हमारा निर्धारण करनेवाले हमारे ही पूर्वकर्म या संस्कार होते हैं। हमारा पूर्ववर्ती जीवन ही हमारे वर्तमान जीवन का नियामक होता है, अर्थात् हम ही अपने नियामक होते हैं। कर्म का नियम व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपलाप नहीं करता। डा० राधाकृष्णन् भी इसी धारणा का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि 'स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है और न कर्म का अर्थ नियति है। कर्म या अतीत के साथ सम्बन्ध का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य स्वतन्त्र रूप से कोई कर्म नहीं कर सकता, बल्कि उसमें स्वतन्त्र कर्म तो अन्तर्निहित ही है। जो नियम हमें अतीत के साथ जोडता है, वह इस बात का भी प्रतिपादन करता है कि हम कर्म के नियम को स्वतन्त्र कार्य से पराभूत कर सकते हैं। यह हो सकता है कि अतीत अर्थात् हमारे संचित कर्म हमारे मार्ग में बाधाएँ डालें, किन्तु वे सब मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति के आगे उसी मात्रा में झुक जायेंगे जिस मात्रा में उसमें गम्भीरता और दृढ़ता होगी।'[1] वस्तुतः जैन कर्मसिद्धान्त के द्वारा स्वीकृत आत्मनिर्धारणवाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो नैतिक उत्तरदायित्व की समुचित व्याख्या करता है। पाश्चात्य चिन्तन में भी नियतिवाद और यदृच्छावाद का समन्वय आत्मनिर्धारणवाद के रूप में ही खोजा गया है।

§ ८. बौद्ध दर्शन और नियतिवाद एवं यदृच्छावाद

बुद्ध द्वारा यदृच्छावाद और नियतिवाद की आलोचना—बौद्ध विचार न केवल अहेतुवादी यदृच्छावाद एवं नियतिवाद का निरसन करता है, वरन् ईश्वरवादी नियतिवाद और भाग्यवादी नियतिवाद की भी आलोचना करता है और उन्हें नैतिकता की व्याख्या का समुचित सिद्धान्त नहीं मानता। बौद्धागमों में इन विचारणाओं की समालोचना यह कहकर की गयी कि ये विचारणाएँ अन्ततोगत्वा अकर्मण्यतावाद की ओर ले जाती हैं। अंगुत्तरनिकाय में इनकी समालोचना करते हुए बुद्ध कहते हैं, भिक्षुओ, ये तीन तीर्थिकों के ऐसे मत हैं कि जो पण्डितों द्वारा उहापोह किए जाने पर, पूछे जाने पर, चर्चा किए जाने पर, जहाँ कहीं भी जाकर रुकते हैं वहाँ अकर्मण्यता पर ही जाकर रुकते हैं। कौन से तीन ?

---

१. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० २८८-२९०.

१ भिक्षुओ ! कुछ श्रमण ब्राह्मणों का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख-दुःख या अदुःख-असुख का अनुभव करता है वह सब पूर्वकर्मों के फलस्वरूप अनुभव करता है।

तब उनसे मै कहता हूँ—तो आयुष्मानो ! तुम्हारे मत के अनुसार पूर्वजन्म के कर्म के फलस्वरूप आदमी प्राणीहिंसा करनेवाले होते है, पूर्वजन्म के कर्म के फलस्वरूप आदमी चोरी करनेवाले—अब्रह्मचारी—झूठ बोलनेवाले—चुगलखोर—व्यर्थ बकवाद करनेवाले—लोभी—क्रोधी—मिथ्यादृष्टिवाले होते हैं। भिक्षुओ ! पूर्वकृत कर्म को ही सार रूप ग्रहण कर लेने मे यह करना योग्य है और यह करना अयोग्य है इस विषय मे संकल्प नही होता, प्रयत्न नही होता। जब यह करना योग्य है और यह करना अयोग्य है, इस विषय मे ही यथार्थज्ञान नही होता तो इस प्रकार के मूढस्मृति असंयत लोगो का अपने आपको धार्मिक श्रमण (नैतिक व्यक्ति) कहना भी सहेतुक (तर्कयुक्त) नही है।

२. भिक्षुओ ! कुछ श्रमण ब्राह्मणो का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख-दुःख या अदुःख-असुख अनुभव करता है, वह सब ईश्वर-निर्माण के कारण अनुभव करता है।

तब मैं उनसे कहता हूँ—आयुष्मानो ! तुम्हारे मत के अनुसार ईश्वर-निर्माण के फलस्वरूप ही आदमी प्राणीहिंसा करनेवाले होते है—चोरी करनेवाले—अब्रह्मचारी—झूठ बोलनेवाले—चुगलखोर—कठोर बोलनेवाले—व्यर्थ बकवाद करनेवाले—लोभी—क्रोधी—मिथ्यादृष्टी होते हैं। भिक्षुओ ! ईश्वर-निर्माण को ही साररूप ग्रहण कर लेने मे यह करना योग्य है, यह करना अयोग्य है इस विषय मे संकल्प नही होता, प्रयत्न नही होता। जब यह करना योग्य है, यह करना अयोग्य है, इस विषय मे ही यथार्थज्ञान नही होता तो इस प्रकार के मूढस्मृति, असंयत लोगो का अपने आपको धार्मिक श्रमण कहना सहेतुक नही होता।

३. भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणो का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख-दुःख या अदुःख-असुख अनुभव करता है, वह सब बिना किसी हेतु के, बिना किसी कारण के (अनुभव करता है)।

तब मै उनसे कहता हूँ—आयुष्मानो ! तुम्हारे मत के अनुसार बिना किसी हेतु के, बिना किसी कारण के आदमी प्राणीहिंसा करनेवाले होते है—चोरी करनेवाले—अब्रह्मचारी—झूठ बोलनेवाले—चुगलखोर—कठोर बोलनेवाले—व्यर्थ बकवाद करनेवाले—लोभी—क्रोधी—मिथ्यादृष्टिवाले होते है। भिक्षुओ ! इस अहेतुवाद को, इस अकारणवाद को ही साररूप ग्रहण कर लेने मे यह करना योग्य है, यह करना अयोग्य है इस विषय मे संकल्प नही होता, प्रयत्न नही होता। जब यह करना योग्य है, यह करना अयोग्य है इस विषय मे ही यथार्थज्ञान नही होता तो इस प्रकार के मूढस्मृति, असंयत लोगों

का अपने आपको धार्मिक श्रमण (नैतिक व्यक्ति) कहना सहेतुक (तर्कपूर्ण) नहीं होता।[1]

बौद्ध आगमों का यह सन्दर्भ इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि बौद्ध विचारणा को अहेतुवाद तथा नियतिवाद किसी भी अर्थ में अभिप्रेत नहीं है। फिर भी प्रतीत्य-समुत्पाद में नियतिवाद जिस अंश में अधिष्ठित है, उसका पूर्णतया निवारण भी सम्भव नहीं है।

९. क्या प्रतीत्यसमुत्पाद नियतिवाद है ?

सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद की धारणा के साथ ही बौद्ध दर्शन में भी नियतिवाद का तत्त्व प्रविष्ट हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद कारण नियम का ही दूसरा नाम है। प्रतीत्यसमुत्पाद की साधारण व्याख्या है, 'ऐसा होने पर यह होता है।' यदि हम इस व्याख्या को कठोर अर्थों में स्वीकार करें तो नियतिवाद के अधिक निकट आ जाते हैं। यदि पूर्ववर्ती घटना नियतरूप से अपनी अनुवर्ती घटना से बँधी हुई है तो फिर इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिए स्थान ही कहाँ ? यदि प्रतीत्यसमुत्पाद में स्वीकृत अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा तथा भव आदि प्रत्यय एक-दूसरे से नियतरूप से बँधे हुए हैं तो फिर इस शृंखला को तोड़ना कठिन होगा; क्योंकि षडायतन तो उपलब्ध हैं ही, उससे स्पर्श, वेदना आदि होंगे ही, और उनके होने पर तृष्णा होगी ही और इस प्रकार निर्वाण का प्रयास और उसकी प्राप्ति दोनों ही असम्भव होंगे। आचार्य बादरायण ने ब्रह्मसूत्र (२।२।४।२२) में बौद्ध दर्शन पर यही आक्षेप किया है कि 'सन्तान और सन्तानियों का बुद्धिपूर्वक अथवा अबुद्धि-पूर्वक नाश सम्भव नहीं है, क्योंकि सन्तान और सन्तानियों का विच्छेद नहीं होता।' आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि सर्व सन्तानों में सन्तानियों के विच्छेदरहित कार्य-कारण भाव होने से सन्तान के विच्छेद की सम्भावना नहीं है।[2] यदि प्रतीत्यसमुत्पाद की इस शृंखला को तोड़ा नहीं जा सकता तो फिर नैतिक जीवन और निर्वाण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। लेकिन प्रतीत्यसमुत्पाद को नियतिवाद या निर्धारणवाद कहना एक भ्रान्त धारणा ही होगी। बौद्ध दर्शन अपने प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के द्वारा जहाँ एक ओर यदृच्छावाद का निरसन करता है, वहीं दूसरी ओर उसके ही द्वारा पूर्वनिर्धारणवाद का निरसन कर देता है। गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि पूर्वनिर्धारणवाद और यदृच्छावाद दोनों ही कर्महेतु या कारण की समुचित व्याख्या नहीं देते, मूलतः दोनों ही अहेतुवादी या अकारणवादी धारणाएँ हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु की व्याख्या के द्वारा उन दोनों का ही निरसन कर देता है। प्रतीत्य-समुत्पाद यदृच्छावाद या अहेतुवाद के निराकरण के लिए हेतुफल के अनिवार्य सम्बन्ध

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।६१, पृ० १७७-१५९

२. ब्रह्मसूत्र (शां०), २।२।४।२२.

के रूप में नियतिवाद को अवश्य स्वीकृत करता है। वह हेतु और उनके फल के अनिवार्य सम्बन्ध को स्पष्ट कर वर्तमान दुःख का कारण प्रस्तुत करता है।

दुःख का प्रतीक जरा-मरण है। जरा-मरण क्यों होता है? जाति (जन्म) के कारण। जन्म क्यों होता है? भव (जन्मदायक कर्म) के कारण। जन्मदायक कर्म क्यों होते हैं? उपादान (आसक्ति) के कारण। आसक्ति क्यों होती है? तृष्णा (इच्छा) के कारण। तृष्णा क्यों होती है? वेदना अर्थात् अनुभूति के कारण। वेदना क्यो होती है? विषयों का स्पर्श या सम्पर्क होने के कारण। स्पर्श क्यों होता है? छः इन्द्रियो (षडायतन) के रहने के कारण। छः इन्द्रिया क्यों होती हैं? नाम-रूप अर्थात् मन और शरीर के कारण। नाम-रूप क्यों होता है? इसकी उत्पत्ति के क्षण विज्ञान (चिन्ता) रहने के कारण। विज्ञान क्यों होता है? संस्कार (पूर्वजन्म के अनुभव) के कारण। संस्कार क्यों होते हैं? अविद्या (पूर्वजन्म की दुःख-दशा) के कारण।

यद्यपि इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु और फल के अनिवार्य सम्बन्ध को अभिव्यक्त अवश्य करता है, लेकिन वह कभी भी यह नहीं कहता कि इस हेतु फल-परम्परा का निरोध नहीं किया जा सकता, वरन् इसके विपरीत वह तो यह कहता है कि इस हेतुफलपरम्परा का निरोध किया जा सकता है। द्वितीय और चतुर्थ आर्यसत्य के मध्य निरुध्य और निरोधक का सम्बन्ध माना गया है। अष्टांगिक मार्ग प्रतीत्यसमुत्पाद के दश निदानों का निम्न रूप में निरोध करता है—

निरोधक	निरुध्य
आर्य अष्टांगिक मार्ग	दश निदान
१. सम्यक् दृष्टि	अविद्या
२. सम्यक् संकल्प	संस्कार
३. सम्यक् वाक्	विज्ञान
४. सम्यक् कर्मान्त	नाम-रूप और षडायतन
५. सम्यक् आजीव	स्पर्श
६. सम्यक् व्यायाम	वेदना
७. सम्यक् स्मृति	तृष्णा और उपादान
८. सम्यक् समाधि	भव और जाति

इस प्रकार सारी हेतुफलपरम्परा की शृंखला ही समाप्त की जा सकती है और व्यक्ति निर्वाणलाभ प्राप्त कर सकता है। साथ ही प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रत्येक अंग (धर्म) कोई बाह्य तथ्य नहीं, वरन् व्यक्ति की अपनी ही अवस्थाएँ है। प्रतीत्यसमुत्पाद कर्मसिद्धान्त का ही एक रूप है और इस अर्थ में उसमे निर्धारक तत्त्व बाह्य नहीं आन्तरिक है। कर्मसिद्धान्त के रूप मे वह आत्मनिर्धारणवाद ही सिद्ध होता है जो बौद्ध नैतिकता को यदृच्छावाद (हेतुवाद) और नियतिवाद दोनों के दोषों से बचा लेता है।

§ १०. गीता में नियतिवाद और पुरुषार्थवाद

गीता में नियतिवाद (निर्धारणवाद) के तत्त्व—साधारण दृष्टि से देखने पर गीता को नियतिवादी विचारणा के निकट पाया जा सकता है और इसी कारण कुछ पाश्चात्य और भारतीय विचारकों ने उसे नियतिवादी कहा भी है। गीता की समीक्षा करते हुए प्रो० हिल लिखते हैं कि 'गीता में संकल्प-स्वातन्त्र्य एक पूर्ण नियतिवादी विचारधारा के अन्तर्गत कार्य करनेवाली चयन की मिथ्या स्वतन्त्रता है।'[1] इस प्रकार हिल के अनुसार गीता नियतिवादी दृष्टिकोण की समर्थक है।

डा० भीखनलाल आत्रेय यद्यपि गीता को पूर्णरूपेण नियतिवादी विचारणा का प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं मानते हैं, तथापि वे गीता में निहित नियतिवादी तत्त्वों की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं, 'देव और पुरुषार्थ की समस्या जैसी ही एक समस्या कई दर्शनों और भगवद्गीता ने खड़ी कर दी है। ये शास्त्र पुरुष को कर्मों का कर्ता न मानकर प्रकृति को कर्ता मानते हैं और कहते हैं कि सब कुछ प्रकृति के गुणों द्वारा हो रहा है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा था यदि वह स्वयं लड़ना नहीं चाहेगा तो भी प्रकृति उसको लड़ाई में प्रवृत्त कर देगी। प्रकृति और पुरुष के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की समस्या को गीता में श्रीकृष्ण ने यह कहकर और जटिल बना दिया कि ईश्वर अपनी माया से सब प्राणियों को कठपुतली की नाईं नचा रहा है।'[2] गीता में हमें ऐसे अनेक श्लोक मिल जाते हैं जिनका नियतिवादपरक अर्थ लगाया जा सकता है। नवें अध्याय में कहा गया है कि अपनी प्रकृति को वश में रखते हुए मैं इन भूतों के समूह को बार-बार उत्पन्न करता हूँ जो कि प्रकृति के वश में होने के कारण बिलकुल बेबस हैं।[3] ग्यारहवें अध्याय में कहा गया है, 'मैं लोकों का विनाश करनेवाला काल हूँ जो प्रवृद्ध होकर लोकों के विनाश में लगा हूँ, यह सब परस्पर विरोधी सेना में पंक्तिबद्ध खड़े हुए योद्धा तेरे (कर्म के) बिना भी शेष नहीं रहेंगे—यह सब तो मेरे द्वारा पूर्व में ही मारे जा चुके हैं। हे अर्जुन! तू अब इसका कारण भर बन जा।[4] डा० राधाकृष्णन् भी इस श्लोक की टिप्पणी में लिखते हैं कि ईश्वर भवितव्यता की सब बातों का निश्चय करता है और उन्हें नियत करता है—ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक दैवी पूर्व-निर्णयन के सिद्धान्त का समर्थन करता है और व्यक्ति की नितान्त असहायता और क्षुद्रता तथा संकल्प और प्रयत्न की व्यर्थता की ओर संकेत करता है।[5] इतना ही नहीं, गीताकार व्यक्ति के हाथ से नैतिक विकास की सारी क्षमताओं को भी छीनकर उन्हें परमात्मा के हाथों में देने का प्रयास कर नियतिवादी धारणा को और अधिक सबल बना देता है। दसवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं, 'मैं सब वस्तुओं का उत्पत्तिस्थान हूँ, मुझसे सारी सृष्टि

१. गीता (अनूदित-हिल) विषय प्रवेश, पृ० ४८.
२. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० ६४६.
३. गीता, ९।८
४. वही, ११।३२-३३.
५. भगवद्गीता (रा०), पृ० २७५.

चलती है, इस बात को जानकर ज्ञानी लोग विश्वासपूर्वक मेरी पूजा करते हैं—जो इस प्रकार निरन्तर मेरी उपासना और भक्ति करते हैं उन्हें मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मेरे पास पहुँच जाते हैं।' अठारहवें अध्याय में कहा गया है कि ईश्वर सब प्राणियों के हृदयस्थान में स्थित होकर अपनी माया से उन्हें यन्त्र के रूप में चला रहा है।[1] इस श्लोक में तो गीताकार नियतिवादी धारणा के यान्त्रिक सिद्धान्त को भी प्रतिपादित कर देता है। फिर भी यह मानना कि गीता का नियतिवाद एक अर्धयान्त्रिक नियतिवाद है, भ्रान्ति ही होगी। इस विषय पर सम्यक् रूप से विचार करना अपेक्षित है।

क्या गीता नियतिवादी है ?–उपर्युक्त अवतरणों के आधार पर गीता नियतिवाद का ग्रन्थ प्रतीत अवश्य होता है, लेकिन गीता में ही अनेक स्थल ऐसे भी हैं जो इच्छास्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करते हैं। अधिकांश टीकाकार भी गीता को नियतिवादी ग्रन्थ नहीं मानते। गीता के आद्य व्याख्याकार आचार्य शंकर इसे स्पष्ट कर देते हैं कि गीता में नियतिवादी एवं इच्छास्वातन्त्र्यवादी धारणाओं का सही स्वरूप क्या है। आचार्य शंकर स्वयं यह समस्या उठाते हैं कि यदि सभी जीव प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते हैं, प्रकृति से रहित कोई नहीं है तो पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता न रहने से विधिनिषेधदर्शक शास्त्र (आचारदर्शन) निरर्थक होगा ?[2] इतना ही नहीं, यदि हम किसी ग्रन्थ के उपसंहार को उसकी सैद्धान्तिक धारणा का निष्कर्ष मानें तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि गीता आत्मस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को ही स्वीकार करती है क्योंकि अन्त में श्रीकृष्ण अर्जुन से यही कहते हैं कि जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।[3] गीता में नियतिवाद स्वीकार करने के दो ही आधार हैं—(१) प्रकृति और (२) ईश्वर। या तो यह माना गया है कि प्राणियों का सारा व्यवहार प्रकृति से नियन्त्रित होता है या ईश्वर से। लेकिन ईश्वर प्रकृति या माया के माध्यम से ही उन्हें नियन्त्रित करता है, सीधे रूप में नही। अतः यह समझना होगा कि प्रकृति अथवा माया का इस सन्दर्भ में क्या अर्थ है। आचार्य शंकर इस सन्दर्भ में प्रकृति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो पूर्वकृत पुण्य-पाप आदि संस्कार वर्तमान जन्मादि में प्रकट होता है, उसका नाम प्रकृति है। अर्थात् इस प्रकार नैतिकता के सन्दर्भ में प्रकृति या माया का तात्पर्य कर्मसिद्धान्त से है, नैतिक आचरण के क्षेत्र में गीता की प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है, जो भूतकालीन कर्म-संस्कारों से निर्मित होकर वर्तमान जीवन-व्यवहार को नियन्त्रित करती है। इस प्रकार गीता में आचरण के क्षेत्र का नियन्त्रक तत्त्व स्वयं व्यक्ति से उद्भूत उसकी कर्म-प्रकृति ही सिद्ध होती है। गीता में ईश्वर को जिस रूप में नियामक माना गया है वह स्वेच्छाचारी नहीं है। वह ईश्वर सभी प्राणियों के प्रति समभाव से युक्त नियमपूर्वक कार्य करनेवाला है, अतः प्राणियों के आचरण का नियामक तत्त्व ईश्वर नहीं, वरन् वह कर्म का नियम

---

१. गीता, १८।६१.
२. गीता शांकर भाष्य, ३।३३.
३. गीता, १८।६३.

है जिसके अनुसार ही ईश्वर कार्य करता है। ईश्वर तो मात्र कर्म-नियम के अधिष्ठाता के रूप में ही उसका नियामक कहा जा सकता है। तिलक भी गीता में ईश्वर को इसी रूप में नियामक मानते हैं।[1] निष्कर्ष यह है कि गीता में यदि कोई नियतिवादी तत्त्व है तो वह कर्म का नियम ही है और प्राणी-व्यवहार का नियमन इसी के आधार पर होता है। लेकिन यदि हम कर्म-नियम को भी निरपेक्ष रूप में व्यक्ति के व्यवहार का नियन्त्रक तत्त्व मान लेते हैं तो भी नियतिवाद के पजे मे आ जाते हैं। कर्म-विपाक का नियम जिसे गीता में ईश्वर की प्रकृति या माया अथवा ईश्वरीय नियम कहा गया है, वस्तुतः क्या है? उसका व्यक्ति पर कितना शासन है यह जानना भी आवश्यक होगा। गीता के अनुसार व्यक्ति कर्म-नियम में अपनी इच्छा से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। फिर भी प्रश्न उठता है कि वह प्राणियों का किस अर्थ में नियमन करता है? गीता में कर्म को जो प्रकृति या माया कहा गया है उसका गहन अर्थ यह है कि वह जड है, और इसलिए प्रकृति या माया का नियम जड का नियम है। जड के नियम को ही हम विज्ञान की भाषा में कार्य-कारण का नियम कहते हैं और कर्म-सिद्धान्त का नियम भी कार्य-कारण सिद्धान्त का ही एक रूप है। ऐसी स्थिति में कर्म-सिद्धान्त को जड जगत् का नियम मान लेने पर उसे प्राणी-जगत् पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि जड और चेतन भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। गीता जब आत्मा के द्वारा आत्म के उत्थान की बात कहती है (६।५) तब वह निश्चित रूप में यही इंगित करती है कि इच्छा-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त ही चेतन-जगत् का सिद्धान्त है। अनात्म (जड) और आत्म (चेतन) दो भिन्न सत्ताएँ हैं और दोनों के स्वतन्त्र नियम हैं। जड जगत् के नियम के रूप में ही नियतिवाद पनपता है। यद्यपि वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर तो परमाणु जगत् में भी नियतता का नियम पूरी तरह लागू नहीं होता। परमाणुओं की आन्तरिक गति में भी अनियतता होती है। फिर भी चेतन-जगत् का नियम तो इच्छा-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त ही कहा जा सकता है जिसमें पुरुषार्थ की धारणा बलवती होती है। डॉ० राधाकृष्णन् भी लिखते हैं, 'प्रकृति नियतिवाद की व्यवस्था है' लेकिन वह एक व्यवस्था नहीं है। आत्मा की शक्तियाँ उसे प्रभावित कर सकती हैं, उसकी गति की दिशा को मोड़ सकती हैं। कर्म का नियम अनात्म (जड़) के क्षेत्र में पूरी तरह लागू होता है, जहाँ प्राणीशास्त्रीय और सामाजिक अनुवांशिकता दृढ़ता के साथ जमी हुई है, किन्तु कर्ता (व्यक्ति) में स्वाधीनता की सम्भावना है, प्रकृति के नियतिवाद पर संसार की अनिवार्यता (बाध्यता) पर, विजय पाने की सम्भावनाएँ हैं।[2]

नैतिकता का जगत् न पूर्णतया जड़ है और न पूर्णतया चेतन है। नैतिक कर्ता के रूप में जीव (बद्धात्मा) न तो शुद्धरूप से आत्म है और न शुद्धरूप से अनात्म

---

१. गीतारहस्य, अध्याय १० (कर्म-विपाक और आत्म-स्वातन्त्र्य).
२. भगवद्गीता (रा०), पृ० ५१.

वह तो आत्म और अनात्म का एक विशिष्ट सयोग है। मानवीय जगत् मे जिस रूप मे अनात्म आत्म पर हावी रहता है, उसी स्थिति तक आत्म-तत्त्व पर नियतिवाद का अधिकार रहता है। लेकिन आत्म चाहे अनात्म से कितना ही दबा हुआ हो, वह कभी भी अनात्म नही हो जाता है और इसीलिए उसमे स्वतन्त्रता की सम्भावनाएँ चाहे वह कितनी ही धूमिल क्यो न हो, समाप्त नही होती है। डा० राधाकृष्णन् लिखते है—कर्ता (आत्मा) का अर्थ है स्वतन्त्रता या अनिर्धारिता। जीवन अपनी आत्मसीमितता मे अपनी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक स्वत चालितता मे सच्चे कर्ता (शुद्धात्मा) का विकृत रूप है। कर्म के नियम पर आत्मा की स्वाधीनता की पुष्टि द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है—विश्व की वे शक्तिया जिनका मनुष्य पर प्रभाव पडता है, निम्नतर प्रकृति की प्रतिनिधि है, परन्तु उसकी (मनुष्य की) आत्मा प्रकृति (जैन परिभाषा मे कर्म-प्रकृति) के घेरे को तोड सकती है और ब्रह्म (शुद्धात्मा) के साथ अपने सम्बन्ध को पहचान सकती है। हमारा बन्धन किसी विजातीय तत्त्व पर आश्रित रहने मे है। मनुष्य अच्छे और बुरे मे चुनाव कर सकने की (निहित) स्वतन्त्रता से ऊपर उठकर उस उच्चतर स्वतन्त्रता तक पहुँच सकता है।—गीता मे व्यक्ति की भले और बुरे का चुनाव कर सकने की स्वाधीनता पर और उस ढग पर जिससे कि वह इस स्वतन्त्रता का प्रयोग करता है, जोर दिया गया है—प्रकृति निरपेक्ष रूप मे सब बातो का निर्धारण नही कर देती है। कर्म एक दशा है, भवितव्यता नही।[1]

§ ११. सम्यक् जीवन-दृष्टि के लिए दोनों दृष्टिकोण अपेक्षित

वस्तुत सफल जीवन सचालन के लिए नियति और पुरुषार्थ, दोनो आवश्यक है। नियतिवाद जीवन के अतीत-पक्ष को समझाने की दृष्टि है तो पुरुषार्थवाद जीवन के भावी पक्ष को समझने की दृष्टि है। पुरुषार्थवाद तो भावी को समुज्ज्वल बनाने की कला एवं विधि भी है। नियतिवाद के द्वारा हमे मात्र अपने अतीत को समझने की कोशिश करना चाहिए। नियतिवाद यह बता सकता है कि जो कुछ हो चुका है उन परिस्थितियो मे वही होना था। दुर्भाग्यपूर्ण भूत के सम्बन्ध मे यही सिद्धान्त हमारे जीवन की सात्वना बन सकता है। भूत के सम्बन्ध मे पुरुषार्थवाद यह सोचने को बाध्य करेगा कि यदि कार्य अमुक प्रकार से किया होता तो सफलता मिल जाती, लेकिन भूत की स्थिति मे परिवर्तन करना तो वर्तमान के पुरुषार्थ अधिकार मे नही है। वस्तुत भूत तो वह तीर है जो हाथ से छूट चुका है। अत भूत के सम्बन्ध मे पुरुषार्थवादी दृष्टि पश्चात्ताप के सिवाय कुछ नही दे सकता। वर्तमान मे खडे होकर भूत की ओर देखने के लिए नियतिवादी दृष्टि ही उचित है। भूत बदला नही जा सकता, उसके लिए नियतिवादी दृष्टि पर्याप्त है। लेकिन भावी अज्ञात होता है, उसके सम्बन्ध मे कुछ भी पूर्वकथन नही किया जा सकता। जब तक व्यक्ति मे यह सामर्थ्य नही है कि वह अपने असीम अग्रिम भविष्य को देख सके, उसे भावी के सम्बन्ध मे नियतिवादी किंवा भाग्यवादी धारणा बनाने का कोई अधिकार नही। नियतिवाद निश्चितता है। निश्चितता ज्ञातता

१ भगवद्गीता, पृ० ५१-५२.

के साथ रहती है। अज्ञातता अनिश्चितता है और यदि भविष्य अज्ञात है तो उसकी व्याख्या नियतिवाद के द्वारा सम्भव ही नहीं है। भविष्य के सम्बन्ध में नियतिवादी धारणा निराशा, नीरसता और निष्क्रियता के द्वारा प्रगति के सारे द्वारों को अवरुद्ध कर देती है। भावी को सुखद एवं समृद्ध बनाने के लिए पुरुषार्थवाद के प्रति निष्ठा आवश्यक है। जीवन का स्वर्णिम सूत्र है—भूत के सम्बन्ध में भाग्यवादी (नियतिवादी) रहो और भावी के सम्बन्ध में पुरुषार्थवादी।

§ १२. कर्म-नियम और आत्मशक्ति

कर्म-नियम और आत्मा में कौन बलवान् है, यह प्रश्न प्राचीनकाल से ही विचारणीय रहा है। यद्यपि कर्म हमारे संस्कारों और हमारे जीवन जीने के ढंग को प्रभावित करता है; लेकिन कर्मों का कर्ता आत्मा है। आत्मा स्वयं ही अपने कर्मों से बद्ध होता है, अतः यह मानना होगा कि उस बन्धन से मुक्त होने की सामर्थ्य भी आत्मा में ही है। उपाध्याय अमरमुनि जी लिखते हैं कि अनन्त गगन में मेघों की कितनी ही घनघोर घटा छा जाए, फिर भी वे सूर्य की प्रभा का सर्वथा विलोप नहीं कर सकतीं। बादलों में सूर्य को आच्छादित करने की शक्ति तो है, किन्तु उसके आलोक को सर्वथा विलुप्त करने की शक्ति उनमें नहीं है। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में है। कर्म में आत्मा के सहज स्वाभाविक गुणों को आच्छादित करने की शक्ति है इसमें जरा भी असत्य नहीं है, पर आत्मा को आच्छादित करनेवाले कर्म कितने ही प्रगाढ़ क्यों न हों उनमें आत्मा के एक भी गुण को मूलतः नष्ट करने की शक्ति नहीं है। जैसे सूर्य स्वयं मेघों को उत्पन्न करता है, उनसे आच्छादित हो जाता है और फिर वही सूर्य अपनी शक्ति से उन्हें छिन्न-भिन्न भी कर डालता है। इसी प्रकार आत्मा भी स्वयं कर्मों को उत्पन्न करता है, उनसे आच्छादित हो जाता है और फिर स्वयं ही उन कर्मों को निर्जरा के द्वारा छिन्न-भिन्न भी कर डालता है।[1] वस्तुतः कर्मशक्ति महत्त्वपूर्ण है, लेकिन वह आत्मशक्ति की अपेक्षा अधिक बलवान् नहीं है। कर्म संकल्पजन्य हैं और इसलिए वे आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं। कर्मों को जो भी कुछ शक्ति मिलती है, इसके मूल में हमारे ही संकल्प होते हैं। अतः यह मानना युक्तिसंगत नहीं कि कर्मशक्ति आत्मशक्ति से बलवान् है। आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों की नियामकता से ऊपर उठ सकता है। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि कर्मावरण के हल्के होने पर आत्म-विशुद्धि होती है, लेकिन यह धारणा भ्रान्त है। अमरमुनि जी लिखते हैं कि कर्म टूटें तो आत्मा विशुद्ध हो, यह सिद्धान्त नहीं है; बल्कि सिद्धान्त यह है कि आत्मा का शुद्ध पुरुषार्थ जागे, तो कर्म हल्के हों।[2] इस प्रकार कर्म-नियम के ऊपर आत्मशक्ति का स्थान है।

§ १३. आत्म-निर्धारणवाद

विभिन्न नियतिवादी तत्त्व हमारे व्यक्तित्व के निर्माण एवं निर्धारण के बाह्य कारण या निमित्त अवश्य हैं, लेकिन उनको स्वरूप प्रदान करनेवाला केन्द्रीय तत्त्व

१. समाज और संस्कृति, पृ० १६८.   २. वही, पृ० १६६.

तो हमारी चेतना है। डा० यदुनाथ सिन्हा लिखते हैं, मानवीय कर्म अंशतः स्वतंत्र होते हैं तथा अंशतः गत जीवनों में संचित पुण्य-पाप अथवा धर्म-अधर्म से निर्धारित होते हैं। संकल्पशक्ति के स्वतन्त्र कर्मों को पुरुस्कार (पुरुषार्थ) कहा गया है और गत जीवन में अर्जित पाप-पुण्यों (कर्म संस्कार) को दैव कहते हैं।—वे ऐसे अचेतन पूर्व-स्वभाव हैं, जो कि भीतर से ही हमारे ऐच्छिक कर्मों को अंशतः निर्धारित करते हैं तथा अंशतः उनके परिणामों को बल या बाधा पहुँचाते हैं। मनोवैज्ञानिक पूर्वस्वभाव हमारे स्वय के कर्म हैं। वे आत्मा के प्रति बाह्य नही है, वे उसमें निहित हैं।[1] चेतना (आत्मा) का निर्धारण बाह्य नही, आन्तरिक है। बाह्य तत्त्व उसका निर्धारण तभी कर सकते हैं जब चेतना स्वयं अपने पर उनका आरोपण कर लेती है। हमारा बन्धन स्वयं के द्वारा स्वयं पर आरोपित है। सराग चेतना स्वयं अपने को परतन्त्र (बन्धन) बना लेती है और वीतराग चेतना अपने को स्वतन्त्र (मुक्त) कर लेती है। यही आत्मनिर्धारणवाद है और यही हमारी स्वतन्त्रता का सच्चा रहस्य है।

स्वतन्त्रता का अर्थ अतन्त्रता नहीं, आत्मतन्त्रता है। चेतना को परापेक्षी, पुद्गलापेक्षी सराग या तृष्णायुक्त बनाना यही परतन्त्रता का सृजन है और चेतना को ज्ञाता-दृष्टास्वरूप विशुद्ध स्वस्वभाव या वीतरागदशा में स्थित रखना ही स्वतन्त्रता की उपलब्धि है। सरागता और वीतरागता दोनों ही चेतना की स्थितियाँ हैं। सरागता परापेक्षी अवश्य है, लेकिन वह 'पर' नहीं 'स्व' ही है। बाह्य पदार्थ 'राग' के निमित्त मात्र है। उनमे राग का कर्ता तो यह स्वयं आत्मा ही है। एक आत्मा की विभाव-अवस्था है, दूसरी उसकी स्वभाव-अवस्था है। विभाव ही बन्धन है, क्योंकि वह परापेक्षी है और स्वभाव ही मुक्ति है। लेकिन विभाव या सरागता भी आत्मा के द्वारा स्वयं आरोपित दशा है, अतः उसमें भी आत्मा की स्वतन्त्रता की धारणा का अपलाप नहीं होता है यद्यपि विभावदशा, सरागता या कर्म-संस्कार हमारे कार्यों को निर्धारित अवश्य करते है। लेकिन वे आत्माश्रित हैं, अतः आत्मा उनपर विजय प्राप्त करके अपनी सच्ची स्वतन्त्रता उपलब्ध कर सकती है। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा स्वयं ही अपने सुख-दुःख या बन्धन का सृष्टा है और स्वयं ही उनका विसर्जन करनेवाला है। सत्पथ मे नियोजित आत्मा स्वयं ही अपना मित्र है और कुपथ में नियोजित आत्मा ही अपना शत्रु है।[2] हमारी आत्मा ही हमें परतन्त्र बनाती है, अतः स्वयं से (स्वयं की दुष्प्रवृत्तियो से) ही युद्ध करना चाहिए, दूसरे बाह्य शत्रुओं (तत्त्वों) से युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा आत्मा पर विजय-लाभ करनेवाला ही स्वतन्त्रता के सच्चे सुख को उपलब्ध करता है।[3] गीता मे भी कहा है कि यह आत्मा स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं ही अपना उद्धार करे, स्वयं अपना पतन न करे।[4] धम्मपद में भी यही कहा है—स्वयं अपने द्वारा कृत पापों से ही स्वयं ही अपने को मलिन करता है और स्वयं अपने द्वारा पाप नहीं करके अपने को विशुद्ध करता

१. नीतिशास्त्र, पृ० ६०. २. उत्तराध्ययन, २०।३७. ३. वही, ९।३५. ४. गीता, ६।८-५.

है ।[1] जो अपने को अनुशासित रखेगा वह सुखपूर्वक विहार करेगा क्योंकि व्यक्ति स्वयं ही अपना स्वामी है, स्वयं ही अपना साध्य है ।[2] इस प्रकार सभी भारतीय आचारदर्शन आत्मस्वातन्त्र्य एवं आत्मनिर्धारणवाद का समर्थन करते हुए व्यक्ति को आत्मनिर्धारण से आत्मस्वातन्त्र्य की दिशा में बढ़ने की प्रेरणा देते हैं । यह स्मरण रखने की बात है कि पाश्चात्य चिन्तन का इच्छा-स्वातन्त्र्य आत्मस्वातन्त्र्य नहीं है । भारतीय चिन्तन और विशेष रूप में जैन चिन्तन भी आत्मस्वातन्त्र्य को तो स्वीकार करता है, लेकिन इच्छा-स्वातन्त्र्य को नहीं । इच्छा स्वतन्त्र नहीं होती क्योंकि वह अकारण नहीं, सकारण है । किसी भी इच्छा की उत्पत्ति के लिए तत्सम्बन्धी कर्मवर्गणाओं का होना आवश्यक है । उस इच्छा को करनेवाली चेतना या आत्मा ही वास्तव में स्वतन्त्र है । स्वतन्त्रता चेतना या आत्मा का स्वरूप लक्षण है, वह तत्त्व का स्वरूप है, हमारा तात्त्विक अधिकार है । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह हमें उपलब्ध भी है ।

रूसो ने कहा है कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है, परन्तु चारों ओर जंजीरों में जकड़ा नजर आता है । यह कथन राजनैतिक दृष्टिकोण से सही है, परन्तु नैतिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से सत्य कुछ दूसरा ही प्रतीत होता है । वहाँ यह कहना अधिक युक्तिसंगत और सत्य होगा कि मनुष्य पैदा परतन्त्र होता है, परन्तु वह चाहे तो स्वतन्त्र हो सकता है ।[3]

स्वतन्त्रता हमारा स्वभाव है । 'हम स्वतन्त्र हैं' इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त है कि 'हममें स्वतन्त्र होने की सम्भावनाएँ हैं और नैतिक जीवन की सारी प्रक्रिया उसी स्वतन्त्रता को प्रकट करने के लिए है ।' महाभारत में इस तथ्य को बड़े ही सुन्दर शब्दों में यह कहकर प्रकट किया गया है कि यह स्वतन्त्र आत्मा स्वतन्त्रता के द्वारा स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् यह जीवात्मा जो अपने तात्त्विक स्वरूप में स्वतन्त्र है, आसक्तिरूपी बन्धन से स्वतन्त्र होकर सच्ची स्वतन्त्रता या मुक्ति का लाभ कर लेता है ।[4] हमारा वर्तमान व्यक्तित्व स्वतन्त्रता और निर्धारणता का मिश्रण है, लेकिन हम निर्धारणता को समाप्त कर सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र हो सकते हैं । डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं कि जीवन ताश के पत्तों के खेल की तरह है । पत्ते हमें बाँट दिये जाते हैं, चाहे वे अच्छे हों या बुरे । इस सीमा तक नियतिवाद का शासन है । परन्तु हम खेल को बढ़िया ढंग से या खराब ढंग से खेल सकते हैं । हो सकता है कि एक कुशल खिलाड़ी के पास बहुत खराब पत्ते आये हों और फिर भी वह खेल में जीत जाये । यह भी सम्भव है कि एक खराब खिलाड़ी के पास अच्छे पत्ते आये हों और फिर भी वह खेल का नाश करके रख दे । हमारा जीवन परवशता और स्वतन्त्रता, दैवयोग और चुनाव का मिश्रण है । अपने चुनाव का समुचित रूप से प्रयोग करते हुए हम धीरे-धीरे सब तत्त्वों पर नियन्त्रण कर सकते हैं और प्रकृति के नियतिवाद को बिलकुल समाप्त कर सकते हैं ।[5]

स्वभावतः हम स्वतंत्र है और हमने स्वयं अपनी ही वासनाओं एवं आसक्तियों के बंधन खड़े कर लिये हैं । हम उन बंधनों को समाप्त कर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं । □

---

१. धम्मपद, १६०. २. वही, १६० ३. नीति की ओर, पृ० ५५. ४. महाभारत, शान्तिपर्व, ३०८।२७ ३०. ५. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० २९२; भगवद्गीता (रा०), पृ० ५३.

१०

कर्म-सिद्धान्त

§ १. नैतिक विचारणा में कर्म-सिद्धान्त का स्थान

सामान्य मनुष्य को नैतिकता के प्रति आस्थावान् बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मों की शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त होने की धारणा में उसका विश्वास बना रहे। कोई भी आचारदर्शन इस सिद्धान्त की स्थापना किये बिना जनसाधारण को नैतिकता के प्रति आस्थावान् बनाये रखने मे सफल नहीं होता।

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता के क्षेत्र में आनेवाले वर्तमानकालिक समस्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्म भूतकालीन कर्मों से प्रभावित होते है और भविष्य के कर्मों पर अपना प्रभाव डालने की क्षमता से युक्त होते है। संक्षेप में, वैज्ञानिक जगत् में तथ्यों एवं घटनाओं की व्याख्या के लिए जो स्थान कार्य-कारण सिद्धान्त का है, आचारदर्शन के क्षेत्र में वही स्थान 'कर्म-सिद्धान्त' का है। प्रोफेसर हरियन्ना के अनुसार, "कर्म-सिद्धान्त का आशय यही है कि नैतिक जगत् में भी भौतिक जगत् की भाँति, पर्याप्त कारण के बिना कुछ घटित नहीं हो सकता। यह समस्त दुःख का आदि स्रोत हमारे व्यक्तित्व में ही खोजकर ईश्वर और प्रतिवेशी के प्रति कटुता का निवारण करता है।"[१] अतीतकालीन जीवन ही वर्तमान व्यक्तित्व का विधायक है। जिस प्रकार कोई भी वर्तमान घटना किसी परवर्ती घटना का कारण बनती है उसी प्रकार हमारा वर्तमान आचरण हमारे परवर्ती आचरण एवं चरित्र का कारण बनता है। पाश्चात्य विचारक ब्रैडले जब यह कहते हैं "मानव चरित्र का निर्माण होता है।"[२] तो उनका तात्पर्य यही है कि अतीत के कृत्य ही वर्तमान चरित्र के निर्माता हैं और इसी वर्तमान चरित्र के आधार पर हमारे भावी चरित्र (व्यक्तित्व) का निर्माण होता है।

कर्म-सिद्धान्त की आवश्यकता आचारदर्शन के लिए उतनी ही है, जितनी विज्ञान के लिए कार्यकारण सिद्धान्त की। विज्ञान कार्यकारण सिद्धान्त में आस्था प्रकट करके ही आगे बढ़ सकता है और आचारदर्शन कर्म-सिद्धान्त के आधार पर ही समाज में नैतिकता के प्रति निष्ठा जागृत कर सकता है। जिस प्रकार कार्यकारण-सिद्धान्त के परित्याग करने पर वैज्ञानिक गवेषणाएँ निरर्थक हैं, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त से विहीन आचारदर्शन भी अर्थशून्य होता है। प्रो० वेंकटरमण लिखते हैं कि 'कर्म

१. आउटलाइन्स आफ इंडियन फिलासफी, पृ० ७९.

२. एथिकल स्टडीज पृ० ५३.

सिद्धान्त कार्यकारण सिद्धान्त के नियमों एवं मान्यताओं का मानवीय आचरण के क्षेत्र में प्रयोग है, जिसकी उपकल्पना यह है कि जगत् में कुछ भी संयोग अथवा स्वच्छन्दता का परिणाम नहीं है।'[1] जगत् में सभी कुछ किसी नियम के अधीन हैं। डॉ० आर० एस० नवलक्खा का कथन है कि 'यदि कार्यकारण-सिद्धान्त जागतिक तथ्यों की व्याख्या को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है, तो फिर उसका नैतिकता के क्षेत्र में प्रयोग करना न्यायिक क्यों नहीं होगा।'[2] मैक्समूलर ने भी लिखा है कि 'यह विश्वास कि कोई भी अच्छा या बुरा कर्म (बिना फल दिये) समाप्त नहीं होता, नैतिक जगत् का ठीक वैसा ही विश्वास है जैसा कि भौतिक जगत् में ऊर्जा की अविनाशिता के नियम का विश्वास है।'[3] कर्म-सिद्धान्त और कार्यकारण-सिद्धान्त में साम्य होते हुए भी उनके विषयों की प्रकृति के कारण दोनों में जो मौलिक अन्तर है, उसे ध्यान में रखना चाहिए। भौतिक जगत् में कार्यकारण-सिद्धान्त का विषय जड़ पदार्थ होते हैं, अतः उसमें जितनी नियतता होती है वैसी नियतता प्राणीजगत् में लागू होनेवाले कर्म-सिद्धान्त में नहीं हो सकती। यही कारण है कि कर्म-सिद्धान्त में नियतता और स्वतन्त्रता का समुचित संयोग होता है।

उपयोगिता के तर्क (प्रैग्मेटिक लॉजिक) की दृष्टि से भी यह धारणा आवश्यक और औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है कि हम आचारदर्शन में एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करें, जो नैतिक कृत्यों के अनिवार्य फल के आधार पर उनके पूर्ववर्ती और अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या भी कर सके तथा प्राणियों को शुभ की ओर प्रवृत्त और अशुभ से विमुख करे।

भारतीय चिन्तकों ने कर्म-सिद्धान्त की स्थापना के द्वारा न केवल नैतिक क्रियाओं के फल की अनिवार्यता प्रकट की, वरन् उनके पूर्ववर्ती कारकों एवं अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या भी की, साथ ही सृष्टि के वैषम्य का सुन्दरतम समाधान भी किया।

§ २. कर्म-सिद्धान्त की मौलिक स्वीकृतियाँ और फलितार्थ

कर्म-सिद्धान्त की प्रथम मान्यता यह है कि प्रत्येक क्रिया उसके परिणाम से जुड़ी है। उसका परवर्ती प्रभाव और परिणाम होता है। प्रत्येक नैतिक क्रिया अनिवार्यतया फलयुक्त होती है, फलशून्य नहीं होती। कर्म-सिद्धान्त की दूसरी मान्यता यह है कि उस परिणाम की अनुभूति वही व्यक्ति करता है जिसने पूर्ववर्ती क्रिया की है। पूर्ववर्ती क्रियाओं का कर्ता ही उसके परिणाम का भोक्ता होता है। तीसरे, कर्म-सिद्धान्त यह भी मानकर चलता है कि कर्म और उसके विपाक की यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। जब इन तीनों प्रश्नों का विचार करते हैं तो शुभाशुभ नैतिक

१. फिलासाफिकल क्वाटरली, अप्रैल १९३२, पृ० ७२.
२. शंकर्स अद्वैतवाद, पृ० २४८.
३. थ्री लेक्चरर्स आन वेदान्त फिलासफी, पृ० १६५.

क्रियाओं के फलयुक्त या सविपाक होने के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन एकमत प्रतीत होते हैं। बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों ने निष्कामभाव एवं वीतरागदृष्टि से युक्त आचरण को शुभाशुभ की कोटि से परे अतिनैतिक (A moral) मानकर फलशून्य या अविपाकी माना है। जैन विचारणा ने ऐसे आचरण को फलयुक्त मानते हुए भी उसके फल या विपाक के सम्बन्ध में ईर्यापथिक बन्ध और मात्र प्रदेशोदय का जो विचार प्रस्तुत किया है उसके आधार पर यह मतभेद महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता है। जहाँ तक कर्मों का कर्ता और भोक्ता वही आत्मा होता है इस मान्यता का सम्बन्ध है, गीता और जैन दर्शन की दृष्टि से जो आत्मा कर्मों का कर्ता है, वही उनके कर्मफलों का भोक्ता है। भगवतीसूत्र में महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मा स्वकृत सुख-दुःख का भोग करता है, परकृत सुख-दुःख का भोग नहीं करता।[1] बुद्ध के सामने भी जब यही प्रश्न उपस्थित किया गया कि आत्मा स्वकृत सुख-दुःख का भोग करता है या परकृत सुख-दुःख का भोग करता है तो बुद्ध ने महावीर से भिन्न उत्तर दिया और कहा कि प्राणी या आत्मा के सुख-दुःख न तो स्वकृत हैं, न परकृत।[2] बुद्ध को स्वकृत मानने में शाश्वतवाद का और परकृत मानने में उच्छेदवाद का दोष दिखाई दिया, अतः उन्होंने मात्र विपाक-परम्परा को ही स्वीकार किया। जहाँ तक कर्म-विपाक-परम्परा के प्रवाह को अनादि मानने का प्रश्न है, तीनों ही आचारदर्शन समान रूप से उसे अनादि मानते हैं।

संक्षेप में इन आधारभूत मान्यताओं के फलितार्थ निम्नलिखित हैं—

१. व्यक्ति का वर्तमान व्यक्तित्व उसके पूर्ववर्ती व्यक्तित्व (चरित्र) का परिणाम है और यही वर्तमान व्यक्तित्व (चरित्र) उसके भावी व्यक्तित्व का निर्माता है।

२. नैतिक दृष्टि से शुभाशुभ जो क्रियाएँ व्यक्ति ने की हैं वही उनके परिणामों का भोक्ता भी है। यदि वह उन सब परिणामों को इस जीवन में नहीं भोग पाता है, तो वह उन परिणामों को भोगने के लिए भावी जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त से पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी फलित होता है।

३. साथ ही इन परिणामों के भोग के लिए इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् दूसरा शरीर ग्रहण करनेवाला कोई स्थायी तत्त्व भी होना चाहिए। इस प्रकार नैतिक कृत्यों के अनिवार्य फलभोग के साथ आत्मा की अमरता का सिद्धान्त जुड़ जाता है। यदि कर्म-सिद्धान्त की मान्यता के साथ आत्मा की अमरता स्वीकार नहीं की जाती है, तो जैन विचारकों की दृष्टि में कृतप्रणाश और अकृतभोग के दोष उपस्थित होते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा की अमरता या नित्यता की धारणा के अभाव में कर्म-सिद्धान्त काफी निर्बल पड़ जाता है। इस प्रकार आत्मा की अमरता की धारणा कर्म-सिद्धान्त की अनिवार्य फलश्रुति है।

---

१. भगवतीसूत्र, १।२।६४.

२. संयुत्तनिकाय, १२।१७.

४. कर्म-सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि आचार के क्षेत्र में शुभ और अशुभ ऐसी दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं। साथ ही शुभ प्रवृत्ति का फल शुभ और अशुभ प्रवृत्ति का फल अशुभ होता है।

५. कर्म-सिद्धान्त चेतन आत्म-तत्त्व को प्रभावित करनेवाली प्रत्येक घटना एवं अनुभूति के कारण की खोज बाह्य जगत् में नहीं करता, वरन् आन्तरिक जगत् में करता है। वह स्वयं चेतना में ही उसके कारण को खोजने की कोशिश करता है।

§ ३. कर्म-सिद्धान्त का उद्भव

कर्म-सिद्धान्त का उद्भव कैसे हुआ, यह विचारणीय विषय है। भारतीय चिन्तन की जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में कर्म-सिद्धान्त का विकास तो हुआ है, लेकिन उसके सर्वांगीण विकास का श्रेय जैन परम्परा को ही है। पं० सुखलालजी का कथन है कि 'यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में कर्मसम्बन्धी विचार हैं, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रंथ उस साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। उसके विपरीत जैन दर्शन में कर्मसम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति विस्तृत है।'[1] वैदिक परम्परा की प्रारम्भिक अवस्था में उपनिषद्काल तक कोई ठोस कर्म-सिद्धान्त नहीं बन पाया था, यद्यपि वैदिक साहित्य में ऋत् के रूप में उसका अस्पष्ट निर्देश अवश्य उपलब्ध है। प्रो० मालवणिया का कथन है कि 'आधुनिक विद्वानों में इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि उपनिषदों के पूर्वकालीन वैदिक साहित्य में कर्म या अदृष्ट की कल्पना का स्पष्ट रूप दिखाई नहीं देता। कर्म कारण है ऐसा वाद भी उपनिषदों का सर्वसम्मतवाद हो, यह भी नहीं कहा जा सकता।'[2] वैदिक साहित्य में ऋत के नियम को स्वीकार किया गया है, लेकिन उसकी विस्तृत व्याख्या उसमें उपलब्ध नहीं है। पूर्व युग में जिन विचारकों ने इस वैचित्र्यमय सृष्टि, वैयक्तिक विभिन्नताओं, व्यक्ति की विभिन्न सुखद-दुःखद अनुभूतियों तथा सद्-असद् प्रवृत्तियों का कारण जानने का प्रयास किया था, उनमें से अधिकांश ने इस कारण की खोज बाह्य तथ्यों में की। उनके इन प्रयासों के फलस्वरूप विभिन्न धाराएँ उद्भूत हुईं।

§ ४. कारण सम्बन्धी विभिन्न मान्यताएँ

श्वेताश्वतरोपनिषद्, सूत्रकृतांग, अंगुत्तरनिकाय, महाभारत के शान्तिपर्व तथा गीता में इन विविध विचारधाराओं के सन्दर्भ उपलब्ध हैं। उनमें कुछ प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

१. **कालवाद**—समग्र जागतिक तथ्यों, वैयक्तिक विभिन्नताओं तथा व्यक्ति के सुख-दुःख एवं क्रियाकलापों का एकमात्र कारण काल है।

२. **स्वभाववाद**—जो भी घटित होता है या होगा, उसका आधार वस्तु का अपना स्वभाव है। स्वभाव का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

---

१. दर्शन और चिन्तन, पृ० २१९.
२. आत्ममीमांसा, पृ० ८०.

३. **नियतिवाद**—घटनाओं का घटित होना पूर्वनियत है और वे उसी रूप में घटित होती है। उन्हें कोई कभी भी अन्यथा नहीं कर सकता। जैसा होना होता है, वैसा ही होता है।

४. **यदृच्छावाद**—जगत की किसी भी घटना का कोई भी नियत हेतु नहो है, उसका घटित होना मात्र एक संयोग (chance) है। इस प्रकार यह संयोग पर बल देता है तथा अहेतुवादी धारणा का प्रतिपादन करता है।

५. **महाभूतवाद**—यह भौतिकवादी धारणा है। इसके अनुसार पृथ्वी, अग्नि, वायु और पानी ये चारों महाभूत ही मूलभूत कारण है, सभी कुछ इनके विभिन्न संयोगों का परिणाम है।

६. **प्रकृतिवाद**—प्रकृतिवाद त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही समग्र जागतिक विकास तथा मानवीय सुख-दुःख एवं बन्धन का कारण मानता है।

७. **ईश्वरवाद**—इसके अनुसार ईश्वर ही जगत् का रचयिता एवं नियन्ता है। जो भी कुछ होता है वह सब उसी की इच्छा का परिणाम है।

जैन और बौद्ध आगमों मे एवं औपनिषदिक साहित्य में इन सभी मान्यताओं की आलोचना की गयी है। यह समालोचना ही एक व्यवस्थित कर्म-सिद्धान्त की स्थापना का आधार बनी है। डा० नथमल टाँटिया के शब्दों में सृष्टि सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं के विरोध मे ही कर्मसिद्धान्त का विकास हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।[1]

§ ५ औपनिषदिक दृष्टिकोण

औपनिषदिक साहित्य मे सर्वप्रथम इन विविध मान्यताओं की समीक्षा की गयी है। जहाँ पूर्ववर्ती ऋषियों ने जगत् के वैचित्र्य एवं वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण किन्हीं बाह्य तत्त्वों को मानकर सन्तोष किया होगा, वहाँ औपनिषदिक ऋषियों ने इन मान्यताओं की समीक्षा के द्वारा आन्तरिक कारण खोजने का प्रयास किया। श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठाया गया है कि हम किसके द्वारा सुख-दुःख में प्रेरित होकर संसार-यात्रा (व्यवस्था) का अनुवर्तन कर रहे है? ऋषि यह जिज्ञासा प्रकट करता है कि क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि (प्रकृति), पुरुष एवं इनका संयोग कारण है? इस पर विचार करना चाहिए। ऋषि का कहना कि काल स्वभाव आदि कारण नहीं हो सकते, न इनका संयोग ही कारण हो सकता है; क्योंकि इनमें से प्रत्येक तथा इनका संयोग सभी आत्मा से 'पर' है, अतः इनका आत्मा से तादात्म्यभाव नहीं माना जा सकता। जीवात्मा भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो स्वयं सुख-दुःख के अधीन है।[2] श्वेताश्वतर भाष्य मे काल, स्वभाव आदि के कारण न हो सकने के सम्बन्ध में यह भी तर्क दिया गया है कि कालादि में

---

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२०.

२. श्वताश्वतरोपनिषद्, १।१–२.

से प्रत्येक अलग-अलग रूप में कारण नहीं माने जा सकते, ऐसा मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है, क्योंकि लोक में कालादि निमित्तों के परस्पर मिलने पर ही कार्य होते देखा जाता है।[१]

कर्म-सिद्धान्त की उद्भावना में औपनिषदिक चिन्तन का योगदान यह है कि उसमें तत्कालीन काल, स्वभाव, नियति आदि सिद्धान्तों की अपूर्णता को अभिव्यक्त करने का प्रयास मात्र किया गया। उसने न केवल इनका निषेध किया, वरन् इनके स्थान पर ईश्वर (ब्रह्म) को कारण मानने का प्रयास किया। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि कुछ बुद्धिमान् तो स्वभाव को कारण बतलाते हैं और कुछ काल को। किन्तु ये मोहग्रस्त हैं (अतः ठीक नहीं जानते)। यह भगवान् की महिमा ही है, जिससे लोक में यह ब्रह्मचक्र घूम रहा है।[२] लेकिन वह ब्रह्म भी पूर्वकथित विभिन्न कारणों का अधिष्ठान ही बन सका, कारण नहीं।[३] भाष्यकार कहते हैं कि ब्रह्म न कारण है, न अकारण, न कारण-अकारण उभयरूप है, न दोनों से भिन्न है। अद्वितीय परमात्मा का कारणत्व उपादान अथवा निमित्त स्वतः कुछ भी नहीं है। इस प्रकार औपनिषदिक चिन्तन में कारण क्या है ? यह निश्चय नही हो सका।

गीता का दृष्टिकोण

गीता में कालवाद, स्वभाववाद, प्रकृतिवाद, दैववाद एवं ईश्वरवाद के संकेत मिलते हैं। गीताकार इन सब सिद्धान्तों को यथावसर स्वीकार करके चलता है। वह कभी काल को, कभी प्रकृति को, कभी स्वभाव को, तो कभी पुरुष अथवा ईश्वर को कारण मानता है।[४] यद्यपि गीताकार पूर्ववर्ती विचारकों से इस बात में तो भिन्न है कि इनमें से वह किसी एक ही सिद्धान्त को मानकर नहीं चलता, वरन् यथावसर सभी के मूल्य को स्वीकार करके चलता है; तथापि उसमें स्पष्ट समन्वय का अभाव-सा लगता है और इस तरह सभी सिद्धान्त पृथक् से रह जाते हैं। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गीताकार अन्तिम कारण के रूप में ईश्वर को ही स्वीकार करता है।

बौद्ध दृष्टिकोण

श्रमण-परम्परा में इन विभिन्न वादों का निराकरण किया गया एवं ब्रह्म के स्थान पर कर्म को ही इसका कारण माना गया। बुद्ध और महावीर दोनों ने कर्म को ही ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और जगत् के वैचित्र्य का कारण कर्म है, ऐसी उद्घोषणा की। ईश्वरवादी दर्शनों में जो स्थान ईश्वर का है, वही स्थान बौद्ध और जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त ने ले लिया है।

१. श्वेताश्वेतर (भा०), १।२.
२. वही, ६।१.
३. वही, १।३.
४. गीता, ८।२३, ५।१४, ३।८, १८।६१.

अंगुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध ने विभिन्न कारणतावादी और अकारणतावादी दृष्टिकोणों की समीक्षा की है।[१] जगत् के व्यवस्था-नियम के रूप में बुद्ध स्पष्टरूप से कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। सुत्तनिपात में स्वयं बुद्ध कहते हैं, किसी का कर्म नष्ट नहीं होता। कर्ता उसे प्राप्त करता ही है। पापकर्म करनेवाला परलोक में अपने को दुःख में पड़ा पाता है। संसार कर्म से चलता है, प्रजा कर्म से चलती है। रथ का चक्र जिस प्रकार आणी से बँधा रहता है उसी प्रकार प्राणी कर्म से बँधे रहते हैं।[२] बौद्ध मन्तव्य को आचार्य नरेन्द्रदेव निम्न शब्दों में प्रस्तुत करते हैं, जीव-लोक और भाजन-लोक (विश्व) की विचित्रता ईश्वरकृत नहीं है। कोई ईश्वर नहीं है जिसने बुद्धिपूर्वक इसकी रचना की हो। लोकवैचित्र्य कर्मज है, यह सत्त्वों के कर्म से उत्पन्न होता है।[3] बौद्ध विचार में प्रकृति एवं स्वभाव को मात्र भौतिक जड़-जगत् का कारण माना गया है। बुद्ध स्पष्ट रूप से कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। बुद्ध से शुभ माणवक ने प्रश्न किया था, 'हे गौतम, क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, कि मनुष्य होते हुए भी मनुष्य रूप वाले में हीनता और उत्तमता दिखाई पड़ती है ? हे गौतम, यहाँ मनुष्य अल्पायु देखने में आते है और दीर्घायु भी; बहुरोगी भी अल्परोगी भी; कुरूप भी रूपवान् भी; दरिद्र भी धनवान भी; निर्बुद्धि भी प्रज्ञावान् भी। हे गौतम, क्या कारण है कि यहाँ प्राणियों में इतनी हीनता और प्रणीतता (उत्तमता) दिखाई पड़ती है ?' भगवान् बुद्ध ने जो इसका उत्तर दिया है वह बौद्ध धर्म में कर्मवाद के स्थान को स्पष्ट कर देता है। वे कहते हैं, हे माणवक प्राणी कर्मस्वयं (कर्म ही जिनका अपना), कर्म-दायाद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु और कर्मप्रतिशरण है। कर्म ही प्राणियों को इस हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है।[४] बौद्ध दर्शन में कर्म को चैत्तसिक प्रत्यय के रूप स्वीकार किया गया है और यह माना गया है कि कर्म के कारण ही आचार, विचार एवं स्वरूप की यह विविधता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने कर्म को कारण मान कर प्राणियों की हीनता एवं प्रणीतता का उत्तर तो बड़े ही स्पष्ट रूप में दिया है, फिर भी यह कर्म का नियम किस प्रकार अपना कार्य करता है, इसका काल-स्वभाव आदि से क्या सम्बन्ध है, इसके बारे में उसमें इतना अधिक विस्तृत विवेचन नहीं है जितना कि जैन दर्शन में है।

जैन दृष्टिकोण

जैन दर्शन में भी कारणता सम्बन्धी इन विविध सिद्धान्तों की समीक्षा की गयी है। सूत्रकृतांग एवं उसके परवर्ती जैन साहित्य में इनमें से अधिकांश विचारणाओं की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है। यहाँ विस्तार में न जाकर उन समीक्षाओं की

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।६१.
२. सुत्तनिपात वासेट्ठसुत्त, ६०-६१.
३. बौद्ध धर्मदर्शन, पृ० २५०.
४. मज्झिमनिकाय, ३।४५.

सारभूत बातों को प्रस्तुत करना ही पर्याप्त है। सामान्यतया व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूति का आधार काल नहीं हो सकता, क्योंकि यदि काल ही एकमात्र कारण है तो एक ही समय में एक व्यक्ति सुखी और दूसरा व्यक्ति दुःखी नहीं हो सकता। फिर अचेतन काल हमारी सुख-दुःखात्मक चेतन अवस्थाओं का कारण कैसे हो सकता है ? यदि यह मानें कि व्यक्ति की सद्-असद् प्रवृत्तियों का कारण या प्रेरक तत्त्व स्वभाव है और हम उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं, तो नैतिक सुधार, नैतिक प्रगति कैसे होगी ? दस्यु अंगुलिमाल भिक्षु अंगुलिमाल में नहीं बदल सकेगा। नियतिवाद को स्वीकारक रने पर भी जीवन में प्रयत्न या पुरुषार्थ का कोई मूल्य नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार ईश्वर को ही प्रेरक या कारण मानने पर व्यक्ति की शुभाशुभ प्रवृत्तियों के लिए प्रशंसा या निन्दा का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। यदि ईश्वर ही वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण है तो फिर वह न्यायी नहीं कहा जा सकेगा। पूर्व-निर्देशित इन विभिन्न वादों में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद और ईश्वरवाद इसलिए भी अस्वीकार्य हैं कि इनमें कारण को बाह्य माना गया, लेकिन कारण प्रत्यय को जीवात्मा से बाह्य मानने पर निर्धारणवाद मानना पड़ेगा और निर्धारणवाद या आत्मा की चयन सम्बन्धी परतन्त्रता में नैतिक उत्तरदायित्व का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। प्रकृति-वाद को मानने पर आत्मा को अक्रिय या कूटस्थ मानना पड़ेगा, जो नैतिक मान्यता के अनुकूल सिद्ध नही होगा। उसमें आत्मा के बन्धन और मुक्ति की व्याख्या सम्भव नहीं। महाभूतों को कारण मानने पर देहात्मवाद या उच्छेदवाद को स्वीकार करना होगा, लेकिन आत्मा के स्थायी अस्तित्व के अभाव में कर्मफल व्यतिक्रम और नैतिक प्रगति की धारणा का कोई अर्थ नहीं रहेगा। कृतप्रणाश और अकृतभोग की समस्या उत्पन्न हो जायेगी, साथ ही भौतिकवादी दृष्टि भोगवाद की ओर प्रवृत्त करेगी और जीवन के उच्च मूल्यों का कोई अर्थ नहीं रहेगा। यदृच्छावाद को स्वीकार करने पर सबकुछ संयोग पर निर्भर होगा, लेकिन संयोग या अहेतुकता भी नैतिक जीवन की दृष्टि से समीचीन नहीं है। नैतिक जीवन में एक व्यवस्था तथा क्रम है, जिसे अहेतुवादी नहीं समझा सकता।

इन सभी सिद्धान्तों की उपर्युक्त अक्षमताओं को ध्यान में रखते हुए जैन दर्शन ने कर्म-सिद्धान्त की स्थापना की। जैन विचारधारा ने संसार की प्रक्रिया को अनादि मानते हुए जीवों के सुख-दुःख एवं उनकी वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण कर्म को माना। भगवतीसूत्र में महावीर स्पष्ट कहते हैं कि जीव स्वकृत सुख-दुःख का भोग करता है, परकृत का नहीं।[1] फिर भी जैन कर्म-सिद्धान्त की विशेषता यह है कि वह अपने कर्म-सिद्धान्त में उपर्युक्त विभिन्न मतों को यथोचित स्थान दे देता है। जैन कर्म-सिद्धान्त में कालवाद का स्थान इस रूप में है कि कर्म का फलदान उसके विपाक-काल पर ही निर्भर होता है। प्रत्येक कर्म को अपने विपाक की दृष्टि से एक नियत काल-

१. भगवतीसूत्र, १।२।६४.

मर्यादा होती है और सामान्यतया कर्म उस नियत समय पर ही अपना फल प्रदान करता है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्म का नियत स्वभाव होता है। कर्म अपने स्वभाव के अनुसार ही फल प्रदान करता है, सामान्यतया इस धारणा को यह कहकर भी प्रकट किया जा सकता है कि व्यक्ति अपने आचरण के द्वारा एक विशेष चरित्र (स्वभाव) का निर्माण कर लेता है। वही व्यक्ति का चरित्र उसके भावी आचरण को नियत करता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वभाव के आधार पर ही व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है। पूर्व-अर्जित कर्म ही व्यक्ति की नियति बन जाते हैं। इस अर्थ में कर्म-सिद्धान्त में नियति का तत्त्व भी प्रविष्ट है। कर्म के निमित्त कारण के रूप में कर्मपरमाणुओं को स्थान देकर कर्म-सिद्धान्त भौतिक तत्त्व के मूल्य को भी स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त में व्यक्ति की कर्म की चयनात्मक स्वतन्त्रता को स्वीकार कर यदृच्छावादी धारणा को भी स्थान दिया गया है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति स्वयं ही अपना निर्माता, नियन्ता और स्वामी है। इस रूप में वह स्वयं ही ईश्वर भी है। इस प्रकार जैन-दर्शन अनेक एकांगी धारणाओं के समुचित समन्वय के आधार पर अपना कर्म-सिद्धान्त प्रस्तुत करता है।

§ ६. जैन दर्शन का समन्वयवादी दृष्टिकोण

जैन आचार्यों ने काल, स्वभाव आदि सम्बन्धी विभिन्न कारकों और पुरुषार्थ के समन्वय में आचारदर्शन के एक सच्चे सिद्धान्त की खोज करने का प्रयास किया है। आचार्य सिद्धसेन का कहना है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकर्म और पुरुषार्थ परस्पर निरपेक्ष रूप में कार्य की व्याख्या करने में अयथार्थ बन जाते हैं, जबकि यही सिद्धान्त परस्पर सापेक्ष रूप में समन्वित होकर कार्य की व्याख्या करने में सफल हो जाते हैं।[1]

गीता के द्वारा जैन दृष्टिकोण का समर्थन

गीता में जैन दर्शन के इस समन्वयवादी दृष्टिकोण का समर्थन प्राप्त होता है। गीता कहती है कि मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो भी उचित और अनुचित कर्म करता है उसके कारण के रूप में अधिष्ठान, कर्त्ता, इन्द्रियाँ, विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ और दैव यह पाँचों ही कारण होते हैं।[2]

वस्तुतः मानवीय व्यवहार की प्रेरणा एवं आचरण के रूप में विभिन्न नियतिवादी तत्त्व और मनुष्य का पुरुषार्थ दोनों ही कार्य करते हैं। इन दोनों के समन्वय के द्वारा ही नैतिक उत्तरदायित्व एवं नैतिक जीवन के प्रेरक की सफल व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म-सिद्धान्त हमें एक ऐसा प्रत्यय देता है जिसमें विभिन्न कारकों का सुन्दर समन्वय खोजा जा सकता है और जो नैतिकता के लिए सम्यक् जीवनदृष्टि प्रदान करता है।

१. सन्मति प्रकरण, ३।५३.
२. गीता, १८।१४.

§ ७. 'कर्म' शब्द का अर्थ

'कर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं। साधारणतः 'कर्म' शब्द का अर्थ 'क्रिया' है, प्रत्येक प्रकार की हलचल, चाहे वह मानसिक हो अथवा शारीरिक, क्रिया कही जाती है।

गीता में कर्म शब्द का अर्थ

मीमांसादर्शन में कर्म का तात्पर्य यज्ञ-याग आदि क्रियाओं से है जबकि गीता वर्णाश्रम के अनुसार किये जानेवाले स्मार्त-कार्यों को भी कर्म कहती है। तिलक के अनुसार गीता में कर्म शब्द केवल यज्ञ-याग एवं स्मार्त कर्म के ही संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, वरन् सभी प्रकार के क्रिया-व्यापारों के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] मनुष्य जो कुछ भी करता है, जो भी कुछ नहीं करने का मानसिक संकल्प या आग्रह रखता है वे सभी कायिक एवं मानसिक प्रवृत्तियाँ भगवद्गीता के अनुसार कर्म ही हैं।[2]

बौद्ध दर्शन में कर्म का अर्थ

बौद्ध विचारकों ने भी कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया के अर्थ में किया है। वहाँ भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं को कर्म कहा गया है, जो अपनी नैतिक शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार कुशल कर्म अथवा अकुशल कर्म कहे जाते हैं। बौद्ध दर्शन में यद्यपि शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, फिर भी वहाँ केवल चेतना को प्रमुखता दी गयी है और चेतना को ही कर्म कहा गया है। बुद्ध ने कहा है, 'चेतना ही भिक्षुओ कर्म है ऐसा मैं कहता हूँ, चेतना के द्वारा ही कर्म को करता है काया से, वाणी से या मन से।'[3] यहाँ पर चेतना को कर्म कहने का आशय केवल यही है कि चेतना के होने पर ही ये समस्त क्रियाएँ सम्भव हैं। बौद्ध दर्शन में चेतना को ही कर्म कहा गया है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है, कि दूसरे कर्मों का निरसन किया गया है। उसमें कर्म के सभी पक्षों का सापेक्ष महत्त्व स्वीकार किया गया है। आश्रय, स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से तीनों प्रकार के कर्मों का अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। आश्रय की दृष्टि से कायकर्म ही प्रधान है क्योंकि मनकर्म और वाचाकर्म भी काया पर ही आश्रित हैं। स्वभाव की दृष्टि से वाक्कर्म ही प्रधान है, क्योंकि काय और मन स्वभावतः कर्म नहीं है, कर्म उनका स्वस्वभाव नहीं है। यदि समुत्थान (आरम्भ) की दृष्टि से विचार करें तो मनकर्म ही प्रधान है, क्योंकि सभी कर्मों का आरम्भ मन से है। बौद्ध दर्शन में समुत्थान कारण को प्रमुखता देकर ही यह कहा गया है कि चेतना ही कर्म है। साथ ही इसी आधार पर कर्मों का एक द्विविध वर्गीकरण किया गया है—१. चेतना कर्म और २. चेतयित्वा कर्म। चेतना

१. गीतारहस्य, पृ० ५५-५६.
२. गीता ५।८-११.
३. अंगुत्तरनिकाय-उद्धृत बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४६३.

मानस-कर्म है और चेतना से उत्पन्न होने के कारण शेष दोनों वाचिक और कायिक कर्म चेतयित्वा कर्म कहे गये है।[1] इस प्रकार हम देखते है कि यद्यपि कर्म शब्द क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है, लेकिन कर्म-सिद्धान्त मे कर्म शब्द का अर्थ क्रिया से अधिक विस्तृत है। वहाँ पर कर्म शब्द मे शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रिया, उस क्रिया का विशुद्ध चेतना पर पड़नेवाला प्रभाव एवं इस प्रभाव के फलस्वरूप भावी क्रियाओं का निर्धारण और उन भावी क्रियाओं के कारण उत्पन्न होनेवाली अनुभूति सभी समाविष्ट हो जाती है। साधारण रूप मे कर्म शब्द से क्रिया, क्रिया का उद्देश्य और उसका फलविपाक तीनो ही अर्थ लिये जाते है। कर्म मे क्रिया का उद्देश्य, क्रिया और उसके फलविपाक तक के सारे तथ्य सन्निहित है। आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते है, 'केवल चेतना (आशय) और कर्म ही सकल कर्म नही है। (उसमे) कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा।'[2]

जैन दर्शन में कर्म शब्द का अर्थ

सामान्यतया क्रिया को कर्म कहा जाता है; क्रियाएँ तीन प्रकार की है—१. शारीरिक, २. मानसिक और ३ वाचिक। शास्त्रीय भाषा मे इन्हे 'योग' कहा गया है। लेकिन जैन परम्परा मे कर्म का यह क्रियापरक अर्थ कर्म शब्द की एक आंशिक व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। उसमे क्रिया के हेतु पर भी विचार किया गया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि कर्म की परिभाषा मे लिखते हैं, जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है।[3] प० सुखलालजी कहते है कि मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही कर्म कहलाता है।[4] इस प्रकार वे कर्म हेतु और क्रिया दोनों को ही कर्म के अन्तर्गत ले जाते हैं। जैन परम्परा मे कर्म के दो पक्ष है—(१) राग-द्वेष, कषाय आदि मनोभाव और (२) कर्मपुद्गल। कर्मपुद्गल क्रिया का हेतु है और रागद्वेषादि क्रिया है। कर्मपुद्गल से तात्पर्य उन जड़ परमाणुओं (शरीर-रासायनिक तत्त्वों) से है जो प्राणी की किसी क्रिया के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होकर, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर कर्मशरीर की रचना करते है और समय-विशेष के पकने पर अपने फल (विपाक) के रूप मे विशेष प्रकार की अनुभूतियाँ उत्पन्न कर अलग हो जाते है। इन्हे द्रव्य-कर्म कहते है। संक्षेप में जैन विचार मे कर्म का तात्पर्य आत्मशक्ति को प्रभावित और कुंठित करनेवाले तत्त्व से है।

सभी आस्तिक दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है जो आत्मा या चेतना की शुद्धता को प्रभावित करती है। जैन दर्शन उसे 'कर्म' कहता है। वही सत्ता वेदान्त मे माया या अविद्या, सांख्य मे प्रकृति, न्यायदर्शन मे अदृष्ट और मीमासा में

१. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २४९.
२. वही, पृ० २५५.
३. कर्मविपाक (कर्मग्रन्थ पहला), १.
४. दर्शन और चिन्तन, पृ० २२५.

अपूर्व के नाम से कही गयी है। बौद्ध दर्शन में वही कर्म के साथ-साथ अविद्या, संस्कार और वासना के नाम से जानी जाती है। न्यायदर्शन में अदृष्ट और संस्कार तथा वैशेषिक दर्शन के धर्माधर्म भी जैन दर्शन के कर्म के समानार्थक हैं। सांख्यदर्शन में प्रकृति (त्रिगुणात्मक सत्ता) और योगदर्शन में आशय शब्द भी इसी अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। शैव दर्शन का 'पाश' शब्द भी जैन दर्शन के कर्म का समानार्थक है। यद्यपि उपर्युक्त शब्द कर्म के पर्यायवाची कहे जा सकते हैं; फिर भी प्रत्येक शब्द अपने गहन विश्लेषण में एक-दूसरे से पृथक् अर्थ की अभिव्यंजना भी करता है। फिर भी सभी विचारणाओं में यह समानता है कि सभी कर्म-संस्कार को आत्मा का बन्धन या दुःख का कारण स्वीकार करते हैं। जैन धर्म दो प्रकार के कारण मानता है—१. निमित्त कारण और २. उपादान कारण। कर्म-सिद्धान्त में कर्म के निमित्त कारण के रूप में कर्म-वर्गणा तथा उपादान कारण के रूप में आत्मा को स्वीकार किया गया है।

§ ८. कर्म का भौतिक स्वरूप

जैन दर्शन में बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया की व्याख्या बिना अजीव (जड़) तत्त्व के विवेचन के सम्भव नहीं। आत्मा के बन्धन का कारण क्या है ? जब यह प्रश्न जैन दार्शनिकों के समक्ष आया, तो उन्होंने बताया कि आत्मा के बन्धन का कारण मात्र आत्मा नहीं हो सकता। पारमार्थिक दृष्टि से विचार किया जाये तो आत्मा में स्वतः के बन्धन में आने का कोई कारण नहीं है। जैसे बिना कुम्हार, चाक आदि निमित्तों के मिट्टी स्वतः घट का निर्माण नहीं कर सकती, वैसे ही आत्मा स्वतः बिना किसी बाह्य निमित्त के कोई भी ऐसी क्रिया नहीं कर सकता जो उसके बन्धन का कारण हो। वस्तुतः क्रोध आदि कषाय, राग, द्वेष एवं मोह आदि बन्धक मनोवृत्तियाँ भी आत्मा में स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकतीं जब तक कि वे कर्मवर्गणाओं के विपाक के रूप में चेतना के समक्ष उपस्थित नहीं होतीं। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहा जावे तो जिस प्रकार शरीररसायनों और रक्तरसायनों के परिवर्तन हमारे संवेगों (मनोभावों) का कारण होते हैं और संवेगों के कारण हमारे रक्तरसायन और शरीररसायन में परिवर्तन होते हैं, दोनों परिवर्तन परस्पर सापेक्ष हैं, उसी प्रकार कर्म के लिए आत्मतत्त्व और जड़ कर्म वर्गणाएँ परस्पर सापेक्ष हैं। जड़ कर्म वर्गणाओं के कारण मनोभाव उत्पन्न होते हैं और उन मनोभावों के कारण पुनः जड़ कर्म परमाणुओं का आस्रव एवं बन्ध होता है जो अपनी विपाक अवस्था में पुनः मनोभावों (कषायों) का कारण बनते हैं। इस प्रकार मनोभावों (आत्मिक प्रवृत्ति) और जड़ कर्म परमाणुओं के परस्पर प्रभाव का क्रम चलता रहता है। जैसे वृक्ष और बीज में पारस्परिक सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा के बन्धन की दृष्टि से आत्मा की अशुद्ध मनोवृत्तियों (कषाय एवं मोह) और कर्म परमाणुओं में पारस्परिक सम्बन्ध है। जड़ कर्म परमाणु और आत्मा में बन्धन की दृष्टि से क्रमशः निमित्त और उपादान का सम्बन्ध माना गया है। कर्म-पुद्गल बन्धन का निमित्त कारण है और आत्मा उपादान कारण है।

जैन विचारक एकान्त रूप मे न तो आत्मा को ही बन्धन का कारण मानते है और न जड़ कर्म वर्गणाओं को, अपितु यह मानते है कि जड़ कर्म वर्गणाओं के निमित्त से आत्मा बन्ध करता है।

द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म

कर्म के द्रव्यात्मक और भावात्मक ये दो पक्ष है। प्रत्येक कर्म-संकल्प के हेतु के रूप मे विचारक (उपादान कारण) और उस विचार का प्रेरक (निमित्त कारण) दोनों ही आवश्यक है। आत्मा के मानसिक विचार भाव-कर्म है और ये मनोभाव जिस निमित्त से होते है या जो इनका प्रेरक है वह द्रव्य कर्म है। कर्म के चेतन-अचेतन पक्षों की व्याख्या करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र लिखते है, 'पुद्गल-पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसकी चेतना को प्रभावित करनेवाली शक्ति भाव-कर्म है।'[1] कर्म-सिद्धान्त की समुचित व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि कर्म के आकार (form) और विषय-वस्तु (matter) दोनों ही हों। जड़-कर्म परमाणु-कर्म की विषयवस्तु है, और मनोभाव उसके आकार है। हमारे सुख-दुःखादि अनुभवों अथवा शुभाशुभ कर्मसंकल्पों के लिए कर्म परमाणु भौतिक कारण हैं और मनोभाव चैतसिक कारण है। आत्मा में जो मिथ्यात्व (अज्ञान) और कषाय (अशुचित वृत्ति) रूप, राग, द्वेष आदि भाव हैं वही भाव-कर्म है। भाव-कर्म आत्मा का वैभाविक परिणाम (दूषित वृत्ति) है और स्वयं आत्मा ही उसका उपादान है। भाव-कर्म का आन्तरिक कारण आत्मा है, जैसे घट का आन्तरिक (उपादान) कारण मिट्टी है। द्रव्य कर्म सूक्ष्म कार्मण जाति के परमाणुओं का विकार है और आत्मा उनका निमित्त कारण है, जैसे कुम्हार घड़े का निमित्त कारण है। आचार्य विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री में द्रव्यकर्म को 'आवरण' और भाव-कर्म को 'दोष' के नाम से अभिहित किया है। चूंकि द्रव्य-कर्म आत्म-शक्तियों के प्रकटन को रोकता है, अतः वह 'आवरण' है और भाव-कर्म स्वयं आत्मा की ही विभावावस्था है, अतः वह 'दोष' है। जिस प्रकार जैन दर्शन में कर्म के आवरण और दोष दो कार्य होते हैं, उसी प्रकार वेदान्त में माया के दो कार्य माने गये हैं—आवरण और विक्षेप। जैनाचार्यों ने आवरण और दोष अथवा द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म के मध्य कार्य-कारण भाव स्वीकार किया है।[2] जैन कर्मसिद्धान्त में मनोविकारों का स्वरूप कर्म-परमाणुओं की प्रकृति पर निर्भर करता है और कर्म-परमाणुओं की प्रकृति का निर्धारण मनोविकारों के आधार पर होता है। इस प्रकार जैन धर्म में कर्म के चेतन और अचेतन दोनों पक्षों को स्वीकार किया गया है जिसे वह अपनी पारिभाषिक शब्दावली में द्रव्यकर्म और भावकर्म कहता है।

जैसे किसी कार्य के लिए निमित्त और उपादान दोनों कारण आवश्यक हैं, वैसे ही जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा (जीव) के प्रत्येक कर्मसंकल्प के लिए उपादान-

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, ६.
२. अष्टसहस्री, पृ० ५१; उद्धृत—स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२७.

रूप में भावकर्म (मनोविकार) और निमित्तरूप में द्रव्यकर्म (कर्म-परमाणु) दोनों आवश्यक है। जड़ परमाणु ही कर्म का भौतिक या अचित् पक्ष है और जड़ कर्म-परमाणुओं से प्रभावित विकारयुक्त चेतना की अवस्था कर्म का चैत्तसिक पक्ष है। जैन दर्शन के अनुसार जीव की जो शुभाशुभरूप नैतिक प्रवृत्ति है, उसका मूल कारण तो मानसिक (भावकर्म) है लेकिन उन मानसिक वृत्तियों के लिए जिस बाह्य कारण की अपेक्षा है वही द्रव्य-कर्म है। इसे हम व्यक्ति का परिवेश कह सकते हैं। मनोवृत्तियों, कषायों अथवा भावों की उत्पत्ति स्वतः नहीं हो सकती, उसका भी कारण अपेक्षित है। सभी भाव जिस निमित्त की अपेक्षा करते हैं, वही द्रव्य-कर्म है। इसी प्रकार जब तक आत्मा में कषायों (मनोविकार) अथवा भावकर्म की उपस्थिति नहीं हो, तब तक कर्म-परमाणु जीव के लिए कर्मरूप में (बन्धन के रूप में) परिणत नहीं हो सकते। इस प्रकार कर्म के दोनों पक्ष अपेक्षित है।

द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म का सम्बन्ध

पं० सुखलालजी लिखते हैं कि भाव-कर्म के होने मे द्रव्य-कर्म निमित्त है और द्रव्य-कर्म मे भाव-कर्म निमित्त; दोनों का आपस में बीजांकुर की तरह कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है।[1] इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म के चेतन और जड़ दोनों पक्षों में बीजांकुर-वत् पारस्परिक कार्यकारणभाव माना गया है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनता है और उनमें किसी को भी पूर्वापर नहीं कहा जा सकता, वैसे ही द्रव्यकर्म और भावकर्म में भी किसी पूर्वापरता का निश्चय नहीं किया जा सकता। यद्यपि प्रत्येक द्रव्यकर्म की अपेक्षा से उसका भावकर्म पूर्व होगा और प्रत्येक भावकर्म के लिए उसका द्रव्यकर्म पूर्व होगा। वस्तुतः इनमें सन्तति अपेक्षा से अनादि कार्य-कारण भाव है। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं कि भावकर्म के होने में पूर्वबद्ध द्रव्य-कर्म निमित्त है और वर्तमान में बध्यमान द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है। दोनों में निमित्त नैमित्तिक रूप कार्यकारण सम्बन्ध है।[2]

(ब) बौद्ध दृष्टिकोण एवं उसकी समीक्षा

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि कर्मों के भौतिक पक्ष को क्यों स्वीकार करें? बौद्ध दर्शन कर्म के चैत्तसिक पक्ष को ही स्वीकार करता है और यह मानता है कि बन्धन के कारण अविद्या, वासना, तृष्णादि चैत्तसिक तत्त्व ही हैं। डॉ० टाटिया इस सन्दर्भ में जैन मत की समुचितता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि यह तर्क दिया जा सकता है कि क्रोधादि कषाय, जो आत्मा के बन्धन की स्थितियाँ हैं, वे आत्मा के ही गुण है और इसलिए आत्मा के गुणों (चैत्तसिक दशाओं) को आत्मा के बन्धन का कारण मानने में कोई कठिनाई नहीं आती है। लेकिन इस सम्बन्ध में जैन विचारकों का उत्तर यह होगा कि क्रोधादि कषाय अवस्थाएँ बन्ध की

---

१. कर्मविपाक, भूमिका, पृ० २४.

२. श्री अमर भारती, नव० १९६५, पृ० ९.

प्रकृतियाँ हैं, क्रोधादि कषाय अवस्था मे होना तो स्वतः ही आत्मा का बन्धन है, वे बन्धन की उपाधि (निमित्तकारण) नही हो सकती। कषाय बन्धन का सृजन करती है, लेकिन उनकी उपाधि (condition) तो अनिवार्यतया उनसे भिन्न होनी चाहिए। क्योंकि कषाय आदि आत्मा को वैभाविक अवस्थाएँ है, इसलिए उनका कारक या उपाधि (निमित्त) आत्मा के गुणो से भिन्न होना चाहिए और इस प्रकार कषाय और बन्धन की उपाधि या निमित्तकारण अनिवार्य रूप से भौतिक होना चाहिए। यदि बन्धन का कारण आन्तरिक और चैतमिक ही है और किसी बाह्य तत्त्व से प्रभावित नही होता तो फिर उससे मुक्ति का क्या अर्थ होगा।[1] जैन मत के अनुसार यदि बन्धन और बन्धन का कारण दोनो ही समान प्रकृति के है तो उपादान और निमित्त कारण का अन्तर ही समाप्त हो जावेगा। यदि कषाय आत्मा मे स्वतः ही उत्पन्न हो जाते है तो वे उसका स्वभाव ही होगे और यदि वे आत्मा का स्वभाव है तो उन्हे छोडा नही जा सकेगा और यदि उन्हे छोडना सम्भव नही तो मुक्ति भी सम्भव नही होगी। दूसरे जो स्वभाव है वह आन्तरिक एवं स्वतः है और यदि स्वभाव मे स्वतः बिना किसी बाह्य निमित्त के ही विकार आ सकता है, तो फिर बन्धन मे आने की सम्भावना सदैव बनी रहेगी और मुक्ति का कोई अर्थ ही नही रहेगा। यदि पानी मे स्वतः ही ऊष्णता उत्पन्न हो जावे तो शीतलता उसका स्वभाव नही हो सकता। आत्मा मे भी यदि मनोविकार स्वतः ही उत्पन्न हो सके तो वह निर्विकार नही रह सकता। जैन दर्शन यह मानता है कि ऊष्णता के सयोग से जिस प्रकार पानी स्वगुण शीतलता को छोड विकारी हो जाता है, वैसे ही आत्मा जड कर्म-परमाणुओं के सयोग से ही विकारी बनता है। कषायादि भाव आत्मा की विभावावस्था के सूचक है, वे स्वतः ही विभाव के कारण नही हो सकते। विभाव स्वत प्रसूत नही होता, उसका कोई बाह्य निमित्त अवश्य होना चाहिए। जैसे पानी को शीतलता की स्वभाव-दशा से ऊष्णता की विभावदशा मे परिवर्तित होने के लिए स्वस्वभाव से भिन्न अग्नि का संयोग (बाह्य निमित्त) आवश्यक है, वैसे ही आत्मा को ज्ञान-दर्शन रूप स्वस्वभाव का परित्याग कर कषायरूप विभावदशा को ग्रहण करने के लिए बाह्य निमित्त रूप कर्म-पुद्गलों का होना आवश्यक है। जैन विचारकों के अनुसार जड़ कर्म-परमाणु और चेतन आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के बिना विभावदशा या बन्धन कथमपि सम्भव नही।

बौद्ध विचारक यह भी मानते है कि अमूर्त चैत्तसिक तत्त्व ही अमूर्त चेतना को प्रभावित करते है। मूर्त जड (रूप) अमूर्त चेतन (नाम) को प्रभावित नही करता। लेकिन इस आधार पर जड़-चेतनमय जगत् या बौद्ध परिभाषा मे नाम-रूपात्मक जगत् की व्याख्या सभव नही है। यदि चैत्तसिक तत्त्वो और भौतिक तत्त्वो के मध्य कोई कारणात्मक सम्बन्ध स्वीकार नही किया जाता है, तो उनके सम्बन्धों से उत्पन्न इस

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२५-२६.

जगत् की तार्किक व्याख्या सम्भव नहीं होगी। विज्ञानवादी बौद्धों ने इसी कठिनाई से बचने के लिए भौतिक जगत् (रूप) का निरसन किया, लेकिन यह तो वास्तविकता से मुँह मोड़ना ही था। बौद्ध दर्शन कर्म या बन्धन के मात्र चैत्तसिक पक्ष को ही स्वीकार करता है। लेकिन थोड़ी अधिक गहराई से विचार करने पर दिखाई देता है कि बौद्ध दर्शन मे भी दोनों पक्ष मिलते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद मे विज्ञान (चेतना) तथा नाम-रूप के मध्य कारण-सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। मिलिन्दप्रश्न में तो स्पष्टरूप से कहा गया है कि नाम (चेतन पक्ष) और रूप (भौतिक पक्ष) अन्योन्याश्रयभाव से सम्बद्ध है।[1] वस्तुतः बौद्ध दर्शन भी नाम (चेतन) और रूप (भौतिक) दोनों के सहयोग से ही कार्य-निष्पत्ति मानता है। उसका यह कहना कि चेतना ही कर्म है, केवल इस बात का सूचक है कि कार्य-निष्पत्ति में चेतना सक्रिय तत्त्व के रूप में प्रमुख कारण है।

(ब) सांख्य-दर्शन और शांकरवेदान्त के दृष्टिकोण की समीक्षा

सांख्य-दार्शनिकों ने पुरुष को कूटस्थ मानकर केवल जड़ प्रकृति के आधार पर बन्धन और मुक्ति की व्याख्या करना चाहा, लेकिन वे भी पुरुष और प्रकृति के मध्य कोई वास्तविक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाये और दार्शनिकों के द्वारा कठोर आलोचना के पात्र बने। उन्होंने बुद्धि, अहंकार और मन जैसे चैत्तसिक तत्त्वों को भी पूर्णतः जड़-प्रकृति का परिणाम माना जो कि इस आलोचना से बचने का पूर्वप्रयास ही कहा जा सकता है। सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति से सम्बन्धित कर नैतिक जगत् में अपनी वास्तविकवादिता की रक्षा नहीं कर पाया। यदि बन्धन और मुक्ति दोनों जड़ प्रकृति से ही होते हैं, तो फिर बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयास रूप नैतिकता भी जड़-प्रकृति से ही सम्बन्धित होगी। लेकिन सांख्य नैतिक चेतना जिस विवेकज्ञान पर अधिष्ठित है, वह जड़-प्रकृति में सम्भव नहीं। विवेकाभाव और विवेकज्ञान दोनों का सम्बन्ध तो पुरुष से है। यदि पुरुष अविकारी, अपरिणामी और कूटस्थ है तो उसमें विवेकाभावरूप विकार जड़-प्रकृति के कारण कैसे हो सकता है। कूटस्थ आत्मवाद आत्मा के विभाव या बन्धन की तर्कसंगत व्याख्या नहीं करता। इस प्रकार सांख्य दर्शन तार्किक दृष्टि से अपनी रक्षा करने में असमर्थ रहा।

शांकरवेदान्त में कर्म एवं माया पर्यायवाची हैं। उसमें भी सांख्य के पुरुष के समान आत्मन् या ब्रह्मन् को निर्विकारी एवं निरपेक्ष माना गया है, लेकिन यदि आत्मा निर्विकारी और निरपेक्ष है तो फिर बन्धन, मुक्ति और नैतिकता की सारी कहानी अर्थहीन है। इसी कठिनाई को समझकर शांकर वेदान्त ने बन्धन और मुक्ति को मात्र व्यवहारदृष्टि से स्वीकार किया।

गीता का दृष्टिकोण

सैद्धान्तिक दृष्टि से गीता सांख्य दर्शन से प्रभावित है और बन्धन को मात्र जड़

१. मिलिन्दप्रश्न, लक्षणप्रश्न, द्वितीय वर्ग.

प्रकृति से सम्बन्धित मानती है। उसमें आत्मा को अकर्ता ही कहा गया है, लेकिन गीता में जो बन्धन का कारण है वह पूर्णतया जड़ (भौतिक) नही है। जब तक जड प्रकृति की उपस्थिति में पुरुष या आत्मा अहंकार से युक्त नहीं होता, तब तक बन्धन नहीं होता। आत्मा का अहंभाव ही वह चैत्तसिक पक्ष है, जो बन्धन का मूलभूत उपादान है और जड़ प्रकृति उस अहंभाव का निमित्त है। अहंकार के लिए निमित्त के रूप प्रकृति और उपादान के रूप चेतन पुरुष दोनों ही अपेक्षित हैं। प्रकृति अहंकार का भौतिक पक्ष है और पुरुष उसका चेतन पक्ष। इस प्रकार यहाँ गीता और जैन-दर्शन निकट आ जाते हैं। गीता की प्रकृति जैन दर्शन के द्रव्यकर्म के समान है और गीता का अहंकार भावकर्म के समान है। दोनों मे कार्य-कारणभाव है और दोनो की उपस्थिति मे ही बन्धन होता है।

एक समग्र दृष्टिकोण आवश्यक

कर्ममय नैतिक जीवन की समुचित व्यवस्था के लिए, बन्धन और मुक्ति के वास्तविक विश्लेषण के लिए, एक समग्र दृष्टिकोण आवश्यक है। एक समग्र दृष्टिकोण बन्धन और मुक्ति को न तो पूर्णतया जड़ प्रकृति पर आरोपित करता है और न उसे मात्र चैत्तसिक तत्त्वों पर आधारित करता है। यदि कर्म का अचेतन या जड़ पक्ष ही स्वीकार किया जाये, तो कर्म आकारहीन विषयवस्तु होगा और यदि कर्म का चैत्तसिक पक्ष ही स्वीकारे तो कर्म विषयवस्तुविहीन आकार होगा। लेकिन विषयवस्तुविहीन आकार और आकारविहीन विषयवस्तु दोनों ही वास्तविकता से दूर है।

जैन कर्म-सिद्धान्त कर्म के भौतिक एवं भावात्मक पक्ष पर समुचित जोर देकर जड़ और चेतन के मध्य एक वास्तविक सम्बन्ध बनाने का प्रयास करता है। डा० टाँटिया लिखते हैं, "कर्म अपने पूर्ण विश्लेषण में जड और चेतन के मध्य योजक कड़ी है—यह चेतन और चेतनसंयुक्तजड़ पारस्परिक परिवर्तनों की सहयोगात्मकता को अभिव्यंजित करता है।" सांख्य योग के अनुसार कर्म पूर्णतः जड़प्रकृति से सम्बन्धित है और इसलिए वह प्रकृति ही है जो बन्धन में आती है और मुक्त होती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म पूर्णतया चेतना के सम्बन्धित है और इसलिए चेतना ही बन्धन में आती है और मुक्त होती है। लेकिन जैन विचारक इन एकांगी दृष्टिकोणों से सन्तुष्ट नहीं थे। उनके अनुसार संसार का अर्थ है जड़ और चेतन का पारस्परिक बन्धन और मुक्ति का अर्थ है दोनों का अलग-अलग हो जाना।[1]

§ ९. भौतिक और अभौतिक पक्षों की पारस्परिक प्रभावकता

वस्तुतः नैतिक दृष्टि से यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है कि चैतन्य आत्मतत्त्व और कर्मपरमाणुओं (भौतिक तत्त्व) के मध्य क्या सम्बन्ध है ? जिन दार्शनिकों ने चरम सत्य के रूप में अद्वैत की धारणा को छोड़कर द्वैत की धारणा स्वीकार की उनके लिए यह प्रश्न बना रहा कि इनके पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करें। यह एक कठिन

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२८

समस्या है। इस समस्या से बचने के लिए ही अनेक चिन्तकों ने एकतत्त्ववाद की धारणा स्थापित की। भारतीय चार्वाक दार्शनिकों एवं आधुनिक भौतिकवादियों ने जड़ को ही चरम सत्य के रूप में स्वीकार किया और इस प्रकार इस समस्या के समाधान से छुट्टी पाई। दूसरी ओर शंकर एवं बौद्ध विज्ञानवाद ने चेतन को ही चरम सत्य माना। इस प्रकार उन्हें भी इस समस्या के समाधान का कोई प्रयास नहीं करना पड़ा, यद्यपि उनके समक्ष यह समस्या अवश्य थी कि इस दृश्य भौतिक जगत् की व्याख्या कैसे करें? और इसका उस विशुद्ध चैतन्य परम तत्त्व से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करें? उन्होंने इस जगत् को मात्र प्रतीति बताकर समस्या का समाधान खोजा। लेकिन वह समाधान भी सामान्य बुद्धि को सन्तुष्ट न कर पाया। पश्चिम में बर्कले ने भी जड़ की सत्ता को मनस् से स्वतन्त्र न मानकर ऐसा ही प्रयास किया था, लेकिन नैतिकता को समुचित व्याख्या किसी भी प्रकार के एकतत्त्ववाद में सम्भव नहीं। जिन विचारकों ने जैन दर्शन के समान नैतिकता की व्याख्या के लिए जड़ और चेतन, पुरुष और प्रकृति अथवा मनस् और शरीर का द्वैत स्वीकार किया उनके लिए यह महत्त्वपूर्ण समस्या थी कि वे इस बात की व्याख्या करें कि इन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है? पश्चिम मे यह समस्या देकार्त के सामने भी उपस्थित थी। देकार्त ने इसका हल पारस्परिक प्रतिक्रियावाद के आधार पर किया। लेकिन स्वतंत्र सत्ताओं मे परस्पर प्रतिक्रिया कैसी? स्पीनोजा ने उसके स्थान पर समानान्तरवाद की स्थापना की और जड़-चैतन्य में पारस्परिक प्रतिक्रिया न मानते हुए भी उनमें एक प्रकार के समानान्तर परिवतन को स्वीकार किया तथा इसका आधार सत्ता की तात्त्विक एकता माना। लाईब्नीज ने प्रतिक्रियावाद की कठिनाइयों से बचने के लिए पूर्वस्थापित सामजस्य की धारणा का प्रतिपादन किया और बताया कि सृष्टि के समय ही मन और शरीर के बीच ईश्वर ने ऐसी पूर्वानुकूलता उत्पन्न कर दी है कि उनमें सदा सामञ्जस्य रहता है, जैसे—दो अलग घड़ियाँ यदि एक बार एक साथ मिला दी जाती है तो वे एकदूसरे पर बिना प्रतिक्रिया करते हुए भी समान समय ही सूचित करती हैं, वैसे ही मानसिक परिवर्तन और शारीरिक परिवर्तन परस्पर अप्रभावित एवं स्वतन्त्र होते हुए भी एक साथ होते रहते हैं।

पश्चिम में यह समस्या अचेतन शरीर और चेतना के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर थी। जबकि भारत में सम्बन्ध की यह समस्या प्रकृति, त्रिगुण अथवा कर्म-परमाणु और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर थी। गहराई से विचार करने पर यहाँ भी मूल समस्या शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को लेकर ही है। यद्यपि शरीर से भारतीय चिन्तकों का तात्पर्य स्थूल शरीर से न होकर सूक्ष्म शरीर (लिंग-शरीर) से है। यही लिंगशरीर जैन दर्शन में कर्म-शरीर कहा जाता है जो कर्मपरमाणुओं का बना होता है और बंधन की दशा में सदैव आत्मा के साथ रहता है। यहाँ भी मूल प्रश्न यही है कि यह लिंग-शरीर या कर्म-शरीर आत्मा को कैसे प्रभावित करता है। सांख्य दर्शन

पुरुष तथा प्रकृति के द्वैत को स्वीकार करते हुए भी अपने कूटस्थ आत्मवाद के कारण इनके पारस्परिक सम्बन्ध को ठीक प्रकार से नहीं समझा पाया। जैन दर्शन वस्तुवादी एवं परिणामवादी है और इसलिए वह जड़-चेतन के मध्य वास्तविक सम्बन्ध स्वीकार करने में कठिनाई अनुभव नहीं करता। वह चेतना पर होनेवाले जड़ के प्रभाव को स्वीकार करता है। वह कहता है कि अनुभव हमें यह बताता है कि जड़ मादक पदार्थों का प्रभाव चेतना पर पड़ता ही है। अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि जड़ कर्म-वर्गणाओं का प्रभाव चेतन-आत्मा पर पड़ता है। संसार का अर्थ जड़ और चेतन का वास्तविक सम्बन्ध है।

§ १०. कर्म की मूर्तता

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य-कर्म पुद्गलजन्य है, अतः मूर्त (भौतिक) है। कारण से जिस प्रकार कार्य का अनुमान होता है, उसी प्रकार कार्य से भी कारण का अनुमान होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर आदि कार्य मूर्त है तो उनका कारण कर्म भी मूर्त ही होना चाहिए। कर्म की मूर्तता सिद्ध करने के लिए कुछ तर्क इस प्रकार दिये जा सकते हैं—कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से सुख-दुःख आदि का ज्ञान होता है, जैसे भोजन से। कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना होती है, जैसे अग्नि से। यदि कर्म अमूर्त होता, तो उसके कारण सुख-दुःखादि की वेदना सम्भव नहीं होती।

मूर्त का अमूर्त प्रभाव

यदि कर्म मूर्त है, तो फिर वह अमूर्त आत्मा पर अपना प्रभाव कैसे डालता है ? जिस प्रकार वायु और अग्नि का अमूर्त आकाश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा पर भी मूर्त कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए ? इसका उत्तर यही है कि जैसे अमूर्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त मदिरादि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही अमूर्त जीव पर भी मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। उक्त प्रश्न का एक दूसरा तर्कसंगत एवं निर्दोष समाधान यह भी है कि कर्म के सम्बन्ध से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। क्योंकि संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म-सन्तति से सम्बद्ध है, इस अपेक्षा से आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं है, अपितु कर्म-सम्बद्ध होने के कारण स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वस्तुतः कथंचित् मूर्त है। इस दृष्टि से भी आत्मा पर मूर्त कर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है।[१] वस्तुतः जिस पर कर्म-सिद्धान्त का नियम लागू होता है वह व्यक्तित्व अमूर्त नहीं है। हमारा वर्तमान व्यक्तित्व शरीर (भौतिक) और आत्मा (अभौतिक) का एक विशिष्ट संयोग है। शरीरी आत्मा भौतिक तथ्यों से अप्रभावित नहीं रह सकता। जब तक आत्मा शरीर (कर्म-शरीर) के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाती, तब तक वह अपने को भौतिक प्रभावों से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रख सकती। मूर्त शरीर के माध्यम से उस पर मूर्त-कर्म का प्रभाव पड़ता है।

---

१ अमर भारती, नवम्बर १९६५, पृ० ११-१२.

मूर्त का अमूर्त से सम्बन्ध

यह प्रश्न भी उठ सकता है कि मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा से कैसे सम्बन्धित होते हैं ? जैन विचारकों का समाधान यह है कि जैसे मूर्त घट अमूर्त आकाश के साथ सम्बन्धित होता है वैसे ही मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं। जैन विचारकों ने आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को नीर-क्षीरवत् अथवा अग्नि-लौहपिंडवत् माना है। यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि दो स्वतन्त्र सत्ताओं—जड़कर्मपरमाणु और चेतन में पारस्परिक प्रभाव को स्वीकार किया जायेगा तो फिर मुक्तावस्था में भी जड़कर्मपरमाणु आत्मा को प्रभावित किये बिना नहीं रहेंगे और मुक्ति का कोई अर्थ नहीं होगा। यदि वे परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करने में सक्षम नहीं हैं तो फिर बन्धन ही कैसे सिद्ध होगा ? आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि जैसे स्वर्ण कीचड़ में रहने पर भी जंग नहीं खाता जबकि लोहा जंग खा जाता है, इसी प्रकार शुद्धात्मा कर्मपरमाणुओं के मध्य रहते हुए भी उनके निमित्त से विकारी नहीं बनता जबकि अशुद्ध आत्मा विकारी बन जाता है। जड़ कर्म-परमाणु उसी आत्मा को विकारी बना सकते हैं जो पूर्व में राग-द्वेष आदि से अशुद्ध है।[1] वस्तुतः आत्मा जब तक भौतिक शरीर से युक्त होता है, तभी तक कर्म-परमाणु उसे प्रभावित कर सकते हैं। कर्म-शरीर के रूप में रहे हुए कर्म-परमाणु ही बाह्य जगत् के कर्म-परमाणुओं का आकर्षण कर सकते हैं। चूँकि मुक्तावस्था में आत्मा अशरीरी होता है, अतः उस अवस्था में कर्मपरमाणुओं की उपस्थिति में भी उसे बन्धन में आने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

§ ११. कर्म और विपाक की परम्परा

राग-द्वेष आदि की शुभाशुभ वृत्तियाँ ही भावकर्म के रूप में आत्मा की अवस्था विशेष हैं। भावकर्म की उपस्थिति में ही द्रव्य-कर्म आत्मा के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म का आस्रव होता रहता है और यही द्रव्यकर्म समयविशेष में भावकर्म का कारण बन जाता है। इस प्रकार कर्म-प्रवाह चलता रहता है। कर्म-प्रवाह ही संसार है। कर्म और विपाक की परम्परा से यह संसारचक्र प्रवर्तित होता रहता है। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि कर्म से विपाक प्रवर्तित होते हैं और विपाक से कर्म उत्पन्न होता है। कर्म से पुनर्जन्म होता है और इस प्रकार यह संसार प्रवर्तित होता है।[2] अतः यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कब से है अथवा कर्म और विपाक की परम्परा का प्रारम्भ कब हुआ ? यदि हम इसे सादि मानते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि किसी काल-विशेष में आत्मा बद्ध हुआ, उसके पहले मुक्त था; फिर उसे बन्धन में आने का क्या कारण ? यदि मुक्तात्मा को बन्धन में आने की सम्भावना मानी जाये तो मुक्ति का मूल्य अधिक नहीं रह जाता।

---

१. समयसार, २१८-१९.
२. मज्झिमनिकाय, ३।१।३.

दूसरी ओर यदि इसे अनादि माना जाये तो जो अनादि है वह अनन्त भी होगा और इस अवस्था में मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं रह जायेगी।

जैन दृष्टिकोण

जैन दार्शनिकों ने समस्या के समाधान के लिए एक सापेक्ष उत्तर दिया है। उनका कहना कि कर्मपरम्परा कर्मविशेष की अपेक्षा से सादि और सान्त है और प्रवाह की दृष्टि से अनादि-अनन्त है। कर्मपरम्परा का प्रवाह भी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से अनादि तो है, लेकिन अनन्त नहीं है। उसे अनन्त नहीं मानने का कारण यह है कि कर्म-विशेष के रूप में तो सादि है और यदि व्यक्ति नवीन कर्मों का आगमन रोक सके तो वह परम्परा अनन्त नहीं रह सकती। जैन दार्शनिकों के अनुसार राग-द्वेषरूपी कर्म-बीज के भुन जाने पर कर्म-प्रवाह की परम्परा समाप्त हो जाती है। कर्म-परम्परा के सम्बन्ध में यही एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर बन्धन का अनादित्व, मुक्ति से अनावृत्ति और मुक्ति की सम्भावना की समुचित व्याख्या हो सकती है।

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध आचारदर्शन भी बन्धन के अनादित्व और मुक्ति से अनावृत्ति की धारणा को स्वीकार करता है। अतः बौद्ध दृष्टि से कर्म-परम्परा को व्यक्तिविशेष की दृष्टि से अनादि और सान्त मानना समुचित प्रतीत होता है। बौद्ध दार्शनिक कारणरूप कर्म-परम्परा से आगे किसी कर्ता को नहीं देखते है। उनके अनुसार, सच्चा ज्ञानी कारण से आगे कर्ता को नहीं देखता न विपाक की प्रवृत्ति से आगे विपाक भोगनेवाले को। किन्तु कारण के होने पर कर्ता है और विपाक की प्रवृत्ति से भोगनेवाला है, ऐसा मानता है। बौद्ध दार्शनिक अपनी अनात्मवादी धारणा के आधार पर कारणरूप कर्म-परम्परा पर रुक जाना पसन्द करते है, क्योंकि इस आधार पर अनात्म की अवधारणा सरल होती है। लेकिन कर्म के कारण को मानना और उसके कारक को नहीं मानना एक वदतोव्याघात है। यहाँ हम इसकी गहराई में नहीं जाना चाहते। वास्तविकता यह है कि कर्ता, कर्म और कर्म-विपाक तीनों में से किसी की भी पूर्वकोटि नहीं मानी जा सकती। बौद्ध दार्शनिक भी कर्म और विपाक के सम्बन्ध में इसे स्वीकार करते हैं। कहा है कि कर्म और विपाक के प्रवर्तित होने पर वृक्ष बीज के समान किसी का पूर्व छोर नहीं जान पड़ता है।[1] इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार भी प्रवाह अनादि तो है, लेकिन वैयक्तिक दृष्टि से वह अनन्त नहीं रहता। जैसे किसी बीज के भुन जाने पर उस बीज की दृष्टि से बीज-वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जाती है, वैसे ही व्यक्ति के राग, द्वेष और मोह का प्रहाण हो जाने पर उस व्यक्ति का कर्म-विपाक परम्परा का अन्त हो जाता है।

§ १२. कर्मफल संविभाग

कर्म-सिद्धान्त के सन्दर्भ में यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या एक व्यक्ति अपने

---

१. विसुद्धिमग्ग, भाग २, पृ० २०५.

किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है अथवा नहीं दे सकता ? क्या व्यक्ति अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का ही भोग करता है अथवा दूसरों के द्वारा किये हुए शुभाशुभ का फल भी उसे मिलता है ? इस सन्दर्भ में समालोच्य आचार-दर्शनों के दृष्टिकोण पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

जैन दृष्टिकोण

जैन विचारणा के अनुसार प्राणी के शुभाशुभ कर्मों के प्रतिफल में कोई भागीदार नहीं बन सकता। जो व्यक्ति शुभाशुभ कर्म करता है वही उसका फल प्राप्त करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट विधान है संसारी जीव स्व एवं पर के लिए जो साधारण कर्म करता है उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धु-बान्धव (परिजन) हिस्सा नहीं लेते।[1] इसी ग्रन्थ में प्राणी की अनाथता का निर्णय करते हुए यह बताया गया है कि न तो माता-पिता और पुत्र-पौत्रादि ही प्राणी का हिताहित करने में समर्थ है।[2] भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर से जब यह प्रश्न किया गया कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं या परकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं ? तो महावीर का स्पष्ट उत्तर था कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं, परकृत का नहीं।[3] इस प्रकार जैन विचारणा में कर्मफल संविभाग को अस्वीकार किया गया है।

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन में बोधिसत्व का आदर्श कर्मफल संविभाग के विचार को पुष्ट करता है। बोधिसत्व तो सदैव यह कामना करते हैं कि उनके कुशल कर्मों का फल विश्व के समस्त प्राणियों को मिले। फिर भी बौद्ध दर्शन यह मानता है कि केवल शुभकर्मों में ही दूसरे को सम्मिलित किया जा सकता है। बौद्ध दृष्टिकोण के सम्बन्ध में आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं कि सामान्य नियम यह है कि कर्म स्वकीय है, जो कर्म करता है वही (सन्तानप्रवाह की अपेक्षा से) उसका फल भोगता है। किन्तु पालीनिकाय में भी पुण्य परिणामना (पत्तिदान) है। वह यह भी मानता है कि मृत की सहायता हो सकती है। स्थविरवादी प्रेत और देवों को दक्षिणा देते हैं अर्थात् भिक्षुकों को दिये हुए दान (दक्षिणा) से जो पुण्य संचित होता है, उसको देते हैं। बौद्धों के अनुसार हम अपने पुण्य में दूसरे को सम्मिलित कर सकते हैं, पाप में नहीं।[4] हिन्दुओं के समान ही बौद्ध भी प्रेतयोनि में विश्वास करते हैं और प्रेत के निमित्त जो भी दान-पुण्य आदि किया जाता है उसका फल प्रेत को मिलता है, यह मानते हैं। बौद्ध यह भी मानते हैं कि यदि प्राणी मरकर परदत्तोपजीवी प्रेतावस्था में जन्म लेता है, तब तो उसे यहाँ उसके निमित्त किया जानेवाला पुण्यकर्म का फल मिलता है, लेकिन यदि वह मरकर मनुष्य,

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, १३।२३, ४।४.

२. वही, २०।२३-३०.

३. भगवतीसूत्र, १।२।६४.

४. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २७७.

नारक, तिर्यंच या देव योनि मे उत्पन्न होता है तो पापकर्म करनेवाले को ही उसका फल मिलता है । इस प्रकार बौद्ध विचारणा कुशल कर्मो के फल संविभाग को स्वीकार करती है।

गीता एव हिन्दू परम्परा का दृष्टिकोण

गीता कर्मफल संविभाग में विश्वास करती है, ऐसा कहा जा सकता है । गीता में श्राद्ध-तर्पण आदि क्रियाओं के अभाव में तथा कुलधर्म के विनष्ट होने से पितर का पतन हो जाता है, यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है ।[1] इसका स्पष्ट अर्थ है कि सतानादि द्वारा किये गये शुभाशुभ कृत्यों का प्रभाव उनके पितरों पर पड़ता है । महाभारत मे यह बात भी स्वीकार की गई है कि न केवल सन्तान के कृत्यों का प्रभाव पूर्वजों पर पड़ता है वरन पूर्वजो के शुभाशुभ कृत्यों का फल भी सन्तान को प्राप्त होता है । शान्ति-पर्व मे भीष्म युधिष्ठिर से कहते है, 'हे राजन्, चाहे किसी आदमी को उसके पाप कर्मो का फल उस समय मिलता हुआ न दीख पड़े, तथापि वह उसे ही नही किन्तु उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रो तक को भोगना पड़ता है ।'[2] इसी सन्दर्भ मे मनुस्मृति (४।१७३) एवं महाभारत (आदिपर्व, ८०।३) का उद्धरण देते हुए तिलक भी लिखते है कि न केवल हमे, किन्तु कभी-कभी हमारे नाम-रूपात्मक देह मे उत्पन्न लड़कों और हमारे नातियों तक को कर्मफल भोगने पड़ते है ।[3] इस प्रकार हिन्दू विचारणा सभी शुभाशुभ कर्मो के फल-संविभाग को स्वीकार करती है ।

तुलना एव समीक्षा

बौद्ध और हिन्दू परम्परा मे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि हिन्दू धर्म में मनुष्य के शुभ और अशुभ कर्मो का फल उसके पूर्वजों एव सन्तानों को मिल सकता है, जब कि बौद्ध धर्म म केवल पुण्य कर्मो का फल ही प्रेतों को मिलता है । हिन्दू धर्म मे पुण्य और पाप दोनों कर्मो का फल-सविभाग स्वीकार किया गया है, जब कि बौद्धधर्म का सिद्धान्त यह है कि कुशल (पुण्य) कर्म का ही सविभाग हो सकता है, अकुशल (पाप) कर्म का नहीं । मिलिन्दप्रश्न में दो कारणों से अकुशल कर्म को संविभाग के अयोग्य माना है (१) पाप-कर्म में प्रेत की अनुमति नही है, अत. उसका फल उसे नहीं मिल सकता । (२) अकुशल परिमित होता है, अतः उसका संविभाग नही हो सकता; किन्तु कुशल विपुल होता है अत उसका संविभाग हो सकता है ।[4]

लेकिन विचारपूर्वक देखें तो यह तर्क औचित्यपूर्ण नही है । यदि अनुमति के अभाव मे अशुभ का फल प्राप्त नही होता है तो फिर शुभ का फल कैसे प्राप्त हो

१. गीता, १।४२.
२ महाभारत, शान्तिपर्व, १२९.
३. गीतारहस्य, पृ० २६८.
४ देखिए—आत्ममीमांसा, पृ० १३२-१३३; मिलिन्दप्रश्न, ४।८।३०-३५, पृ० २८८.

सकता है ? दूसरे यह कहना कि अकुशल परिमित है, ठीक नहीं है। इस कथन का क्या आधार है कि अकुशल (पाप) परिमित है ? दूसरे, परिमित का भी भाग होना संभव है। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर हम यह मान सकते हैं कि व्यक्ति के शुभाशुभ आचरण का प्रभाव केवल परिजनों पर ही नहीं, समाज पर भी पड़ता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में भी मनुष्य की शुभाशुभ क्रियाओं से समाज एवं भावी पीढ़ी प्रभावित होती है। एक मनुष्य की गलत नीति का परिणाम समूचे राष्ट्र और राष्ट्र की भावी पीढ़ी को भुगतना पड़ता है, यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य है। ऐसी स्थिति में कर्म-फल का संविभाग-सिद्धान्त ही हमारी व्यवहारबुद्धि को सन्तुष्ट करता है। लेकिन इस धारणा को स्वीकार कर लेने पर कर्म-सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात होता है, क्योंकि कर्म-सिद्धान्त में वैयक्तिक विविध अनुभूतियों का कारण व्यक्ति के अन्दर ही माना जाता है, जबकि फल-संविभाग के आधार पर हमें बाह्य कारण को स्वीकार करना होता है।

जैन कर्म-सिद्धान्त में फल-संविभाग का अर्थ समझने के लिए हमें उपादान कारण (आन्तरिक कारण) और निमित्त कारण (बाह्य कारण) का भेद समझना होगा। जैन कर्म-सिद्धान्त मानता है कि विविध सुखद-दुःखद अनुभूतियों का मूल कारण (उपादान कारण) तो व्यक्ति के अपने ही पूर्व-कर्म हैं। दूसरा व्यक्ति तो मात्र निमित्त बन सकता है। अर्थात् उपादान कारण की दृष्टि से सुख-दुःखादि अनुभव स्वकृत है और निमित्तकारण की दृष्टि से परकृत है। गीता भी यह दृष्टिकोण अपनाती है। गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यह लोग तो अपनी ही मौत मरेंगे, तू तो मात्र निमित्त होगा। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उठता है यदि हम दूसरों का हिताहित करने में मात्र निमित्त होते हैं, तो फिर हमें पाप-पुण्य का भागी क्यों माना जाता है ? जैन-विचारकों ने इस प्रश्न का समाधान खोजा है। उनका कहना है कि हमारे पुण्य-पाप दूसरे के हिताहित की क्रिया पर निर्भर न होकर हमारी मनोवृत्ति पर निर्भर हैं। हम दूसरों का हिताहित करने पर उत्तरदायी इसलिए हैं कि वह कर्म एवं कर्म-संकल्प हमारा है। दूसरों के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, वही हमें उत्तरदायी बनाता है। उसी के आधार पर व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है और उसका फल भोगता है।

§ १३. जैन दर्शन में कर्म की अवस्था

जैन दर्शन में कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं पर गहराई से विचार हुआ है। प्रमुख रूप से कर्मों की दस अवस्थाएँ मानी गयी हैं—१. बन्ध, २. संक्रमण, ३. उत्कर्षण, ४. अपवर्तन, ५. सत्ता, ६. उदय, ७. उदीरणा, ८. उपशमन, ९. निधत्ति और १०. निकाचना।[1]

१. बन्ध—कषाय एवं योग के फलस्वरूप कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों से

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २५४.

जो सम्बन्ध होता है, उसे जैन दर्शन में बन्ध कहा जाता है।[1] इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा एक स्वतन्त्र अध्याय में की गई है।

२. संक्रमण—एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद हैं और जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्म का एक भेद अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल सकता है। यह अवान्तर कर्म-प्रकृतियों का अदल-बदल संक्रमण कहलाता है। संक्रमण वह प्रक्रिया है जिसमें आत्मा पूर्व-बद्ध कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों, समयावधि, तीव्रता एव परिमाण (मात्रा) को परिवर्तित करता है। संक्रमण में आत्मा पूर्वबद्ध कर्म-प्रकृति का, नवीन कर्म-प्रकृति का बन्ध करते समय मिलाकर तत्पश्चात् नवीन कर्म-प्रकृति में उसका रूपान्तरण कर सकता है। उदाहरणार्थ, पूर्व में बद्ध दुःखद संवेदन रूप असातावेदनीय कर्म का नवीन सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते समय ही सातावेदनीय कर्म-प्रकृति के साथ मिलाकर उसका सातावेदनीय कर्म में संक्रमण किया जा सकता है। यद्यपि दर्शनमोह कर्म की तीन प्रकृतियों मिथ्यात्वमोह, सम्यक्त्वमोह और मिश्रमोह में नवीन बन्ध के अभाव में भी संक्रमण सम्भव होता है, क्योंकि सम्यक्त्वमोह एवं मिश्रमोह का बन्ध नहीं होता है, वे अवस्थाएँ मिथ्यात्वमोह कर्म के शुद्धीकरण से होती हैं। संक्रमण कर्मों के अवान्तर भेदों में ही होता है, मूल भेदों में नहीं होता है, अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म का आयुकर्म में संक्रमण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कुछ अवान्तर कर्म ऐसे हैं जिनका रूपान्तर नहीं किया जा सकता। जैसे दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय कर्म का रूपान्तर नहीं होता। इसी प्रकार कोई नरकायु के बन्ध को मनुष्य आयु के बन्ध मे नहीं बदल सकता। नैतिक दृष्टि से संक्रमण की धारणा की दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं—एक तो यह है कि संक्रमण की क्षमता केवल आत्मा की पवित्रता के साथ ही बढ़ती जाती है। जो आत्मा जितना पवित्र होता है उतनी ही उसकी आत्मशक्ति प्रकट होती है और उतनी उसमें कर्म-संक्रमण की क्षमता भी होती है। लेकिन जो व्यक्ति जितना अधिक अपवित्र होता है, उसमें कर्म-संक्रमण की क्षमता उतनी ही क्षीण होती है और वह अधिक मात्रा में परिस्थितियों (कर्मों) का दास होता है। पवित्र आत्माएँ परिस्थितियों की दास न रह कर उनकी स्वामी बन जाती हैं। इस प्रकार संक्रमण की प्रक्रिया आत्मा के स्वातन्त्र्य और दासता को व्यक्ति की नैतिक प्रगति पर अधिष्ठित करती है। दूसरे, संक्रमण की धारणा भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद को सबल बनाती है।

३. उद्वर्तना—आत्मा से कर्म-परमाणुओं के बद्ध होते समय जो काषायिक तारतमता होती है उसी के अनुसार बन्धन के समय कर्म की स्थिति तथा तीव्रता का निश्चय होता है। जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा नवीन बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों की कालमर्यादा और तीव्रता को बढ़ा भी सकती है। यही कर्म-परमाणुओं की काल-मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाने की क्रिया उद्वर्तना कही जाती है।

४. अपवर्तना—जिस प्रकार नवीन बन्ध के समय पूर्वबद्ध कर्मों की काल-मर्यादा

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८।२-३.

(स्थिति) और तीव्रता (अनभाग) को बढ़ाया जा सकता है, उसी प्रकार उसे कम भी किया जा सकता है और यह कम करने की क्रिया अपवर्तना कहलाती है।

५. **सत्ता**—कर्मों का बन्ध हो जाने के पश्चात् उनका विपाक भविष्य में किसी समय होता है। प्रत्येक कर्म अपने सत्ता-काल के समाप्त होने पर ही फल (विपाक) दे पाता है। जितने समय तक काल-मर्यादा परिपक्व न होने के कारण कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध बना रहता है, उस अवस्था को सत्ता कहते हैं।

६. **उदय**—जब कर्म अपना फल (विपाक) देना प्रारम्भ कर देते हैं, उस अवस्था को उदय कहते है। जैन दर्शन यह भी मानता है कि सभी कर्म अपना फल प्रदान तो करते है लेकिन कुछ कर्म ऐसे भी होते है जो फल देते हुए भी भोक्ता को फल की अनुभूति नही कराते हैं और निर्जरित हो जाते हैं। जैन दर्शन मे फल देना और फल की अनुभूति होना ये अलग तथ्य माने गये हैं। जो कर्म बिना फल की अनुभूति कराये निर्जरित हो जाता है, उसका उदय प्रदेशोदय कहा जाता है। जैसे, आपरेशन करते समय अचेतन अवस्था मे शल्य-क्रिया की वेदना की अनुभूति नहीं होती। कषाय के अभाव में ईर्यापथिक क्रिया के कारण जो बन्ध होता है उसका मात्र प्रदेशोदय होता है। जो कर्म-परमाणु अपनी फलानुभूति करवाकर आत्मा से निर्जरित होते है, उनका उदय विपाकोदय कहलाता है। विपाकोदय की अवस्था में तो प्रदेशोदय होता ही है, लेकिन प्रदेशोदय की अवस्था मे विपाकोदय हो ही, यह अनिवार्य नहीं है।

७. **उदीरणा**—जिस प्रकार समय से पूर्व कृत्रिम रूप से फल को पकाया जा सकता है, उसी प्रकार नियत काल के पूर्व ही प्रयासपूर्वक उदय मे लाकर कर्मों के फलों को भोग लेना उदीरणा है। साधारण नियम यह है कि जिस कर्म प्रकृति का उदय या भोग चल रहा हो, उसकी सजातीय कर्म-प्रकृति की उदीरणा सम्भव है।

८. **उपशमन**—कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उनके फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना या उन्हें किसी काल-विशेष के लिए फल देने मे अक्षम बना देना उपशमन है। उपशमन में कर्म को ढँकी हुई अग्नि के समान बना दिया जाता है। जिस प्रकार राख से दबी हुई अग्नि उस आवरण के दूर होते ही पुनः प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार उपशमन की अवस्था के समाप्त होते ही कर्म पुनः उदय में आकर अपना फल देता है। उपशमन मे कर्म की सत्ता नष्ट नहीं होती है, मात्र उसे काल-विशेष तक के लिए फल देने में अक्षम बनाया जाता है।

९. **निधत्ति**—कर्म की वह अवस्था निधत्ति है जिसमें कर्म न अपने अवान्तर भेदों मे रूपान्तरित हो सकते है और न अपना फल प्रदान कर सकते है। लेकिन कर्मों की समय-मर्यादा और विपाक-तीव्रता (परिमाण) को कम-अधिक किया जा सकता है अर्थात् इस अवस्था में उत्कर्षण और अपकर्षण सम्भव हैं।

१०. **निकाचना**—कर्मों का बन्धन इतना प्रगाढ़ होना कि उनकी काल-मर्यादा एवं तीव्रता (परिमाण) में कोई परिवर्तन न किया जा सके, न समय के पूर्व उनका भोग

ही किया सके, निकाचना कहा जाता है। इसमें कर्म का जिस रूप मे बन्धन हुआ होता है उसी रूप मे उसको अनिवार्यतया भोगना पड़ता है।

कर्म की अवस्थाओं पर बौद्ध धर्म की दृष्टि से विचार एव तुलना

बौद्ध कर्म-विचारणा मे जनक, उपस्थम्भक, उपपीलक और उपघातक ऐसे चार कर्म माने गये है। जनक कर्म दूसरा जन्म ग्रहण करवाते है, इस रूप मे वे सत्ता की अवस्था मे तुलनीय है। उपस्थम्भक कर्म दूसरे कर्म का फल देने में सहायक होते है, ये उत्कर्षण की प्रक्रिया के सहायक माने जा सकते है। उपपीलक कर्म दूसरे कर्मो की शक्ति को क्षीण करते है, ये अपवर्तन की अवस्था मे तुलनीय है। उपघातक कर्म दूसरे कर्म का विपाक रोककर अपना फल देते है ये कर्म उपशमन की प्रक्रिया के निकट है। बौद्ध दर्शन मे कर्म-फल के संक्रमण की धारणा स्वीकार की गयी है। बौद्ध-दर्शन यह मानता है कि यद्यपि कर्म (फल) का विप्रणाश नही है, तथापि कर्म-फल का सातिक्रम हो सकता है।[1] विपच्यमान कर्मो का संक्रमण हो सकता है। विपच्यमान कर्म वे है जिनको बदला जा सकता है अर्थात् जिनका सातिक्रमण (संक्रमण) हो सकता है, यद्यपि फल-भोग अनिवार्य है। उन्हे अनियत-वेदनीय किन्तु नियतविपाककर्म भी कहा जाता है। बौद्ध दर्शन का नियतवेदनीय नियतविपाक कर्म जैन दर्शन के निकाचना मे तुलनीय है।

कर्म की अवस्थाओं पर हिन्दू आचारदर्शन की दृष्टि से विचार एवं तुलना

कर्मो की सत्ता, उदय, उदीरणा और उपशमन इन चार अवस्थाओं का विवेचन हिन्दू आचारदर्शन मे भी मिलता है। वहाँ कर्मो की संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ऐसी तीन अवस्थाएँ मानी गयी है। वर्तमान क्षण के पूर्व तक किये गये समस्त कर्म संचित कर्म कहे जाते है, इन्हे ही अपूर्व और अदृष्ट भी कहा गया है। संचित कर्म के जिस भाग का फलभोग शुरू हो जाता है उसे ही प्रारब्ध कर्म कहते है। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्म के दो भाग होते है। जो भाग अपना फल देना प्रारम्भ कर देता है वह प्रारब्ध (आरब्ध) कर्म कहलाता है शेष भाग जिसका फलभोग प्रारम्भ नहीं हुआ है अनारब्ध (संचित) कहलाता है। लोकमान्य तिलक ने 'क्रियमाण कर्म' ऐसा स्वतन्त्र अवस्था-भेद नहीं माना है। वे कहते है कि यदि उसका पाणिनिसूत्र के अनुसार भविष्यकालिक अर्थ लेते है, तो उसे अनारब्ध कहा जायेगा।[2] तुलना की दृष्टि से कर्म की अनारब्ध या संचित अवस्था ही 'सत्ता' की अवस्था कही जा सकती है। इसी प्रकार प्रारब्ध-कर्म की तुलना कर्म की उदय-अवस्था से की जा सकती है। कुछ लोग नवीन कर्म-संचय की दृष्टि से क्रियमाण नामक स्वतन्त्र अवस्था मानते है। क्रियमाण कर्म की तुलना जैन विचारणा के बन्धमान कर्म से की जा सकती है। डा० टाँटिया

१. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २७५।
२. गीतारहस्य, पृ० २७४.

सन्चित कर्म की तुलना कर्म की सत्ता अवस्था से, प्रारब्धकर्म की तुलना उदय कर्म से तथा क्रियमाण कर्म की तुलना बन्धमान कर्म से करते हैं।[1] वैदिक परम्परा में कर्म की उपशमन अवस्था का मान्यता का स्पष्ट निर्देश तो नहीं मिलता, फिर भी महाभारत में पाराशरगीता में एक निर्देश है जिसमे कहा गया है कि कभी-कभी मनुष्य का पूर्वकाल मे किया गया पुण्य (अपना फल देने की राह देखता हुआ) चुप बैठा रहता है।[2] इस अवस्था की तुलना जैन विचारणा के उपशमन से की जा सकती है।

कर्म की इन विभिन्न अवस्थाओं का प्रश्न कर्मविपाक की नियतता से सम्बन्धित है। अतः इस प्रश्न पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

§ १४ कर्म-विपाक की नियतता और अनियतता

जैन दृष्टिकोण

हमने ऊपर कर्मों की अवस्थाओं पर विचार करते हुए देखा कि कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका विपाक नियत है और उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता, जो जैन विचारणा में निकाचित कर्म कहे जाते हैं। जिनका बन्ध जिस विपाक को लेकर होता है उसी विपाक के द्वारा वे क्षय (निर्जरित) होते हैं अन्य किसी प्रकार से नहीं, यही कर्म-विपाक की नियतता है। इसके अतिरिक्त कुछ कर्म ऐसे भी हैं, जिनका विपाक उसी रूप में अनिवार्य नहीं होता। उनके विपाक के स्वरूप, मात्रा, समयावधि एवं तीव्रता आदि में परिवर्तन किया जा सकता है, जिन्हें हम अनिकाचित कर्म के रूप में जानते हैं।

जैन विचारणा कर्म-विपाक की नियतता और अनियतता दोनों को ही स्वीकार करती है और बताती है कि कर्मों के पीछे रही हुई कषायों की तीव्रता एवं अल्पता के आधार पर ही क्रमशः नियत-विपाकी एवं अनियत-विपाकी कर्मों का बन्ध होता है। जिन कर्मों के सम्पादन के पीछे तीव्र कषाय (वासनाएँ) होती हैं, उनका बन्ध भी अति प्रगाढ़ होता है और उसका विपाक भी नियत होता है। इसके विपरीत जिन कर्मों के सम्पादन के पीछे कषाय अल्प होती है उनका बन्ध शिथिल होता है और इसीलिए उनका विपाक भी अनियत होता है। जैन कर्म-सिद्धान्त की संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा एवं उपशमन की अवस्थाएँ कर्मों के अनियत विपाक की ओर संकेत करती हैं, लेकिन जैन विचारणा सभी कर्मों को अनियतविपाकी नहीं मानती। जिन कर्मों का बन्ध तीव्र कषाय भावों के फलस्वरूप होता है उन्हें वह नियतविपाकी कर्म मानती है। वैयक्तिक दृष्टि से सभी आत्माओं में कर्मविपाक में परिवर्तन करने की क्षमता नहीं होती। जब व्यक्ति एक आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच जाता है, तभी उसमें कर्म-विपाक को अनियत बनाने की शक्ति उत्पन्न होती है। फिर भी स्मरण

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २६०.
२. महाभारत, शान्तिपर्व, २९०।१७.

रखना चाहिए कि व्यक्ति कितनी ही आध्यात्मिक ऊँचाई पर स्थित हो, वह मात्र उन्हीं कर्मों का विपाक अनियत बना सकता है, जिनका बन्ध अनियतविपाकी कर्म के रूप में हुआ है। जिन कर्मों का बन्ध नियतविपाकी कर्मों के रूप में हुआ है उनका भोग अनिवार्य है। इस प्रकार जैन-विचारणा कर्मों के नियतता और अनियतता के दोनों पक्षों को स्वीकार करती है और इस आधार पर अपने कर्म सिद्धान्त को नियति-वाद और यदृच्छावाद के दोषों से बचा लेती है।

बौद्ध दृष्टिकोण[1]

बौद्ध दर्शन में भी कर्मों के विपाक की नियतता और अनियतता का विचार किया गया है। बौद्ध दर्शन मे कर्मों को नियत विपाकी और अनियतविपाकी दोनों प्रकार का माना गया है। जिन कर्मों का फल-भोग अनिवार्य नहीं या जिनका प्रतिसंवेदन आवश्यक नहीं वे कर्म अनियतविपाकी है। अनियतविपाकी कर्म के फलभोग का उल्लंघन हो सकता है। इसके अतिरिक्त वे कर्म जिनका प्रतिसंवेदन या फलभोग अनिवार्य है वे नियतविपाकी कर्म है अर्थात् उनके फलभोग का उल्लंघन नही किया जा सकता। कुछ बौद्ध आचार्यों ने नियतविपाकी और अनियतविपाकी कर्मों में प्रत्येक को चार-चार भागों मे विभाजित किया है।

नियतविपाक कर्म

(१) दृष्टधर्मवेदनीय नियतविपाक कर्म अर्थात् इसी जन्म में अनिवार्य फल देनेवाला कर्म। (२) उपपद्यवेदनीय नियतविपाक कर्म अर्थात् उपपन्न होकर समन्तर जन्म मे अनिवार्य फल देनेवाला कर्म। (३) अपरापर्यवेदनीय नियतविपाक कर्म अर्थात् विलम्ब से अनिवार्य फल देनेवाला कर्म। (४) अनियत वेदनीय किन्तु नियतविपाक कर्म अर्थात् वे कर्म जो विपच्यमान तो है (जिनका स्वभाव बदला जा सकता है एवं सातिक्रमण हो सकता है) किन्तु जिनका भोग अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त कुछ आचार्यों के अनुसार नियतविपाक कर्म पर विपाक-काल को नियतता के आधार पर भी विचार किया जा सकता है और ऐसी अवस्था मे नियतविपाक कर्म के दो रूप होंगे (१) जिनका विपाक भी नियत है और विपाक-काल भी नियत है तथा (२) वे जिनका विपाक तो नियत है, लेकिन विपाक-काल नियत नहीं। ऐसे कर्म अपरापर्यवेदनीय से दृष्टधर्मवेदनीय बन जाते है।

अनियतविपाक कर्म

(१) दृष्टधर्मवेदनीय अनियतविपाक कर्म अर्थात् जो इसी जन्म मे फल देनेवाला है लेकिन जिसका फल-भोग आवश्यक नही है। (२) उपपद्यवेदनीय अनियतविपाक कर्म अर्थात् उपपन्न होकर समन्तर जन्म मे फल देनेवाला है लेकिन जिसका फलभोग हो यह आवश्यक नही है। (३) अपरापर्य अनियतविपाक कर्म अर्थात् जो देरी से

१. बौद्ध धर्म दर्शन, अध्याय ११.

फल देनेवाला है लेकिन जिसका फल-भोग आवश्यक है। (४) अनियतवेदनीय अनियतविपाक कर्म अर्थात् जो अनुभूति और विपाक दोनों दृष्टियों से अनियत है।

इस प्रकार बौद्ध विचारक न केवल कर्मों के विपाक में नियतता और अनियतता को स्वीकार करते है, वरन् दोनों की विस्तृत व्याख्या भी करते हैं। वे यह भी बताते हैं कि कौन कर्म नियतविपाकी होगा—प्रथमतः वे कर्म जो केवल कृत नही किन्तु उपचित भी है नियतविपाक कर्म है। कर्म के उपचित होने का मतलब है कर्म का चैतसिक के साथ-साथ भौतिक दृष्टि से भी परिसमाप्त होना। दूसरे, वे कर्म जो तीव्र प्रमाद (श्रद्धा) और तीव्र क्लेश (राग-द्वेष) मे किये जाते है, नियतविपाक कर्म हैं। बौद्ध दर्शन की यह धारणा जैन दर्शन से बहुत कुछ मिलती है, लेकिन प्रमुख अन्तर यही है कि जहाँ बौद्ध दर्शन तीव्र श्रद्धा और तीव्र राग-द्वेष दोनों अवस्था में होनेवाले कर्म को नियतविपाकी मानता है, वहाँ जैन दर्शन मात्र राग-द्वेष (कषाय) की अवस्था मे किये हुए कर्मों को ही नियतविपाकी मानता है। तीव्र श्रद्धा की अवस्था में किए गये कर्म जैन दर्शन के अनुसार नियतविपाकी नही हैं। हाँ, यदि तीव्र श्रद्धा के साथ प्रशस्त राग होता है तो शुभ कर्म बन्ध तो होता है लेकिन वह नियतविपाकी ही हो, यह अनिवार्य नहीं है। दोनों ही इस बात मे सहमत हैं कि मातृवध, पितृवध तथा धर्म, संघ और तीर्थ तथा धर्मप्रवर्तक के प्रति किये गये अपराध नियतविपाकी होते हैं।

गीता का दृष्टिकोण

वैदिक परम्परा में यह माना गया है कि संचित कर्म को ज्ञान के द्वारा बिना फलभोग के ही नष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार वैदिक परम्परा कर्मविपाक की अनियतता को स्वीकार कर लेती है। ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है।[1] अर्थात् ज्ञान के द्वारा संचित कर्मों को नष्ट किया जा सकता है, यद्यपि वैदिक परम्परा में आरब्ध कर्मों का भोग अनिवार्य माना गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा मे कर्म विपाक की नियतता और अनियतता दोनों स्वीकार की गई है। फिर भी उसमें संचित कर्मों की दृष्टि से नियतविपाक का विचार नही मिलता। सभी संचित कर्म अनियत-विपाकी मान लिये गये है।

निष्कर्ष

वस्तुतः कर्म-सिद्धान्त में कर्मविपाक की नियतता और अनियतता की दोनों विरोधी धारणाओं के समन्वय के अभाव मे नैतिक जीवन की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं होती है। यदि एकान्त रूप से कर्म-विपाक की नियतता को स्वीकार किया जाता है तो नैतिक आचरण का चाहे निषेधात्मक कुछ मूल्य बना रहे, लेकिन उसका विधायक मूल्य पूर्णतया समाप्त हो जाता है। नियत भविष्य के बदलने की सामर्थ्य नैतिक जीवन में नहीं रह पाती है। दूसरे, यदि कर्मों को पूर्णतः अनियतविपाकी माना जावे तो

---

१. ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते–गीता, ४।३७.

नैतिक व्यवस्था का ही कोई अर्थ नहीं रहता है। विपाक की पूर्ण नियतता मानने पर निर्धारणवाद और विपाक की पूर्ण अनियतता मानने पर अनिर्धारणवाद की सम्भावना होगी, लेकिन दोनों ही धारणाएँ ऐकान्तिक रूप में नैतिक जीवन की समुचित व्याख्या कर पाने में असमर्थ हैं। अतः कर्म-विपाक की नियतानियतता ही एक तर्कसंगत दृष्टिकोण है, जो नैतिक दर्शन की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है।

इसके पूर्व कि हम इस अध्याय को समाप्त करें हमें कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों के आक्षेपों पर भी विचार कर लेना चाहिए।

§ १५. कर्म-सिद्धान्त पर आक्षेप और उनका प्रत्युत्तर

कर्म-सिद्धान्त को अस्वीकार करनेवाले विचारकों के द्वारा कर्म-सिद्धान्त के प्रतिषेध के लिए प्राचीन काल से ही तर्क प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उन विचारकों के द्वारा दिये जाने वाले कुछ तर्कों का दिग्दर्शन कराया है। कर्म-सिद्धान्त के विरोध में उन विचारकों का निम्न तर्क है, 'एक प्रस्तरखण्ड जब प्रतिमा के रूप में निर्मित हो जाता है तब स्नान, अंगराग, माला, वस्त्र और अलंकारों से उसकी पूजा की जाती है। विचारणीय यह है कि उस प्रतिमारूप प्रस्तरखण्ड ने कौन-सा पुण्य किया था? एक अन्य प्रस्तरखण्ड जिस पर उपविष्ट होकर लोग मल-मूत्र-विसर्जन करते हैं, उसने कौन-सा पाप-कर्म किया था? यदि प्राणी कर्म से ही जन्म ग्रहण करते है और मरते हैं, फिर जल के बुद्‌बुद किस शुभाशुभ कर्म से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते है?"[1]

कर्म-सिद्धान्त के विरोध में दिया गया यह तर्क वस्तुतः एक भ्रान्त धारणा पर खड़ा हुआ है। कर्म-सिद्धान्त का नियम शरीरयुक्त चेतन प्राणियों पर लागू होता है, जबकि आलोचक ने अपने तर्क जड़ पदार्थों के सन्दर्भ में दिये हैं। कर्म-सिद्धान्त का नियम जड़ जगत के लिए नहीं है। अतः जड़ जगत् के सम्बन्ध में दिये हुए तर्क उस पर कैसे लागू हो सकते हैं। यदि हम जैन दृष्टिकोण के आधार पर उन्हें जीवनयुक्त मानें तो भी यह आक्षेप असत्य ही सिद्ध होता है। क्योंकि जीवनयुक्त मानने पर यह भी सम्भव है कि उन्होंने पूर्व जीवन में कोई ऐसा शुभ या अशुभ कर्म किया होगा जिसका परिणाम वे प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार दोनों ही दृष्टियों से यह आक्षेप समुचित प्रतीत नहीं होता।

कर्म-सिद्धान्त पर मेकेंजी के आक्षेप और उनका प्रत्युत्तर

पाश्चात्य आचारदर्शन के प्रमुख विद्वान् जान मेकेंजी ने अपनी पुस्तक हिन्दू एथिक्स में कर्म-सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप किये हैं—

१. कर्म-सिद्धान्त में अनेक ऐसे कर्मों को भी शुभाशुभ फल देनेवाला मान लिया गया है जिन्हें सामान्यतया नैतिक दृष्टि से अच्छा या बुरा नहीं कहा जाता है।[2]

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १।१।३३५-३६.

२. हिन्दू एथिक्स, पृ० २१८.

वस्तुतः मेकेंजी का यह आक्षेप कर्म-सिद्धान्त पर न होकर मात्र प्राच्य और पाश्चात्य आचारदर्शन के अन्तर को स्पष्ट करता है। पाश्चात्य विचारणा में अनेक प्रकार के धार्मिक क्रिया-कर्मों, निषेधात्मक एवं वैयक्तिक सद्गुणों—जैसे उपवास, ध्यानादि तथा पशु जगत् में प्रदर्शित सहानुभूति एवं करुणा को नैतिक दृष्टि से शुभाशुभ नहीं माना गया है। लेकिन दृष्टिकोण का भेद है। क्योंकि पाश्चात्य आचारदर्शन नीतिशास्त्र को मानव समाज के पारस्परिक व्यवहारों तक सीमित करता है, अतः यह दृष्टिभेद स्वाभाविक है। भारतीय चिन्तन का आचारदर्शन के प्रति व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण इन्हें नैतिक मूल्य प्रदान कर देता है।

२. मैकेंजी का दूसरा आक्षेप यह है कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार पुरस्कार और दण्ड दो बार दिये जाते हैं। एक बार स्वर्ग और नरक में, और दूसरी बार भावी जन्म में।[1]

मैकेंजी का यह आक्षेप परलोक की धारणा को नहीं समझ पाने के कारण है। भावी जन्म में स्वर्ग और नरक के जीवन भी सम्मिलित हैं। कोई भी कर्म केवल एक ही बार अपना फल प्रदान करता है। या तो वह अपना फल स्वर्गीय जीवन में दे या नारकीय जीवन में अथवा इसी लोक में मानवीय एवं पाशविक जीवनों में।

३. कर्म-सिद्धान्त ईश्वरीय कृपा के विचार के विरोध में जाता है।[2]

जहाँतक मेकेंजी के इस आक्षेप का प्रश्न है, जैन और बौद्ध दृष्टिकोण निश्चित रूप से अपने कर्म-सिद्धान्त की धारणा में ईश्वरीय कृपा को कोई स्थान नहीं देते हैं। जैनदर्शन के अनुसार व्यक्ति स्वयं ही अपने विकास और पतन का कारण बनता है, अतः उसके लिए ईश्वरीय कृपा का कोई अर्थ नहीं है। गीता में ईश्वरीय कृपा का स्थान है, लेकिन साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि ईश्वर कर्म-नियम के अनुसार ही व्यवहार करता है। यह सत्य है कि कर्म-सिद्धान्त और ईश्वरीय कृपा ये दो धारणाएँ एक-दूसरे के विरोध में जाती हैं, लेकिन गीता के अनुसार यह मान लिया जाय कि ईश्वर कर्म-नियम के अनुसार शासन करता है, तो दोनों धारणाओं में कोई विरोध नहीं रह जाता है। कर्म-सिद्धान्त किसी ईश्वर की कृपा की भीख की अपेक्षा आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाता है।

४. कर्म-सिद्धान्त में लोकहित के लिए उठाये गये कष्ट और पीड़ा की प्रशंसा निरर्थक है।[3] इस आक्षेप से मेकेंजी का तात्पर्य यह है कि यदि कर्म-सिद्धान्त में निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति लोकहित के कार्य करता है तो भी वह प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह वस्तुतः लोकहित नहीं वरन् स्वहित ही कर रहा है। उसके द्वारा किये गये लोकहित के कार्यों का प्रतिफल उसे मिलनेवाला है। कर्म-सिद्धान्त के

१. हिन्दू एथिक्स पृ० २२०.
२. वही, पृ० २२३.
३. वही, पृ० २२४.

अनुसार लोकहित में भी स्वार्थ-बुद्धि होती है, अतः लोकहित के कार्य प्रशंसनीय नहीं माने जा सकते।

यद्यपि यह सत्य है कि कर्म-सिद्धान्त में आस्था रखने पर लोकहित में भी स्वार्थ-बुद्धि हो सकती है और इस आधार पर व्यक्ति का लोकहित का कर्म प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता। स्वार्थ-बुद्धि से किये गये लोकहित कर्मों को भारतीय आचारदर्शनों में भी प्रशंसनीय नहीं कहा गया है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें लोकहित का कोई स्थान नहीं है। भारतीय आचारदर्शनों में तो निष्काम-बुद्धि से किया गया लोकहित ही सदैव प्रशंसनीय माना गया है।

इस प्रश्न पर पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि से भी विचार कर लिया जाय। यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से भारतीय आचारदर्शन अपने कर्म-सिद्धान्त के द्वारा यह अवश्य स्वीकार करते है कि व्यक्ति किसी भी दूसरे का हित-अहित नहीं कर सकता, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से या निमित्त कारण की दृष्टि से यह अवश्य माना गया है कि व्यक्ति दूसरे के सुख-दुःख का निमित्त कारण बन सकता है और इस आधार पर उसका लोक-हित प्रशंसनीय भी माना जा सकता है। व्यावहारिक नैतिकता की दृष्टि से लोकहित का महत्त्व भारतीय आचारदर्शनों में स्वीकृत रहा है। डॉ० दयानन्द भार्गव के शब्दों में आध्यात्मिक आत्मसाक्षात्कार, न कि समाजसेवा, जीवन का परम साध्य है; लेकिन समाजसेवा आध्यात्मिक आत्मसाक्षात्कार की सीढ़ी का प्रथम पत्थर ही सिद्ध होती है।[1]

५. मैकेंजी के विचार में कर्म-सिद्धान्त के आधार पर मानव जाति की पीड़ाओं एवं दुःखों का कोई कारण नहीं बताया जा सकता।[2] इस आक्षेप का समाधान यह है कि कोई भी कार्य अकारण नहीं हो सकता। उसका कोई न कोई कारण तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। यदि मानवता की पीड़ा का कारण व्यक्ति नहीं है तो या तो उसका कारण ईश्वर होगा या प्रकृति। यदि इसका कारण ईश्वर है तो वह निर्दयी ही सिद्ध होगा और यदि इसका कारण प्रकृति है तो मनुष्य के सम्बन्ध में यान्त्रिकता की धारणा को स्वीकार करना होगा। लेकिन मानव-व्यवहार के यान्त्रिकता के सिद्धान्त में नैतिक और जीवन के उच्च मूल्यों का कोई स्थान नहीं रहेगा। अतः मानवता की पीड़ा का कारण व्यक्ति को ही मानना पड़ेगा। समग्र मानवता की पीड़ा का कारण प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही है। जैन-विचारणा में इस सम्बन्ध में सामुदायिक कर्म की धारणा को स्वीकार किया गया है, जिसका बन्धन और विपाक दोनों ही समग्र समाज के सदस्यों को एक साथ होता है। यही एक ऐसी धारणा है जो इस आक्षेप का समुचित समाधान कर सकती है।

१. जैन ऐथिक्स, पृ० १०.
२. वही, पृ० २७.

६. मेकेंजी के विचार में कर्म-सिद्धान्त यान्त्रिक रूप में कार्य करता है और कर्म के मनोवैज्ञानिक पक्ष या प्रयोजन को विचार में नही लेता है।[1]

मेकेंजी का यह दृष्टिकोण भी भ्रान्तिपूर्ण ही है। कर्म-सिद्धान्त कर्म के मनोवैज्ञानिक पक्ष या कर्ता के प्रयोजन को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। कर्म के मानसिक पक्ष के अभाव में तो बौद्ध और वैदिक विचारणाओं में कोई बन्धन ही नहीं माना गया है। यद्यपि जैन विचारणा ईर्यापथिक बन्ध के रूप में कर्म के बाह्य पक्ष को स्वीकार करती है, लेकिन उसके अनुसार भी बन्धन का प्रमुख कारण तो यही मनोवैज्ञानिक पक्ष है। जैन साहित्य में तन्दुल मत्स्य की कथा स्पष्ट रूप से यह बताती है कि कर्म की बाह्य क्रियान्विति के अभाव में भी मात्र वैचारिक या मनोवैज्ञानिक पक्ष ही बन्धन का सृजन कर देता है, अतः कर्म-सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक पक्ष या कर्म के मानसिक पहलू की उपेक्षा नहीं हुई है।

इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त पर किये जानेवाले आक्षेप नैतिकता की दृष्टि से निर्बल ही सिद्ध होते हैं। कर्म-सिद्धान्त में अनन्य आस्था रखकर ही नैतिक जीवन में आगे बढ़ा जा सकता है।

☐

१. जैन एथिक्स, पृ० ८७.

११

कर्म का अशुभत्व, शुभत्व एवं शुद्धत्व

११ कर्म का अशुभत्व, शुभत्व एवं शुद्धत्व

§ १. तीन प्रकार के कर्म

जैन दृष्टि से 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति ठीक है, लेकिन जैन दर्शन में सभी कर्म अथवा क्रियाएँ समान रूप से बन्धनकारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये हैं—एक को कर्म कहा गया है, दूसरे को अकर्म। समस्त साम्परायिक क्रियाएँ कर्म की कोटि में आती हैं और ईर्यापथिक क्रियाएँ अकर्म की कोटि मे आती हैं। नैतिक दर्शन की दृष्टि से प्रथम प्रकार के कर्म ही नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे हैं। उन्हें अतिनैतिक कहा जा सकता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आनेवाले सभी कर्म भी एकसमान नहीं होते हैं। उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य-कर्म और पाप-कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) ईर्यापथिक कर्म (अकर्म) (२) पुण्य-कर्म और (३) पाप-कर्म। बौद्ध दर्शन में भी तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं—(१) अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म (२) कुशल या शुक्ल कर्म और (३) अकुशल या कृष्ण कर्म। गीता में भी तीन प्रकार के कर्म निरूपित हैं—(१) अकर्म (२) कर्म (कुशल कर्म) और (३) विकर्म (अकुशल कर्म)। जैन दर्शन का ईर्यापथिक कर्म, बौद्ध दर्शन का अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म तथा गीता का अकर्म समान हैं। इसी प्रकार जैन दर्शन का पुण्य कर्म, बौद्ध दर्शन का कुशल (शुक्ल) कर्म तथा गीता का सकाम सात्विक कर्म भी समान हैं। जैन दर्शन का पाप कर्म बौद्ध दर्शन का अकुशल (कृष्ण) कर्म तथा गीता का विकर्म है।

पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से भी कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) अतिनैतिक (२) नैतिक और (३) अनैतिक। जैन दर्शन का ईर्यापथिक कर्म अतिनैतिक कर्म है, पुण्य कर्म नैतिक कर्म है, और पापकर्म अनैतिक कर्म है। गीता का अकर्म अतिनैतिक शुभ कर्म या कर्म नैतिक और विकर्म अनैतिक है। बौद्ध दर्शन में अनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म को क्रमशः अकुशल, कुशल और अव्यक्त कर्म अथवा कृष्ण, शुक्ल और अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहा गया है। इन्हें निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :—

	कर्म	पाश्चात्य आचारदर्शन	जैन	बौद्ध	गीता
१.	शुद्ध	अतिनैतिक कर्म	ईर्यापथिक कर्म	अव्यक्त कर्म	अकर्म
२.	शुभ	नैतिक कर्म	पुण्य कर्म	कुशल (शुक्ल) कर्म	कर्म
३.	अशुभ	अनैतिक कर्म	पाप-कर्म	अकुशल (कृष्ण) कर्म	विकर्म

आध्यात्मिकता या नैतिक पूर्णता के लिए हमें क्रमशः अशुभ कर्मों से शुभ कर्मों की ओर और शुभ कर्मों से शुद्ध कर्मों की ओर बढना होगा। आगे हम इसी क्रम से उनपर थोड़ी अधिक गहराई से विवेचन करेंगे।

§ २. अशुभ या पाप कर्म

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा की है कि वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है।[1] सामाजिक सन्दर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीडनं)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते हैं, पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं, सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण

जैन दृष्टिकोण—जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म १८ प्रकार के हैं—१. प्राणातिपात (हिंसा), २. मृषावाद (असत्य भाषण) ३. अदत्तादान (चौर्य कर्म), ४. मैथुन (काम-विकार), ५. परिग्रह (ममत्व, मूर्छा, तृष्णा या संचय-वृत्ति), ६. क्रोध (गुस्सा), ७. मान (अहंकार), ८. माया (कपट, छल, षड्यन्त्र और कूटनीति), ९. लोभ (संचय या संग्रह की वृत्ति), १०. राग (आसक्ति), द्वेष (घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि), ११. क्लेश (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि), १२. अभ्याख्यान (दोषारोपण), १३. पिशुनता (चुगली), १४. पर-परिवाद (परनिन्दा), १५. रति-अरति (हर्ष और शोक), १६. माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण), १७. मिथ्यादर्शनशल्य (अयथार्थ जीवनदृष्टि)।[2]

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधारों पर निम्न १० प्रकार के पापों या अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है।[3]

(अ) कायिक पाप—१. प्राणातिपात (हिंसा), २. अदत्तादान (चोरी), ३. कामेसुमिच्छाचार (कामभोग सम्बन्धी दुराचार)।

(ब) वाचिक पाप—४. मुसावाद (असत्य भाषण), ५. पिसुनावाचा (पिशुन वचन), ६. फरूसावाचा (कठोर वचन), ७. सम्फलाप (व्यर्थ आलाप)।

(स) मानसिक पाप—८. अभिज्झा (लोभ) ९. व्यापाद (मानसिक हिंसा या अहित चिन्तन), १०. मिच्छादिट्ठी (मिथ्या दृष्टिकोण)।

१. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ५, पृ० ८७६.
२. जैन सिद्धान्त बोल-संग्रह, भाग ३, पृ० १८२.
३. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ४८०.

अभिधम्मत्थसंगहो में निम्न १४ अकुशल चैत्तसिक बताये गये हैं[1]—

१. मोह (चित्त का अन्धापन), मूढता, २. अहिरिक (निर्लज्जता), ३. अनोत्तप्पं–अ-भीरुता (पाप कर्म में भय न मानना), ४. उद्धच्चं-उद्धतपन (चंचलता), ५. लोभो (तृष्णा), ६. दिट्ठि–मिथ्यादृष्टि, ७. मानो–अहंकार, ८. दोसो–द्वेष, ९ इस्सा–ईर्ष्या (दूसरे की सम्पत्ति को न सह सकना), १०. मच्छरियं–मात्सर्य्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), ११. कुक्कुच्च-कौकृत्य (कृत-अकृत के बारे में पश्चात्ताप), १२. थीनं, १३. मिद्धं, १४. विचिकिच्छा–विचिकित्सा (संशय)।

गीता का दृष्टिकोण

गीता मे भी जैन और बौद्ध दर्शन में स्वीकृत इन पापाचरणों या विकर्मों का उल्लेख आसुरी सम्पदा के रूप में किया गया है। गीतारहस्य में तिलक ने मनुस्मृति के आधार पर निम्न दस प्रकार के पापाचरण का वर्णन किया है।[2]

(अ) कायिक—१. हिंसा, २. चोरी, ३. व्यभिचार।

(ब) वाचिक—४. मिथ्या (असत्य), ५. ताना मारना, ६. कटु वचन, ७. असंगत वाणी।

(स) मानसिक—८. परद्रव्य की अभिलाषा, ९. अहित-चिन्तन, १०. व्यर्थ आग्रह।

पाप के कारण

जैन विचारकों के अनुसार पापकर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—(१) राग (आसक्ति), (२) द्वेष (घृणा), (३) मोह (अज्ञान)। जीव राग, द्वेष और मोह से ही पापकर्म करता है। बुद्ध के अनुसार भी पापकर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—(१) लोभ (राग), (२) द्वेष और (३) मोह। गीता के अनुसार काम (राग) और क्रोध ही पाप के कारण हैं।

§ ३. पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश में सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं—शुभास्रव पुण्य है।[3] लेकिन पुण्य मात्र आस्रव नहीं है, वह बन्ध और विपाक भी है। वह हेय ही नहीं है, उपादेय भी है। अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पुण्य (अशुभ) कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।[4] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप)

---

१. अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० १९-२०.

२. मनुस्मृति, १२।५-७.

३. तत्त्वार्थसूत्र, ६।४.

४. योगशास्त्र, ४।१०७.

कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[1] आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशील कुमार लिखते हैं, "पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।[2] जैन कवि बनारसीदासजी समयसार नाटक में कहते हैं कि "जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता है वही पुण्य है।"[3]

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म वे शुभ पुद्गल-परमाणु हैं जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भावपुण्य हैं और शुभ पुद्गल-परमाणु द्रव्यपुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण कहा गया है।[4] स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित हैं[5]—

१. अन्नपुण्य—भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।
२. पानपुण्य—तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
३. लयनपुण्य—निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
४. शयनपुण्य—शय्या, बिछौना आदि देना।
५. वस्त्रपुण्य—वस्त्र का दान देना।
६. मनपुण्य—मन से शुभ विचार करना। जगत् के मंगल की शुभकामना करना।
७. वचनपुण्य—प्रशस्त एवं संतोष देनेवाली वाणी का प्रयोग करना।

१. स्थानांग टीका, १।११-१२.
२. जैन धर्म, पृ० ८४.
३. समयसार नाटक उत्थानिका, २८.
४. भगवतीसूत्र, ७।१०।१२१.
५. स्थानांगसूत्र, ९.

८. कायपुण्य—रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
९. नमस्कारपुण्य—गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

बौद्ध आचारदर्शन में भी पुण्य के इस दानात्मक स्वरूप की चर्चा मिलती है। संयुक्तनिकाय में कहा गया है, अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन एवं चादर के दानी पण्डित पुरुष में पुण्य की धाराएँ आ गिरती हैं। अभिधम्मत्थसंगहो में (१) श्रद्धा, (२) अप्रमत्तता (स्मृति), (३) पाप कर्म के प्रति लज्जा, (४) पाप कर्म के प्रति भय, (५) अलोभ (त्याग), (६) अद्वेष (मैत्री), (७) समभाव, (८) मन की पवित्रता शरीर की प्रसन्नता (१०) मन का हलकापन, (११) शरीर का हलकापन, मन की मृदुता, (१२) शरीर की मृदुता, (१३) मन की सरलता, शरीर की सरलता आदि को भी कुशल चैतसिक कहा गया है।[१]

जैन और बौद्ध दर्शन में पुण्यविषयक विशेष अन्तर यह है कि जैन दर्शन में संवर, निर्जरा और पुण्य में अन्तर किया गया है, किन्तु बौद्ध दर्शन में ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं है। जैनाचारदर्शन में सम्यक्दर्शन (श्रद्धा), सम्यक्ज्ञान (प्रज्ञा) और सम्यक्-चारित्र (शील) संवर और निर्जरा के अन्तर्गत हैं और बौद्ध आचारदर्शन में धर्म, संघ और बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा पुण्य (कुशल कर्म) के अन्तर्गत हैं।

§ ४. पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं—(१) कर्म का बाह्य स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव और (२) कर्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन-सा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्त्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्टरूप से कहती है कि जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार डाले तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है।[२] धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है (नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजासहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।[३] बौद्ध दर्शन में कर्त्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्र-कृतांगसूत्र के आर्द्रक सम्वाद में भी मिलता है।[४] जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का

१. अभिधम्मत्थसंगहो, चैतसिक विभाग.
२. गीता, १८।१७.
३. धम्मपद, २४९.
४. सूत्रकृतांग, २।६।२७-४२.

आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी लिखते हैं, 'शुभ-अशुभ कर्म के बंध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये परन्तु डॉक्टर तो पाप-कर्म के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डॉक्टर अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।[1] पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं, पुण्य-बंध और पाप-बंध की सच्ची कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में भी कर्मों की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं, फिर भी उसमें कर्म का बाह्य-स्वरूप उपेक्षित नहीं है। निश्चयदृष्टि से तो मनोवृत्तियाँ ही कर्मों की शुभाशुभता की निर्णायक हैं, फिर भी व्यवहारदृष्टि से कर्म का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग में आर्द्रककुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं कि जो मांस खाता हो—चाहे न जानते हुए ही खाता हो—तो भी उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नहीं खाते, इसलिए दोष (पाप) नहीं लगता ऐसा कहना असत्य नहीं तो क्या है ?[3] इससे स्पष्ट है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक दृष्टि या लोक-व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है, क्योंकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वयं जान सकता है, दूसरा नहीं। जैन दृष्टि एकांगी नहीं है, वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है। वह व्यक्ति-सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज-सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आंतरिक) दोनों का मूल्य है। योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें मनोवृत्ति ही प्रमुख कारण है। वह वृत्ति और क्रिया में विभेद नहीं मानती। उसकी समन्वयवादी दृष्टि में मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं। मन में शुभ भाव हो तो पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है कि मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या सयमी पुरुषों का लक्षण है ? उसकी दृष्टि में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्मप्रवंचना है। मानसिक हेतु पर ही जोर देनेवाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है, "कर्म-बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बतानेवाले इस

१. जैन धर्म, पृ० १६०.

२. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० २२६.

३. सूत्रकृतांग, २।६।२७-४२.

वाद को माननेवाले कितने ही लोग ससार मे फँसते रहते है कि पाप लगने के तीन स्थान है—स्वयं करने से, दूसरे से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पाप-मुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए जो दोष करता है, उसे निर्दोष नही माना जा सकता, क्योंकि वह सयम (वासना-निग्रह) में शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बाते मानकर पाप मे पड़े हैं।[1]

पाश्चात्य आचारदर्शन में भी सुखवादी दार्शनिक कर्म की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं, जब कि मार्टिन्यू कर्मप्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन दर्शन के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य है—एक का आधार लोकदृष्टि है तथा दूसरी का आधार परमार्थ-दृष्टि या शुद्धदृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है, अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है।

कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होनेवाले परिणाम को, दोनो स्थितियों मे किस प्रकार का कर्म पुण्य-कर्म या उचित कर्म कहा जायेगा और किस प्रकार का कर्म पाप-कर्म या अनुचित कर्म कहा जायेगा, इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में पुण्य पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहाँ कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति-सापेक्ष है, वहाँ पुण्य-पाप का विचार समाज-सापेक्ष है। जब हम कर्म-अकर्म या कर्मबन्ध का विचार करते हैं, तो वैयक्तिक कर्म-प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है। लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते है तो समाजकल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है। उस सन्दर्भ मे वीतराग या अनासक्त जीवनदृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धन या अबन्धन का आधार है। लेकिन शुभ और अशुभ दोनों में ही राग तो होता ही है, राग के अभाव मे तो कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक (शुद्ध) होगा। शुभाशुभ कर्मों में प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नही, वरन् उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त-राग शुभ या पुण्यबन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त-राग अशुभ या पापबन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसमें द्वेष की कमी के आधार पर निर्भर करती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, यथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और मन्द होगी वह राग उतना प्रशस्त

१. सूत्रकृतांग, १।१।२४-२९.

होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी, राग उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेषविहीन राग या प्रशस्त राग ही निष्काम प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम से परार्थ या परोपकारवृत्ति का उदय होता है जो शुभ का सृजन करती है। उसी से लोक-मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य-कर्म निस्सृत होते है, जबकि द्वेषयुक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ-वृत्ति का विकास करता है। उससे अशुभ, अमंगलकारी पापकर्म निस्सृत होते है। संक्षेप में जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होता है वह पुण्य कर्म है और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होता है वह पाप कर्म है।

जैन आचारदर्शन पुण्य कर्मो के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक जोर देता है वे सभी समाज-सापेक्ष हैं। वस्तुतः शुभ-अशुभ के वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप की समग्र चिन्तना का सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि 'परोपकार पुण्य है और परपीड़न पाप है।' जैन विचारकों ने पुण्य-बन्ध के दान, सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया है उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक-मंगल से है। इसी प्रकार पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है वे सभी लोक-अमंगलकारी तत्त्व है।[1] इस प्रकार जहाँ तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है, हमे सामाजिक सदर्भ में उसे देखना होगा; यद्यपि बन्धन की दृष्टि से विचार करते समय कर्ता के आशय को भुलाया नहीं जा सकता।

§ ५. सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार

यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किये गये व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ मे होता है। लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौन-सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौन-सा अशुभ होगा इसका निर्णय किस आधार पर किया जाये? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यही है कि जैसा व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल समझते हैं वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमे अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना यही शुभाचरण है। इसके विपरीत जो व्यवहार हमें अपने लिए प्रतिकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमे अपने लिए अनुकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नही करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियों का यही संदेश है। संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

जैन दर्शन का दृष्टिकोण

जैन दर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत्

१. देखिए—अठारह पाप स्थान, प्रतिक्रमण सूत्र।

दृष्टि है, वही नैतिक कर्मों का सृष्टा है।[1] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता।[2] सूत्रकृतांग के अनुसार भी धर्म-अधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।[3] सभी को जीवित रहने की इच्छा है। कोई भी मरना नहीं चाहता। सभी को अपने प्राण प्रिय हैं। सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा किसी भी प्राण का हनन नहीं हो।[4]

बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन में भी सर्वत्र आत्मवत् दृष्टि को ही कर्म के शुभत्व का आधार माना गया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि जैसा मैं हूँ वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ, इस प्रकार सभी को अपने समान समझकर किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए।[5] धम्मपद में भी यही कहा है कि सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, सबको जीवन प्रिय है; अतः सबको अपने समान समझकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करे। सुख चाहनेवाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से जो दुःख देता है वह मरकर सुख नहीं पाता। लेकिन जो सुख चाहनेवाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से दुःख नहीं देता वह मरकर सुख को प्राप्त होता है।[6]

हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण

मनुस्मृति, महाभारत तथा गीता में भी हमें इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। गीता में कहा गया है कि जो सुख और दुःख सभी में दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखकर व्यवहार करता है वही परमयोगी है।[7] महाभारत में अनेक स्थानों पर इस विचार का समर्थन मिलता है। उसमें कहा गया है कि जैसा अपने लिए चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करे।[8] त्याग-दान, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सभी में दूसरे को अपनी आत्मा के समान मानकर व्यवहार करना चाहिए।[9] जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्रति अपने जैसा व्यवहार करता है वही स्वर्ग

१. अनुयोगद्वारसूत्र, १२९.
२. दशवैकालिक, ४।९.
३. सूत्रकृतांग, २।२।४, पृ० १०४.
४. दशवैकालिक, ६।११.
५. सुत्तनिपात, ३७।२७.
६. धम्मपद, १२९, १३१, १३२.
७. गीता, ६।३२.
८. महाभारत शांति पर्व, २५८।२१.
९. महाभारत अनुशासन पर्व, ११३।६-१०.

के सुखों को प्राप्त करता है।[1] जो व्यवहार स्वयं को प्रिय लगता है वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति किया जाय। हे युधिष्ठिर, धर्म और अधर्म की पहचान का यही लक्षण है।[2]

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य चिन्तन में भी सामाजिक जीवन में दूसरों के प्रति व्यवहार करने का यह दृष्टिकोण स्वीकृत है कि जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही दूसरे के लिए करो। कांट ने भी कहा है कि केवल उसी नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा करते हो। मानवता, चाहे वह तुम्हारे अन्दर हो या किसी अन्य के, सदैव साध्य बनी रहे, साधन कभी न हो।[3] कांट के इस कथन का आशय भी यही है कि नैतिक जीवन के संदर्भ में सभी को अपने समान मानकर व्यवहार करना चाहिए।

§ ६. शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर

जैन दृष्टिकोण

जैन विचारणा में शुभ-अशुभ अथवा मंगल-अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गयी है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार तत्त्व नौ हैं जिनमें पुण्य और पाप स्वतंत्र तत्त्व हैं।[4] तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये सात तत्त्व गिनाये हैं, इनमें पुण्य और पाप को नहीं गिनाया है।[5] लेकिन यह विवाद महत्त्वपूर्ण नहीं क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है वह भी उनको आस्रव तत्त्व के अन्तर्गत मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आस्रव नहीं हैं, वरन् उनका बंध भी होता है और विपाक भी होता है। अतः आस्रव के शुभास्रव और अशुभास्रव ये दो विभाग करने से काम नहीं बनता, बल्कि बंध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे। इस कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एवं पुण्य को स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में गिन लिया गया है।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण-मार्ग के साधक के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है, क्योंकि दोनों ही बन्धन के कारण हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है, नैतिक पूर्णता नहीं आती। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है।

१. महाभारत अनुशासन पर्व, ११३।६-१०.
२. सुभाषित संग्रह से उद्धृत.
३. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २६८ पर उद्धृत.
४. उत्तराध्ययनसूत्र, २८।१४.
५. तत्त्वार्थसूत्र, १।४.

ऋषिभासित सूत्र में ऋषि कहता है, पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार संतति के मूल हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य-पाप दोनों को बन्धन का कारण कहकर दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार में वे कहते है कि अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं, फिर भी पुण्य कर्म संसार (बन्धन) का कारण है जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लौह-बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है, उसी प्रकार जीवकृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन के कारण हैं।[2] फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण-बेड़ी कहकर उसकी पाप से किञ्चित् श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं।[3] यही बात पं० जयचन्द्रजी भी कहते हैं—

> **पुण्य पाप दोऊ करम, बंधरूप दुई मानि।**
> **शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूं चरन हित जानि॥[4]**

जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण की दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को त्यागना ही होता है, फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना अनावश्यक है उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म-दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है, उसे भी छोड़ना होता है। जिस प्रकार साबुन मैल को दूर करता है और मैल छूटने पर स्वयं अलग हो जाता है, वैसे ही पुण्य भी पापरूप मल को अलग करने में सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वयं भी अलग हो जाता है। अतः व्यक्ति जब अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है, तब उसका शुभ कर्म भी शुद्ध कर्म बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है, अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निस्सृत होते हैं, वे शुद्ध (ईर्यापथिक) होते हैं।

पुण्य (शुभ) कर्म के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुण्योपार्जन की उपर्युक्त क्रियाएँ जब अनासक्तभाव से की जाती हैं, तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इसी प्रकार संवर और निर्जरा के कारण संयम और तप जब आसक्तभाव या फलाकांक्षा (निदान अर्थात् उनके प्रतिफल के रूप में किसी निश्चित फल की कामना करना) से युक्त होते हैं, तो वे कर्म क्षय अथवा निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का ही कारण बनते हैं, चाहे वह सुखद

---

१. इसिभासियं सुत्त, ६।२.
२. समयसार, १४५-१४६.
३. प्रवचनसारटीका, १।७२.
४. समयसारटीका. पृ० १०७.

फल के रूप में क्यों न हों। जैनाचारदर्शन मे राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्तिपूर्वक किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का कारण माना गया है। यहाँ पर गीता का अनासक्त कर्म-योग जैन दशन के अत्यन्त समीप आ जाता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्ष्य अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर शुभ से शुद्धकर्म (वीतराग दशा) की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्धोपयोग ही जैन नैतिकता का अन्तिम साध्य है।

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन भी जैन दर्शन के समान नैतिक साधना की अन्तिम अवस्था मे पुण्य और पाप दोनों से ऊपर उठने की बात कहता है और इस प्रकार वह भी समान विचारों का प्रतिपादन करता है। भगवान् बुद्ध सुत्तनिपात मे कहते है कि जो पुण्य और पाप को दूर कर शांत (सम) हो गया है इस लोक और परलोक (के यथार्थ स्वरूप) को जान कर (कर्म) रज रहित हो गया है, जो जन्म-मरण से परे हो गया है, वह श्रमण स्थिर, स्थितात्मा (तथता) कहलाता है।[1] सभिय परिव्राजक द्वारा बुद्ध-वंदना मे यही बात दोहरायी गयी है। वह बुद्ध के प्रति कहता है, 'जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरीक कमल पानी मे लिप्त नही होता, उसी प्रकार आप पुण्य और पाप दोनों मे लिप्त नहीं होते।[2] इस प्रकार बौद्ध दर्शन का भी अन्तिम लक्ष्य शुभ और अशुभ से ऊपर उठना है।

गीता का दृष्टिकोण

गीताकार ने भी यह संकेत किया है कि मुक्ति के लिए शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मफलो से मुक्त होना आवश्यक है। श्रीकृष्ण कहते है, हे अर्जुन, तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है अथवा तप करता है वह सभी शुभाशुभ कर्म मुझे अर्पित कर दे अर्थात उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति या कर्तृत्वभाव मत रख। इस प्रकार सन्यास-योग से युक्त होने पर तू शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म-बन्धन से छूट जायेगा और मुझे प्राप्त होवेगा।[3] गीता-कार स्पष्ट करता है कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म बन्धन हैं और मुक्ति के लिए उनसे ऊपर उठना आवश्यक है। बुद्धिमान् मनुष्य शुभ और अशुभ या पुण्य और पाप दोनों को त्याग देता है।[4] सच्चे भक्त का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो शुभ और अशुभ दोनो का परित्याग कर चुका है अर्थात् जो दोनों से ऊपर उठ चुका है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।[5] डा० राधाकृष्णन् ने गीता के परिचयात्मक निबन्ध में भी इसी धारणा को प्रस्तुत किया। वे आचार्य कुन्दकुन्द के साथ सम-स्वर होकर

---

१. सुत्तनिपात, ३२।११.
२. वही, ३२।३८.
३. गीता, ९।२८.
४. वही, २।५०.
५ वही, १२।१६.

कहते है, चाहे हम अच्छी इच्छाओं के बन्धन में बँधे हों या बुरी इच्छाओं के, बन्धन तो दोनः ही हैं। इससे क्या अन्तर पड़ता है कि जिन जंजारों में हम बँधे हैं वे सोने की हैं या लोहे की।[1] जैन दर्शन के समान गीता भी यही कहती है कि जब पुण्य कर्मो के सम्पादन द्वारा पाप कर्मों का क्षय कर दिया जाता है, तब वह पुरुष राग-द्वेष के द्वन्द्व से मुक्त होकर दृढ़ निश्चयपूर्वक मेरी भक्ति करता है।[2] इस प्रकार गीता भी नैतिक जोवन के लिए अशुभ से शुभ कर्म की ओर और शुभ कर्म से शुद्ध या निष्काम कर्म की ओर बढ़ने का संकेत देती है। गीता का अन्तिम लक्ष्य भी शुभाशुभ से ऊपर निष्काम जीवन-दृष्टि का निर्माण है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

अनेक पाश्चात्य विचारकों ने नैतिक जीवन की पूर्णता के लिए शुभाशुभ से परे जाना आवश्यक माना है। ब्रेडले का कहना है कि नैतिकता हमें शुभाशुभ से परे ले जाती है।[3] नैतिक जीवन के क्षेत्र मे शुभ और अशुभ का विरोध बना रहता है लेकिन आत्म-पूर्णता की अवस्था मे यह विरोध नही रहना चाहिए। अतः पूर्ण आत्म-साक्षात्कार के लिए हमे नैतिकता (शुभाशुभ) के क्षेत्र से ऊपर उठना होगा। ब्रेडले ने नैतिकता के क्षेत्र मे ऊपर धर्म (आध्यात्म) का क्षेत्र माना है। उनके अनुसार, नैतिकता का अन्त धर्म मे होता है, जहाँ व्यक्ति शुभाशुभ के द्वंद्व से ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वे लिखते हैं कि अन्त मे हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ प्रक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहाँ से ही आरम्भ होती है। यहाँ पर हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य मे चरम अवस्था मे फलित होती है और सर्वत्र हम उस अमर प्रेम को देखते है, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमे विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है।[4]

ब्रेडले ने नैतिकता और धर्म में जो भेद किया, वैसा ही भेद भारतीय दर्शनों ने व्यावहारिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता मे किया है। व्यावहारिक नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है। यहाँ आचरण की दृष्टि समाज-सापेक्ष होती है और लोक-मंगल ही उसका साध्य है। पारमार्थिक नैतिकता का क्षेत्र शुद्ध चेतना (अनासक्त या वीतराग जीवन दृष्टि) है, यह व्यक्ति-सापेक्ष है। व्यक्ति को बन्धन से बचाकर मुक्ति की ओर ले जाना ही इसका अन्तिम साध्य है।

§ ७. शुद्ध कर्म (अकर्म)

शुद्ध कर्म वह जीवन-व्यवहार है जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन मे नहीं डालतीं। अबन्धक कर्म ही शुद्धकर्म हैं। जैन, बौद्ध और

---

१. भगवद्गीता (र.०), पृ० ५६.

२. गीता, ७।२८.

३. एथिकल स्टडीज, पृ० ३१४.

४. वही, पृ० ३४२.

गीता के आचारदर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते हैं कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन में क्या सम्बन्ध है ? क्या 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति सर्वांशतः सत्य है ? जैन, बौद्ध एवं गीता के आचारदर्शनों में यह उक्ति कि 'कर्म से प्राणी बन्धन में आता है' निरपेक्ष सत्य नहीं है। एक तो कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं हैं, फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या हैं, अत्यन्त कठिन है। गीता कहती है कि कर्म (बन्धक कर्म) क्या हैं और अकर्म (अबंधक कर्म) क्या है, इसके विषय में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।[1] कर्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का विषय अत्यन्त गहन है। यह कर्म-समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समानरूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर वह अशुद्ध है और कर्म-बन्धन का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।[2] बन्धन की दृष्टि से कर्म का विचार उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता, उसमें कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्ता के प्रयोजन को, जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता।

लेकिन, कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है, यह आवश्यक है कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे, क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जायेगा।[3] नैतिक विकास के लिए बंधक और अबंधक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बंधन की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध मे जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है।

§ ८. जैन दर्शन में कर्म-अकर्म विचार

कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उसपर दो दृष्टियों से विचार किया

---

१. गीता, ४।१६.
२. सूत्रकृतांग, १।८।२२-२४.
३. गीता, ४।१६.

जा सकता है। (१) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (२) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन मे डालते है, और कुछ कर्म बन्धन मे नही डालते है। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन दर्शन मे कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप का विवेचन हमे सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृताग मे मिलता है। सूत्रकृताग मे कहा गया है कि कुछ कर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते है, कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारको की दृष्टि मे सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है जबकि दूसरे विचारको की दृष्टि मे निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध मे महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करते है कि 'कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव' ऐसा नही मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दो मे कहते है कि प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।[2] ऐसा कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते है कि अकर्म निष्क्रियता नही, वह तो सतत जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म-जागृति की दशा मे क्रियाशीलता भी अकर्म हो जाती है जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव मे निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुत किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने मे नही, वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय-भावो एवं राग द्वेष की स्थिति पर निर्भर है। जैन दर्शन के अनुसार, राग-द्वेष एवं कषाय (जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा है) ही किसी क्रिया को कर्म बना देते है जबकि कषाय एव आसक्ति से रहित होकर किया हुआ कर्म अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आस्रव या बन्धनकारक क्रियाएँ है वे ही अनासक्ति एव विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती है।[3] इस प्रकार जैन विचारणा मे कर्म और अकर्म अपने बाह्य स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते है। जैन दर्शन मे बन्धन की दृष्टि से क्रियाओ को दो भागो मे बाँटा गया है—(१) ईर्यापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (२) साम्परायिक क्रियाएँ (कर्म)। ईर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतरागदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ है जो बन्धनकारक नही है और साम्परायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ है जो बन्धनकारक है। संक्षेप मे वे समस्त क्रियाएँ जो आस्रव एव बन्ध की कारण है, कर्म है और वे समस्त क्रियाएँ जो संवर एवं निर्जरा की हेतु है, अकर्म है। जैन दृष्टि मे अकर्म या ईर्यापथिक कर्म का अर्थ है—राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तव्य अथवा शरीर-निर्वाह के लिए किया जानेवाला कर्म है और कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोहसहित क्रियाएँ। जैन दर्शन के अनुसार जो क्रिया या व्यापार राग-द्वेष और मोह से युक्त होता है वह बन्धन मे डालता है इसलिए वह

१. सूत्रकृतांग, १।८।१-२.
२ वही, १।८।३.
३. आचारांग, १।४।२।१.

कर्म है और जो क्रिया-व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्त्तव्य या शरीर-निर्वाह के लिए किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं है अतः अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन मे ईर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है उन्हें बौद्ध परम्परा अनुपचित अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हें जैन-परम्परा साम्परायिक क्रियाएँ या कर्म कहती है, उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती है। इस सम्बन्ध मे विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

§ ९ बौद्ध दर्शन में कर्म-अकर्म का विचार

बौद्ध विचारणा में भी कर्म और उनके फल देने की योग्यता के प्रश्न को लेकर महाकर्म विभंग में विचार किया गया है।[1] बौद्ध दर्शन का प्रमुख प्रश्न यह है कि कौन से कर्म उपचित होते हैं। कर्म के उपचित होने का तात्पर्य संचित होकर फल देने की क्षमता के योग्य होने से है। बौद्ध परम्परा का उपचित कर्म जैन परम्परा के विपाकोदयी कर्म से और बौद्धपरम्परा का अनुपचित-कर्म जैनपरम्परा के प्रदेशोदयीकर्म (ईर्यापथिक कर्म) से तुलनीय है। महाकर्मविभंग में कर्म की कृत्यता और उपचितता के सम्बन्ध को लेकर कर्म का एक चतुर्विध वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

१. वे कर्म जो कृत (सम्पादित) नहीं हैं लेकिन उपचित (फल प्रदाता) हैं—वासनाओं के तीव्र आवेग से प्रेरित होकर किये गये ऐसे कर्म-संकल्प जो कार्यरूप में परिणत नही हो पाये, इस वर्ग में आते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने क्रोध या द्वेष के वशीभूत होकर किसी को मारने का सकल्प किया हो, लेकिन वह उसे मारने की क्रिया को सम्पादित न कर सका हो।

२. वे कर्म जो कृत भी हैं और उपचित हैं—वे समस्त ऐच्छिक कर्म जिनको संकल्पपूर्वक सम्पादित किया गया है, इस कोटि मे आते हैं। अकृत उपचित कर्म और कृत उपचित कर्म दोनों शुभ और अशुभ हो सकते है।

३. वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित नहीं हैं—अभिधर्मकोष के अनुसार निम्न कर्म कृत होने पर उपचित नहीं होते है अर्थात् अपना फल नहीं देते हैं —

(अ) वे कर्म जिन्हें संकल्पपूर्वक नही किया गया है, अर्थात् जो सचिन्त्य नहीं हैं, उपचित नहीं होते है।

(ब) वे कर्म जो सचिन्त्य होते हुए भी सहसाकृत हैं, उपचित नहीं होते हैं। इन्हें हम आकस्मिक कर्म कह सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इन्हें विचारप्रेरित कर्म (आइडियो मोटर एक्टीविटी) कहा जा सकता है।

(स) भ्रान्तिवश किया गया कर्म भी उपचित नहीं होता।

(द) कर्म के करने के पश्चात् यदि अनुताप या ग्लानि हो, तो उस पाप का प्रकाशन करके पाप-विरति का व्रत लेने से वह कृतकर्म उपचित नहीं होता।

---

१. देखें-डेवलपमेन्ट आफ मॉरल फिलासफी इन इंडिया, पृ० १६८-१७४.

(ई) शुभ का अभ्यास करने से तथा आश्रय बल से (बुद्धादि के शरणागत हो जाने से) भी पापकर्म उपचित नहीं होता।

४. वे कर्म जो कृत भी नहीं हैं और उपचित भी नहीं हैं—स्वप्नावस्था में किये गये कर्म इसी प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार प्रथम दो वर्गों के कर्म प्राणी को बन्धन में डालते हैं और अन्तिम दो प्रकार के कर्म प्राणी को बन्धन में नहीं डालते।

बौद्ध आचारदर्शन में भी राग द्वेष और मोह से युक्त होने पर ही कर्म को बन्धन-कारक माना जाता है और राग-द्वेष और मोह से रहित कर्म को बन्धनकारक नहीं माना जाता। बौद्धदर्शन राग-द्वेष और मोह रहित अर्हत् के क्रिया-व्यापार को बन्धन-कारक नहीं मानता है, ऐसे कर्मों को अकृष्ण-अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है।

§ १०. गीता में कर्म-अकर्म का स्वरूप

गीता भी इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करती है कि कौन-सा कर्म बन्धन-कारक और कौन-सा कर्म बन्धनकारक नहीं है। गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) कर्म, (२) विकर्म, (३) अकर्म। गीता के अनुसार कर्म और विकर्म बन्धनकारक हैं और अकर्म बन्धनकारक नहीं हैं।

१. कर्म—फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, उसका नाम कर्म है।

२. विकर्म—समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, उन्हें विकर्म कहा गया है। साथ ही फल की इच्छा एवं अशुभ भावना से जो दान, तप, सेवा आदि शुभ कर्म किये जाते हैं, वे भी विकर्म कहलाते हैं। गीता में कहा गया है, जो तप मूढतापूर्वक हठ से मन, वाणी, शरीर की पीड़ासहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के विचार से किया जाता है वह तामस कहा जाता है।[1] साधारणतया मन, वाणी एवं शरीर से होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्म मात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होनेवाले कर्म भी कभी कर्ता की भावनानुसार कर्म या अकर्म के रूप में बदल जाते हैं। आसक्ति और अहंकार से रहित होकर शुद्ध भाव एवं मात्र कर्तव्य-बुद्धि से किये जानेवाले कर्म (जो बाह्यतः विकर्म प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होने से अकर्म ही हैं।[2]

३. अकर्म—फलासक्तिरहित हो अपना कर्तव्य समझकर जो भी कर्म किया जाता है उस कर्म का नाम अकर्म है। गीता के अनुसार, परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर कर्तापन के अभिमान से रहित पुरुष द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नहीं देनेवाला होने से अकर्म ही है।[3]

१. गीता, १७।१९.
२. वही, १८।१७.
३. वही, ३।१०.

§ ११. अकर्म की अर्थ-विवक्षा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार

जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन क्रिया-व्यापार को बन्धकत्व की दृष्टि से दो भागों में बाँट देते हैं—१. बन्धक कर्म और २. अबन्धक कर्म। अबन्धक क्रिया-व्यापार को जैन दर्शन में अकर्म या ईर्यापथिक कर्म, बौद्धदर्शन में अकृष्ण-अशुक्ल कर्म या अव्यक्त कर्म तथा गीता में अकर्म कहा गया है। सभी समालोच्य आचारदर्शनों की दृष्टि में अकर्म कर्म-अभाव नहीं है। जैन विचारणा के अनुसार कर्म-प्रकृति के उदय को समझकर, बिना राग-द्वेष के जो कर्म होता है वह अकर्म ही है। मन, वाणी, शरीर की क्रिया के अभाव का नाम ही अकर्म नहीं है। गीता के अनुसार, व्यक्ति की मनोदशा के आधार पर क्रिया न करनेवाले व्यक्तियों का क्रियात्यागरूप अकर्म भी कर्म बन सकता है और क्रियाशील व्यक्तियों का कर्म भी अकर्म बन सकता है। गीता कहती है, कर्मेन्द्रियों की सब क्रियाओं को त्याग क्रियारहित पुरुष (जो अपने को सम्पूर्ण क्रियाओं का त्यागी समझता है) के द्वारा प्रकट रूप से कोई काम होता हुआ न दीखने पर भी त्याग का अभिमान या आग्रह रहने के कारण उससे वह त्यागरूप कर्म होता है। उसका वह त्याग का अभिमान या आग्रह अकर्म को भी कर्म बना देता है।[1] इसी प्रकार कर्तव्य प्राप्त होने पर भय या स्वार्थवश कर्तव्य-कर्म से मुँह मोड़ना, विहित कर्मों का त्याग कर देना आदि में भी कर्म नहीं होते, परन्तु इस दशा में भी भय या रागभाव अकर्म को भी कर्म बना देता है।[2] अनासक्त वृत्ति और कर्तव्य दृष्टि से जो कर्म किया जाता है, वह कर्म राग-द्वेष के अभाव के कारण अकर्म बन जाता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म और अकर्म का निर्णय केवल शारीरिक क्रियाशीलता या निष्क्रियता से नहीं होता। कर्ता के भावों के अनुसार ही कर्मों का स्वरूप बनता है। इस रहस्य को सम्यक्रूपेण जाननेवाला ही गीताकार की दृष्टि में मनुष्यों में बुद्धिमान् योगी है।[3]

सभी विवेच्य आचारदर्शनों में कर्म-अकर्म विचार में वासना, इच्छा या कर्तृत्वभाव ही प्रमुख तत्त्व माना गया है। यदि कर्म के सम्पादन में वासना, इच्छा या कर्तृत्व-बुद्धि का भाव नही है तो वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता। दूसरे शब्दों में बन्धन की दृष्टि से वह कर्म अकर्म बन जाता है, वह क्रिया अक्रिया हो जाती है। वस्तुतः कर्म-अकर्म विचार में क्रिया प्रमुख तत्त्व नहीं है, प्रमुख तत्त्व है कर्ता का चेतन पक्ष। यदि चेतना जागृत है, अप्रमत्त है, विशुद्ध है, वासनाशून्य है, यथार्थ दृष्टि-सम्पन्न है, तो फिर क्रिया का बाह्य स्वरूप अधिक मूल्य नहीं रखता। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं, जो आत्म-तत्त्व में स्थिर है वह बोलते हुए भी नहीं बोलता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नहीं देखता है।[4] आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है, 'रागादि (भावों)

१. गीता, ३।६.
२. वही, १८।७.
३. वही, ४।१८.
४. इष्टोपदेश, ४१.

से मुक्त व्यक्ति के द्वारा आचरण करते हुए यदि हिंसा (प्राणघात) हो जाये तो वह हिंसा नहीं है[1] अर्थात् हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य मात्र बाह्य-परिणामों पर निर्भर नहीं होते, वरन् उसमें कर्ता की चित्तवृत्ति ही प्रमुख है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी स्पष्ट कहा गया है, भावों से विरक्त जीव शोकरहित हो जाता है, वह कमल-पत्र की तरह संसार में रहते हुए भी लिप्त नहीं होता।[2] गीताकार भी इसी विचार-दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहता है—जिसने कर्म-फलासक्ति का त्याग कर दिया है, जो वासनाशून्य होने के कारण सदैव ही आकांक्षारहित है और आत्मतत्त्व में स्थिर होने कारण आलम्बन-रहित है, वह क्रियाओं को करते हुए भी कुछ नहीं करता है।[3] गीता का अकर्म जैन-दर्शन के संवर और निर्जरा से भी तुलनीय है। जैन दर्शन में संवर एवं निर्जरा के हेतु किया जानेवाला समस्त क्रिया-व्यापार मोक्ष का हेतु होने से अकर्म ही माना गया है। इसी प्रकार गीता मे भी फलाकांक्षा से रहित होकर ईश्वरीय आदेश के पालनार्थ जो नियत कर्म किया जाता है, वह अकर्म ही माना गया है। दोनों में जो विचार-साम्य है, वह तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले के लिए काफी महत्त्वपूर्ण है। गीता और जैनागम आचारांग में मिलने वाला निम्न विचार-साम्य भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है, 'अग्रकर्म और मूल कर्म के भेदों में विवेक रखकर ही कर्म कर। ऐसे कर्मों का कर्ता होने पर भी वह साधक निष्कर्म ही कहा जाता है। निष्कर्मता के जीवन में उपाधियों का आधिक्य नहीं होता, लौकिक प्रदर्शन नहीं होता। उसका शरीर मात्र योगक्षेम (शारीरिक क्रियाओं) का वाहक होता है।'[4] गीता कहती है—आत्मविजेता, इन्द्रियजित् सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखनेवाला व्यक्ति कर्म का कर्ता होने पर निष्कर्म कहा जाता है। वह कर्म से लिप्त नहीं होता। जो फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म करता है, वह नैष्ठिक शान्ति प्राप्त करता है। लेकिन जो फलासक्ति से बँधा हुआ है, वह कुछ नहीं करता हुआ भी कर्म-बन्धन से बँध जाता है।[5] गीता का उपर्युक्त कथन सूत्रकृतांग के इस कथन से भी काफी निकटता रखता है—मिथ्यादृष्टि व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ फलासक्ति से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है और बन्धन का हेतु है। लेकिन सम्यक्दृष्टि व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ शुद्ध है क्योंकि वह निर्वाण का हेतु है।[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही आचारदर्शनों में अकर्म का अर्थ निष्क्रियता विवक्षित नहीं है, फिर भी तिलक के अनुसार यदि इसका अर्थ निष्काम बुद्धि से

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४५.
२. उत्तराध्ययन, ३२.९९.
३. गीता, ४।२०.
४. आचारांग, १।३।२।४, १।३।१।११०—देखिये आचारांग (संतबाल) परिशिष्ट, पृ० ३६-३७.
५. गीता, ५।७,५।१२.
६. सूत्रकृतांग, १।८।२२-२३.

किये गये प्रवृत्तिमय सांसारिक कर्म से माना जाय तो वह बुद्धिसंगत नहीं होगा। जैन विचारणा के अनुसार निष्कामबुद्धि से युक्त होकर अथवा वीतरागावस्था में सांसारिक प्रवृत्तिमय कर्म का किया जाना सम्भव नहीं। तिलक के अनुसार, निष्काम बुद्धि से युक्त होकर युद्ध तक लड़ा जा सकता है।[1] लेकिन जैन दर्शन को यह स्वीकार नहीं है। उनकी दृष्टि में अकर्म का अर्थ मात्र शारीरिक अनिवार्य कर्म ही अभिप्रेत है। जैन दर्शन की ईर्यापथिक क्रियाएँ प्रमुखतया अनिवार्य शारीरिक क्रियाएँ ही हैं।[2] गीता में भी अकर्म का अर्थ शारीरिक अनिवार्य कर्म के रूप में गृहीत है (४।२१)। आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य में अनिवार्य शारीरिक कर्मों को अकर्म की कोटि में माना है।[3] जैन विचारणा में भी अकर्म में अनिवार्य शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त निरपेक्ष भाव से जनकल्याणार्थ किये जानेवाले कर्म तथा कर्मक्षय के हेतु किया जानेवाला तप स्वाध्याय आदि भी समाविष्ट है। सूत्रकृतांग के अनुसार, जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद-रहित हैं, वे अकर्म हैं। तीर्थकरों की संघ-प्रवर्तन आदि लोककल्याणकारक प्रवृत्तियाँ एवं सामान्य साधक के कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु किये गये सभी साधनात्मक कर्म अकर्म हैं। संक्षेप में जो कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बन्धनकारक नहीं हैं, वे अकर्म ही हैं। गीता रहस्य में भी तिलक ने यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। कर्म और अकर्म का विचार करना हो तो वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा, करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय, तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ—कर्म के बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म है या अकर्म।[4] जैन और बौद्ध आचारदर्शन में अर्हत् के क्रिया-व्यापार को तथा गीता में स्थितप्रज्ञ के क्रिया-व्यापार को बन्धन और विपाकरहित माना गया है, क्योंकि अर्हत् या स्थितप्रज्ञ मे राग-द्वेष और मोहरूपी वासनाओं का पूर्णतया अभाव होता है। अतः उसका क्रिया-व्यापार बन्धनकारक नहीं होता और इसलिए वह अकर्म कहा जाता है। इस प्रकार तीनों आचारदर्शन इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि वासना एवं कषाय से रहित निष्काम कर्म अकर्म है और वासनासहित सकाम कर्म ही कर्म है, बन्धन-कारक है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्म-अकर्म विवक्षा में कर्म का चैतसिक पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है। कौन-सा कर्म बन्धनकारक है और कौन-सा कर्म बन्धनकारक नहीं है, इसका निर्णय क्रिया के बाह्यस्वरूप से नहीं वरन् क्रिया के मूल

१. गीतारहस्य, ४।१६. (टिप्पणी)

२. सूत्रकृतांग २।२।१२.

३ गीता (शां०), ४।२१.

४. गीतारहस्य, पृ० ६८४.

में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा। पं० सुखलालजी कर्मग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं, साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा, इससे वे काम को छोड़ देते हैं। पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टे, यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धनकारक नहीं होता।[1] □

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २५-२६.

१२

कर्म-बन्ध के कारण, स्वरूप एवं प्रक्रिया

१२ कर्म-बन्ध के कारण, स्वरूप एवं प्रक्रिया

§ १. बन्धन और दुःख

बन्धन सभी भारतीय दर्शनों का प्रमुख प्रत्यय है, यही दुःख है। भारतीय चिन्तन के अनुसार, नैतिक जीवन की समग्र साधना बन्धन या दुःख से मुक्ति के लिए है। इस प्रकार बन्धन नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की प्रमुख मान्यता है। यदि बन्धन की वास्तविकता से इन्कार करते हैं, तो नैतिक साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि भारतीय दर्शन मे नैतिकता का प्रत्यय सामाजिक व्यवहार की अपेक्षा बन्धन-मुक्ति, दुःख-मुक्ति अथवा आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित है। जैन दर्शन के अनुसार, जड़ द्रव्यों में एक पुद्गल नामक द्रव्य है। पुद्गल के अनेक प्रकारों में कर्म-वर्गणा या कर्म-परमाणु भी एक प्रकार है। कर्म-वर्गणा या कर्म-परमाणु एक सूक्ष्म भौतिक तत्त्व (द्रव्य) है। इस सूक्ष्म भौतिक कर्म-द्रव्य (Karmic Matter) से आत्मा का सम्बन्धित होना ही बन्धन है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति कहते हैं, "कषायभाव के कारण जीव का कर्म-पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्ध है।"[१] बन्धन आत्म का अनात्म से, जड़ का चेतन से, देह का देही से संयोग है। यही दुःख है, क्योंकि समग्र दुःखों का कारण शरीर ही माना गया है! वस्तुतः आत्मा के बन्धन का अर्थ सीमितता या अपूर्णता है। आत्मा की सीमितता, अपूर्णता, बन्धन एवं दुःख, सभी उसके शरीर के साथ आबद्ध होने के कारण है। वास्तव में, शरीर ही बन्धन है। शरीर से यहाँ तात्पर्य स्थूल शरीर नहीं, वरन् लिंग-शरीर, कर्म-शरीर या सूक्ष्म-शरीर है, जो व्यक्ति के कर्म-संस्कारों से बनता है। यह सूक्ष्म लिंग-शरीर या कर्म-शरीर ही प्राणियों के स्थूल शरीर का आधार एवं जन्म-मरण की परम्परा का कारण है। जन्म-मरण की यह परम्परा ही भारतीय दर्शनों में दुःख या बन्धन मानी गयी है। कर्म-ग्रन्थ में कहा गया है कि आत्मा जिस शक्ति (वीर्य) विशेष से कर्म-परमाणुओं को आकर्षित कर उन्हें आठ प्रकार के कर्मों के रूप में जीव-प्रदेशों से सम्बन्धित करता है तथा कर्म-परमाणु और आत्मा परस्पर एकदूसरे को प्रभावित करते हैं, वह बन्धन है।[२] जैसे दीपक अपनी ऊष्मा से बत्ती के द्वारा तेल को आकर्षित कर उसे अपने शरीर (लौ) के रूप में बदल लेता है वैसे ही यह आत्मरूपी दीपक अपने रागभावरूपी ऊष्मा के कारण क्रियाओंरूपी बत्ती के द्वारा कर्म-परमाणुओंरूपी तेल को आकर्षित कर उसे अपने कर्म-

१ तत्त्वार्थसूत्र ८।२-३.
२. कर्म प्रकृति, बन्ध प्रकरण, १.

शरीररूपी लौ में बदल देता है।[१] इस प्रकार यह बन्धन की प्रक्रिया चलती रहती है। "आत्मा के रागभाव से क्रियाएँ होती हैं, क्रियाओं से कर्म परमाणुओं का आस्रव (आकर्षण) होता है और कर्मास्रव से कर्म-बन्ध होता है। यह बन्धन की प्रक्रिया कर्मों के स्वभाव (प्रकृति), मात्रा, काल, मर्यादा और तीव्रता इन चारों बातों का निश्चय कर सम्पन्न होती है।"[२]

१. प्रकृति बन्ध—यह कर्म परमाणुओं की प्रकृति (स्वभाव) का निश्चय करता है, अर्थात् कर्म के द्वारा आत्मा की ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति आदि किस शक्ति का आवरण होगा, इस बात का निर्धारण कर्म की प्रकृति करती है।

२. प्रदेश बन्ध—कर्म-परमाणु आत्मा के किस विशेष भाग का आवरण करेंगे, इसका निश्चय प्रदेश बन्ध करता है। यह मात्रात्मक होता है। स्थिति और अनुभाग से निरपेक्ष कर्म-दलिकों की संख्या की प्रधानता से कर्म-परमाणुओं का ग्रहण प्रदेश-बन्ध कहलाता है।

३. स्थिति बन्ध—कर्म-परमाणु कितने समय तक सत्ता में रहेंगे और कब अपना फल देना प्रारम्भ करेंगे, इस काल-मर्यादा का निश्चय स्थितिबन्ध करता है। यह समय मर्यादा का सूचक है।

४. अनुभाग बन्ध—यह कर्मों के बन्ध एवं विपाक की तीव्रता और मन्दता का निश्चय करता है। यह तीव्रता या गहनता (Intensity) का सूचक है।

§ २. बन्धन का कारण—आस्रव

जैन दृष्टिकोण—जैन दर्शन में बन्धन का कारण आस्रव है। आस्रव शब्द क्लेश या मल का बोधक है। क्लेश या मल ही कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा के सम्पर्क में आने का कारण है। अतः जैन तत्त्वज्ञान में आस्रव का रूढ़ अर्थ यह भी हुआ कि कर्मवर्गणाओं का आत्मा में आना आस्रव है। अपने मूल अर्थ में आस्रव उन कारकों की व्याख्या करता है, जो कर्मवर्गणाओं को आत्मा की ओर लाते हैं और इस प्रकार आत्मा के बन्धन के कारण होते हैं। आस्रव के दो भेद हैं (१) भावास्रव और (२) द्रव्यास्रव। आत्मा की विकारी मनोदशा भावास्रव है और कर्मवर्गणाओं के आत्मा में आने की प्रक्रिया द्रव्यास्रव है। इस प्रकार भावास्रव कारण है और द्रव्यास्रव कार्य या प्रक्रिया है। द्रव्यास्रव का कारण भावास्रव है, लेकिन यह भावात्मक परिवर्तन भी अकारण नहीं है, वरन् पूर्वबद्ध कर्म के कारण होता है। इस प्रकार पूर्व-बन्धन के कारण भावास्रव और भावास्रव के कारण द्रव्यास्रव और द्रव्यास्रव से कर्म का बन्धन होता है।

१. तत्त्वार्थसूत्र टीका, भाग १, पृ० ३४३ उद्धृत स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २३२.
२. तत्त्वार्थसूत्र, ८।४

वैसे सामान्य रूप में 'मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियाँ ही आस्रव हैं।'[१] ये प्रवृत्तियाँ या क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं. शुभ प्रवृत्तियाँ पुण्य कर्म का आस्रव हैं और अशुभ प्रवृत्तियाँ पाप कर्म का आस्रव हैं।[२] उन सभी मानसिक एवं कायिक प्रवृत्तियों का, जो आस्रव कही जाती है, विस्तृत विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। जैनागमों में इनका वर्गीकरण अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से मिलता है। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर एक वर्गीकरण प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त होगा।

तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव दो प्रकार का माना गया है—(१) ईर्यापथिक और (२) साम्परायिक।[3] जैन दर्शन गीता के समान यह स्वीकार करता है कि जब तक जीवन है, तब तक शरीर से निष्क्रिय नहीं रहा जा सकता। मानसिक वृत्ति के साथ ही साथ सहज शारीरिक एवं वाचिक क्रियाएँ भी चलती रहती हैं और क्रिया के फलस्वरूप कर्मास्रव भी होता रहता है। लेकिन जो व्यक्ति कलुषित मानसिक वृत्तियों (कषायों) के ऊपर उठ जाता है, उसकी और सामान्य व्यक्तियों की क्रियाओं के द्वारा होनेवाले आस्रव में अन्तर तो अवश्य ही मानना होगा। कषायवृत्ति (दूषित मनोवृत्ति) से ऊपर उठे व्यक्ति की क्रियाओं के द्वारा जो आस्रव होता है, उसे जैन परिभाषा में ईर्यापथिक आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार चलते हुए रास्ते की धूल का सूखा कण पहले क्षण में सूखे वस्त्र पर लगता है, लेकिन गति के साथ ही दूसरे क्षण में विलग हो जाता है, उसी प्रकार कषायवृत्ति से रहित क्रियाओं से पहले क्षण में आस्रव होता है और दूसरे क्षण में वह निर्जरित हो जाता है। ऐसी क्रिया आत्मा में कोई विभाव उत्पन्न नहीं करती, किन्तु जो क्रियाएँ कषायसहित होती हैं उनसे साम्परायिक आस्रव होता है। साम्परायिक आस्रव आत्मा के स्वभाव का आवरण कर उसमें विभाव उत्पन्न करता है।

तत्त्वार्थसूत्र में साम्परायिक आस्रव का आधार ३८ प्रकार की क्रियाएँ हैं—
१–५, हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी, मैथुन, संग्रह (परिग्रह) ये पाँच अव्रत
६–९, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय
१०–१४, पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन
१५–३८, चौबीस साम्परायिक क्रियाएँ—

१. कायिकी क्रिया—शारीरिक हलन-चलन आदि क्रियाएँ कायिकी क्रिया कही जाती हैं। यह तीन प्रकार की हैं—(अ) मिथ्यादृष्टि प्रमत्त जीव की क्रिया, (ब) सम्यक् दृष्टि प्रमत्त जीव की क्रिया, (स) सम्यक्दृष्टि अप्रमत्त साधक की क्रिया। इन्हें क्रमशः अविरत कायिकी, दुष्प्रणिहित कायिकी और उपरत कायिकी क्रिया कहा जाता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ६।१-२.
२. वही, ६।३-४.
३. वही, ६।५.

२. अधिकरणिका क्रिया—घातक अस्त्र-शस्त्र आदि के द्वारा सम्पन्न की जाने वाली हिंसादि की क्रिया। इसे प्रयोग-क्रिया भी कहते हैं।

३. प्राद्वेषिकी क्रिया—द्वेष, मात्सर्य, ईर्ष्या आदि से युक्त होकर की जानेवाली क्रिया।

४. पारितापनिकी—ताड़ना, तर्जना आदि के द्वारा दुःख देना। यह दो प्रकार की है—१. स्वयं को कष्ट देना और २. दूसरे को कष्ट देना। जो विचारक जैन दर्शन को कायाक्लेश का समर्थक मानते हैं उन्हें यहाँ एक बार पुनः विचार करना चाहिए। यदि उसका मन्तव्य कायाक्लेश का होता तो जैन दर्शन स्व-पारितापनिकी क्रिया को पाप के आगमन का कारण नहीं मानता।

५. प्राणातिपातकी क्रिया—हिंसा करना। इसके भी दो भेद हैं—१. स्वप्राणातिपातकी क्रिया अर्थात् राग-द्वेष एवं कषायों के वशीभूत होकर आत्म के स्वस्वभाव का घात करना तथा २. परप्राणातिपातकी क्रिया अर्थात् कषायवश दूसरे प्राणियों की हिंसा करना।

६. आरम्भ क्रिया—जड़ एवं चेतन वस्तुओं का विनाश करना।

७. पारिग्राहिकी क्रिया—जड़ पदार्थों एवं चेतन प्राणियों का संग्रह करना।

८. माया क्रिया—कपट करना।

९. राग क्रिया—आसक्ति करना। यह क्रिया मानसिक प्रकृति की है इसे प्रेम प्रत्ययिकी क्रिया भी कहते हैं।

१०. द्वेष क्रिया—द्वेष-वृत्ति से कार्य करना।

११. अप्रत्याख्यान क्रिया—असंयम या अविरति की दशा में होनेवाला कर्म अप्रत्याख्यान क्रिया है।

१२. मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादृष्टित्व से युक्त होना एवं उसके अनुसार क्रिया करना।

१३. दृष्टिजा क्रिया—देखने की क्रिया एवं तज्जनित राग-द्वेषादि भावरूप क्रिया।

१४. स्पर्शन क्रिया—स्पर्श सम्बन्धी क्रिया एवं तज्जनित राग-द्वेषादि भाव। इसे पृष्टिजा क्रिया भी कहते है।

१५. प्रातीत्यकी क्रिया—जड़ पदार्थ एवं चेतन वस्तुओं के बाह्य संयोग या आश्रय से उत्पन्न रागादि भाव एवं तज्जनित क्रिया।

१६. सामन्त क्रिया—स्वयं के जड़ पदार्थ की भौतिक सम्पदा तथा चेतन प्राणिज सम्पदा; जैसे पत्नियाँ, दास, दासी, अथवा पशु पक्षी इत्यादि को देखकर लोगों के द्वारा की हुई प्रशंसा से हर्षित होना। दूसरे शब्दों में लोगों के द्वारा स्वप्रशंसा की अपेक्षा करना। सामन्तवाद का मूल आधार यही है।

१७. स्वहस्तिकी क्रिया—स्वयं के द्वारा दूसरे जीवों को त्रास या कष्ट देने की क्रिया। इसके दो भेद हैं—१. जीव स्वहस्तिकी,—जैसे चाँटा मारना २. अजीव स्वहस्तिकी, जैसे डण्डे से मारना।

१८. नैसृष्टिकी क्रिया—किसी को फेंककर मारना। इसके दो भेद हैं—१. जीव-निसर्ग क्रिया; जैसे किसी प्राणी को पकड़कर फेंक देने की क्रिया, २. अजीव-निसर्ग क्रिया; जैसे बाण आदि मारना।

१९. आज्ञापनिका क्रिया—दूसरे को आज्ञा देकर कराई जानेवाली क्रिया या पाप कर्म।

२०. वैदारिणी क्रिया— विदारण करने या फाड़ने से उत्पन्न होनेवाली क्रिया।

कुछ विचारकों के अनुसार दो व्यक्तियों या समुदायों में विभेद करा देना या स्वयं के स्वार्थ के लिए दो पक्षों (क्रेता-विक्रेता) को गलत सलाह देकर फूट डालना आदि।

२१. अनाभोग क्रिया—अविवेकपूर्वक जीवन-व्यवहार का सम्पादन करना।

२२. अनाकांक्षा क्रिया—स्वहित एवं परहित का ध्यान नहीं रखकर क्रिया करना।

२३. प्रायोगिकी क्रिया—मन से अशुभ विचार, वाणी से अशुभ सम्भाषण एवं शरीर से अशुभ कर्म करके, मन, वाणी और शरीर शक्ति का अनुचित रूप में उपयोग करना।

२४. सामुदायिक क्रिया—समूह रूप में इकट्ठे होकर अशुभ या अनुचित क्रियाओं का करना; जैसे सामूहिक वेश्या-नृत्य करवाना। लोगों को ठगने के लिए सामूहिक रूप से कोई कम्पनी खोलना अथवा किसी को मारने के लिए सामूहिक रूप में कोई षड्यंत्र करना आदि।

मात्र शारीरिक व्यापाररूप ईर्यापथिक क्रिया, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है, को मिलाकर जैनविचारणा में क्रिया के पच्चीस भेद तथा आस्रव के ३९ भेद होते हैं।[1] कुछ आचार्यों ने मन, वचन और काय योग को मिलाकर आस्रव के ४२ भेद भी माने हैं।[2]

आस्रव रूप क्रियाओं का एक संक्षिप्त वर्गीकरण सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध है। संक्षेप में वे क्रियाएँ निम्न प्रकार हैं।[3]

१. अर्थ क्रिया—अपने किसी प्रयोजन (अर्थ) के लिए क्रिया करना; जैसे अपने लाभ के लिए दूसरे का अहित करना।

२. अनर्थ क्रिया—बिना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला कर्म; जैसे व्यर्थ में किसी को सताना।

१. तत्त्वार्थ सूत्र, ६।६.

२. नव पदार्थ ज्ञानसार, पृ० १००.

३. सूत्रकृतांग, २।२।१.

३. हिंसा क्रिया—अमुक व्यक्ति ने मुझे अथवा मेरे प्रियजनों को कष्ट दिया है अथवा देगा, यह सोचकर उसकी हिंसा करना।

४. अकस्मात् क्रिया—शीघ्रतावश अथवा अनजाने में होनेवाला पाप-कर्म; जैसे घास काटते काटते जल्दी में अनाज के पौधे को काट देना।

५. दृष्टि विपर्यास क्रिया—मतिभ्रम से होनेवाला पाप-कर्म; जैसे चौरादि के भ्रम में साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड देना, मारना आदि। जैसे दशरथ के द्वारा मृग के भ्रम मे किया गया श्रवणकुमार का वध।

६. मृषा क्रिया—झूठ बोलना।

७. अदत्तादान क्रिया—चौर्य कर्म करना।

८. अध्यात्म क्रिया—बाह्य निमित्त के अभाव मे होनेवाले मनोविकार अर्थात् बिना समुचित कारण के मन में होनेवाला क्रोध आदि दुर्भाव।

९. मान क्रिया—अपनी प्रशंसा या घमण्ड करना।

१०. मित्र क्रिया—प्रियजनों, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, पत्नी आदि को कठोर दण्ड देना।

११. माया क्रिया—कपट करना, ढोंग करना।

१२. लोभ क्रिया—लोभ करना।

१३. ईर्यापथिकी क्रिया—अप्रमत्त, विवेकी एवं संयमी व्यक्ति की गमनागमन एवं आहार-विहार की क्रिया।

वैसे मूलभूत आस्रव योग (क्रिया) है। लेकिन यह समग्र क्रिया-व्यापार भी स्वतःप्रसूत नहीं है। उसके भी प्रेरक सूत्र है जिन्हें आस्रव-द्वार या बन्ध-हेतु कहा गया है। समवायांग, ऋषिभाषित एवं तत्त्वार्थसूत्र में इनकी संख्या ५ मानी गयी है (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग (क्रिया)।[1] समयसार में इनमें से ४ का उल्लेख मिलता है, उसमें प्रमाद का उल्लेख नहीं।[2] उपर्युक्त पाँच प्रमुख आस्रव-द्वार या बन्धहेतुओं को पुनः अनेक भेद-प्रभेदों में वर्गीकृत किया गया है। यहाँ केवल नामनिर्देश करना पर्याप्त है। पाँच आस्रव द्वारों या बन्ध-हेतुओं के अवान्तर भेद इस प्रकार हैं—

१. मिथ्यात्व—मिथ्यात्व अयथार्थ दृष्टिकोण है जो पाँच प्रकार का है—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) विनय, (४) संशय और (५) अज्ञान।

२. अविरति—यह अमर्यादित एवं असंयमित जीवन प्रणाली है। इसके भी पाँच भेद हैं—(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) स्तेयवृत्ति, (४) मैथुन (काम वासना) और (५) परिग्रह (आसक्ति)।

---

१. (अ) समवायांग, ५।४; (ब) इसियभासिय, ९।५; (स) तत्त्वार्थ सूत्र, ८।१.

२. समयसार, १७१.

३. **प्रमाद**—सामान्यतया समय का अनुपयोग या दुरुपयोग प्रमाद है। लक्ष्योन्मुख प्रयास के स्थान पर लक्ष्य-विमुख प्रयास समय का दुरुपयोग है, जबकि प्रयास का अभाव अनुपयोग है। वस्तुतः प्रमाद आत्म-चेतना का अभाव है। प्रमाद पाँच प्रकार का माना गया है—

(क) **विकथा**—जीवन के लक्ष्य (साध्य) और उसके साधना मार्ग पर विचार नहीं करते हुए अनावश्यक चर्चाएँ करना। विकथाएँ चार प्रकार की है—(१) राज्य सम्बन्धी (२) भोजन सम्बन्धी, (३) स्त्रियों के रूप सौन्दर्य सम्बन्धी, और (४) देश सम्बन्धी। विकथा समय का दुरुपयोग है।

(ख) **कषाय**—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनकी उपस्थिति में आत्मचेतना कुण्ठित होती है। अतः ये भी प्रमाद हैं।

(ग) **राग**—आसक्ति भी आत्म-चेतना को कुण्ठित करती है, इसलिए प्रमाद कही जाती है।

(घ) **विषय-सेवन**—पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन।

(ङ) **निद्रा**—अधिक निद्रा लेना। निद्रा समय का अनुपयोग है।

४. **कषाय**—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रमुख मनोदशाएँ, जो अपनी तीव्रता और मन्दता के आधार पर १६ प्रकार की होती हैं, कषाय कही जाती हैं। इन कषायों के जनक हास्यादि ९ प्रकार के मनोभाव उपकषाय है। कषाय और उपकषाय मिलकर पच्चीस भेद होते हैं।

५. **योग**—जैन शब्दावली में योग का अर्थ क्रिया है जो तीन प्रकार की हैं—(१) मानसिक क्रिया (मनोयोग), (२) वाचिक क्रिया (वचनयोग) (३) शारीरिक क्रिया (काय योग)।

यदि हम बन्धन के प्रमुख कारणों को और संक्षेप में जानना चाहें तो जैन परम्परा में बन्धन के मूलभूत तीन कारण राग (आसक्ति), द्वेष और मोह माने गये हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में राग और द्वेष इन दोनों को कर्म-बीज कहा गया है[1] और उन दोनों का कारण मोह बताया गया है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, फिर भी उनमें राग ही प्रमुख है। राग के कारण ही द्वेष होता है। जैन कथानकों के अनुसार इन्द्रभूति गौतम का महावीर के प्रति प्रशस्त राग भी उनके कैवल्य की उपलब्धि में बाधक रहा था। इस प्रकार राग एवं मोह (अज्ञान) ही बन्धन के प्रमुख कारण हैं। आचार्य कुन्दकुन्द राग को प्रमुख कारण बताते हुए कहते हैं, आसक्त आत्मा ही कर्म-बन्ध करता है और अनासक्त मुक्त हो जाता है, यही जिन भगवान् का उपदेश है। इसलिए कर्मों में आसक्ति मत रखो।[2] लेकिन यदि राग (आसक्ति) का कारण जानना चाहें तो जैन

१. उत्तराध्ययन, ३२ ७.

२. समयसार, १५७.

परम्परा के अनुसार मोह ही इसका कारण सिद्ध होता है। यद्यपि मोह और राग-द्वेष सापेक्षरूप में एकदूसरे के कारण बनते हैं। इस प्रकार द्वेष का कारण राग और राग का कारण मोह है। मोह तथा राग (आसक्ति) परस्पर एकदूसरे के कारण हैं। अतः राग, द्वेष और मोह ये तीन ही जैन परम्परा में बन्धन के मूल कारण हैं। इसमें से द्वेष को जो राग (आसक्ति) जनित है, छोड़ देने पर शेष राग (आसक्ति) और मोह (अज्ञान) ये दो कारण बचते हैं, जो अन्योन्याश्रित हैं।

बौद्ध दर्शन में बन्धन (दुःख) का कारण

जैनविचारणा की भाँति ही बौद्धविचारणा में भी बन्धन या दुःख का हेतु आस्रव माना गया है। उसमें भी आस्रव (आसव) शब्द का उपयोग लगभग समान अर्थ में ही हुआ है। यही कारण है कि श्री एम० सी० घोषाल आदि कुछ विचारकों ने यह मान लिया कि बौद्धों ने यह शब्द जैनों से लिया है। मेरी अपनी दृष्टि मे यह शब्द तत्कालीन श्रमणपरम्परा का सामान्य शब्द था। बौद्धपरम्परा में आस्रव शब्द की व्याख्या यह है कि जो मदिरा (आसव) के समान ज्ञान का विपर्यय करे वह आस्रव है। दूसरे जिससे संसाररूपी दुःख का प्रसव होता है वह आस्रव है।

जैनदर्शन में आस्रव को संसार (भव) एवं बन्धन का कारण माना गया है। बौद्धदर्शन में आस्रव को भव का हेतु कहा गया है। दोनों दर्शन अर्हतों को क्षीणास्रव कहते हैं। बौद्धविचारणा में आस्रव तीन माने गये हैं—(१) काम, (२) भव और (३) अविद्या। लेकिन अभिधर्म में दृष्टि को भी आस्रव कहा गया है।[१] अविद्या और मिथ्यात्व समानार्थी हैं ही। काम को कषाय के अर्थ में लिया जा सकता है और भव को पुनर्जन्म के अर्थ में। धम्मपद में प्रमाद को आस्रव का कारण कहा गया है। बुद्ध कहते हैं, जो कर्तव्य को छोड़ता है और अकर्तव्य को करता है ऐसे मलयुक्त प्रमादियों के आस्रव बढ़ते हैं।[२] इस प्रकार जैन विचारणा के समान बौद्ध विचारणा में भी प्रमाद आस्रव का कारण है।

बौद्ध और जैन विचारणाओं में इस अर्थ में भी आस्रव के विचार के सम्बन्ध में मतैक्य है कि आस्रव अविद्या (मिथ्यात्व) के कारण होता है। लेकिन यह अविद्या या मिथ्यात्व भी अकारण नहीं, वरन् आस्रवप्रसूत है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की परम्परा चलती है, वैसे ही अविद्या (मिथ्यात्व) से आस्रव और आस्रव से अविद्या (मिथ्यात्व) की परम्परा परस्पर सापेक्षरूप में चलती रहती है। बुद्ध ने जहाँ अविद्या को आस्रव का कारण माना, वहाँ यह भी बताया कि आस्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है।[3] एक के अनुसार आस्रव चित्त-मल हैं, दूसरे के अनु-

---

१. संयुत्तनिकाय, ३६।८,४३।७।३, ४५।५।१०. देखिये—बौद्ध धर्मदर्शन, पृ० २४५.
२. धम्मपद, २९२;
३. मज्झिमनिकाय, १।१।६.

सार वे आत्म-मल हैं, लेकिन इस आत्मवाद सम्बन्धी दार्शनिक भेद के होते हुए भी दोनों का साधनामार्ग आस्रव-क्षय के निमित्त ही है। दोनों की दृष्टि में आस्रवक्षय ही निर्वाण-प्राप्ति का प्रथम सोपान है। बुद्ध कहते हैं, "भिक्षुओ ! संस्कार, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, अविद्या आदि सभी अनित्य, संस्कृत और किसी कारण से उत्पन्न होनेवाले हैं। भिक्षुओ ! इसे भी जान लेने और देख लेने से आस्रवों का क्षय होता है।"[1]

जैसे जैन परम्परा में राग, द्वेष और मोह बन्धन के मूलभूत कारण माने गये हैं, वैसे ही बौद्ध परम्परा में लोभ (राग), द्वेष और मोह को बन्धन (कर्मों की उत्पत्ति) का कारण माना गया है।[2] जो मूर्ख लोभ, द्वेष और मोह से प्रेरित होकर छोटा या बड़ा जो भी कर्म करता है, उसे उसी को भोगना पड़ता है, न कि दूसरे का किया हुआ। इसलिए बुद्धिमान् भिक्षु को चाहिए कि लोभ, द्वेष और मोह का त्याग कर एवं विद्या का लाभ कर सारी दुर्गतियों से मुक्त हो।[3]

इस प्रकार जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में राग, द्वेष और मोह यही तीन बन्धन (संसार-परिभ्रमण) के कारण सिद्ध होते हैं। जैन और बौद्ध परम्पराओं में इस बन्धन की मूलभूत त्रिपुटी का सापेक्ष सम्बन्ध भी स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं, "लोभ और द्वेष का हेतु मोह है, किन्तु पर्याय से राग, द्वेष भी मोह के हेतु हैं।"[4] राग, द्वेष और मोह में सापेक्ष सम्बन्ध है। अज्ञान (मोह) के कारण हम राग-द्वेष करते हैं और राग-द्वेष ही हमें यथार्थ ज्ञान से वंचित रखते हैं। अविद्या (मोह) के कारण तृष्णा (राग) होती है और तृष्णा (राग) के कारण मोह होता है।

गीता की दृष्टि में बन्धन का कारण—जैन परम्परा बन्धन के कारण-रूप में जो पाँच हेतु बताती है, उनको गीता की आचार परम्परा में भी बन्धन के हेतु के रूप में खोजा जा सकता है। जैन विचारणा के पाँच हेतु हैं–(१)मिथ्यात्व, (२)अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। गीता में मिथ्या दृष्टिकोण को संसार-भ्रमण का कारण कहा गया है। इतना ही नहीं, मिथ्यात्व के पाँच प्रकार (१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) संशय, (४) विनय (रूढ़िवादिता) और (५) अज्ञान में से विपरीत, संशय और अज्ञान इन तीन का विवेचन गीता में मिलता है। विनय को अगर रूढ़-परम्परा के अर्थ में लें तो गीता वैदिक रूढ़ परम्पराओं की आलोचना के रूप में विनय को स्वीकार कर लेती है। हाँ, गीता में एकान्त का मिथ्यात्व के रूप में विवेचन उपलब्ध नहीं होता। अविरति का विवेचन गीता अशुचि-व्रत के रूप में करती

---

१. संयुत्तनिकाय, २१।३।९.
२. अंगुत्तरनिकाय, ३।३३, (पृ० १३७).
३. वही, ३।३३.
४. बौद्ध धर्मदर्शन, पृ० २५.

है।[1] गीता मे भी हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह (लोभ-आसक्ति) अविरति ये पाँचो प्रकार बन्धन के कारण माने गये हैं। प्रमाद जो तमोगुण से प्रत्युत्पन्न है, गीता के अनुसार, अधोगति का कारण माना गया है। यद्यपि गीता मे 'कषाय' शब्द का प्रयोग नही हुआ है, तथापि जैन विचारणा मे कषाय के जो चार भेद—क्रोध, मान, माया और लोभ बताये गये है, उनको गीता मे भी आसुरी-सम्पदा का लक्षण एव नरक आदि अधोगति का कारण माना गया है। जैनविचारणा में योग शब्द मानसिक, वाचिक और शारीरिक कर्म के लिए प्रयुक्त हुआ हैं और इन तीनों को बन्धन का हेतु माना गया है। गीता स्वतन्त्र रूप से शारीरिक कर्म को बन्धन का कारण नही मानती, वह मानसिक तथ्य से सम्बन्धित होने पर ही शारीरिक कर्म को बन्धक मानती है, अन्यथा नही। फिर भी गीता के १८वे अध्याय में समस्त शुभाशुभ कर्मो का सम्पादन मन, वाणी और शरीर से माना गया है।[3]

गीता के अनुसार आसुरी-सम्पदा बन्धन का हेतु है।[4] उसमे दम्भ, दर्प अभिमान, क्रोध, पारुष्य (कठोर वाणी) एवं अज्ञान को आसुरी-सम्पदा कहा गया है।[5] श्रीकृष्ण कहते है, 'दम्भ, मान, मद से समन्वित दुष्पूर्ण आसक्ति (कामनाएँ) से युक्त तथा मोह (अज्ञान) मे मिथ्यादृष्टित्व को ग्रहण कर प्राणी असदाचरण से युक्त हो संसार-परिभ्रमण करते है'।[6] यदि हम गीता के इस श्लोक का विश्लेषण करें तो हमें यहाँ भी बन्धन के काम (आसक्ति) और मोह ये दो प्रमुख कारण प्रतीत होते है, जिन्हे जैन और बौद्ध परम्पराओ ने स्वीकार किया है, इस श्लोक का पूर्वार्द्ध काम से प्रारम्भ होता है और उत्तरार्द्ध मोह से। यदि ग्रन्थकार की यह योजना युक्तिपूर्ण मानी जाये तो बन्धन के कारण की व्याख्या में जैन, बौद्ध और गीता के दृष्टिकोण एकमत हो जाते है। उपर्युक्त श्लोक के पूर्वार्द्ध में ग्रन्थकार ने दम्भ, मान और मद को दुष्पूर्ण काम के आश्रित कहकर स्पष्ट रूप में काम को इन सबमें प्रमुख माना है और उत्तरार्द्ध मे तो मोहात् शब्द का उपयोग ही मोह के महत्त्व को स्पष्ट बताता है। गीताकार यहाँ मोह (अज्ञान) के कारण दो बातों का होना स्वीकार करता है—१. मिथ्यादृष्टि का ग्रहण और २. असदाचरण, जो हमें जैन विचारणा के मोह के दो भेद दर्शन-मोह और चारित्र-मोह की याद दिला देते हैं। यह बात तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक अन्य श्लोक में भी गीताकार ने मोह (अविद्या-अज्ञान) और आसक्ति (तृष्णा, राग या लोभ) को नरक का कारण बताकर उनके बन्धकत्व को स्पष्ट किया है। वहाँ कहा गया

१. (अ) गीता, १६।१०; (ब) गीता (शां०), १६।१०.
२. गीता, १४।१३, १४।१७.
३. वही, १८।१५.
४. वही, १६।५.
५. वही, १६।४.
६. वही १६।१०.

है कि मोह-जाल में आवृत्त और काम-भोगों में आसक्त पुरुष अपवित्र नरकों में गिरते हैं।[1] अर्थात् मोह और आसक्ति पतन के कारण हैं। सातवें अध्याय में गीता जैन विचारणा के समान संसार (अर्थात् बन्धन) के तीन कारणों की व्याख्या करती है। वहाँ गीता कहती है कि इच्छा (राग), द्वेष और तज्जनित मोह से सभी प्राणी अज्ञानी बन संसार के बन्धन को प्राप्त होते हैं।[2] यहाँ गीताकार राग, द्वेष और मोह बन्धन के इन तीन कारणों की व्याख्या ही नहीं करता, वरन् इच्छा-द्वेष से उत्पन्न मोह कहकर जैनदर्शन के समान राग, द्वेष और मोह की परस्पर सापेक्षता को भी अभिव्यक्त कर देता है।

सांख्य योग दर्शन में बन्धन का कारण—योगसूत्र में बन्धन या क्लेश के पाँच कारण माने गये हैं–१. अविद्या, २. अस्मिता (अहंकार), ३. राग (आसक्ति), ४. द्वेष और ५. अभिनिवेश (मृत्यु का भय)।[3] इनमें भी अविद्या ही प्रमुख कारण है, क्योंकि शेष चारों अविद्या पर आधारित है। जैनदर्शन के राग, द्वेष और मोह (अविद्या) इसमें भी स्वीकृत हैं।

न्याय दर्शन में बन्धन का कारण—न्यायदर्शन में जैनदर्शन के समान बन्धन के मूलभूत तीन कारण माने गये है—१. राग, २. द्वेष और ३. मोह। राग (आसक्ति) के भीतर काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, माया तथा दम्भ का समावेश होता है तथा द्वेष मे क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह (हिंसा) तथा अमर्ष का। मोह (अज्ञान) मे मिथ्याज्ञान, संशय, मान और प्रमाद होते हैं। राग और द्वेष मोह अथवा अज्ञान से उत्पन्न होते हैं।[4] इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाये तो सभी विचारणाओं में अविद्या (मोह) और राग-द्वेष ही बन्धन, दुःख या क्लेश के कारण है। द्वेष भी राग के कारण होता है, अतः मूलतः आसक्ति (राग) और अविद्या (मोह) ही बन्धन के कारण हैं, जिनकी स्थिति परस्पर सापेक्ष भाव से है।

३. बन्धन के कारणों का बन्ध के चार प्रकारों से सम्बन्ध—बन्ध के चार प्रकारों का बन्ध के कारणों से क्या सम्बन्ध है, इसपर विचार करना भी आवश्यक है। जैनदर्शन में स्वीकृत बन्ध के पाँच कारणों में से कषाय और योग ये दो बन्धन के प्रकार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अतः कषाय और योग के सन्दर्भ में बन्ध के इन चार प्रकारों पर विचार अपेक्षित है। जैन विचारकों के अनुसार कषाय का सम्बन्ध स्थिति और अनुभाग-बन्ध से है। कषायवृत्ति की तीव्रता ही बन्धन की समयावधि (स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) का निश्चय करती है। पाप-बन्ध

१. गीता, १६।१६.
२. गीता, ७।२७; गीता (शां०), ७।२७.
३. योगसूत्र, २।३.
४. नीतिशास्त्र, पृ० ६३.

में कषाय जितने तीव्र होंगे, बन्धन की समयावधि और तीव्रता भी उतनी ही अधिक होगी। लेकिन पुण्य-बन्ध में कषाय और रागभाव का बन्धन की समयावधि से तो अनुलोम सम्बन्ध होता है, लेकिन बन्धन की तीव्रता से प्रतिलोम सम्बन्ध होता है अर्थात् कषाय जितने अल्प होंगे पुण्यबन्ध उतना ही अधिक होगा। शुभ कर्मों का बन्ध कषायों की तीव्रता से कम और कषायों की मन्दता से अधिक होगा। जहाँ तक अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न है, अशुभ-बन्ध में दोनों में अनुलोम सम्बन्ध होता है अर्थात् जितनी अधिक समयावधि का बन्ध होगा उतना ही अधिक तीव्र होगा, लेकिन शुभ-बन्ध में दोनों मे विलोम-सम्बन्ध होगा अर्थात् जितनी अधिक समयावधि का बन्ध होगा उतना ही कम तीव्र होगा।[1]

बन्धन के दूसरे कारण योग (Activity) का सम्बन्ध प्रदेश-बन्ध और प्रकृति-बन्ध से है। जैनदर्शन के अनुसार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के अभाव में मात्र क्रिया (योग) से भी बन्ध होता है। क्रिया कर्मपरमाणुओं की मात्रा (प्रदेश) और गुण (प्रकृति) का निर्धारण करती है। योग या क्रियाएँ जितनी अधिक होंगी, उतनी ही अधिक मात्रा मे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होकर उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करेंगे। साथ ही क्रिया का प्रकार ही कर्म-पुद्गलों की प्रकृति का निर्धारण करता है। यद्यपि यह सही है कि क्रिया के स्वरूप का निर्धारण कषायों पर निर्भर होता है और अन्तिम रूप में तो कषाय ही कर्म-पुद्गलों की प्रकृति का निश्चय करते है। लेकिन निकटवर्ती कारण की दृष्टि से क्रिया (योग) ही कर्म-पुद्गलों के बन्ध की प्रकृति का निश्चय करती है।[2] इस प्रकार जैनदर्शन में कषाय या राग भाव का सम्बन्ध बन्धन की समयावधि (स्थिति) तथा तीव्रता (अनुभाग) से होता है जबकि क्रिया (योग) का सम्बन्ध बन्धन की मात्रा (प्रदेश) और गुण (प्रकृति) से होता है।

अष्टकर्म और उनके कारण

जिस रूप में कर्मपरमाणु आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकटन का अवरोध करते है और आत्मा का शरीर से सम्बन्ध स्थापित कराते हैं—उनके अनुसार उनके विभाग किये जाते है। जैनदर्शन के अनुसार कर्म आठ प्रकार के हैं—१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र, और ८. अन्तराय।[3]

१. कर्मग्रन्थ, भाग २, पृ० ५१.
देखिए—स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २३५ से २३९.
२. कर्मग्रन्थ, भाग २, पृ० १२१. ३. उत्तराध्ययन, ३३।२३.

१. ज्ञानावरणीय कर्म

जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढँक देते हैं, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की ज्ञानशक्ति को ढंक देती हैं और महज ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कही जाती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन के कारण—जिन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणु आत्मा से संयोजित होकर ज्ञान-शक्ति को कुंठित करते हैं, वे छः हैं। १. **प्रदोष**—ज्ञानी का अवर्णवाद (निन्दा) करना एवं उसके अवगुण निकालना। २. **निह्नव**—ज्ञानी का उपकार स्वीकार न करना अथवा किसी विषय को जानते हुए भी उसका अपलाप करना। ३. **अन्तराय**—ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनना, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधन पुस्तकादि को नष्ट करना। ४. **मात्सर्य**—विद्वानों के प्रति द्वेष-बुद्धि रखना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि में अरुचि रखना। ५. **असादना**—ज्ञान एवं ज्ञानी पुरुषों के कथनों को स्वीकार नहीं करना, उनकी समुचित विनय नही करना और ६. **उपघात**—विद्वानों के साथ मिथ्याग्रह युक्त विसंवाद करना अथवा स्वार्थवश सत्य को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना। उपर्युक्त छः प्रकार का अनैतिक आचरण व्यक्ति की ज्ञानशक्ति के कुंठित होने का कारण है।[1]

ज्ञानावरणीय कर्म का विपाक—विपाक की दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म के कारण पाँच रूपों में आत्मा की ज्ञान-शक्ति का आवरण होता है—

१. **मतिज्ञानावरण**—ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञान-क्षमता का अभाव, २. **श्रुतिज्ञानावरण**—बौद्धिक अथवा आगमज्ञान की अनुपलब्धि, ३. **अवधि ज्ञानावरण**—अतीन्द्रिय ज्ञान-क्षमता का अभाव, ४. **मनःपर्याय ज्ञानावरण**—दूसरे की मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्ति कर लेने की शक्ति का अभाव, ५. **केवल ज्ञानावरण**—पूर्णज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का अभाव।[2]

कहीं-कहीं विपाक की दृष्टि से इनके १० भेद बताये गये हैं। १. सुनने की शक्ति का अभाव, २. सुनने से प्राप्त होनेवाले ज्ञान की अनुपलब्धि, ३. दृष्टि शक्ति का अभाव, ४. दृश्यज्ञान की अनुपलब्धि, ५. गंधग्रहण करने की शक्ति का अभाव, ६. गन्ध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, ७. स्वाद ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, ८. स्वाद सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, ९. स्पर्श-क्षमता का अभाव और १०. स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।[3]

१. (अ) कर्मग्रन्थ, १।५४.
   (ब) तत्त्वार्थसूत्र, ६।११.
२. तत्त्वार्थसूत्र, ८।७.
३. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३६.

२. दर्शनावरणीय कर्म

जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधक होता है उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की दर्शन-शक्ति में बाधक होती हैं, वे दर्शनावरणीय कर्म कहलाती हैं। ज्ञान से पहले होने वाला वस्तु तत्त्व का निर्विशेष (निर्विकल्प) बोध, जिसमें सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष गुण धर्म की प्राप्ति नहीं होती, दर्शन कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन-गुण को आवृत्त करता है।

दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध के कारण—ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही छः प्रकार के अशुभ आचरण के द्वारा दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है—(१) सम्यक् दृष्टि की निन्दा (छिद्रान्वेषण) करना अथवा उसके प्रति अकृतज्ञ होना, (२) मिथ्यात्व या असत् मान्यताओं का प्रतिपादन करना, (३) शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक बनना, (४) सम्यक्दृष्टि का समुचित विनय एवं सम्मान नहीं करना, (५) सम्यक्दृष्टि पर द्वेष करना, (६) सम्यक्दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह सहित विवाद करना।[1]

दर्शनावरणीय कर्म का विपाक—उपर्युक्त अशुभ आचरण के कारण आत्मा का दर्शन गुण नौ प्रकार से कुंठित हो जाता है—[2] १. **चक्षुदर्शनावरण**—नेत्र-शक्ति का अवरुद्ध हो जाना। २. **अचक्षुदर्शनावरण**—नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की सामान्य अनुभवशक्ति का अवरुद्ध हो जाना। ३. **अवधिदर्शनावरण**—सीमित अतीन्द्रिय दर्शन की उपलब्धि में बाधा उपस्थित होना। ४. **केवल दर्शनावरण**—परिपूर्ण दर्शन की उपलब्धि का नही होना। ५. **निद्रा**—सामान्य निद्रा। ६ **निद्रानिद्रा**—गहरी निद्रा। ७. **प्रचला**—बैठे-बैठे आ जाने वाली निद्रा। ८. **प्रचलाप्रचला**—चलते-फिरते भी आ जाने वाली निद्रा। ९. **स्त्यानगृद्धि**—जिस निद्रा में प्राणी बड़े-बड़े बल-साध्य कार्य कर डालता है। अन्तिम दो अवस्थाएँ आधुनिक मनोविज्ञान के द्विविध व्यक्तित्व के समान मानी जा सकती हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार की निद्राओं के कारण व्यक्ति की सहज अनुभूति की क्षमता में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

३. वेदनीय कर्म

जिसके कारण सांसारिक सुख-दुःख की संवेदना होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. सातावेदनीय और २. असातावेदनीय। सुख रूप संवेदना का कारण सातावेदनीय और दुःख रूप संवेदना का कारण असातावेदनीय कर्म कहलाता है।

१. (अ) तत्त्वार्थसूत्र, ६।११.
(ब) कर्मग्रन्थ, १।५४.

२. तत्त्वार्थसूत्र, ८।८.

सातावेदनीय कर्म के कारण—दस प्रकार का शुभाचरण करने वाला व्यक्ति सुखद-संवेदना रूप सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है—१ पृथ्वी, पानी आदि के जीवों पर अनुकम्पा करना। २. वनस्पति, वृक्ष, लतादि पर अनुकम्पा करना। ३. द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों पर दया करना। ४. पंचेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर अनुकम्पा करना। ५. किसी को भी किसी प्रकार से दुःख न देना। ६. किसी भी प्राणी को चिन्ता एवं भय उत्पन्न हो ऐसा कार्य न करना। ७. किसी भी प्राणी को शोकाकुल नही बनाना। ८. किसी भी प्राणी को रुदन नहीं कराना। ९. किसी भी प्राणी को नही मारना और १०. किसी भी प्राणी को प्रताड़ित नही करना।[१] कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय कर्म के बन्धन का कारण गुरुभक्ति, क्षमा, करुणा, व्रतपालन, योग-साधना, कषायविजय, दान और दृढ़श्रद्धा माना गया है।[२] तत्त्वार्थ-सूत्रकार का भी यही दृष्टिकोण है।[३]

सातावेदनीय कर्म का विपाक—उपर्युक्त शुभाचरण के फलस्वरूप प्राणी निम्न प्रकार की सुखद संवेदना प्राप्त करता है—१. मनोहर, कर्णप्रिय, सुखद स्वर श्रवण करने को मिलते है, २. मनोज्ञ, सुन्दर रूप देखने को मिलता है, ३. सुगन्ध की संवेदना होती है, ४. सुस्वादु भोजन-पानादि उपलब्ध होता है, ५. मनोज्ञ, कोमल स्पर्श व आसन शयनादि की उपलब्धि होती है, ६. वांछित सुखों की प्राप्ति होती है, ७. शुभ वचन, प्रशंसादि सुनने का अवसर प्राप्त होता है, ८. शारीरिक सुख मिलता है।[४]

असातावेदनीय कर्म के कारण—जिन अशुभ आचरणों के कारण प्राणी को दुःखद संवेदना प्राप्त होती है, वे १२ प्रकार के हैं—१. किसी भी प्राणी को दुःख देना, २. चिन्तित बनाना, ३. शोकाकुल बनाना, ४. रुलाना, ५. मारना और ६. प्रताड़ित करना, इन छः क्रियाओं की मंदता और तीव्रता के आधार पर इनके बारह प्रकार हो जाते है।[५] तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार १. दुःख, २. शोक, ३. ताप, ४. आक्रन्दन, ५. वध और ६. परिदेवन ये छः असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं जो 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से १२ प्रकार के हो जाते हैं। स्व एवं पर की अपेक्षा पर आधारित तत्त्वार्थसूत्र का यह दृष्टिकोण अधिक संगत है।[६] कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय के बन्ध के कारणो के विपरीत गुरु का अविनय, अक्षमा, क्रूरता, अविरति, योगाभ्यास नहीं करना, कषाययुक्त होना, तथा दान एवं

१. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३७.
२. कर्मग्रन्थ, १।५५.
३. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१३.
४. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३७.
५. वही, पृ० २३७.
६. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१२.

श्रद्धा का अभाव असातावेदनीय कर्म के कारण माने गये हैं।[1] इन क्रियाओं के विपाक के रूप में आठ प्रकार की दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती है—१. कर्ण-कटु, कर्कश स्वर सुनने को प्राप्त होते हैं २. अमनोज्ञ एवं सौन्दर्यविहीन रूप देखने को प्राप्त होता है, ३. अमनोज्ञ गन्धों की उपलब्धि होती है, ४. स्वादविहीन भोजनादि मिलता है, ५. अमनोज्ञ, कठोर एव दुःखद संवेदना उत्पन्न करनेवाले स्पर्श की प्राप्ति होती है, ६. अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियों का होना, ७. निन्दा-अपमानजनक वचन सुनने को मिलते हैं और ८. शरीर में विविध रोगों की उत्पत्ति से शरीर को दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं।[2]

४. मोहनीय कर्म

जैसे मदिरा आदि नशीली वस्तु के सेवन से विवेक-शक्ति कुंठित हो जाती है, उसी प्रकार जिन कर्म-परमाणुओं से आत्मा की विवेक-शक्ति कुंठित होती है और अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति होती है, उन्हें मोहनीय (विमोहित करने वाले) कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह।

मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण—सामान्यतया मोहनीय कर्म का बन्ध छः कारणों से होता है—१. क्रोध, २. अहंकार, ३. कपट, ४. लोभ, ५. अशुभाचरण और ६. विवेकाभाव (विमूढ़ता)। प्रथम पाँच से चारित्रमोह का और अन्तिम से दर्शनमोह का बन्ध होता है।[3] कर्मग्रन्थ में दर्शनमोह और चारित्रमोह के बन्धन के कारण अलग-अलग बताये गये हैं। दर्शनमोह के कारण हैं—उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग का अपलाप, धार्मिक सम्पत्ति का अपहरण और तीर्थंकर, मुनि, चैत्य (जिन-प्रतिमाएँ) और धर्म-संघ के प्रतिकूल आचरण। चारित्रमोह कर्म के बन्धन के कारणों में कषाय, हास्य आदि तथा विषयों के अधीन होना प्रमुख हैं।[4] तत्त्वार्थ-सूत्र में सर्वज्ञ, श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद (निन्दा) को दर्शनमोह का तथा कषायजनित आत्म-परिणाम को चारित्रमोह का कारण माना गया है।[5] समवायांगसूत्र में तीव्रतम मोहकर्म के बन्धन के तीस कारण बताये गये हैं।[6] १. जो किसी त्रस प्राणी को पानी में डुबाकर मारता है। २. जो किसी त्रस प्राणी को तीव्र अशुभ अध्यवसाय से मस्तक को गीला चमड़ा बांधकर मारता है। ३. जो किसी त्रस प्राणी को मुंह बाँध कर मारता है। ४. जो किसी त्रस प्राणी को अग्नि के धुएँ से मारता है। ५. जो किसी त्रस प्राणी के मस्तक का छेदन करके मारता है। ६. जो किसी त्रस प्राणी को छल से मारकर

१. कर्मग्रन्थ, १।५५.
२. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३७.
३. वही, पृ० २३७.
४. कर्मग्रन्थ, १।५६-५७.
५. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१४-१५.
६. समवायांग, ३०।१.

हँसता है। ७. जो मायाचार करके तथा असत्य बोलकर अपना अनाचार छिपाता है। ८. जो अपने दुराचार को छिपाकर दूसरे पर कलंक लगाता है। ९. जो कलह बढ़ाने के लिए जानता हुआ मिश्र भाषा बोलता है। १०. जो पति-पत्नी में मतभेद पैदा करता है तथा उन्हें मार्मिक वचनों से झेंपा देता है। ११. जो स्त्री में आसक्त व्यक्ति अपने-आपको कुंवारा कहता है। १२. जो अत्यन्त कामुक व्यक्ति अपने आप को ब्रह्मचारी कहता है। १३. जो चापलूसी करके अपने स्वामी को ठगता है। १४. जो जिनकी कृपा से समृद्ध बना है वह ईर्ष्या से उनके ही कार्यों में विघ्न डालता है। १५. जो अपने उपकारी की हत्या करता है। १६. जो प्रसिद्ध पुरुष की हत्या करता है। १७. जो प्रमुख पुरुष की हत्या करता है। १८. जो संयमी को पथभ्रष्ट करता है। १९. जो महान् पुरुषों की निन्दा करता है। २०. जो न्यायमार्ग की निन्दा करता है। २१. जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करता है। २२. जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करता है। २३. जो अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आपको बहुश्रुत कहता है। २४. जो तपस्वी न होते हुए भी अपने-आपको तपस्वी कहता है। २५. जो अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवा नहीं करता। २६. जो आचार्य आदि कुशास्त्र का प्ररूपण करते हैं। २७. जो आचार्य आदि अपनी प्रशंसा के लिए मंत्रादि का प्रयोग करते है। २८. जो इहलोक और परलोक में भोगोपभोग पाने की अभिलाषा करता है। २९. जो देवताओं की निन्दा करता है या करवाता है। ३०. जो असर्वज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ कहता है।

(अ) दर्शन-मोह—जैन-दर्शन मे दर्शन शब्द तीन अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है—१. प्रत्यक्षीकरण, २. दृष्टिकोण और ३. श्रद्धा। प्रथम अर्थ का सम्बन्ध दर्शनावरणीय कर्म से है, जबकि दूसरे और तीसरे अर्थ का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है। दर्शन-मोह के कारण प्राणी में सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव होता है और वह मिथ्या धारणाओं एवं विचारों का शिकार रहता है, उसकी विवेकबुद्धि असंतुलित होती है। दर्शनमोह तीन प्रकार का है—१. मिथ्यात्व मोह—जिसके कारण प्राणी असत्य को सत्य तथा सत्य को असत्य समझता है। शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ मानना मिथ्यात्व मोह है। २. सम्यक्-मिथ्यात्व मोह—सत्य एवं असत्य तथा शुभ एवं अशुभ के सम्बन्ध मे अनिश्चयात्मकता और ३. सम्यक्त्व मोह—क्षयिक सम्यक्त्व की उपलब्धि में बाधक सम्यक्त्व मोह है[1] अर्थात् दृष्टिकोण की आंशिक विशुद्धता।

(ब) चारित्र-मोह—चारित्र-मोह के कारण प्राणी का आचरण अशुभ होता है। चारित्र-मोहजनित अशुभाचरण २५ प्रकार का है[2]—१. प्रबलतम क्रोध,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८।१०. २. वही, ८।१०.

२. प्रबलतम मान, ३. प्रबलतम माया (कपट), ४. प्रबलतम लोभ, ५. अति क्रोध, ६. अति मान, ७. अति माया (कपट), ८. अति लोभ, ९.साधारण क्रोध, १०. साधारण मान, ११. साधारण माया (कपट), १२. साधारण लोभ, १३. अल्प क्रोध, १४.अल्प मान, १५. अल्प माया (कपट) और, १६ अल्प लोभ ये सोलह कषाय हैं। उपर्युक्त कषायों को उत्तेजित करने वाली नौ मनोवृत्तियाँ (उपकषाय) है—१. हास्य, २. रति (स्नेह, राग), ३. अरति (द्वेष), ४. शोक, ५. भय, ६. जुगुप्सा (घृणा), ७. स्त्रीवेद (पुरुष सहवास की इच्छा), ८. पुरुषवेद (स्त्री सहवास की इच्छा), ९. नपुंसकवेद (स्त्री-पुरुष दोनों के सहवास की इच्छा)।

मोहनीय कर्म विवेकाभाव है और उसी विवेकाभाव के कारण अशुभ की ओर प्रवृत्ति की रुचि होती है। अन्य परम्पराओं में जो स्थान अविद्या का है, वही स्थान जैन परम्परा में मोहनीय कर्म का है। जिस प्रकार अन्य परम्पराओं में बन्धन का मूल कारण अविद्या है, उसी प्रकार जैन परम्पराओं में बन्धन का मूल कारण मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म का क्षयोपशम ही नैतिक विकास का आधार है।

५. आयुष्य कर्म

जिस प्रकार बेड़ी कैदी की स्वाधीनता में बाधक है, उसी प्रकार जो कर्म परमाणु आत्मा को विभिन्न शरीरों में नियत अवधि तक कैद रखते हैं, उन्हें आयुष्य कर्म कहते हैं। यह कर्म निश्चय करता है कि आत्मा को किस शरीर में कितनी समयावधि तक रहना है। आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—१. नरक आयु, २. तिर्यंच आयु (वानस्पतिक एवं पशु जीवन) ३. मनुष्य आयु और ४. देव आयु।[1]

आयुष्य-कर्म के बन्ध के कारण—सभी प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध का कारण शील और व्रत से रहित होना माना गया है।[2] फिर भी किस प्रकार के आचरण से किस प्रकार का जीवन मिलता है, उसका निर्देश भी जैन आगमों में उपलब्ध है। स्थानांगसूत्र में प्रत्येक प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध के चार-चार कारण माने गये हैं।[3]

(अ) नारकीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण—१. महारम्भ (भयानक हिंसक कर्म), २. महापरिग्रह (अत्यधिक संचय वृत्ति), ३. मनुष्य, पशु आदि का वध करना, ४. मांसाहार और शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन।

(ब) पाशविक जीवन की प्राप्ति के चार कारण—१. कपट करना, २. रहस्यपूर्ण कपट करना, ३. असत्य भाषण, ४. कम-ज्यादा तोल-माप करना। कर्म-

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८।११. २. वही, ६।१९.

३. स्थानांग, १।४।४।३७३.

ग्रन्थ में प्रतिष्ठा कम होने के भय से पाप का प्रकट न करना भी तिर्यञ्च आयु के बन्ध का कारण माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में माया (कपट) को ही पशु-योनि का कारण बताया है।[२]

(स) मानव जीवन की प्राप्ति के चार कारण—१. सरलता, २. विनयशीलता, ३. करुणा और ४. अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना। तत्त्वार्थसूत्र में १. अल्प आरम्भ, २. अल्प परिग्रह, ३. स्वभाव की सरलता और ४. स्वभाव की मृदुता को मनुष्य आयु के बन्ध का कारण कहा गया है।[३]

(द) दैवीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण- १. सराग (सकाम) संयम का पालन, २. संयम का आंशिक पालन, ३. सकाम तपस्या (बाल तप) ४. स्वाभाविक रूप में कर्मों के निर्जरित होने से। तत्त्वार्थसूत्र मे भी यही कारण माने गये हैं।[४] कर्म-ग्रन्थ के अनुसार अविरत सम्यक्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच, देशविरत श्रावक, सरागी-साधु, बाल-तपस्वी और इच्छा नही होते हुए भी परिस्थिति वश भूख-प्यास आदि को सहन करते हुए अकाम-निर्जरा करनेवाले व्यक्ति देवायु का बन्ध करते है।[५]

आकस्मिकमरण—प्राणी अपने जीवनकाल में प्रत्येक क्षण आयु कर्म को भोग रहा है और प्रत्येक क्षण में आयु कर्म के परमाणु भोग के पश्चात् पृथक् होते रहते है। जिस समय वर्तमान आयुकर्म के पूर्वबद्ध समस्त परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते है उस समय प्राणी को वर्तमान शरीर छोड़ना पड़ता है। वर्तमान शरीर छोड़ने के पूर्व ही नवीन शरीर के आयुकर्म का बन्ध हो जाता है। लेकिन यदि आयुष्य का भोग इस प्रकार नियत है तो आकस्मिकमरण की व्याख्या क्या? इसके प्रत्युत्तर में जैन-विचारकों ने आयुकर्म का भोग दो प्रकार का माना—१. क्रमिक, २. आकस्मिक। क्रमिक भोग मे स्वाभाविक रूप से आयु का भोग धीरे-धीरे होता रहता है, जबकि आकस्मिक भोग में किसी कारण के उपस्थित हो जाने पर आयु एक साथ ही भोग ली जाती है। इसे ही आकस्मिकमरण या अकाल मृत्यु कहते है। स्थानांगसूत्र में इसके सात कारण बताये गये हैं—१. हर्ष-शोक का अतिरेक, २. विष अथवा शस्त्र का प्रयोग, ३. आहार की अत्यधिकता अथवा सर्वथा-अभाव ४. व्याधिजनित तीव्र वेदना, ५. आघात ६. सर्पदंशादि और ७. श्वास-निरोध।[६]

६. नाम कर्म

जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रंगों से अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी

---

१. कर्मग्रन्थ, १।५८.
२. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१७.
३. वही, ६।१८.
४. वही, ६।२०.
५. कर्मग्रन्थ, १।५९.
६. स्थानांग, ७।५६१.

प्रकार नाम-कर्म विभिन्न परमाणुओं से जगत् के प्राणियों के शरीर की रचना करता है। मनोविज्ञान की भाषा में नाम-कर्म को व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व कह सकते हैं। जैन-दर्शन में व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों को नाम कर्म की प्रकृति के रूप में जाना जाता है, जिनकी संख्या १०३ मानी गई है लेकिन विस्तारभय से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। उपर्युक्त सारे वर्गीकरण का संक्षिप्त रूप है—१. शुभनामकर्म (अच्छा व्यक्तित्व) और २. अशुभनामकर्म (बुरा व्यक्तित्व)। प्राणी-जगत् में जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य दिखाई देता है, उसका प्रमुख कारण नाम-कर्म है।

शुभनाम कर्म के बन्ध के कारण—जैनागमों मे अच्छे व्यक्तित्व की उपलब्धि के चार कारण माने गये है—१. शरीर की सरलता, २. वाणी की सरलता, ३. मन या विचारों की सरलता, ४. अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना या सामञ्जस्य पूर्ण जीवन।[1]

शुभनामकर्म का विपाक—उपर्युक्त चार प्रकार के शुभाचरण से प्राप्त शुभ व्यक्तित्व का विपाक १४ प्रकार का माना गया है—१. अधिकारपूर्ण प्रभावक वाणी (इष्ट शब्द), २. सुन्दर सुगठित शरीर (इष्ट रूप), ३. शरीर से निःसृत होनेवाले मलों में भी सुगंधि (इष्ट गंध), ४. जैवीय रसों की समुचितता (इष्ट रस), ५. त्वचा का सुकोमल होना (इष्ट स्पर्श), ६. अचपल योग्य गति (इष्ट गति), ७. अंगों का समुचित स्थान पर होना (इष्ट स्थिति), ८. लावण्य, ९. यशःकीर्ति का प्रसार (इष्ट यशः कीर्ति), १०. योग्य शारीरिक शक्ति (इष्ट उत्थान, कर्म, बलवीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम), ११. लोगों को रुचिकर लगे ऐसा स्वर, १२. कान्त स्वर, १३. प्रिय स्वर और १४. मनोज्ञ स्वर।[2]

अशुभ नाम कर्म के कारण—निम्न चार प्रकार के अशुभाचरण से व्यक्ति (प्राणी) को अशुभ व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है—१. शरीर की वक्रता, २. वचन की वक्रता, ३. मन की वक्रता, ४. अहंकार एवं मात्सर्य वृत्ति या असामंजस्य-पूर्ण जीवन।[3]

अशुभनाम कर्म का विपाक—१. अप्रभावक वाणी (अनिष्ट शब्द), २. असुन्दर शरीर (अनिष्ट स्पर्श), ३. शारीरिक मलों का दुर्गन्धयुक्त होना (अनिष्ट गंध), ४. जैवीय रसों की असमुचितता (अनिष्ट रस), ५. अप्रिय स्पर्श, ६. अनिष्ट गति, ७. अंगों का समुचित स्थान पर न होना (अनिष्ट स्थिति), ८. सौन्दर्य का अभाव, ९. अपयश, १०. पुरुषार्थ करने की शक्ति का अभाव, ११. हीन स्वर, १२. दीन स्वर, १३. अप्रिय स्वर और १४. अकान्त स्वर।[4]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ६।२२.
२. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३९.
३. तत्त्वार्थसूत्र ६।२१.
४. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३९.

७. गोत्र कर्म

जिसके कारण व्यक्ति प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित कुल मे जन्म लेता है, वह गोत्र कर्म है। यह दो प्रकार का माना गया है—१. उच्च गोत्र (प्रतिष्ठित कुल) और २. नीच गोत्र (अप्रतिष्ठित कुल)।[1] किस प्रकार के आचरण के कारण प्राणी का अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है और किस प्रकार के आचरण से प्राणी का प्रतिष्ठित कुल मे जन्म होता है, इस पर जैनाचार-दर्शन मे विचार किया गया है। अहंकारवृत्ति ही इसका प्रमुख कारण मानी गई है।

उच्च गोत्र एवं नीच गोत्र के कर्म-बन्ध के कारण—निम्न आठ बातों का अहंकार न करने वाला व्यक्ति भविष्य मे प्रतिष्ठित कुल मे जन्म लेता है—१. जाति, २. कुल, ३. बल (शारीरिक शक्ति), ४. रूप (सौन्दर्य), ५. तपस्या (साधना), ६. ज्ञान (श्रुत), ७. लाभ (उपलब्धियाँ) और ८. स्वामित्व (अधिकार)। इसके विपरीत जो व्यक्ति उपर्युक्त आठ प्रकार का अहकार करता है वह नीच कुल मे जन्म लेता है।[2] कर्म-ग्रन्थ के अनुसार भी अहंकार रहित गुणग्राही दृष्टि वाला, अध्ययन-अध्यापन मे रुचि रखने वाला तथा भक्त उच्च-गोत्र को प्राप्त करता है और इसके विपरीत आचरण करने वाला नीच गोत्र को प्राप्त करता है।[3] तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार पर-निन्दा, आत्मप्रशसा, दूसरो के सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणो का प्रकाशन ये नीच गोत्र के बन्ध के हेतु है। इसके विपरीत पर-प्रशसा, आत्म-निन्दा, सद्गुणो का प्रकाशन, असद्गुणो का गोपन और नम्रवृत्ति एवं निरभिमानता य उच्च गोत्र के बन्ध के हेतु है।[3]

गोत्र-कर्म का विपाक—विपाक (फल) दृष्टि से विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अहंकार नही करता, वह प्रतिष्ठित कुल मे जन्म लेकर निम्नोक्त आठ क्षमताओं से युक्त होता है—१. निष्कलंक मातृ-पक्ष (जाति), २. प्रतिष्ठित पितृ-पक्ष (कुल), ३. सबल शरीर, ४. सौन्दर्ययुक्त शरीर, ५. उच्च साधना एवं तप-शक्ति, ६. तीव्र बुद्धि एवं विपुलज्ञान राशि पर अधिकार, ७. लाभ एवं विविध उपलब्धियाँ और ८. अधिकार, स्वामित्व एव ऐश्वर्य की प्राप्ति। लेकिन अहंकारी व्यक्तित्व उपर्युक्त समग्र क्षमताओं से अथवा इनमें से किन्हीं विशेष क्षमताओ से वंचित रहता है।[4]

८. अन्तराय कर्म

अभीष्ट की उपलब्धि मे बाधा पहुँचाने वाले कारण को अन्तराय कर्म कहते

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८।१३.
२. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २४०.
३. (अ) कर्मग्रन्थ, १।६०;
(ब) तत्त्वार्थसूत्र, ६।२४.
४. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २४०.

हैं। यह पाँच प्रकार का है। १. **दानान्तराय**—दान की इच्छा होने पर भी दान नहीं किया जा सके, २. **लाभान्तराय**—कोई प्राप्ति होने वाली हो लेकिन किसी कारण से उसमें बाधा आ जाना, ३. **भोगान्तराय**—भोग में बाधा उपस्थित होना जैसे व्यक्ति सम्पन्न हो, भोजनगृह में अच्छा सुस्वादु भोजन भी बना हो लेकिन अस्वस्थता के कारण उसे मात्र खिचड़ी ही खानी पड़े, ४. **उपभोगान्तराय**—उपभोग की सामग्री के होने पर भी उपभोग करने में असमर्थता, ५. **वीर्यान्तराय**—शक्ति के होने पर भी पुरुषार्थ में उसका उपयोग नही किया जा सकना।

—(तत्त्वार्थसूत्र, ८.१४)

जैन नीति-दर्शन के अनुसार जो व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के दान, लाभ, भोग, उपभोग-शक्ति के उपयोग में बाधक बनता है, वह भी अपनी उपलब्ध सामग्री एवं शक्तियों का समुचित उपयोग नही कर पाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी दान देने वाले व्यक्ति को दान प्राप्त करने वाली संस्था के बारे में गलत सूचना देकर या अन्य प्रकार से दान देने से रोक देता है अथवा किसी भोजन करते हुए व्यक्ति को भोजन पर से उठा देता है तो उसकी उपलब्धियों में भी बाधा उपस्थित होती है अथवा भोग-सामग्री के होने पर भी वह उसके भोग से वंचित रहता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार जिन-पूजा आदि धर्म-कार्यों मे विघ्न उत्पन्न करने वाला और हिंसा में तत्पर व्यक्ति भी अन्तराय कर्म का संचय करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार भी विघ्न या बाधा डालना ही अन्तराय-कर्म के बन्ध का कारण है।[1]

५. घाती और अघाती कर्म

कर्मों के इस वर्गीकरण में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों को 'घातिक' और नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय इन चार कर्मों को 'अघाती' माना जाता है। घाती कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति गुण का आवरण करते हैं। ये कर्म आत्मा की स्वभावदशा को विकृत करते हैं, अतः जीवन-मुक्ति में बाधक होते हैं। इन घाती कर्मों में अविद्या रूप मोहनीय कर्म ही आत्म-स्वरूप के आवरण, क्षमता, तीव्रता और स्थितिकाल की दृष्टि से प्रमुख हैं। वस्तुतः मोहकर्म ही एक ऐसा कर्म-संस्कार है, जिसके कारण कर्म-बन्ध का प्रवाह सतत बना रहता है। मोहनीय कर्म उस बीज के समान है, जिसमें अंकुरण की शक्ति है। जिस प्रकार उगने योग्य बीज हवा, पानी आदि के सहयोग से अपनी परम्परा को बढ़ाता रहता है उसी प्रकार मोहनीय रूपी कर्म-बीज ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय रूप हवा, पानी आदि के सहयोग से कर्म-परम्परा को सतत बनाये रखता

१. (अ) कर्मग्रन्थ, १।६१; (ब) तत्त्वार्थसूत्र, ६।२६.

है। मोहनीय कर्म ही जन्म, मरण, संसार या बन्धन का मूल है, शेष घाती कर्म उसके सहयोगी मात्र हैं। इसे कर्मों का सेनापति कहा गया है। जिस प्रकार सेनापति के पराजित होने पर सारी सेना हतप्रभ हो शीघ्र ही पराजित हो जाती है, उसी प्रकार मोह कर्म पर विजय प्राप्त कर लेने पर शेष सारे कर्मों को आसानी से पराजित कर आत्मशुद्धता की उपलब्धि की जा सकती है। जैसे ही मोह नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण का पर्दा हट जाता है, अन्तराय या बाधकता समाप्त हो जाती है और व्यक्ति (आत्मा) जीवन-मुक्त बन जाता है।

अघाती कर्म वे हैं जो आत्मा के स्वभाव दशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते। अघाती कर्म भुने हुए बीज के समान हैं, जिनमें नवीन कर्मों की उत्पादन-क्षमता नहीं होती। वे कर्म-परम्परा का प्रवाह बनाये रखने में असमर्थ होते है और समय की परिपक्वता के साथ ही अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं।

सर्वघाती और देशघाती कर्म-प्रकृतियाँ—आत्मा के स्व-लक्षणों का आवरण करने वाले घाती कर्मों की ४५ कर्म-प्रकृतियाँ भी दो प्रकार की हैं—१. सर्वघाती और २. देशघाती। सर्वघाती कर्म प्रकृति किसी आत्मगुण को पूर्णतया आवरित करती है और देशघाती कर्म-प्रकृति उसके एक अंश को आवरित करती है।

आत्मा के स्वाभाविक सत्यानुभूति नाम-गुण को मिथ्यात्व (अशुद्ध दृष्टिकोण) सर्व-रूपेण आच्छादित कर देता है। अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) और अनन्तदर्शन (केवलदर्शन) नामक आत्मा के गुणों का आवरण भी पूर्ण रूप से होता है। पाँचों प्रकार की निद्राएँ भी आत्मा की सहज अनुभूति की क्षमता को पूर्णतया आवरित करती हैं। इसी प्रकार चारों कषायों के पहले तीनों प्रकार, जो कि संख्या में १२ होते हैं, भी पूर्णतया बाधक बनते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का, प्रत्याख्यानी कषाय देशव्रती चारित्र (गृहस्थ धर्म) का और प्रत्याख्यानी कषाय सर्वव्रती-चारित्र (मुनिधर्म) का पूर्णतया बाधक बनता है। अतः ये २० प्रकार की कर्म-प्रकृतियाँ सर्वघाती कही जाती हैं। शेष ज्ञानावरणीय कर्म की ४, दर्शनावरणीय कर्म की ३, मोहनीय कर्म की १३, अन्तराय कर्म की ५ कुल २५ कर्म-प्रकृतियाँ देशघाती कही जाती हैं। सर्वघात का अर्थमात्र इन गुणों के पूर्ण प्रकटन को रोकना है न कि इन गुणों का अनस्तित्व। क्योंकि ज्ञानादि गुणों के पूर्ण अभाव की स्थिति में आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व में अंतर ही नही रहेगा। कर्म तो प्रकटन में बाधक तत्त्व हैं, वे आत्मगुणों को विनष्ट नही कर सकते। नन्दिसूत्र में तो कहा गया है कि जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को चाहे कितना ही आवरित क्यों

न कर ले, फिर भी वह न तो उसकी प्रकाश-क्षमता को नष्ट कर सकता है और न उसके प्रकाश के प्रकटन को पूर्णतया रोक सकता है, उसी प्रकार चाहे कर्म ज्ञानादि आत्मगुणों को कितना ही आवृत क्यों न कर ले, फिर भी उनका एक अंश हमेशा ही अनावृत रहता है।[1]

६. प्रतीत्यसमुत्पाद[2] और अष्टकर्म, एक तुलनात्मक विवेचन

जैन दर्शन के अष्टकर्म के वर्गीकरण पर कोई तुलनात्मक विवेचन सम्भव नहीं है, क्योंकि बौद्ध दर्शन और गीता में इस रूप में कोई विवेचना उपलब्ध नही है। लेकिन जिस प्रकार जैन-दर्शन का कर्म-वर्गीकरण बन्धन एवं जन्म-मरण की परम्परा के कारकों की व्याख्या करता है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में प्रतीत्य-समुत्पाद भी जन्म-मरण की परम्परा के कारकों की व्याख्या करता है। अतः उस पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है ऐसा होने पर ऐसा होता है और ऐसा न होने पर ऐसा नहीं होता है। वह यह मानता है कि प्रत्येक उत्पाद का कोई प्रत्यय, हेतु या कारण अवश्य होता है। यदि प्रत्येक उत्पाद सहेतुक है तो फिर हमारे बन्धन या दुःख का भी कोई हेतु अवश्य होगा। प्रतीत्यसमुत्पाद हमारे बन्धन या दुःख की निम्न १२ अंगों में कार्य-कारणात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

१. अविद्या—प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रथम कड़ी अविद्या है। बौद्ध-दर्शन में अविद्या का अर्थ है दुःख, दुःख समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोधमार्ग रूपी चार आर्यसत्य सम्बन्धी अज्ञान। अविद्या का हेतु आस्रव है, आस्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है और अविद्या के कारण ही जन्म-मरण परम्परा का संसरण होता है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन में अविद्या संसार में आवागमन (बन्धन) का मूलाधार है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो अविद्या जैन-परम्परा के दर्शन-मोह के समान है। दोनों के अनुसार यह एक आध्यात्मिक अन्धता या सम्यक्-दृष्टिकोण का अभाव है। दोनों ही इस बात में सहमत हैं कि अविद्या या दर्शन-मोह दुःख, बन्धन एवं अनैतिक आचरण का प्रमुख कारण है। दोनों ही परम्पराएँ अविद्या या दर्शन मोह को अनादि मानते हुए भी अहेतुक या अकारण नहीं मानती हैं, जैसा कि सांख्य दर्शन में माना गया है। बौद्ध-परम्परा में अविद्या और तृष्णा में तथा जैन-परम्परा में दर्शन-मोह और चारित्र-मोह में पारस्परिक कार्य-कारण

१. नन्दिसूत्र, ४२. २. (अ) दीघनिकाय, २।२;
(ब) संयुत्तनिकाय, १२।१।२;
(स) बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ३७३-४१०.

सम्बन्ध माना गया है। इस प्रकार अविद्या या दर्शन-मोह अहेतुक नहीं है, उनका हेतु तृष्णा या चारित्र मोह है।

२. संस्कार—प्रतीत्यसमुत्पाद की दूसरी कड़ी संस्कार है। कुशल-अकुशल कायिक, वाचिक और मानसिक चेतनाएँ, जो जन्म-मरण परम्परा का कारण बनती हैं, संस्कार कही जाती हैं। संस्कार एक प्रकार से मानसिक वासना है जो अविद्याजन्य है। संस्कार तीन प्रकार के हैं—१. पुण्याभिसंस्कार, २. अपुण्याभिसंस्कार, ३. अन्योन्याभिसंस्कार। ये संस्कार जैन परम्परा के चारित्र-मोह से तुलनीय हैं। पुण्याभिसंस्कार पुण्य-बन्ध से, अपुण्याभिसंस्कार पाप-बन्ध से और अन्योन्याभिसंस्कार पुण्यानुबन्धी पाप या पापानुबन्धी पुण्य से तुलनीय है।

३. विज्ञान—प्रतीत्यसमुत्पाद की तीसरी कड़ी विज्ञान (चेतना) है, जो संस्कारजन्य है। विज्ञान का तात्पर्य उन चित्त-धाराओं से है जो पूर्वजन्म में किये हुए कुशल-अकुशल कर्मों के विपाकस्वरूप इस जन्म में प्रकट होती हैं और जिनके कारण मनुष्य को ऐन्द्रिक संवेदन एवं अनुभूति होती है अर्थात् विज्ञान इन्द्रियों की ज्ञान-सम्बन्धी चेतन-क्षमता का आधार एवं निर्धारक है। इस प्रकार विज्ञान जैन-परम्परा के ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म से तुलनीय है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन ये छह विज्ञान के प्रकार हैं।

४. नाम-रूप—नाम-रूप का प्रतीत्यसमुत्पाद में चौथा स्थान है। नाम-रूप का हेतु विज्ञान (चेतना) है। बौद्ध-दर्शन में समस्त जगत्—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पंचस्कन्धों से निर्मित है। प्रथम रूपस्कन्ध को रूप और शेष चारों स्कन्धों को नाम कहा जाता है। रूप भौतिक और नाम चेतन है। मिलिन्दप्रश्न में नागसेन लिखते हैं कि जितनी स्थूल चीजें हैं वे सभी रूप है और जितनी सूक्ष्म मानसिक अवस्थाएँ हैं वे नाम हैं। पृथ्वी, अग्नि, पानी और वायु ये चारों महाभूत और इनसे प्रत्युत्पन्न सभी वस्तुएँ एवं शरीरादि रूप कही जाती हैं, जबकि वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चारों नाम कहे जाते हैं। नाम-जैन-विचारणा के आयुष्य कर्म, गतिनामकर्म और शरीर-नामकर्म की संयुक्त अवस्था से तुलनीय हैं।

५. षडायतन—षडायतन से तात्पर्य चक्षु, घ्राण, श्रवण, रसना और स्पर्श इन पांच इन्द्रियों एवं छठे मन से है। षडायतन का कारण नाम-रूप है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर व्यक्ति के सन्दर्भ में नाम-रूप और षडायतन जैन-दर्शन के नाम-कर्म के समान है। क्योंकि जैन-दर्शन में नामकर्म और बौद्ध-दर्शन में नाम-रूप तथा षडायतन वैयक्तिकता के निर्धारक हैं और इस अर्थ में दोनों ही समान हैं।

६. स्पर्श—षडायतन अर्थात् इन्द्रियों एवं मन के होने से उनका अपने-अपने विषयों से सम्पर्क होता है। यह इन्द्रियों और विषय का संयोग ही स्पर्श है। यह षडायतनों पर निर्भर होने से छह प्रकार का है—आँख-स्पर्श (देखना), कान का स्पर्श (सुनना), नाक का स्पर्श (गन्ध-ग्रहण), जीभ का स्पर्श (स्वाद), शरीर का स्पर्श (त्वक् संवेदना) और मन का स्पर्श (विचार-संकल्प)। ये सभी कुशल या अकुशल कर्म के विपाक माने गये हैं।

७. वेदना—वेदना स्पर्श-जनित है। इन्द्रिय और विषयों के संयोग का मन पर पड़ने वाला प्रथम प्रभाव वेदना है। इन्द्रियों के होने पर उनका अपने-अपने विषयों से सम्पर्क होता है और वह सम्पर्क हमारे मन पर प्रभाव डालता है। यह प्रभाव चार प्रकार का होता है—१. सुख रूप, २. दुःख रूप, ३. सुख-दुःख रूप और ४. असुख-अदुःख रूप। पाँच इन्द्रियों एवं मन की अपेक्षा से वेदना के छह विभाग भी किये गये हैं। स्पर्श और वेदना जैन-विचारणा के वेदनीय कर्म के समान है। सुखरूप वेदना सातावेदनीय और दुःख-रूप वेदना असातावेदनीय से तुलनीय है। असुख-अदुःख रूप-वेदना की तुलना जैन दर्शन की वेदनीय कर्म की प्रदेशोदय नामक अवस्था से की जा सकती है।

८. तृष्णा—इन्द्रियों एवं मन के विषयों के सम्पर्क की चाह तृष्णा है। यह छह प्रकार की होती है—शब्द-तृष्णा, रूप-तृष्णा, गंध-तृष्णा, रस (आस्वाद)-तृष्णा, स्पर्श-तृष्णा और मन के विषयों की तृष्णा। इनमें से प्रत्येक कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा के रूप में तीन प्रकार की होती है। विषयों के भोग की वासना को लेकर जो तृष्णा उदित होती है, वह काम-तृष्णा है। विषय (पदार्थ) और विषयी (भोक्ता) का संयोग सदैव बना रहे, उनका उच्छेद न हो, यह लालसा भवतृष्णा है। यह शाश्वतता या बने रहने की तृष्णा है। अरुचिकर या दुःखद संवेदन रूप विषयों के सम्पर्क को लेकर जो विनाश-सम्बन्धी इच्छा उदित होती है, वह विभव तृष्णा है। यह द्वेष स्थानीय एवं अनस्तित्व की तृष्णा है।

तृष्णा लोभ का ही रूप है। इस प्रकार यह जैन-दर्शन के चारित्रमोह कर्म के अन्तर्गत आ जाती है। एक दूसरे प्रकार से तृष्णा अपूर्ण या अतृप्त इच्छा है और इस प्रकार यह अन्तराय कर्म से भी तुलनीय है, यद्यपि दोनों में अधिक निकटता नहीं है।

९. उपादान—उपादान का अर्थ आसक्ति है जो तृष्णा के कारण होती है। उपादान चार प्रकार के हैं—१. कामूपादान-कामभोग में गृद्ध बने रहना, २. दिट्ठूपादान-मिथ्या धारणाओं से चिपके रहना, ४. सीलब्बूतूपादान-व्यर्थ के कर्मकाण्डों में लगे रहना और ४. अत्तवादूपादान-आत्मवाद में आसक्ति रखना।

उपादान का सम्बन्ध भी मोहनीय कर्म से ही माना जा सकता है। दिट्ठूपादान, सीलब्बूतूपादान और अत्तवादूपादान का सम्बन्ध दर्शन-मोह से और कामूपादान का सम्बन्ध चारित्रमोह से है। वैसे ये उपादान वैयक्तिक पुरुषार्थ को सन्मार्ग की दिशा में लगाने में बाधक हैं और इस रूप में वीर्यान्तराय के समान हैं।

१०. भव—भव का अर्थ है पुनर्जन्म कराने वाला कर्म। भव दो प्रकार का है—कम्मभव और उप्पत्तिभव। जो कर्म पुनर्जन्म कराने वाला है वह कर्मभव (कम्मभव) हैऔर जिस उपादान को लेकर व्यक्ति लोक में जन्म ग्रहण करता है वह उत्पत्तिभव (उप्पत्तिभव) है। भव जैन-दर्शन के आयुष्य कर्म से तुलनीय है। कम्मभव भावी जीवन सम्बन्धी आयुष्य-कर्म का बन्ध है जो तृष्णा या मोह के कारण होता है। उप्पत्तिभव वर्तमान जीवन सम्बन्धी आयुष्य-कर्म है।

११. जाति—देवों का देवत्व, मनुष्यों का मनुष्यत्व, चतुष्पदों का चतुष्पदत्व जाति कहा जाता है। जाति भावी जन्म की योनि का निश्चय है जिससे पुनः जन्म ग्रहण करना होता है। जाति की तुलना जैन-दर्शन के जाति नाम कर्म से और कुछ रूप मे गोत्र-कर्म से की जा सकती है।

१२. जरा-मरण—जन्म धारण कर वृद्धावस्था और मृत्यु को प्राप्त होना जरा-मरण है। जरा-मरण की तुलना भी आयुष्य कर्म के भोग से की जा सकती है। आयुष्य-कर्म का क्षय होना ही जरामरण है।

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के प्रतीत्य-समुत्पाद और जैन-दर्शन के कर्मों के वर्गीकरण में कुछ निकटता देखी जा सकती है। यद्यपि दोनों मे मुख्य अन्तर यह है कि बौद्ध-दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद की कड़ियो में पारस्परिक कार्य-कारण शृंखला की जो मनोवैज्ञानिक योजना दिखाई गई है, वैसी जैन कर्म-सिद्धान्त में नहीं है। उसमें केवल मोहकर्म का अन्य कर्मों से कुछ सम्बन्ध खोजा जा सकता है। फिर भी पंचास्तिकायसार में हमें एक ऐसी मनोवैज्ञानिक योजना परिलक्षित होती है, जिसकी तुलना प्रतीत्यसमुत्पाद से की जा सकती है।[1]

§ ७. महायान दृष्टिकोण और अष्टकर्म

महायान बौद्ध-दर्शन मे कर्मों का ज्ञेयावरण और क्लेशावरण के रूप में वर्गीकरण किया गया है।[2] वह जैन दर्शन के कर्म वर्गीकरण के काफी निकट है। क्लेशावरण बन्धन एवं दुःख का कारण है जबकि ज्ञेयावरण ज्ञान के प्रकाश या सर्वज्ञता में

१. पंचास्तिकायसार, १२८ व १२९.
२. अभिधर्म कोष-कर्मनिर्देश नामक चौथा निर्देश, उद्धृत जैन स्टडीज, पृ० २५१-२५२.

बाधक है। क्लेशावरण जैन-दर्शन के चारित्र-मोह कर्म और ज्ञेयावरण केवलज्ञानावरण कर्म से तुलनीय है। वैसे जैन विचारणा द्वारा स्वीकृत कर्म के दो कार्य आवरण और विक्षेप की तुलना भी क्रमशः ज्ञेयावरण और क्लेशावरण से की जा सकती है।

§ ८. कम्मभव और उप्पत्तिभव तथा घाती और अघाती कर्म

अष्ट कर्मों में आत्मा के स्वभाव के आवरण की दृष्टि से चार कर्म घाती और चार कर्म अघाती माने गये है, लेकिन यदि नवीन बन्ध या पुनर्जन्म उत्पादक कर्म की दृष्टि से विचार करें तो एक मात्र मोह-कर्म ही नवीन बंध या पुनर्जन्म का उत्पादक है, शेष सभी कर्मो का बन्ध मोह-कर्म की उपस्थिति में ही होता है। मोह-कर्म की अनुपस्थिति मे कोई ऐमा बन्ध नहीं होता जिसके कारण आत्मा को जन्ममरण के चक्र में फँसना पड़े।

बौद्ध-दर्शन में आत्मा के स्वभाव को आवरित करनेवाले घाती और अघाती कर्मों के सम्बन्ध में तो कोई विचार उपलब्ध नहीं है लेकिन उसमें पुनर्जन्म उत्पादक कर्म की दृष्टि से कम्मभव और उप्पत्तिभव का विचार अवश्य उपलब्ध है। प्रतीत्य-समुत्पाद की १२ कड़ियों मे अविद्या, संस्कार, तृष्णा, उपादान और भव पाँच कम्मभव हैं। इनके कारण जन्म-मरण की परम्परा का प्रवाह चलता रहता है। शेष विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति और जरामरण उत्पत्तिभव हैं, जो अपनी उदय या विपाक अवस्था में नये बन्धन का सृजन नही करते हैं। कम्मभव में अविद्या और संस्कार भूतकालीन जीवन के अर्जित कर्म-संस्कार या चेतना-संस्कार हैं। ये संकलित होकर विपाक के रूप में हमारे वर्तमान जीवन के उत्पत्तिभव (विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना) का निश्चय करते हैं। तत्पश्चात् वर्तमान जीवन के तृष्णा, उपादान और भव स्वयं कम्मभव के रूप में भावी जीवन के उत्पत्तिभव के रूप में जाति और जरामरण का निश्चय करते ह। वर्तमान जीवन के तृष्णा, उपादान और भव भावी-जीवन के अविद्या और संस्कार बन जाते हैं और वर्तमान मे भावी जीवन के लिए निश्चित हुए जाति और जरामरण भावी जीवन में विज्ञान, नामरूप और षडायतन के कारण होते हैं। इस प्रकार कम्मभव रचनात्मक कर्म शक्ति के रूप में जैन-दर्शन के मोह-कर्म के समान जन्म-मरण की शृंखला का सर्जक है और उत्पत्ति-भव शेष निष्क्रिय कर्म अवस्थाओं के समान है, जो मोहकर्म या कम्मभव के अभाव में जन्म-मरण की परम्परा के प्रवाह को बनाये रखने में असमर्थ है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन का कर्मभव जैन-दर्शन के मोह-कर्म से और उत्पत्ति-भव जैन विचारणा की शेष कर्म अवस्थाओं के समान है। इसे निम्न तुलनात्मक तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है—

बौद्ध-परम्परा		जैन-परम्परा
कर्मभव	१. अविद्या २. संस्कार	मोहकर्म की सत्ता की अवस्था।
	३. तृष्णा ४. उपादान ५. भव	मोहकर्म की विपाक और नवीन बन्ध की अवस्था।
उत्पत्तिभव	६. विज्ञान ७. नाम-रूप ८. षडायतन ९. स्पर्श १०. वेदना	ज्ञानावरण, दर्शनावरण आयुष्य, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की विपाक अवस्था।
	११. जाति १२. जरा-मरण	भावी जीवन के लिए आयुष्य, नाम, गोत्र आदि कर्मों की बन्ध की अवस्था।

§ ९. चेतना के विभिन्न पक्ष और बन्धन

कर्म-अकर्म विचार में हमने देखा कि बन्धन मुख्य रूप से कर्ता की चैत्तसिक अवस्था पर आधारित है, अतः यह विचार भी आवश्यक है कि चेतना और बन्धन के बीच क्या सम्बन्ध है ?

आधुनिक मनोविज्ञान में चेतना

आधुनिक मनोविज्ञान चेतना के तीन पक्ष मानता है, जिन्हे क्रमशः (१) ज्ञानात्मक पक्ष, (२) भावात्मक पक्ष और (३) संकल्पात्मक पक्ष कहा जाता है। इन्हीं तीन पक्षों के आधार पर चेतना के तीन कार्य माने जाते हैं—१. जानना २. अनुभव करना ३. इच्छा करना। भारतीय चिन्तन में भी चेतना के इन तीन पक्षों अथवा कार्यों के सम्बन्ध में प्राचीन समय से ही पर्याप्त विचार किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चेतना के निम्न तीन पक्षों का निर्देश किया है—१. ज्ञानचेतना २. कर्मचेतना और ३. कर्मफलचेतना।[1] तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान-चेतना को चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष से, कर्मफलचेतना को चेतना के भावात्मक (अनुभूत्यात्मक) पक्ष से और कर्म-चेतना को चेतना के संकल्पात्मक पक्ष के समकक्ष माना जा सकता है।

१. पंचास्तिकायसार, ३८.

जैन दृष्टिकोण

उपर्युक्त तीनों पक्षों पर बन्धन के कारण की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष या ज्ञान-चेतना बन्धन का कारण नहीं हो सकती है। ज्ञान चेतना तो मुक्त जीवात्माओं में भी होती है, अतः उसे बन्धन का कारण मानना असंगत है। कर्मफलचेतना या चेतना के अनुभूत्यात्मक पक्ष को भी अपने आप में बन्धन का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अर्हत् या केवली में भी वेदनीय कर्म का फल भोगने के कारण कर्मफल चेतना तो होती है, लेकिन वह उसके बन्धन का कारण नहीं बनती। उत्तराध्ययनसूत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि इन्द्रियों के माध्यम से होनेवाली सुखद और दुःखद अनुभूतियाँ वीतराग के मन में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं कर सकती।[1] इस प्रकार न चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष बन्धन का कारण है, न अनुभूत्यात्मक पक्ष बन्धन का कारण है। चेतना के तीसरे संकल्पात्मक पक्ष को, जिसे कर्मचेतना कहा जाता है, बन्धन का कारण माना जा सकता है। क्योंकि शेष दो ज्ञानचेतना और अनुभवचेतना तो चेतना की निष्क्रिय अवस्थाएँ हैं, यद्यपि उनमें प्रतिबिम्बित होने वाली बाह्य घटनाएँ सक्रिय तत्त्व हैं। लेकिन कर्म-चेतना स्वतः ही सक्रिय अवस्था है। संकल्प, विकल्प एवं राग-द्वेषादि भावों का जन्म चेतना की इसी अवस्था में होता है अतः जैन-दर्शन मे चेतना का यही संकल्पात्मक पक्ष बन्धन का कारण माना गया है, यद्यपि इसके पीछे उपादान कारक के रूप में भौतिक तथ्यों से प्रभावित होनेवाली कर्मफल चेतना का हाथ अवश्य होता है। कुछ विचारकों ने कर्म-चेतना को भी निष्क्रिय क्रियाचेतना के रूप में समझने की कोशिश की है, लेकिन ऐसी अवस्था में चेतना का कोई भी सक्रिय पक्ष नहीं रहने से बन्धन की व्याख्या संभव नहीं होगी। यदि कर्म-चेतना केवल क्रिया के होने का ज्ञान है तो फिर वह ज्ञान चेतना या कर्मफलचेतना से भिन्न नहीं होगी। अतः कर्मचेतना की निष्क्रिय रूप में व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है। केवल उसी का सम्बन्ध बन्धन से हो सकता है, क्योंकि वही राग-द्वेष या कषायादि भाव-कर्मों की कर्ता है।

बौद्ध दृष्टिकोण से तुलना

बौद्ध विचार में भी चेतना को ज्ञानात्मक, अनुभवात्मक तथा संकल्पात्मक पक्षों से युक्त माना गया है, जिन्हें क्रमशः सन्ना, वेदना और चेतना (संकल्प) कहा गया है।[2] जैन परम्परा जिसे ज्ञान-चेतना कहती है उसे बौद्ध-परम्परा में सन्ना या क्रिया-चेतना कहा जाता है, जैन परम्परा की कर्मफल चेतना बौद्ध परम्परा की विपाक-चेतना या वेदना के समकक्ष है। बौद्ध-विचारणा की चेतना (संकल्प) की

---

१. उत्तराध्ययन, ३२।१००.   २. उद्धृत स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २४७.

तुलना जैन विचारणा की कर्म-चेतना से की जा सकती है। तीनो पक्षों से समन्वित चेतना नैतिक आधार पर शोभना, अकुशल और अव्यक्त ऐसे तीन भागों मे विभाजित की गयी है। पुनः शोभना या कुशल चेतना को तीन उपभागो में विभाजित किया गया है—१. शुभ संकल्प चेतना, २. शुभ विपाक चेतना और ३. शुभ क्रिया चेतना। इसी प्रकार अशुभ या अकुशल चेतना भी १. अकुशल सकल्प चेतना, २. अकुशल विपाक चेतना, और ३. अकुशल क्रिया चेतना (ज्ञान चेतना)—ऐसे तीन उपभागों मे विभाजित की गई है। लेकिन इसमे से शुभ और अशुभ विपाक चेतनाएँ तथा शुभ और अशुभ क्रिया चेतनाएँ बन्धन की कोटि मे नही आती हैं। यद्यपि बाह्य जगत् मे ये त्रियाशीलता की अवस्थाएँ है, लेकिन इनके पीछे कर्ता का कोई आशय नही होने से ये बन्धनकारक नही है। मात्र शुभ और अशुभ संकल्प-चेतना ही बन्धन दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तथा ससार के आवागमन का कारण है। □

१३

बन्धन से मुक्ति की ओर (संवर और निर्जरा)

●

१३

बन्धन से मुक्ति की ओर
(संवर और निर्जरा)

यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा के पूर्वकर्म-संस्कारों के कारण बन्धन की प्रक्रिया अविराम गति से चल रही है। पूर्वकर्म-संस्कार विपाक के अवसर पर आत्मा को प्रभावित करते हैं और उसके परिणामस्वरूप मानसिक एवं शारीरिक क्रिया-व्यापार होता है और उस क्रिया व्यापार के कारण नवीन कर्मास्रव एवं कर्म-बन्ध होता है। अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बन्धन से मुक्त कैसे हुआ जाय? जैन दर्शन बन्धन से बचने के लिए जो उपाय बताता है, उसे सवर कहते है।

§ १. संवर का अर्थ

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार आस्रव-निरोध सवर है।[१] मंवर मोक्ष का मूल-कारण[२] तथा नैतिक साधना का प्रथम सोपान है। संवर शब्द सम् उपसर्गपूर्वक वृ धातु से बना है। वृ धातु का अर्थ है रोकना या निरोध करना। इस प्रकार संवर शब्द का अर्थ है आत्मा मे प्रवेश करनेवाले कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को रोक देना। सामान्यतः शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं का यथाशक्य निरोध (रोकना) करना संवर है, क्योंकि क्रियाएँ ही आस्रव का कारण हैं। जैन-परम्परा में मंवर को कर्म-परमाणुओं के आस्रव को रोकने के अर्थ में और बौद्ध-परम्परा मे क्रिया के निरोध के अर्थ में स्वीकार किया गया है। क्योंकि बौद्ध-परम्परा मे कर्मवर्गणा (परमाणुओं) का भौतिक स्वरूप मान्य नही है, अतः वे संवर को जैन-परम्परा के अर्थ में नहीं लेते हैं। उसमे संवर का अर्थ मन, वाणी एवं शरीर के क्रिया-व्यापार या ऐन्द्रिक प्रवृत्तियों का संयम ही अभिप्रेत है। वैसे जैन-परम्परा में भी मंवर को कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के निरोध के रूप में माना गया है, क्योंकि मंवर के पाँच अंगों मे अयोग (अक्रिया) भी एक है। यदि इस परम्परागत अर्थ को मान्य करते हुए भी थोड़ा ऊपर उठकर देखें तो मंवर का वास्तविक अर्थ संयम ही होता है। जैन-परम्परा में संवर के रूप में जिस जीवन-प्रणाली का विधान है वह संयमी जीवन की प्रतीक है। स्थानांगसूत्र मे संवर के पाँच भेदों का विधान पाँचों इन्द्रियों के संयम के रूप में

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९।१. २. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ८०.

किया गया है।[1] उत्तराध्ययनसूत्र में तो संवर के स्थान पर संयम को ही आस्रव-निरोध का कारण कहा गया है।[2] वस्तुतः संवर का अर्थ है अनैतिक या पापकारी प्रवृत्तियों से अपने को बचाना और संवर शब्द इस अर्थ में संयम का पर्याय ही सिद्ध होता है। बौद्ध-परम्पपा मे संवर शब्द का प्रयोग संयम के अर्थ में ही हुआ है। धम्मपद आदि में प्रयुक्त संवर शब्द का अर्थ संयम ही किया गया है।[3] सवर शब्द का यह अर्थ करने मे जहाँ एक ओर हम तुलनात्मक विवेचन को सुलभ बना सकेंगे वही दूसरी ओर जैन-परम्परा के मूल आशय से भी दूर नहीं जायेंगे। लेकिन संवर का यह निषेधक अर्थ ही सब-कुछ नही है, वरन् उसका एक विधायक पक्ष भी है। शुभ अध्यवसाय भी संवर के अर्थ मे स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि अशुभ की निवृत्ति के लिये शुभ का अंगीकार प्राथमिक स्थिति में आवश्यक है। वृत्ति-शून्यता के अभ्यासी के लिए भी प्रथम शुभ-वृत्तियो को अंगीकार करना होता है। क्योंकि चित्त का शुभवृत्ति से परिपूर्ण होने पर अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं रहता। अशुभ को हटाने के लिए शुभ आवश्यक है। संवर का अर्थ शुभ-वृत्तियो का अभ्यास भी है। यद्यपि वहाँ शुभ का मात्र वही अर्थ नही है जिसे हम पुण्यास्रव या पुण्यबंध के रूप मे जानते है।

§ २. जैन परम्परा में संवर का वर्गीकरण

(अ) जैन-दर्शन में संवर के दो भेद हैं—१. द्रव्य संवर और २. भाव संवर। द्रव्यसंग्रह मे कहा गया है कि कर्मास्रव को रोकने में सक्षम आत्मा की चैत्तसिक स्थिति भावसंवर है, और द्रव्यास्रव को रोकने वाला उस चैत्तसिक स्थिति का परिणाम द्रव्य संवर है।[4]

(ब) संवर के पाँच अंग या द्वार बताये गये है—१. सम्यक्त्व—यथार्थ दृष्टिकोण, २. विरति—मर्यादित या संयमित जीवन, ३. अप्रमत्तता—आत्म-चेतनता, ४. अकषायवृत्ति—क्रोधादि मनोवेगो का अभाव और ५. अयोग—अक्रिया।[5]

(स) स्थानागसूत्र में संवर के आठ भेद निरूपित हैं—१. श्रोत्र इन्द्रिय का सयम, २. चक्षु इन्द्रिय का संयम, ३. घ्राण इन्द्रिय का संयम, ४. रसना इन्द्रिय का संयम, ५. स्पर्श इन्द्रिय का संयम, ६. मन का संयम, ७. वचन का संयम, ८. शरीर का संयम।[6]

(द) प्रकारान्तर से जैनागमों में संवर के सत्तावन भेद भी प्रतिपादित हैं, जिनमें पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ, दसविध यति-धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ (भाव-

१. स्थानांग, ५।२।४२७.
२. उत्तराध्ययन, २९।२६.
३. धम्मपद, ३६०-३६३.
४. द्रव्यसंग्रह, ३४.
५. समवायांग, ५।५.
६. स्थानांग, ८।३।५९८.

नाएँ) बाईस परीषह और पाँच सामायिक चारित्र सम्मिलित हैं। ये सभी कर्मास्रव का निरोध कर आत्मा को बन्धन से बचाते हैं, अतः संवर कहे जाते हैं। इन सबका विशेष सम्बन्ध संन्यास या श्रमण जीवन से है।

उपर्युक्त आधारों पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संवर का तात्पर्य ऐसी मर्यादित जीवन-प्रणाली है जिसमें विवेकपूर्ण आचरण (क्रियाओं का सम्पादन) मन, वाणी और शरीर की अयोग्य प्रवृत्तियों का संयमन, सद्गुणों का ग्रहण, कष्ट-सहिष्णुता और समत्व की साधना समाविष्ट है। जैन-दर्शन में संवर के साधक से यही अपेक्षा की गई है कि उसका प्रत्येक आचरण संयत एवं विवेकपूर्ण हो, चेतना सदैव जागृत रहे ताकि इन्द्रियों के विषय उसमें राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ पैदा न कर सकें। जब इन्द्रियाँ और मन अपने विषयों के सम्पर्क में आते है तो आत्मा में विकार या वासना उत्पन्न होने की सम्भावना खड़ी होती है, अतः साधना-मार्ग के पथिक को सदैव जागृत रहते हुए विषय-सेवन रूप छिद्रों से आने वाले कर्मास्रव या विकार से अपनी रक्षा करनी है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को समेटकर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखे।[1] मन, वाणी, शरीर और इन्द्रिय-व्यापारों का संयमन ही नैतिक जीवन की साधना का लक्ष्य है। सच्चे साधक की व्याख्या करते हुए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो सूत्र तथा उसके रहस्य को जानकर हाथ, पैर, वाणी, तथा इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है (अर्थात् सन्मार्ग मे विवेकपूर्वक प्रयत्नशील रहता है), अध्यात्मरस में ही जो मस्त रहता है और अपनी आत्मा को समाधि में लगाता है, वही सच्चा साधक है।[2]

§ ३. बौद्ध-दर्शन में संवर

त्रिपिटक साहित्य में संवर शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है, लेकिन कायिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृतियों के संयमन के अर्थ में ही। भगवान् बुद्ध संयुत्तनिकाय के संवरसुत्त में असंवर और संवर कैसे होता है इसके विषय मे कहते हैं—

भिक्षुओ ! संवर और असंवर का उपदेश करूँगा। उसे सुनो।

भिक्षुओ कैसे असंवर होता है ?

भिक्षुओ ! चक्षुविज्ञेय रूप, श्रोत्रविज्ञेय शब्द, घ्राणविज्ञेय गन्ध, जिह्वाविज्ञेय रस, कायाविज्ञेय स्पर्श, मनोविज्ञेय धर्म, अभीष्ट, सुन्दर, लुभावने, प्यारे, कामयुक्त, राग मे डालनेवाले होते हैं। यदि कोई भिक्षु उसका अभिनन्दन करे, उसकी बड़ाई

१. सूत्रकृतांग, १।८।१६. २. दशवैकालिक, १०।१५.

करे और उसमें सलंग्न हो जाय, तो उसे समझना चाहिए कि मैं कुशल धर्मों से गिर रहा हूँ। इसे परिहान कहा है।

भिक्षुओ ! ऐसे ही असंवर होता है।

भिक्षुओ ! संवर कैसे होता है ?

भिक्षुओ ! चक्षुविज्ञेय रूप, श्रोत्रविज्ञेय शब्द, घ्राणविज्ञेय गन्ध, जिह्वाविज्ञेय रस, कायाविज्ञेय स्पर्श, मनोविज्ञेय धर्म, अभीष्ट, सुन्दर, लुभावने, प्यारे, कामयुक्त, राग में डालने वाले होते हैं। यदि कोई भिक्षु उनका अभिनन्दन न करे, उनकी बड़ाई न करे, और उनमें संलग्न न हो, तो उसे समझना चाहिए कि मैं कुशल धर्मों मे नहीं गिर रहा हूँ। इसे अपरिहान कहा है।

भिक्षुओ ! ऐसे ही संवर होता है।[1]

धम्मपद में बुद्ध कहते हैं, "भिक्षुओ ! आँख का संवर उत्तम है, श्रोत्र का संवर उत्तम है, भिक्षुओ ! नासिका का संवर उत्तम है और उत्तम है जिह्वा का संवर। मन, वाणी और शरीर सभी का संवर उत्तम है। जो भिक्षु पूर्णतया संवृत है, वह समग्र दुःखों से शीघ्र ही छूट जाता है।"[2]

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन में संवर का तत्त्व स्वीकृत रहा है। इन्द्रियनिग्रह और मन, वाणी एवं शरीर के संयम को दोनों परम्पराओं ने स्वीकार किया है। दोनो ही संवर (संयम) को नवीन कर्म-संतति से बचने का उपाय तथा निर्वाण-मार्ग का सहायक तत्त्व स्वीकार करते है। दशवैकालिकसूत्र के समान बुद्ध भी सच्चे साधक को सुसमाहित (सुसंवृत) रूप में देखना चाहते हैं। वे कहते हैं कि "भिक्षु वस्तुतः वह कहलाता है, जो हाथ और पैर का संयम करता है, जो वाणी का संयम करता है, जो उत्तम रूप से संयत है, जो अध्यात्म में स्थित है, जो समाधि-युक्त है और सन्तुष्ट है।"[3]

§ ४. गीता का दृष्टिकोण

गीता में संवर शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियों के संयम का विचार तो उसमें है ही। सूत्रकृतांग के समान कछुए का उदाहरण देते हुए गीताकार भी कहता है कि "कछुआ अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही साधक जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।"[4]

१. संयुत्तनिकाय, ३४।२।५।५.
२. धम्मपद, ३६०-३६१.
३. वही, ३६२. तुलनीय दशवैकालिक १०।१५
४. गीता, २।५८.

"हे अर्जुन ! यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी यह प्रमथन-स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं। जैसे जल में वायु नाव को हर लेता है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि का हरण कर लेती है। हे महा-बाहो ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ सब प्रकार के इन्द्रियों-विषयों से वश में होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण स्थित होये।"[1] इस प्रकार गीता का जोर भी संयम पर है।

§ ५. संयम और नैतिकता

वस्तुतः जैन और गीता के आचार-दर्शन संयम के प्रत्यय को मुक्ति के लिए आवश्यक मानते है। जैन-विचारणा में धर्म (नैतिकता) के तीन प्रमुख अंग माने गये हैं—१. अहिंसा २. संयम और ३. तप। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है, "अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म सर्वोत्कृष्ट मंगल है"।[2] संयम का अर्थ है मर्यादित या नियमपूर्वक जीवन और नैतिकता का भी यही अर्थ है। नैतिकता को मर्यादित या नियमपूर्वक जीवन से भिन्न नही देखा जा सकता।

किन्हीं विचारकों की यह मान्यता हो सकती है कि व्यक्ति को जीवन-यात्रा के संचालन में किन्ही मर्यादाओं एवं आचार नियमों मे बाँधना उचित नहीं है। तर्क दिया जा सकता है कि मर्यादाओं के द्वारा व्यक्ति के जीवन की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है और मर्यादाएँ या नियम कभी भी परमसाध्य नहीं हो सकते। वे तो स्वयं एक प्रकार का बंधन हैं। लक्ष्य की प्राप्ति में मर्यादाएँ व्यर्थ हैं।

लेकिन यह मान्यता युक्तिसंगत नही है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि प्रकृति (सम्पूर्ण जगत) नियमों से आबद्ध है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा का कथन है कि संसार में जो कुछ हो रहा है, नियमबद्ध हो रहा है। इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता, जो कुछ होता है प्राकृतिक नियम के अधीन होता है।[3] प्रकृति स्वयं उन तथ्यों को व्यक्त कर रही है जो इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि विकारमुक्त अवस्था की प्राप्ति एवं आत्म-विकास के लिए भी मर्यादाएँ आवश्यक हैं। चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की सृष्टि की अपनी-अपनी मर्यादाएँ है। सम्पूर्ण जगत् नियमों से शासित है। जिस समय जगत् में नियमों का अस्तित्व समाप्त होगा, उसी समय जगत् का अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा।

१. गीता, २।६०, २।६७, २।६८, २।६१. २. दशवैकालिक, १।१.
३. पश्चिमी दर्शन (दीवानचन्द), पृ० १२१.

नदी का अस्तित्व तटो की मर्यादा मे है। यदि नदी अपनी सीमारेखा (तट) को स्वीकार नही करती है तो क्या उसका अस्तित्व रह सकता है? क्या वह अपने लक्ष्य जलनिधि (समुद्र) को प्राप्त कर सकती है, किंवा जन-कल्याण मे उपयोगी हो सकती है? प्रकृति यदि अपने नियमो मे आबद्ध न रहे, वह मर्यादा तोड दे तो वर्तमान विश्व क्या अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है? प्रकृति का अस्तित्व स्वय उनके नियमो पर है। डा० राधाकृष्णन् कहते है, "प्रकृति का मार्ग लोगो के मन मे छाई भावना और सस्कार द्वारा नही, वरन् शाश्वत नियमो द्वारा निर्धारित होता है, विश्व पूर्ण रूप से नियमबद्ध है।"[1]

पशु जगत् के अपने नियम और अपनी मर्यादाएँ है, जिनके आधार पर वे अपनी जीवन-यात्रा सम्पन्न करत है। उनका आहार-विहार सभी नियमबद्ध है। वे निश्चित समय पर भोजन की खोज को जाते एव वापस लौट आते है। उनके जीवन-कार्यों मे एक व्यवस्था होती है। लेकिन उपर्युक्त सभी तथ्यो के प्रति आपत्ति यह की जा सकती है कि ये सभी नियम स्वभाविक या प्राकृतिक है जब कि मानवीय नैतिक नियम कृत्रिम या निर्मित होते हैं। अतएव उनकी महत्ता प्राकृतिक नियमो की महत्ता के आधार पर सिद्ध नही की जा सकती।

अब हम यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि मनुष्य के लिए निर्मित नैतिक नियम क्यो आवश्यक है। इस हेतु हमे सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक होगा कि सामान्य प्राणी वर्ग और मनुष्य मे क्या अन्तर है, जिसके आधार पर उसे नैतिक मर्यादाएँ (निर्मित नियम) पालन करने को कहा जा सकता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि प्राणी-वर्ग मे मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसमे चिन्तन की सर्वाधिक क्षमता है। उसका यह ज्ञानगुण या विवेकक्षमता ही उसे पशुओ से पृथक् कर उच्च स्थान प्रदान करती है।

नैतिक नियम मानव-जाति के सहस्रो वर्षो के चिन्तन और मनन का परिणाम है। उनके मानने से इनकार करने का अर्थ होगा कि मनुष्य-जाति को उसकी ज्ञान-क्षमता से विलग कर पशु-जाति की श्रेणी मे मिला देना।

स्वाभाविक नियम तो पशुओ मे भी होते है। उनका आचार-व्यवहार उन्हीं नियमो से शासित होता है। वे आहार की मात्रा, रक्षा के उपाय आदि का निश्चय इन स्वाभाविक नियमो के सहारे करते है। लेकिन मनुष्य की सार्थकता इसी मे है कि वह स्वचिन्तन के आधार पर अपने हिताहित का ध्यान रख कर ऐसी मर्यादाएँ निश्चित करे जिससे वह परमसाध्य को प्राप्त कर सके। कांट ने कहा है कि "अन्य पदार्थ नियम के अधीन चलते हैं। मनुष्य नियम के प्रत्यय के आधीन

---

१. हिन्दुओं का जीवन-दर्शन, पृ० ६८.

भी चल सकता है अन्य शब्दों में उसके लिए आदर्श बनाना और उन पर चलना संभव है।[1]

मनुष्य अपने को पूर्ण रूप से प्रकृति पर आश्रित नही छोड़ता। वह प्रकृति के आदेशों का पूर्ण रूप से पालन नही करता। मानव-जाति का इतिहास यह बताता है कि मनुष्य ने प्रकृति से शासित होने की अपेक्षा उस पर शासन करने का प्रयत्न किया है। फिर आचार के क्षेत्र में यह दावा कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्य को अपनी वृत्तियों की पूर्ति हेतु मानवो द्वारा निर्मित नैतिक मर्यादाओं द्वारा शासित नही करके स्वतंत्र परिचारण करने देना चाहिए। मनुष्य ने जीवन में कृत्रिमता को अधिक स्थान दे दिया है और इस हेतु उनके लिए अधिक निर्मित नैतिक मर्यादाओं की आवश्यकता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यह मनुष्य के सम्बन्ध में दूसरा मुद्रालेख है। यह व्यक्त करता है कि मनुष्य के नियम ऐसे होने चाहिए जो उसे सामाजिक प्राणी बनाये रखे। यदि वह इतना नहीं करे, तो भी सामाजिक व्यवस्था में व्याघात उत्पन्न करे, ऐसी आचार विधि के निर्माण का अधिकार उसे प्राप्त नही है।

उपर्युक्त निश्चय के आधार पर मनुष्य की आचार-विधि या नैतिक मर्यादाएँ दो प्रकार की हो सकती है—समाजगत और आत्मगत। पाश्चात्य विचारक भी ऐसे ही दो विभाग करते हैं—१. उपयोगितावादी सिद्धान्त, २. अन्तरात्मक सिद्धान्त।

लेकिन निरपेक्ष रूप से न तो सामाजगत विधि ही अपनायी जा सकती है और न आत्मगत। दोनों का महत्व सापेक्ष है। यह तथ्य अलग है कि किसी परिस्थिति और साधन की योग्यता के आधार पर किसी एक को प्रमुखता दी जा सकती है और दूसरी गौण हो सकती है, लेकिन एक की पूरी तरह अवहेलना करके आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

नैतिक मर्यादाओं का पालन हम अपने स्वयं के लिए करे या समाज के लिए, लेकिन उनकी अनिवार्यता से इनकार नही किया जा सकता। दृष्टिकोण चाहे जो हो, दोनों में संयम का स्थान समान है। असंयम से जीवन बिगड़ता है, प्राणी दुःखी होता है।

१. खान-पान में संयम—खान-पान में संयम अत्यन्त आवश्यक है। न पचने वाले या स्वास्थ्य के विरोधी तत्वों के शरीर में प्रवेश के कारण रोग पैदा होंगे। रुग्ण व्यक्ति यदि भोजन का संयम न रखे, तो रोग बढ़ेगा और वह मृत्यु के मुख में पहुँच जायेगा।

१. पश्चिमी दर्शन (दीवानचंद्र), पृ० १६४.

२. **भोगों में संयम**—विषय-सुख बड़े मधुर लगते हैं, पर यदि व्यक्ति इसमें संयम न रखे तो वीर्य-नाश से शक्ति ह्रास यावत् रोगोत्पत्ति से मरण तक हो सकता है। सुन्दर स्त्रियों को देखकर मन ललचा जाता है, किन्तु परायी स्त्रियों से विषय-सुख की इच्छा करने पर समाज-व्यवस्था में विशृंखलता पैदा हो जायेगी। मन की चंचलता व दौड़ में यदि मर्यादाएँ न रहें तो अभोग्य बहन, बेटी, कुटुम्बिनी तक से विषय-सुख की लालसा जागृत हो जायेगी और इस प्रकार सामाजिक मर्यादाएँ समाप्त हो जायंगी।

३. **वाणी का संयम**—बोलने में संयम न रहे तो कलह एवं मनोमालिन्य बढ़ता है। चाहे जैसा, जो भी मन में आया, उसे बोलने का परिणाम बड़ा दारुण होता है। वचन के असंयम से छोटी-सी बात भी विवाद का कारण बन जाती है। अधिक झगड़े इसी कारण पैदा होते है। महाभारत का महायुद्ध वाणी के असंयम का ही परिणाम था।

हम देखते हैं कि वाद्य-यंत्रों के वादन में, मोटर आदि वाहनों के चलाने में हाथ का संयम जरूरी होता है। थोड़ा-सा हाथ का संयम खत्म कि मोटर कहीं से कहीं जा गिरेगी। ताल व वाद्य पर नियंत्रण न रहा तो संगीत का सारा मजा किरकिरा हो जायेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संयम के बिना जीवन चल नही सकता, सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। संयम रूपी ब्रेक हर काम मे आवश्यक है। जीवन की यात्रा में संयम रूपी ब्रेक न हो तो महान् अनर्थ हो सकता है। सामाजिक जीवन में भी संयम के अभाव में सुखद जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन में संयम के बिना प्रवेश करना संभव नही। व्यक्ति जब तक अपने हितों को मर्यादित नहीं कर सकता और अपनी आकांक्षाओं को समाज-हित में बलिदान नहीं कर सकता, वह सामाजिक जीवन के अयोग्य है।

समाज में शांति और समृद्धि इसी आधार पर संभव है, जब उसके सदस्य अपने हितों का नियंत्रण करना जानें। सामाजिक जीवन में हमें हितों की प्राप्ति के लिए एक सीमारेखा निश्चित करनी होती है। हम अपने हित-साधन की सीमा वही तक बढ़ा सकते हैं, जहाँ तक दूसरे के हित की सीमा प्रारम्भ होती है। समाज में व्यक्ति अपना स्वार्थ-साधन वहीं तक कर सकता है जहाँ तक उससे दूसरे का अहित न हो। इस सामाजिक जीवन के आवश्यक तत्त्व हैं—१. अनुशासन, २. सहयोग की भावना और ३. अपने हितों का बलिदान करने की क्षमता। क्या इन सबका आधार संयम नहीं है? सच्चाई यह है कि संयम के बिना सामाजिक जीवन की कल्पना ही संभव नहीं।

संयम और मानव-जीवन ऐसे घुले-मिले तथ्य हैं कि उनसे परे सुव्यवस्थित जीवन की कल्पना संभव नहीं दिखाई देती। सयम का दूसरा रूप ही मर्यादित जीवन-व्यवस्था है। मनुष्य के लिए अमर्यादित जीवन-व्यवस्था संभव नहीं है। हम सभी ओर से मर्यादाओं से आबद्ध हैं। प्राकृतिक मर्यादाएँ, व्यक्तिगत मर्यादाएँ, पारिवारिक मर्यादाएँ, सामाजिक-मर्यादाएँ, राष्ट्रीय मर्यादाएँ, और अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाएँ सभी से मनुष्य बंधा हुआ है और यदि वह इन सबको स्वीकार न करे तो वह उस दशा में पशु से भी हीन होगा।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मर्यादाओं का पालन अनिवार्य है। सभी मर्यादाओं का पालन करना संयम नहीं है लेकिन यदि मर्यादाओं का पालन स्वेच्छा से किया जाता है तो उनके पीछे अव्यक्त रूप में संयम का भाव निहित रहता है। सामान्यतया वे ही मर्यादाएँ संयम कहलाती हैं जिनके द्वारा व्यक्ति आत्मविकास और परमसाध्य की प्राप्ति करता है।

∫ ६. निर्जरा

आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बद्ध होना बंध है और आत्मा से कर्म-वर्गणाओं का अलग होना निर्जरा है। नवीन आने वाले कर्म-पुद्गलों को रोकना (संवर) है, परन्तु मात्र संवर से निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि किसी बड़े तालाब के जल स्रोतों (पानी के आगमन के द्वारों) को बन्द कर दिया जाए और उसके अन्दर रहे हुए जल को उलीचा जाय और ताप से सुखाया जाए तो वह विस्तीर्ण तालाब भी सूख जाएगा।" इस रूपक में आत्मा ही सरोवर है, कर्म पानी है, कर्म का आस्रव ही पानी का आगमन है। उस पानी के आगमन के द्वारों को निरुद्ध कर देना संवर है और पानी का उलीचना और सुखाना निर्जरा है। यह रूपक यह बताता है कि "संवर से नये कर्म रूपी जल का आगमन (आस्रव) तो रुक जाता है, लेकिन पूर्व में बंधे हुए, सत्तारूप कर्मों का जल जो आत्मारूपी तालाब में शेष है, उसे सुखाना ही निर्जरा है।[1]

द्रव्य और भाव रूप निर्जरा—निर्जरा शब्द का अर्थ है जर्जरित कर देना, झाड़ देना अर्थात् आत्म-तत्त्व से कर्म-पुद्गलों का अलग हो जाना अथवा अलग कर देना निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकार की है। आत्मा का वह चैत्तसिक अवस्था रूप हेतु जिसके द्वारा कर्म-पुद्गल अपना फल देकर अलग हो जाते हैं, भाव-निर्जरा कहा जाता है। भाव-निर्जरा आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था है जिसके कारण कर्म-परमाणु आत्मा से अलग हो जाते हैं। यही कर्म-परमाणुओं का आत्मा से पृथक्क-रण द्रव्य निर्जरा है। भाव-निर्जरा कारण रूप है और द्रव्य-निर्जरा कार्य रूप है।

---

१. उत्तराध्ययन ३०।५-६.

सकाम और अकाम निर्जरा—निर्जरा के ये दो प्रकार भी माने गये हैं—

१. कर्म जितनी काल-मर्यादा के साथ बँधा है, उसके समाप्त हो जाने पर अपना विपाक (फल) देकर आत्मा से अलग हो जाता है, यह यथाकाल-निर्जरा है। इसे सविपाक, अकाम और अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं। इसे सविपाक निर्जरा इसलिए कहते हैं कि इसमें कर्म अपना विपाक देकर अलग होता है अर्थात् इसमें फलोदय (विपाकोदय) होता है। इसे अकाम निर्जरा इस आधार पर कहा गया है कि इसमें कर्म के अलग करने में व्यक्ति के संकल्प का तत्त्व नहीं होता। उपक्रम शब्द प्रयास के अर्थ में आता है, इसमें वैयक्तिक प्रयास का अभाव होता है, अतः इसे अनौपक्रमिक भी कहा जाता है। यह एक प्रकार से विपाक-अवधि के आने पर अपना फल देकर स्वाभाविक रूप में कर्म का अलग हो जाना है।

२. तपस्या के माध्यम से कर्मों को उनके फल देने के समय के पूर्व अर्थात् उनकी कालस्थिति परिपक्व होने के पहिले ही प्रदेशोदय के द्वारा भोगकर बलात् अलग कर दिया जाता है, तो यह निर्जरा सकाम निर्जरा कही जाती है, क्योंकि निर्जरित होने में समय का तत्त्व अपनी स्थिति को पूरी नहीं करता है। इसे अविपाक निर्जरा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें विपाकोदय या फलोदय नहीं होता है, मात्र प्रदेशोदय होता है। विपाकोदय और प्रदेशोदय के अन्तर को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जब क्लोरोफार्म सुंघाकर किसी व्यक्ति की चीर-फाड़ की जाती है तो उसमें उसे असातावेदनीय (दुःखानुभूति) नामक कर्म का प्रदेशोदय होता है, लेकिन विपाकोदय नहीं होता है। उसमें दुःखद वेदना के तथ्य तो उपस्थित होते हैं, लेकिन दुःखद वेदना की अनुभूति नहीं है। इसी प्रकार प्रदेशोदय कर्म के फल का तथ्य तो उपस्थित हो जाता है, लेकिन उसकी फलानुभूति नहीं होती है। अतः वह अविपाका निर्जरा कही जाती है। इसे सकाम निर्जरा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें कर्म-परमाणुओं को आत्मा से अलग करने का संकल्प होता है। यह औपक्रमिक निर्जरा भी कही जाती है, क्योंकि इसमें उपक्रम या प्रयास होता है। प्रयासपूर्वक, तैयारीसहित, कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा से अलग किया जाता है। यह कर्मों को निर्जरित (क्षय) करने का कृत्रिम प्रकार है। अनौपक्रमिक या सविपाक-निर्जरा अनिच्छापूर्वक, अशान्त एवं व्याकुल चित्त-वृत्ति से, पूर्वसंचित कर्म के प्रतिफलों का सहन करना है जब कि अविपाक निर्जरा इच्छापूर्वक समभावों से जीवन में आई हुई परिस्थितियों का मुकाबला करना है।

§ ७. जैन साधना में औपक्रमिक निर्जरा का स्थान

जैन-साधना की दृष्टि से निर्जरा का पहला प्रकार जिसे सविपाक या अनौप-

क्रमिक निर्जरा कहते हैं, अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। यह पहला प्रकार साधना के क्षेत्र में ही नहीं आता है क्योंकि कर्मों के बन्ध और निर्जरा का यह क्रम तो सतत चला आ रहा है। हम प्रतिक्षण पुराने कर्मों की निर्जरा करते रहते हैं, लेकिन जब तक नवीन कर्मो का सृजन समाप्त नहीं होता, ऐसी निर्जरा से सापेक्ष रूप में कोई लाभ नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति पुराने ऋण का भुगतान तो करता रहे लेकिन नवीन ऋण भी लेता रहे तो वह ऋण-मुक्त नहीं हो पाता।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा सविपाक निर्जरा तो अनादिकाल से करता आ रहा है, लेकिन निर्वाण का लाभ प्राप्त नहीं कर सका। आचार्य कुन्दकुन्द कहते है "यह चेतन आत्मा कर्म के विपाककाल मे सुखद और दुःखद फलों की अनुभूति करते हुए पुनः दुःख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध कर लेता है। क्योंकि कर्म जब अपना विपाक फल देते हैं, तो किसी निमित्त से देते हैं और अज्ञानी आत्मा शुभ निमित्त पर राग और अशुभ निमित्त पर द्वेष करके नवीन बन्ध कर लेता है।[१]

अतः साधना-मार्ग के पथिक के लिए पहले यह निर्देश दिया गया कि वह प्रथम ज्ञान-युक्त हो कर्मास्रव का निरोध कर अपने आपको संवृत करे। संवर के अभाव में निर्जरा का कोई मूल्य नहीं, वह तो अनादिकाल से होती आ रही है, किन्तु भव-परम्परा को समाप्त करने में सहायक नहीं हुई। दूसरे, यदि आत्मा संवर का आचरण करता हुआ भी इस यथाकाल होनेवाली निर्जरा की प्रतीक्षा में बैठा रहे तो भी वह शायद ही मुक्त हो सकेगा, क्योंकि जैन मान्यता के अनुसार प्राणी का कर्म-बन्ध इतना अधिक होता है कि वह अनेक जन्मों में भी शायद इस कर्म-बन्ध से स्वाभाविक निर्जरा के माध्यम से मुक्त हो सके। लेकिन इतनी लम्बी समयावधि में संवर से स्खलित होकर नवीन कर्मों के बन्ध की सम्भावना भी तो रहती है। अतः साधना-मार्ग के पथिक के लिये जो मार्ग बताया गया है, वह है, औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा का। महत्त्व इसी तपजन्य औपक्रमिक निर्जरा का है। ऋषिभाषित सूत्र में—ऋषि कहता है कि "संसारी आत्मा प्रतिक्षण नये कर्मों का बन्ध और पुराने कर्मो की निर्जरा कर रहा है, लेकिन तप से होने वाली निर्जरा ही विशेष (महत्त्वपूर्ण) है।"[२] मुनि सुशीलकुमार जी लिखते हैं कि "बन्ध और निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से बढ़ रहा है, किन्तु (जो) साधक संवर द्वारा नवीन आस्रव को निरुद्धकर तपस्या द्वारा पुरातन कर्मों को क्षीण करता चलता है, वह अन्त में पूर्ण रूप से निष्कर्म बन जाता है।[३]

१. समयसार, ३८९.
२. इसिभासियम्, ९।१०.
३. जैनधर्म, पृ० ८७.

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचारदर्शन औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा पर बल देता है। जैन-तत्त्वज्ञान औपक्रमिक निर्जरा की धारणा के द्वारा यह स्वीकार करके चलता है कि कर्मों को उनके विपाक के पूर्व ही समाप्त किया जा सकता है। यह अनिवार्य नहीं है कि हमें अपने पूर्वकृत सभी कर्मों का फल भोगना ही पड़े। जैनदर्शन कहता है कि व्यक्ति तपस्या से अपने अन्दर वह सामर्थ्य उत्पन्न कर लेता है कि जिससे वह अपने कोटि-कोटि जन्मों के संचित कर्मों को क्षणमात्र में बिना फल भोगे ही समाप्त कर देता है। साधक के द्वारा अलिप्त भाव से किया हुआ तपश्चरण उसके कर्म-संघात पर ऐसा प्रहार करता है कि वह जर्जरित होकर आत्मा से अलग हो जाता है।

औपक्रमिक निर्जरा के भेद—जैनाचार-दर्शन में तपस्या को पूर्व संचितकर्मों के नष्ट करने का साधन माना गया है।[1] जैन विचारकों ने इस औपक्रमिक अथवा अविपाक निर्जरा के १२ भेद किये हैं जो कि तप के ही १२ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—१. अनशन या उपवास, २. ऊनोदरी–आहार के मात्रा में कमी, ३. भिक्षाचर्या अथवा वृत्ति संक्षेप–मर्यादित भोजन, ४. रसपरित्याग–स्वादजय, ५. काया क्लेश—आसनादि, ६. प्रतिसंलीनता—इन्द्रिय-निरोध, कषाय-निरोध, क्रिया-निरोध तथा एकांत निवास, ७. प्रायश्चित्त-स्वेच्छा से दण्ड ग्रहण कर पाप-शुद्धि या दुष्कर्मों के प्रति पश्चात्ताप, ८. विनय—विनम्रवृत्ति तथा वरिष्ठजनों के प्रति सम्मान प्रकट करना, ९. वैयावृत्य—सेवा, १०. स्वाध्याय, ११. ध्यान और १२. व्युत्सर्ग–ममत्व-त्याग।[2]

इस प्रकार साधक संवर के द्वारा नवीन-कर्मों के आस्रव (आगमन) का निरोध तथा निर्जरा द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

§ ८. बौद्ध आचार-दर्शन और निर्जरा :

बुद्ध ने स्वतन्त्र रूप से निर्जरा के सम्बन्ध में कुछ कहा हो, ऐसा कहीं दिखाई नहीं दिया, फिर भी अंगुत्तरनिकाय में एक प्रसंग है जहाँ बुद्ध के अन्तेवासी शिष्य आनन्द निर्ग्रन्थ-परम्परा में प्रचलित निर्जरा का परिष्कार करते हुए बौद्ध-दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। अभय लिच्छवि आनन्द के सम्मुख निर्जरासम्बन्धी जैन-दृष्टिकोण इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—"भन्ते! ज्ञातृ-पुत्र निर्ग्रन्थ का कहना है कि तपस्या से पुराने कर्मों का नाश हो जाता है और कर्मों को न करने से नये कर्मों का घात हो जाता है। इस प्रकार कर्म का क्षय होने से दुःख का क्षय, दुःख का क्षय होने से वेदना का क्षय और वेदना का क्षय होने से सारे दुःख की निर्जरा होगी।

१. उत्तराध्ययन, ३०।६. २. वही, ३०।७-८, ३०.

इस प्रकार सांदृष्टिक निर्जरा—विशुद्धि से (दुःख का) अतिक्रमण होता है। भन्ते, भगवान् (बुद्ध) इस विषय में क्या कहते हैं" ?

इस प्रकार अभय द्वारा, निर्जरा के तप-प्रधान निर्ग्रन्थ-दृष्टिकोण को उपस्थित कर, निर्जरा के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध की विचारसरणि को जानने की जिज्ञासा प्रकट की गई है। आयुष्मान् आनन्द इस सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "अभय ! उन भगवान् (बुद्ध) के द्वारा तीन निर्जरा—विशुद्धियाँ सम्यक् प्रकार कही गयी हैं। हे अभय ! भिक्षु सदाचारी होता है, प्राति-मोक्ष—शिक्षा-पदों के नियम का सम्यक् पालन करनेवाला होता है, इस प्रकार वह शील-सम्पन्न भिक्षु काम-भोगों से दूर हो चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहार करता है। इस प्रकार वह शील-सम्पन्न भिक्षु आस्रवों का क्षय कर अनास्रव-चित्त-विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी शरीर में जान कर, साक्षात् कर, प्राप्त कर, विहार करता है। वह नया कर्म नहीं करता और पुराने कर्मों (के फल) को भोगकर समाप्त कर देता है। यह सांदृष्टिक निर्जरा है, अकालिका (देश और काल की सीमाओं से परे)।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-परम्परा निर्जरा के प्रत्यय को स्वीकार तो कर लेती है, लेकिन उसके तपस्यात्मक पहलू के स्थान पर उसके चारित्र-विशुद्धयात्मक तथा चित्त-विशुद्धयात्मक पहलू पर ही अधिक जोर देती है। बुद्ध की दृष्टि में निर्जरा के लिये कठोर तपस्या आवश्यक नहीं है। आवश्यक है—सदाचार के पालन एवं सम्यक् ध्यान के द्वारा प्राप्त होनेवाली चित्त-विमुक्ति। बुद्ध निर्जरा के लिये उन्हीं बातों पर अधिक जोर देते हैं, जिन्हें जैन-दर्शन अन्तरंग तप कहता है।

§ ६. गीता का दृष्टिकोण :

यद्यपि गीता में निर्जरा शब्द का प्रयोग नहीं है, तथापि जैन-दर्शन निर्जरा शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग करता है, वह अर्थ गीता में उपलब्ध है। जैन-दर्शन में निर्जरा शब्द का अर्थ पुरातन कर्मों को क्षय करने की प्रक्रिया है। गीता में भी पुराने कर्मों को क्षय करने की प्रक्रिया का निर्देश है। गीता में ज्ञान को पूर्व-संचित कर्म को नष्ट करने का साधन कहा गया है। गीताकार कहता है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सभी पुरातन कर्मों को नष्ट कर देती है। हमें यहाँ जैन-दर्शन और गीता में स्पष्ट विरोध प्रति-भासित होता है। जैन-विचारणा तप पर जोर देती है, और गीता ज्ञान पर। लेकिन अधिक गहराई पर जाने पर यह विरोध बहुत मामूली रह जाता है, क्योंकि

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।७४.

जैनाचार-दर्शन में तप का मात्र शारीरिक या बाह्य पक्ष ही स्वीकार नहीं किया गया है, वरन् उसका ज्ञानात्मक एवं आंतरिक पक्ष भी स्वीकृत है। जैन-दर्शन में तप के वर्गीकरण में स्वाध्याय आदि को स्थान देकर उसे ज्ञानात्मक स्वरूप दिया गया है। यही नहीं, उत्तराध्ययन एवं सूत्रकृतांग में अज्ञानतप की तीव्र निन्दा भी की गई है।[1] अतः जैन विचारक भी यह तो स्वीकार कर लेते हैं कि निर्जरा ज्ञानात्मक तप से होती है, अज्ञानात्मक तप से ही नहीं। वस्तुतः निर्जरा या कर्मक्षय के निमित्त ज्ञान और कर्म (तप) दोनों आवश्यक हैं। यही नहीं, तप के लिए ज्ञान को प्राथमिक भी माना गया है। निर्जरा में ज्ञान और तप का क्या स्थान है, इसे जैन मुनि रत्नचन्द्रजी के निम्न पद्य से समझा जा सकता है—

बाल (मूर्ख) तपस्वी सहते हैं जो कष्ट करोड़ों वर्ष महान।
जितने कर्म नष्ट करते हैं उस तप से वह नर अज्ञान॥
ज्ञानीजन उतने कर्मों का क्षण भर में कर देते हैं नाश।
ज्ञान निज.रा का कारण है मिलता इससे मुक्ति प्रकाश॥
अग्नि और जल जिस प्रकार से वस्त्र शुद्धि कर देते हैं।
उसी तरह से ज्ञान और तप कर्मों का क्षय करते हैं॥[2]

पं० दौलतरामजी कहते हैं—

कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरै जे
ज्ञानी के दिन माँहि त्रिगुप्ति तै सहज टरै ते॥[3]

इस प्रकार जैनाचार-दर्शन ज्ञान को निर्जरा का कारण तो मानता है, लेकिन एकांत कारण नहीं मानता। जैनाचार-दर्शन कहता है मात्र ज्ञान निर्जरा का कारण नहीं है। यदि गीता के उपर्युक्त श्लोक को आधार मानें तो जहाँ गीता का आचार-दर्शन ज्ञान को कर्मक्षय (निर्जरा) का कारण मानता है, वहाँ जैन-दर्शन ज्ञान समन्वित तप से कर्मक्षय (निर्जरा) मानता है, लेकिन जब गीताकार ज्ञान और योग (कर्म) का समन्वय कर देता है, तो दोनों विचारणाएँ एक दूसरे के निकट आ जाती हैं।

गीता पुरातन कर्मों से छूटने के लिये भक्ति को भी स्थान देती है। गीता के अनुसार यदि भक्त अपने को पूर्णतया निश्छल भाव से भगवान् के चरणों में समर्पित कर देता है तो भी वह सभी पुरातन पापों से मुक्त हो जाता है। गीता

१. (अ) उत्तराध्ययन, ९।४४. (ब) सूत्रकृतांग, १।८।२४.
२. भावनाशतक, ७२-७३. ३. छहढाला, ४।५.

में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि "तू सब धर्मों का परित्याग कर मेरी शरण में आ, मैं तुझे सभी पुरातन पापों से मुक्त कर दूंगा, तू चिन्ता मत कर।"[1] यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो यहाँ जैन-दर्शन और गीता का दृष्टिकोण भिन्न है। जैन-दर्शन पुरातन कर्मों से मुक्ति के लिए उनका भोग अथवा तपस्या के द्वारा उनका क्षय यह दो ही मार्ग देखता है। लेकिन गीता पुरातन कर्मों के क्षय करने के लिए न केवल ज्ञान एवं भक्ति पर बल देती है, वरन् वह जैन विचारणा में प्रस्तुत संयम और निर्जरा के अन्य विविध साधनों—इन्द्रिय संयम एवं मन, वाणी तथा शरीर का संयम, एकान्त सेवन, अल्प-आहार, ध्यान, व्युत्सर्ग (वैराग्य) आदि की भी विवेचना करती है। कहा गया है कि "हे अर्जुन ! विशुद्ध बुद्धि से युक्त, एकान्त और शुद्ध देश का सेवन करनेवाला तथा अल्प आहार करनेवाला, जीते हुए मन, वाणी और शरीर वाला और दृढ़ वैराग्य को भली प्रकार प्राप्त पुरुष निरन्तर ध्यान-योग के परायण हुआ, सदैव वैराग्ययुक्त, अन्तःकरण को वश में करके तथा इन्द्रियों के शब्दादिक विषयों को त्यागकर और राग-द्वेषों को नष्ट करके तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रह को त्यागकर, ममता-रहित और शान्त अन्तःकरण हुआ, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव होने के योग्य हो जाता है।"[2] यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो गीताकार के इस कथन में संवर और निर्जरा के अधिकांश तथ्य समाविष्ट हैं। यहाँ गीता का दृष्टिकोण जैन विचारणा के अत्यन्त समीप आ जाता है।

§ १०. निष्कर्ष :

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन बंधन से मुक्ति के लिये दो उपायों पर बल देते हैं—नवीन बंध से बचने के लिये संयम और पुरातन बंधन से छूटने के लिये तप, ज्ञान भक्ति या ध्यान। जहाँ तक संयम की बात है, तीनों आचार-दर्शन उसे लगभग समान रूप से स्वीकार करते हैं। तीनों के लिये संयम का अर्थ केवल इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध न होकर उसके पीछे रही हुई आसक्ति का क्षय भी है। जहाँ तक पुरातन कर्मों से छूटने के साधन का प्रश्न है जैन-दर्शन तप पर, बौद्ध-दर्शन ध्यान (चित्त-निरोध) पर तथा गीता ज्ञान एवं भक्ति पर अधिक बल देती है। लेकिन जैसा कि हमने देखा, जैन-दर्शन का तप ज्ञान समन्वित है तो गीता का ज्ञानमार्ग भी तप एवं संयम से युक्त है। बौद्ध-दर्शन का ध्यान भी जैन-दर्शन और गीता दोनों को ही स्वीकृत है। जो भी

---

१. गीता, १८।६६.

२. वही, १८।५१-५३.

अन्तर प्रतीत होता है, वह शब्दों का है, मूलात्मा का नहीं। जैन-दर्शन में निर्जरा के साधन रूप जिस तप का विधान है, उसमें ज्ञान और ध्यान दोनों ही समाहित हैं। तीनों आचार-दर्शन साधक से यह अपेक्षा करते हैं कि वह संयम (संवर) के द्वारा नवीन कर्मों के बन्धन को रोककर तथा ज्ञान, ध्यान और तपस्या के द्वारा पुरातन कर्मों का क्षय कर परमश्रेय को प्राप्त करे। □

१४

नैतिक जीवन का साध्य (मोक्ष)

●

नैतिक जीवन का साध्य (मोक्ष)

§ १. जीवन-लक्ष्य की शोध में

प्राणीय व्यवहार लक्ष्यात्मक होता है, लेकिन लक्ष्य का चयन एवं निर्धारण एक जटिल प्रक्रिया है। लक्ष्य के निर्धारण मे मात्र प्रेरणा ही काम नहीं करती, वरन् उसमें बुद्धि का भी योगदान रहता है। बौद्धिक विवेक इस बात का भी विचार करता है कि कौनसा आदर्श उसके लिए श्रेयस्कर है। जीवन-व्यवहार के श्रेयस्कर आदर्श का निर्धारण नीतिशास्त्र करता है। कठोपनिषद् मे कहा गया है कि श्रेय (परम कल्याण)—और प्रेय (वासनापूर्ति) के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। दोनों मनुष्य को दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रेरित करते हैं। उसमें जो श्रेय का वरण करता है वह शुभ का अनुसरण करता है और जो प्रेय का वरण करता है वह पतन की ओर जाता है। प्रेय और श्रेय दोनों ही साथ-साथ मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। विवेकवान् मनुष्य दोनों का सम्यक् विचार कर प्रेय (भोग-मार्ग) के स्थान पर श्रेय (कल्याण-मार्ग) का वरण करता है, जबकि मूर्ख भौतिक सुखों के पीछे प्रेय (भोग- मार्ग) का वरण करता है।[१] जन्म पा लेना ही पर्याप्त नहीं है। वह तो जीवन का आरम्भ-बिन्दु है, भूमिका है, उसमें सम्भावनाएँ तो हैं, लेकिन पूर्णता नही। वहाँ से पूर्णता की दिशा में वास्तविक विकास प्रारम्भ होता है, लेकिन उसे गंतव्य मानकर रुक जाना विकास की समस्त सम्भावनाओं को नष्ट कर देना है। जिसे हम जीना कहते हैं, वह तो नित्य मृत्यु की ओर प्रयाण है। जब तक हमें जीवन की सम्यक् दिशा या जीवन का लक्ष्य ज्ञात नहीं होता, तब तक जीने का कोई अर्थ नहीं।

§ २. जीवन क्या है ?

वस्तुतः जीवन का लक्ष्य या परमसाध्य क्या है, इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि जीवन क्या है ? क्योंकि जीवन का लक्ष्य जीवन से हटकर नहीं हो सकता। जीवन के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं। एक जैविक दृष्टि और दूसरी आध्यात्मिक दृष्टि। जैविक दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि जीवन एक ऐसी प्रक्रिया है जो सदैव ही परिवेश के प्रति क्रियाशील है।[२] जीवन की यह क्रियाशीलता मात्र सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में "जीवन गतिशील सन्तुलन है।[३]" स्पेन्सर के अनुसार "परिवेश मे निहित तथ्य जीवन के सन्तुलन को भंग करते रहते हैं

---

१. कठोपनिषद्, १।२।१-२ २. आउटलाइन्स ऑफ जूलाजी, पृ० २१

३. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० २५९

और जीवन अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुनः इस सन्तुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह सन्तुलन बनाने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है।[१]" विकासवादियों ने इसे ही 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' कहा है। वस्तुतः उसे 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' की अपेक्षा 'समत्व के संस्थापन का प्रयास' कहना अधिक उचित है। "समत्व का संस्थापन, सन्तुलन एवं समायोजन की प्रक्रिया ही जीवन का महत्त्वपूर्ण लक्षण है।[२]" जहाँ भी जीवन है, यह प्रक्रिया अविराम गति से चल रही है। जीवन का अर्थ है समायोजन या सन्तुलन का प्रयास। दूसरे शब्दों में समायोजन और सन्तुलन के प्रयासों की उपस्थिति ही जीवन है, उनका अभाव ही जीवन का अभाव है, मृत्यु है। मृत्यु और कुछ नहीं, मात्र सन्तुलन बनाने की प्रक्रिया का असफल होकर टूट जाना है।[3] इस प्रकार जैविक दृष्टि से जीवन सन्तुलन-शक्ति है, समत्व के संस्थापन की प्रक्रिया है।

अध्यात्मशास्त्र के अनुसार जीवन न तो जन्म है, न मृत्यु। एक उसका प्रारम्भ बिन्दु है, दूसरा उसके अभाव की उद्घोषणा करने वाला। जीवन इन दोनों से ऊपर है। जन्म और मृत्यु तो एक शरीर में उसके आगमन और चले जाने की सूचनाएँ भर हैं, वह इनसे अप्रभावित है। जीवन तो जागृति है, चेतना है। वैयक्तिक दृष्टि से इसे ही जीव कहते हैं और यही आत्मा है।

यदि उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोणों के आधार पर जीवन की एक समुचित परिभाषा देने का प्रयास किया जाय तो कह सकते हैं कि जीवन चेतन तत्त्वकी सन्तुलन-शक्ति है। चेतना जीवन है और जीवन का कार्य है समत्व का संस्थापन। अतः सिद्ध यह हुआ कि समत्व का संस्थापन चेतना का कार्य है। दूसरे शब्दों में समत्व में स्थित रहना ही चेतना का स्वाभाविक गुण है, जो चेतना का आदर्श और जीवन की प्रक्रिया का चरम लक्ष्य हो सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतन-जीवन का विश्लेषण करने पर हमें उसके तीन पक्ष ज्ञान, अनुभूति और संकल्प मिलते हैं। चेतना को इन तीन पक्षों से भिन्न कहीं देखा नहीं जा सकता। चेतना इन तीन प्रक्रियाओं के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। चेतन जीवन का प्रयास ज्ञान, अनुभूति और संकल्प की क्षमताओं के विकास के रूप में परिलक्षित होता है। संक्षेप में जीवन-प्रक्रिया समत्व के संस्थापन का प्रयत्न करते हुए चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक पक्षों का पूर्णता की दिशा में विकास का प्रयास है। इस प्रकार जीवन-प्रक्रिया को जान लेने पर यह विचार आवश्यक है कि हमारे नैतिक जीवन का साध्य क्या हो सकता है?

१. फर्स्ट प्रिन्सपल्स्: स्पेन्सर, पृ० ६६ २. Idealistic view of life, पृ० १९७
३. फाइव टाइप्स आफ एथिकल थ्योरीज, पृ० १६

§ ३. नैतिकता का साध्य

(अ) संघर्ष का निराकरण एवं समत्व का संस्थापन

हमारे नैतिक आचरण का लक्ष्य क्या है ? नैतिक आचरण के द्वारा हम क्या पाना चाहते हैं ? ये प्रश्न नैतिक जीवन के साध्य का स्पष्टीकरण चाहते हैं। आचरण के विकास-क्रम का इतिहास बताता है कि प्रत्येक युग की नैतिक अवधारणाएँ उन परि-स्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार का एक ऐसा समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास थी, जिसके द्वारा व्यक्ति के अपने वासनात्मक और बौद्धिक पक्ष के मध्य होनेवाला अन्तर्द्वन्द्व समाप्त होकर जीवन में संतुलन हो, व्यक्ति और समाज के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों में उचित समायोजन हो और समाज अथवा राष्ट्रों के मध्य एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण हो, जिसके द्वारा एक सांगसंतुलन से युक्त जीवन-प्रणाली का निर्माण हो सके।

मोटे तौर पर नैतिकता के विकास का इतिहास यही बताता है कि नैतिकता का सम्बन्ध हमेशा उन्ही आदर्शो से रहा है, जिनके द्वारा वैयक्तिक एवं सामाजिक सुख एवं शान्ति की उपलब्धि हो सके। मानवीय जीवन-प्रणाली में हम तीन प्रकार के संघर्ष पाते हैं—(१) **मनोवृत्तियों का आन्तरिक संघर्ष**—जो दो वासनाओं के मध्य, वासना और बुद्धि के मध्य, तथा वासना एवं बौद्धिक आदर्शो के मध्य चलता रहता है और आन्तरिक असन्तुलन को जन्म देकर आन्तरिक शान्ति भंग करता है. आधुनिक मनो-विज्ञान इसे 'इड' और 'सुपर इगो' का संघर्ष कहता है। (२) **व्यक्ति की आन्तरिक अभिरुचियों और बाह्य परिस्थितियों का संघर्ष**—जो व्यक्ति और उसके भौतिक परि-वेश, व्यक्ति और व्यक्ति अथवा व्यक्ति और समाज के मध्य चलता रहता है और कु-संयोजन को जन्म देकर व्यक्ति को जीवन-प्रणाली को दूषित बनाता है। (३) **बाह्य वातावरण के मध्य होनेवाला संघर्ष**—जो विविध समाजों एवं राष्ट्रों के मध्य होते हैं, जिसके कारण शान्ति, सुरक्षा एवं अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न होता है।

प्रत्येक युग में नैतिक नियमों का कार्य इन संघर्षों को समाप्त करने का रहा है। वे यह बताते हैं कि हमारी जीवन-दृष्टि क्या हो, जीवन का आचरण कैसा हो, जिससे यह संघर्ष व्यक्ति को विखण्डित न कर सके। यद्यपि वे कहाँ तक इसे समाप्त कर सके यह एक दूसरा प्रश्न है, जो नैतिक आदेशों के आचरण से संबंध रखता है, उनकी मूल्यात्मकता से नहीं।

नैतिक जीवन का व्यावहारिक लक्ष्य हमेशा यही रहा है कि उसके द्वारा जीवन के असंतुलन, कुसंयोजन और अव्यवस्था को समाप्त कर एक संतुलित, सुसंयोजित एवं व्यवस्थित जीवन-प्रणाली का निर्माण किया जाये, ताकि एक ऐसे विकसित मानव-समाज की संरचना हो सके, जो इन संघर्षों से मुक्त हो। वस्तुतः नैतिक जीवन का लक्ष्य एक

ऐसे समत्व की संस्थापना करना है, जिससे आन्तरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष, आन्तरिक इच्छाओं और उनकी पूर्ति के बाह्य प्रयासों का संघर्ष और बाह्य समाजगत एवं राष्ट्रगत संघर्ष—जो स्वयं व्यक्ति के द्वारा प्रसूत नहीं होते हुए भी उसे प्रभावित करते हैं, समाप्त हो जायें। वैज्ञानिकों ने जीवन की प्रवृत्ति को संतुलन बनाने वाली प्रवृत्ति कहा है। जीवन का आदर्श संतुलन बनाये रखना है। जब भी किसी कारण से यह संतुलन टूटता है, प्राणी उस संतुलन को बनाने की कोशिश करता है। मनोविज्ञान भी प्राणी में निहित इस संतुलन बनाने की अभिवृत्ति को बताता है। जीवन का आदर्श जीवन के अन्दर ही निहित है। उसे बाहर खोजना प्रवंचना है। जैसाकि जैव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान बताते हैं, यदि जीवन मे स्वयं संतुलन या समत्व बनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है, यदि जीवन का अर्थ ही सन्तुलन का प्रयास है, तो फिर हमे जीवन के आदर्श के रूप में इसी समत्व या संतुलन बनाये रखने की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। आचार-विज्ञान यद्यपि एक मूल्यात्मक विज्ञान है, फिर भी वह जीवन के वास्तविकता को झुठला नहीं सकता है। जो स्वयं जीवन में नहीं है, वह जीवन के द्वारा पाया नहीं जा सकता। अतः वह जीवन का आदर्श नहीं हो सकता। ऐसा आदर्श जो आदर्श ही रहे, लेकिन उपलब्ध नहीं हो सके, एक आध्यात्मिक मृगमरीचिका से अधिक नही है। चाहे आदर्श आदर्श बना रहे और उसकी पूर्णतः उपलब्धि न भी हो पाये फिर भी कम से कम आंशिक रूप में तो उसे उपलब्ध होना ही चाहिए।

संघर्ष नहीं समत्व ही मानवीय जीवन का आदर्श हो सकता है, क्योंकि यही हमारा स्वभाव है। जो स्वभाव है, वही आदर्श है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। स्पेन्सर, डार्विन एवं मार्क्स प्रभृति कुछ विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं। लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। विज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वभाव वह होता है, जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता। जो नित्य और निर-पवाद होता है, वही स्वभाव होता है। यदि इस कसौटी पर कसें तो संघर्ष जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता। यदि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य-स्वभाव में संघर्ष है और मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानो है और संघर्ष ही जीवन का नियम है, तो फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है? संघर्ष मिटाने के लिए होता है। जो मिटाने की, निराकरण करने की वस्तु है, उसे स्वभाव कैसे कहा जा सकता है? संघर्ष यदि मानव-इतिहास का एक तथ्य है तो वह उसके दोषों का, उसके विभाव का इतिहास है, उसके स्वभाव का इतिहास नही। मानव-स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की अवस्था है। क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिए होते आये हैं। सच्चा मानव इतिहास संघर्ष की कहानी नहीं, संघर्षों के निराकरण की कहानी है।

संघर्ष और समत्व के विचलन जीवन में होते हैं, लेकिन वे जीवन का स्वभाव नहीं। क्योंकि जीवन की प्रक्रिया उनके मिटाने की दिशा में ही प्रयासशील है। संघर्षों का निराकरण करना ही नैतिकता का साध्य है। जिस प्रकार के आचरण से संघर्ष समाप्त हो, जीवन में समत्व और सन्तुलन बना रहे, वही आचरण नैतिक है। वही नैतिक साध्य है। समत्व जीवन का साध्य है, वही नैतिक शुभ है। समत्व शुभ है और विषमता अशुभ है। कामना, आसक्ति, राग, द्वेष, वितर्क आदि सभी जीवन की विषमता, असन्तुलन या तनाव-अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं। अतः ये भारतीय नैतिक चिन्तन में अशुभ माने गये हैं। इसके विपरीत वासनाशून्य, वितर्कशून्य, निष्काम, अनासक्त एवं वीतरागदशा ही नैतिक-शुभ मानी जा सकती है। क्योंकि यही समत्व का सृजन करती है।

पाश्चात्य नैतिक विचारक स्पेन्सर कहते हैं कि जीवन के न्यून से न्यून स्तर में भी जीवन को बनाये रखने की प्रेरणा प्रधान है। अतः वह जीवन-व्यवहार ही शुभ है जो जीवन को बनाये रखने में वातावरण से समायोजन करता है। स्पेन्सर की इस धारणा में सत्य अवश्य है, लेकिन वह आंशिक ही है। जैन, बौद्ध और गीता की विचारधाराएँ भी जीवन के समायोजन में नैतिकता के प्रत्यय को देखती तो हैं, लेकिन उनके अनुसार जीवन के व्यवहार का समायोजन किसी प्रयोजनहीन अन्ध-विकास के निमित्त नहीं है। वह एक प्रयोजनपूर्ण समायोजन है, जिसके द्वारा व्यक्ति सत्य की अनुभूति करता है। गीता के स्थितप्रज्ञ, बौद्ध-दर्शन के अर्हत् और जैन-विचार के वीतराग का जीवन-आदर्श एक पूर्ण समायोजन की स्थिति है। यद्यपि भारतीय समायोजन और पाश्चात्य समायोजन की धारणा में प्रारम्भिक रूप में निकटता है, लेकिन फिर भी दोनों में एक मौलिक अन्तर है। पाश्चात्य परम्परा में यह समायोजन प्रमुखतः प्राणी और वातावरण के मध्य होता है, जबकि भारतीय चिन्तन में यह समायोजन व्यक्ति के अन्दर ही होता है। यह एक आध्यात्मिक संतुलन है। संतुलन का भंग और सन्तुलन की स्थिति दोनों आन्तरिक तथ्य हैं। राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही इस सन्तुलन-भंग का कारण हैं और इनसे ऊपर उठकर, अनासक्त जीवन-दृष्टि ही सच्चा समायोजन है। उपर्युक्त भारतीय विचारणाएँ यह तो स्वीकार करती हैं कि जीवन के सन्तुलन को भंग करने में वातावरण के तथ्यों का हाथ होता है, लेकिन उनके अनुसार वातावरण इस सन्तुलन के भंग का इतना महत्त्वपूर्ण एवं निकटवर्ती कारण नहीं है। जैन, बौद्ध और गीता की विचारणाओं में वातावरण के ऊपर व्यक्ति की सर्वोपरिता स्वीकृत है। वातावरण के तथ्य उसी अवस्था में व्यक्ति के अन्दर इस सन्तुलन का विचलन उत्पन्न कर सकते हैं जब व्यक्ति स्वयं वैसा चाहे। वस्तुएँ राग और द्वेष का निमित्त कारण हो सकती हैं, लेकिन उसमें राग और द्वेष का कर्ता तो व्यक्ति स्वयं है। जीवन के संतुलन को भंग करने में वातावरण का उदासीन कारण

अवश्य है, लेकिन वास्तविक कारण तो व्यक्ति स्वयं ही है। अतः भारतीय आचार-दर्शनों में नैतिक जीवन का कार्य उस आंतरिक संतुलन की स्थापना है। भारतीय आचार-दर्शनों में नैतिक जीवन का प्रमुख कार्य वातावरण और व्यक्ति के मध्य समायोजन बनाना नहीं, वरन् व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में, उसके मन और बुद्धि में, इस संतुलन को बनाये रखना है। नैतिकता के क्षेत्र में आने वाला व्यक्ति का व्यवहार तो उसके विचारों का, उसके मानस का, बाह्य प्रकटीकरण मात्र है। अत: आवश्यकता तो मानसिक संतुलन की ही है।

भारतीय चिन्तन, विशेषकर जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक जीवन एक समायोजन पूर्ण, समरूप एवं संतुलित जीवन है; जिसका केन्द्र हमारे व्यक्तित्व के अन्दर है। यह आत्म-केन्द्रित समत्वपूर्ण जीवन ही नैतिक परमसाध्य है और नैतिकता एक कला के रूप में हमें वैसा जीवन जीना सिखाती है, जैसाकि हम देख चुके हैं। भारतीय आचार दर्शन हमे न केवल यह बताते हैं कि हमारे जीवन का आदर्श क्या है, वरन् यह भी बताते है कि इस आदर्श की उपलब्धि कैसे हो सकती है।

संक्षेप मे भारतीय आचार-दर्शनों के अनुसार जीवन का शुभत्व समत्व में निहित है। समत्वपूर्ण जीवन ही आदर्श जीवन है। पूर्ण समत्व की यह अवस्था जैनधर्म में वीतरागदशा के नाम से जानी जाती है। गीता इसी पूर्ण समत्व की स्थिति को स्थितप्रज्ञता कहती है, जबकि बौद्ध दर्शन में इसे ही अर्हतावस्था कहा जाता है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में जीवन का आदर्श यह आध्यात्मिक समत्व है और नैतिक जीवन इस आदर्श को आत्मसात् करने की प्रक्रिया है। जिस प्रकार के जीवन-व्यवहार मे यह समत्व बना रह सकता है, वही व्यवहार नैतिक है। नैतिकता इस समत्व के संस्थापन की कला है। गीता में इसी कला को समत्व-योग कहा गया है। जैन-दर्शन इसे सामाजिक साधना के नाम से अभिहित करता है और बौद्ध-दर्शन में उसे सम्यक्-समाधि कहा जाता है। भारतीय आचार-दर्शन जीवन के व्यवहार पक्ष को उपेक्षित कर किसी आध्यात्मिक या नैतिक आदर्श की कल्पना नहीं करते। उनका नैतिक आदर्श व्यावहारिक जीवन में आत्मसात् करने की वस्तु है। गीता और जैन दर्शन में जिस मोक्ष और बौद्ध दर्शन में जिस निर्वाण की परिकल्पना है, वह तो पूर्ण समत्व की अवस्था है। वस्तुतः मोक्ष या निर्वाण मरणोत्तर स्थिति नहीं है। हम इस समत्व की साधना के मधुरफल का रसास्वादन, इसी जीवन में कर सकते हैं। बुद्ध और महावीर के युग में भी यह प्रश्न उठाया गया था कि नैतिक साधना का तात्कालिक फल क्या है? क्योंकि जो लोग किसी मरणोत्तर अवस्था मे विश्वास नहीं करते, उनके लिए इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना आवश्यक भी था—जो नैतिक दर्शन और

धार्मिक-जीवन की ऐहिक समस्याओं का समाधान नहीं कर पाता और मात्र पारलौकिक जीवन की मधुरलोरी सुनाकर हमें वर्तमान की समस्याओं के प्रति तन्द्रित करता है, वह न तो सच्चा नैतिक दर्शन हो सकता है, न धर्म। मगधाधिपति अजातशत्रु ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही बुद्ध से यह प्रश्न किया था कि श्रामण्य का प्रत्यक्ष फल क्या है ? बुद्ध ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है वह भारतीय नैतिक दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। बुद्ध के समग्र कथन को संक्षेप में इन शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है—"निर्दोष आचरण (शील-संवरण) से निर्भय जीवन, वासनाओं एवं वितर्कों के प्रहाण से प्रशान्त मनःस्थिति (चित्त समाधि) एवं एकाग्रता तथा प्रशान्त, एकाग्र, निर्मल (रागद्वेष के मल से रहित) निष्पाप एवं निश्चल चित्त से तत्त्व, वस्तुस्वरूप या परमार्थ का यथार्थ बोध प्राप्त हो जाता है। यही श्रामण्य का प्रत्यक्षफल है।"[1] वस्तुतः सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र या सम्यक् शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा कर्म, ज्ञान, और भक्ति रूप नैतिक आचरण से जीवन के तीन पक्ष आचार, विचार और अनुभूति में समत्व उत्पन्न होता है, जो इसी जीवन में मनुष्य को अभूत-पूर्व शान्ति और अतुल आनन्द प्रदान करता है। क्योंकि अशान्ति, दुःख, वेदना एवं तनाव का कारण आसक्ति, राग या तृष्णा है। उसका प्रहाण होने पर जीवन में स्वाभाविक शान्ति और आनन्द का होना अनिवार्य है। भारतीय आचार-दर्शन अपने साधना मार्ग के रूप में इसी राग-द्वेष, आसक्ति या तृष्णा के प्रहाण का उपाय बताते हैं, जिससे व्यक्ति शाश्वत शान्ति और चिरसौख्य का आस्वादन कर सके।

(ब) आत्म-पूर्णता

नैतिक जीवन का साध्य केवल समत्व का संस्थापन ही नही है, वरन् इससे भी अधिक है; और वह है आत्मपूर्णता की दिशा मे प्रगति। क्योंकि जब तक अपूर्णता है समत्व के विचलन की सम्भावनाएँ भी हैं। अपूर्णता की अवस्था में सदैव ही चाह (Want) उपस्थित रहती है और जब तक कोई भी चाह बनी हुई है, समत्व नहीं हो सकता। कामना, वासना और चाह सभी असंतुलन की सूचक हैं, उनकी उपस्थिति में समत्व सम्भव नहीं होता। समत्व तो पूर्ण निष्काम एवं अनासक्त जीवन में सम्भव है। जब तक अपूर्णता है, कामना है; और जब तक कामना है, समत्व नही है। अतः पूर्ण समत्व के लिए आत्मपूर्णता आवश्यक है। हमारे व्यावहारिक जीवन में भी हमारा प्रयत्न चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक पक्षों के विकास के निमित्त होता है। अन्तश्चेतना सदैव ही इस दिशा में प्रयत्नशील रहती है कि हम अपनी चेतना के इन तीनों पक्षों में देशकालगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सकें। व्यक्ति

१. दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त

अपनी ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक क्षमताओं की पूर्णता चाहता है। सीमितता और अपूर्णता भी व्यक्ति के मन की वेदना है और वह सदैव ही इस वेदना से छुटकारा पाना चाहता है। उसकी सीमितता और अपूर्णता जीवन की वह प्यास है, जो पूर्णता के जल में परिशान्त होना चाहती है। जब तक आत्मपूर्णता को प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तब तक पूर्ण समत्व नहीं होता; और जब तक पूर्ण समत्व नहीं होता, नैतिक पूर्णता भी सम्भव नहीं होती। नैतिक पूर्णता, आत्मपूर्णता और पूर्ण समत्व के पर्यायवाची ही हैं। काण्ट ने नैतिक विकास की दृष्टि से आत्मा की अमरता को अनिवार्य माना है। नैतिक पूर्णता आत्मपूर्णता की अवस्था में ही सम्भव है। यह पूर्णता या अनन्त तक प्रगति, केवल इस मान्यता पर निर्भर है कि व्यक्तित्व मे उस पूर्णता को प्राप्त करने की क्षमता है और उस अनन्तता या पूर्णता तक पहुँचने के लिए उसकी स्थिरता भी अनन्त है। दूसरे शब्दों में आत्मा अमर है। काण्ट ने अनन्त की दिशा में नैतिक प्रगति के लिए आत्मा की अमरता पर बल दिया, लेकिन अरबन ने प्रगति को भी नैतिकता की एक स्वतन्त्र मान्यता कहा है। यदि नैतिक प्रगति की सम्भावना को स्वीकार नहीं किया जायेगा, तो नैतिक जीवन का महान् उद्देश्य समाप्त हो जायेगा, और नैतिकता पारम्परिक सम्बन्धों की एक कहानी मात्र रहेगी।

पाश्चात्य जगत् में नैतिक प्रगति का तात्पर्य सामाजिक जीवन की प्रगति है और भारतीय दर्शन में नैतिक प्रगति से तात्पर्य, वैयक्तिक आध्यात्मिक विकास है। मोक्ष, निर्वाण या परमात्मा की उपलब्धि के रूप में नैतिक पूर्णता की प्राप्ति को सम्भव मानना नैतिक जीवन को दृष्टि से अति आवश्यक है। यदि नैतिक पूर्णता या परमश्रेय की प्राप्ति सम्भव नहीं है, तो नैतिक जीवन और नैतिक प्रगति का कोई अर्थ नहीं रहेगा। नैतिक प्रगति के अन्तिम चरण के रूप में आत्मपूर्णता आवश्यक है।

वस्तुतः हमारी चेतना में अपनी अपूर्णता का जो बोध है, वह स्वयं ही हमारे अन्तस् में निहित पूर्णता का संकेत है। हमें अपनी अपूर्णता का स्पष्ट बोध है, लेकिन यह अपूर्णता का स्पष्ट बोध बिना पूर्णता के प्रत्यय के सम्भव नहीं। यदि हमारी चेतना या आत्मा, अनन्त या पूर्ण न हो तो हमें अपनी–अपूर्णता का बोध भी नही हो सकता। ब्रेडले का कथन है कि "चेतना अनन्त है, क्योंकि वह अनुभव करती है कि उसकी क्षमताएँ सान्त एवं सीमित हैं। लेकिन सीमा या अपूर्णता को जानने के लिए असीम एवं पूर्ण होना आवश्यक है। जब हमारी चेतना यह ज्ञान रखती है कि वह सान्त, सीमित या अपूर्ण है तो उसका यह सीमित होने का ज्ञान स्वयं इस सीमा को पार कर जाता है। इस प्रकार ब्रेडले 'स्व' में निहित पूर्णता का संकेत करते हैं।"[1] आत्मा पूर्ण है, यह बात भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए नयी नही है, लेकिन इस आत्मपूर्णता का अर्थ यह नहीं कि हम पूर्ण हैं। पूर्णता हमारी क्षमता (Capacity) है, योग्यता

१. एथिकल स्टडीज, अध्याय-२

(Ability) नहीं। पूर्णता के प्रकाश में हमें अपनी अपूर्णता का बोध होता है, अपूर्णता का बोध पूर्णता की उपस्थिति का संकेत अवश्य है, लेकिन वह पूर्णता की उपलब्धि नहीं है। जैसे दूध में प्रतीत होने वाली स्निग्धता उसमें निहित मक्खन की सूचक अवश्य है, लेकिन मक्खन की उपलब्धि नहीं है। जैसे दूध में निहित मक्खन को पाने के लिए प्रयत्न आवश्यक है, वैसे 'स्व' में निहित पूर्णता की उपलब्धि के लिए प्रयत्न आवश्यक है। नैतिकता उसी सम्यक् प्रयत्न की सूचक है, जिसके माध्यम से हम उस पूर्णता को उपलब्ध कर सकते हैं। हेडफील्ड लिखते हैं कि "हम जो कुछ हैं वही हमारा 'स्व' (Self) नहीं है, वरन् हमारा 'स्व' वह है जोकि हम हो सकते हैं[1]।" हमारी सम्भावनाओं में ही हमारी सत्ता अभिव्यक्त होती है और इसी अर्थ में आत्मपूर्णता हमारा साध्य भी है। जैसे एक बालक में निहित समग्र क्षमताएँ जहाँ एक ओर उसकी सत्ता में निहित हैं वहीं दूसरी ओर उसका साध्य हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मपूर्णता हमारा साध्य है। यदि हम आत्मपूर्णता को नैतिक जीवन का परम साध्य मानते हैं, तो हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि आत्मपूर्णता का तात्पर्य क्या है? आत्मपूर्णता का तात्पर्य आत्मोपलब्धि ही है, वह स्व में 'स्व' को पाना है। लेकिन जिस आत्मा या 'स्व' को उपलब्ध करना है वह सीमित या अपूर्ण आत्मा नहीं, वरन् ऐसी आत्मा है जो समग्र वासनाओं, संकल्पों एवं संघर्षों से ऊपर है, विशुद्ध दृष्टा एवं साक्षी स्वरूप है। हमारी शुद्ध सत्ता हमारे ज्ञान, भाव और संकल्प सभी का आधार होते हुए भी सभी से ऊपर एक निर्विकल्प, वीतराग साक्षी की स्थिति है। इसी स्थिति की उपलब्धि को पूर्णात्मा का साक्षात्कार, परम आत्मा की उपलब्धि कहा जाता है। पाश्चात्य दर्शन में पूर्णता के दो अर्थ रहे हैं—एक अर्थ में वह चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प के मध्य सांग संतुलन है तो दूसरी ओर वह वैयक्तिक सीमाओं और सीमितताओं से ऊपर उठना है ताकि समाज के अन्य घटकों और हमारे बीच का द्वैत समाप्त हो सके और व्यक्ति एक महापुरुष के रूप में समाज का मार्गदर्शन कर सके। ब्रेडले का कथन है कि "मैं अपने को नैतिक रूप से अभिव्यक्त तभी करता हूँ, जब मेरी आत्मा मेरी निजी आत्मा नहीं रह जाती, जब मेरा संकल्प अन्य लोगों के संकल्प से भिन्न नहीं रह जाता और जब मैं दूसरों के संसार में केवल अपने को पाता हूँ। आत्मानुभूति का अर्थ है असीम व अनन्त हो जाना, अपने व पराये के अन्तर को मिटा देना।"[2] यह है पराभौतिक स्तर पर आत्मानुभूति का अर्थ। मनोवैज्ञानिक स्तर पर आत्मानुभूति का अर्थ होगा हमारी सम्पूर्ण बौद्धिक, नैतिक एवं कलात्मक योग्यताओं तथा क्षमताओं की अभिव्यक्ति। यदि हम अपनी कामनाओं एवं उद्देश्यों को एक साथ रखकर देखें तो सभी विशेष उद्देश्य कुछ सामान्य और व्यापक उद्देश्यों के अन्तर्गत आ जाते हैं जो परस्पर मिलकर एक

१. साइकालाजी एण्ड मारलस्, पृ० १८३ २. एथिकल स्टडीज्, पृ० ११

समन्वयात्मक समुच्चय बन जाते हैं। इसी समन्वयात्मक समुच्चय में हमारी आत्मा पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होती है।[1]

भारतीय परम्परा में पूर्णता का अर्थ थोड़ा भिन्न है। पाश्चात्य परम्परा में आत्मा (Self) का अर्थ व्यक्तित्व है और जब हम पाश्चात्य परम्परा में आत्मपूर्णता की बात कहते हैं तो उसका तात्पर्य है व्यक्तित्व की पूर्णता। व्यक्तित्व का तात्पर्य है शरीर और चेतना। लेकिन अधिकांश भारतीय दर्शन आत्मा को तात्त्विक 'सत्' के रूप में लेते हैं। अतः भारतीय चिन्तन के अनुसार आत्म-पूर्णता का अर्थ अपनी तात्त्विक सत्ता की अथवा परमार्थ की उपलब्धि है। यों भारतीय परम्परा में आत्मपूर्णता का अर्थ आत्मा की ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक शक्तियों की पूर्णता भी मान्य है। भारतीय चिन्तन के अनुसार मनुष्य के ज्ञान, भाव और संकल्प का अनन्त ज्ञान, अनन्त सौख्य (आनन्द) और अनन्त शक्ति के रूप में अभिव्यक्त हो जाना ही आत्म-पूर्णता है। यही वह अवस्था है जिसमें आत्मा परमात्मा बन जाता है। आत्मा की शक्तियों का अनावरण एवं पूर्ण अभिव्यक्ति यही परमात्मतत्त्व की प्राप्ति है और यही आत्मपूर्णता है।

(स) आत्म-साक्षात्कार

आत्मपूर्णता 'पर' या पूर्व-अनुपस्थित वस्तु की उपलब्धि नहीं वरन् आत्मोपलब्धि ही है। यह एक ऐसी उपलब्धि है, जिसमें पाना कुछ भी नहीं, वरन् सब कुछ खो देना है। यह पूर्ण रिक्तता एवं शून्यता है। सब कुछ खो देने पर सब कुछ पा लिया जाता है। पूर्ण रिक्तता पूर्णता बन कर प्रकट हो जाती है। भौतिक स्तर पर 'पर' को पाकर 'स्व' को खोते हैं, लेकिन आध्यात्मिक जीवन में 'पर' को खोकर 'स्व' को पा जाते हैं। जैन-दर्शन में इसे यह कहकर प्रकट किया गया है कि जितनी पर-परिणति या पुद्गल-परिणति है, उतना ही आत्म-विस्मरण है, 'स्व' को खोना है और जितना पर-परिणति या पुद्गल-परिणति का अभाव है उतना ही आत्मरमण या 'स्व' की उपलब्धि है। जितनी 'पर' में आसक्ति होती है, उतने ही हम 'स्व' से दूर होते हैं। इसके विपरीत 'पर' में आसक्ति का जितना अभाव होता है, उतना ही हम 'स्व' या आत्मा के समीप होते हैं। जितनी मात्रा में वासनाएँ, अहंकार और चित्त-विकल्प कम होते हैं, उतनी ही मात्रा में आत्मोपलब्धि या आत्मसाक्षात्कार होता है। जब चेतना मे इनका पूर्ण अभाव हो जाता है, तो आत्मसाक्षात्कार आत्मपूर्णता के रूप में प्रकट हो जाता है।

जैन दृष्टिकोण और आत्म-साक्षात्कार—जैन नैतिकता का साध्य भी आत्मोपलब्धि या आत्म-साक्षात्कार ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिए, आत्मा पर ही श्रद्धा करना चाहिए और आत्मा की ही अनुभूति

१. एथिकल स्टडीज्, पृ० ११

(अनुचरितव्य) करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यान (त्याग), संवर (संयम) और योग सब अपने आप को पाने के साधन हैं। क्योंकि यही आत्मा ज्ञान में है, दर्शन में है, चारित्र में है, त्याग में है, संवर में है और योग मे है[1]।" आचार्य कुन्दकुन्द के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक क्रियाएँ आत्मोपलब्धि ही हैं। व्यवहारनय से जिन्हें ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा गया है, निश्चयनय से वह आत्मा ही है। इस प्रकार नैतिक जीवन का अर्थ आत्म-साक्षात्कार या आत्मलाभ है।

§ ४. जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में परम साध्य

जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में नैतिक जीवन का परमसाध्य या परम-श्रेय निर्वाण या आत्मा की उपलब्धि ही माना गया है। भारतीय परम्परा मे मोक्ष, निर्वाण, परमात्मा की प्राप्ति आदि जीवन के चरम लक्ष्य या परमश्रेय के ही पर्याय-वाची हैं। लेकिन हमें यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि भारतीय-परम्परा मे मोक्ष या निर्वाण का तात्पर्य क्या है? सामान्यतया मोक्ष या निर्वाण से हम किसी मरणोत्तर अवस्था की कल्पना करते हैं। लेकिन वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है। जिसे सामा-न्यतया मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है, वह तो उसका मरणोत्तर परिणाम मात्र है जो कि हमें जीवन-मुक्ति के रूप मे इसी जीवन में उपलब्ध हो जाता है। वस्तुतः नैतिक जीवन का साध्य यही जीवन-मुक्ति है, जिसे व्यक्ति को यही और इसी जगत् में प्राप्त करना है। लोकोत्तर मुक्ति तो इसका अनिवार्य परिणाम है जो कि शरीर के छूट जाने पर प्राप्त हो जाती है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन मुक्ति के दो रूपों को स्वीकार करते हैं, जिन्हें हम जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति कह सकते है।

जैन दर्शन में मुक्ति के दो रूप—जैन-परम्परा में मुक्ति के इन दो रूपों को भाव-मोक्ष और द्रव्य-मोक्ष कहा जा सकता है। जैन-परम्परा मे भावमोक्ष की अवस्था के प्रतीक अरिहन्त और द्रव्यमोक्ष की अवस्था के प्रतीक सिद्ध माने गये है। उत्तराध्ययन सूत्र में मोक्ष और निर्वाण शब्दों का दो भिन्न-भिन्न अर्थो मे प्रयोग हुआ है। उनमें मोक्ष को कारण और निर्वाण को उसका कार्य बताया गया है (उत्तरा०२८।३०)। इस सन्दर्भ में मोक्ष का अर्थ भाव-मोक्ष या रागद्वेष से मुक्ति है और द्रव्यमोक्ष का अर्थ निर्वाण या मरणोत्तर मुक्ति की प्राप्ति है।

बौद्ध-परम्परा में दो प्रकार का निर्वाण—बौद्ध-परम्परा में भी दो प्रकार के निर्वाण माने गये है—१ सोपादिशेष निर्वाण धातु और २. अनुपादिशेष निर्वाण धातु। इति-वुत्तक में कहा गया है कि अनासक्त और चक्षुमान् भगवान् बुद्ध ने निर्वाण धातु को

१. समयसार, १८; समयसारटीका, १५ पृ० ४१

इन दो प्रकार का बताया है। एक धातु का नाम सोपादिशेष है, जो इस शरीर मे बार-बार लानेवाली तृष्णा के क्षय के बाद प्राप्त होती है और दूसरी अनुपादिशेष है, जो शरीर छूटने के बाद प्राप्त होती है (इतिवुत्तक २।७)।

वैदिक परम्परा में दो प्रकार की मुक्ति—गीता और वेदान्त की परम्परा मे भी जैन और बौद्ध परम्पराओं के समान दो प्रकार की मुक्ति मानी गयी है—१. जीवन-मुक्ति और २. विदेह-मुक्ति। जीवन-मुक्ति रागद्वेष और आसक्ति के पूर्णरूपेण समाप्त हो जाने पर प्राप्त होती है और ऐसा जीवन्मुक्त साधक जब अपना शरीर छोड़ देता है तो वह विदेह-मुक्ति कही जाती है।

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	वैदिक
भावमोक्ष	सोपादिशेष निर्वाण धातु	जीवन-मुक्ति
द्रव्यमोक्ष	अनुपादिशेष निर्वाण धातु	विदेह-मुक्ति

इस तालिका के आधार पर जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों आचार दर्शन जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति के प्रत्यय को स्वीकार करते है। इतना ही नही, तीनों आचार दर्शन जीवन-मुक्त के स्वरूप के सम्बन्ध मे समान दृष्टिकोण रखते हैं, साथ ही यह भी स्वीकार करत है कि जब तक जीवन-मुक्ति प्राप्त नही होती तब तक निर्वाण, मोक्ष या परमात्मा को भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। जीवन-मुक्ति प्राथमिक अवस्था है और व्यावहारिक जीवन मे इसे नैतिक जीवन का जीवन-आदर्श स्वीकार किया जा सकता है। जिसे जीवन-मुक्त पुरुष को जैन-परम्परा मे वीतराग कहा गया है, उसे ही वैदिक परम्परा मे स्थितप्रज्ञ और बौद्ध-परम्परा मे अर्हत् कहा गया है। आगे अब हम इसी जीवन-मुक्त पुरुष के सम्बन्ध मे विचार करेंगे।

§ ५. जैनदर्शन में वीतराग का जीवनादर्श

जैन-दर्शन में नैतिक जीवन का परमसाध्य वीतरागता की प्राप्ति रहा है। जैन-दर्शन में वीतराग एवं अरिहन्त (अर्हत्) इसी जीवनादर्श के प्रतीक है। वीतराग की जीवन-शैली क्या होती है, इसका वर्णन जैनागमों मे यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। संक्षेप मे उन आधारों पर उसे इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। जैनागमों मे आदर्श पुरुष के लक्षण बताते हुए कहा गया है "जो ममत्व एवं अहंकार से रहित है, जिसके चित्त मे कोई आसक्ति नहीं है और जिसने अभिमान का त्याग कर दिया है, जो प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखता है। जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मान-अपमान और निन्दा-प्रशंसा मे समभाव रखता है। जिसे न इस लोक की और न परलोक की कोई अपेक्षा है, किसी के द्वारा चन्दन का लेप करने पर और किसी के द्वारा बसूले से छीलने पर, जिसके मन मे लेप करने वाले पर राग-भाव और बसूले से छीलने वाले पर द्वेष-भाव नही होता, जो खाने में और अनशन व्रत करने में समभाव

रखता है, वही महापुरुष है[1]।" जिस प्रकार अग्नि से शुद्ध किया हुआ सोना निर्मल होता है, उसी प्रकार जो राग-द्वेष और भय आदि से रहित, निर्मल है। जिस प्रकार कमल कीचड एवं पानी मे उत्पन्न होकर भी उसमें लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जो संसार के काम-भोगों मे लिप्त नही होता, भाव से सदैव ही विरत रहता है, उस विरतात्मा, अनासक्त पुरुष को इन्द्रियों के शब्दादि विषय भी मन मे राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नही करते। जो विषय रागी व्यक्तियो को दु ख देते है, वे वीतरागी के लिए दुःख के कारण नही होते है। वह राग, द्वेष और मोह के अध्यवसायों को दोष रूप जानकर सदैव उनके प्रति जागृत रहता हुआ माध्यस्थभाव रखता है। किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प नही करता हुआ तृष्णा का प्रहाण कर देता है। वीतराग पुरुष राग-द्वेष और मोह का प्रहाण कर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का क्षय कर कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार मोह, अन्तराय और आस्रवो से रहित वीतराग सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होता है। वह शुक्लध्यान और सुसमाधि सहित होता है और आयु का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[2]

§ ६. बौद्ध दर्शन में अर्हत् का जीवनादर्श

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन मे नैतिक जीवन का आदर्श अर्हतावस्था माना गया है। बौद्ध दर्शन मे अर्हत्-अवस्था से तात्पर्य तृष्णा या राग-द्वेष की वृत्तियों का पूर्ण क्षय है। जो राग, द्वेष और मोह से ऊपर उठ चुका है, जिसमे किसी भी प्रकार की तृष्णा नहीं है, जो सुख-दु ख, लाभ-अलाभ और निन्दा-प्रशंसा मे समभाव रखता है, वही अर्हत् है। बुद्ध ने अनेक प्रसंगों पर अर्हत् के जीवनादर्श को प्रस्तुत किया है। बौद्ध-दर्शन मे अर्हत् को स्थितात्मा, केवली, उपशान्त आदि नामो से भी जाना जाता है। धम्मपद एवं सुत्तनिपात मे अर्हत् के जीवनादर्श का निम्न विवरण उपलब्ध है। धम्मपद के अर्हत्-वर्ग में कहा गया है कि "जो पृथ्वी के समान क्षुब्ध नही होता, जो इन्द्र के स्तम्भ के समान अपने व्रत मे दृढ है, जो झील के सदृश कीचड़ अथवा चित्तमल से रहित है, उसके लिए संसार (जन्म-मरण का चक्र) नही होता। जो सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से विमुक्त तथा उपशान्त हो चुका है, ऐसे व्यक्ति का मन शान्त हो जाता है। जो मनुष्य अंधविश्वासी नही है, जो अकृत अर्थात् निर्वाण को जानने वाला है, जिसने (जन्म-मरण) के बन्धनों को काट दिया है, जो (पाप-पुण्य को) अवकाश नही देता, जिसने तृष्णा को निकाल दिया है, वह पुरुषोत्तम कहलाता है[3]।" सुत्तनिपात मे भी उपशांत पुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हुए बुद्ध कहते है कि "जो इस शरीर के त्यागने के पहले ही

१-२ उत्तराध्ययन, १९।९०-९३, ३२।१०६-११० २९-२१, २७-२८
३. धम्मपद, ९५-९७

तृष्णा-रहित हो गया हो, जो भूत तथा भविष्य पर आश्रित नहीं है और न आश्रित है वर्तमान पर, उसके लिए कहीं आसक्ति नहीं है। जो क्रोध, त्रास, आत्म-प्रशंसा और चंचलता-रहित है, जो विचार पूर्वक बोलनेवाला है, जो गर्वरहित है और वचन में संयमी है, जो दृष्टियों के फेर में नही पड़ता, जो आसक्ति, ढोंग, स्पृहा और मात्सर्य से रहित है। जो प्रगल्भी नहीं है, घृणा-रहित है और चुगलखोर नहीं है, जो प्रिय वस्तुओं में रत नहीं होता और अभिमान रहित है, जो शान्त और प्रतिभाशाली है, वह न तो अति श्रद्धालु होता है और न किसी से उदास रहता है। जो अनासक्ति भाव को जानकर आसक्ति रहित हो गया है, जिसमे भव या विभव के प्रति तृष्णा नही है, विषयों के प्रति उपेक्षावान् है, उसे उपशान्त कहता हूँ। उसके लिए ग्रन्थियाँ नही है, क्योंकि वह तृष्णा से परे हो गया है[१]।" उसी ग्रन्थ मे सभियपरिव्राजक को भी शान्त पुरुष एवं बुद्ध का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जो स्वयं मार्ग पर चलकर शंकाओं से परे हो गया है, जो जन्म-मृत्यु को दूर कर परिनिर्वाण (जीवन्मुक्ति) प्राप्त है, जिसका ब्रह्मचर्यवास का उद्देश्य पूरा हो गया है, जो सर्वत्र उपेक्षाभाव (अनासक्ति) से युक्त है, जो हिंसा मे विरत, स्मृतिवान् (अप्रमत्त) प्रज्ञ, निर्मल और तृष्णा से रहित है, जो त्रिकालदर्शी, (कर्म) रज और (कर्म) पाप से रहित, विशुद्ध जन्म-क्षय को प्राप्त है, उसे बुद्ध (अर्हत्) कहते हैं। सुत्तनिपात मे आदर्श मुनि, आदर्श ब्राह्मण, आदर्श श्रमण, उपशान्तात्मा, स्थितात्मा आदि का वर्णन भी इसी रूप मे किया गया है।

§ ७. गीता में स्थितप्रज्ञ का जीवनादर्श

जैन दर्शन के वीतराग और बौद्ध दर्शन के अर्हत् के जीवनादर्श के समान गीता में स्थितप्रज्ञ, प्रियभक्त एवं योगी के जीवनादर्श निरूपित हैं। गीता मे श्रीकृष्ण स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि "जब व्यक्ति मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर देता है और आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट होता है, दुःखों की प्राप्ति में भी जो उद्विग्न नहीं होता तथा सुखों के प्रति जिसके मन में कोई स्पृहा नहीं है, जिसके राग, भय और क्रोध समाप्त हो गये हैं अर्थात् वीतराग है, जिसकी किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं है और जो शुभाशुभ के प्राप्त होने पर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकार के विषयों से वश मे की हुई है, ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। जो पुरुष इस प्रकार सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर ममता, अहंकार और स्पृहा से रहित होकर आचरण करता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है[२]।" गीता भक्त के सम्बन्ध में भी यही जीवनादर्श प्रस्तुत करती है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि "जो सभी प्राणियों में द्वेष भाव एवं स्वार्थ से रहित होकर निष्काम भाव से सभी के प्रति मैत्री युक्त एवं करुणावान् है। जो ममता और अहंकार से रहित,

१. सुत्तनिपात, ४८।२-६, ९-१० २. गीता, २।५५-५८, ७१-७२

सुख-दुःख में समभाव रखने वाला, क्षमाशील, संतुष्ट योगी, यतात्मा, दृढ़निश्चयी है, जिसका मन और बुद्धि परमात्मा में नियोजित है। जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी उद्वेग को प्राप्त नहीं होता। हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से जो रहित है और जो आकांक्षा से रहित, अंतर-बाह्य शुद्ध, व्यवहार-कुशल, व्यथा से रहित, सभी आरम्भों (हिंसादि पापकर्मों) का त्यागी है। जो न कभी हर्षित होता है, न कभी द्वेष करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के प्रति फलासक्ति को त्याग चुका है। जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में समभाव से युक्त है[1]।"

§ ८. शांकरवेदांत में जीवन्मुक्त के लक्षण

आचार्य शंकर ने भी विवेकचूड़ामणि में जीवन्मुक्त के लक्षणों का विवेचन किया है। वे लिखते है कि "जिसकी प्रज्ञा स्थिर है, जो निरन्तर आत्मानन्द का अनुभव करता है और प्रपंच को भूला-सा रहता है, वृत्ति के लीन रहते हुए भी जो जागता रहता है, किन्तु वास्तव में जो जागृति के धर्मों से रहित है तथा जिसका बोध सर्वथा वासना-रहित है, वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है। प्रारब्ध की समाप्ति पर्यन्त छाया के समान सदैव साथ रहनेवाले, इस शरीर के वर्तमान रहते हुए भी इसमें अहं-ममभाव (मैं—मेरापन) का अभाव हो जाना, बीती हुई बात को याद न करना, भविष्य की चिन्ता न करना और वर्तमान मे प्राप्त सुख-दुःखादि में उदासीनता, अपने आत्मस्वरूप से सर्वथा पृथक्, इस गुण-दोषमय संसार मे सर्वत्र समदर्शी होना, इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति में समान भाव रखना जीवन्मुक्त पुरुष का लक्षण है[2]।"

वस्तुतः जीवन्मुक्त व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सभी आचार दर्शनों में पर्याप्त विचार-साम्य है। इतना ही नहीं, जीवन्मुक्त के लक्षणों में सभी ने समान शब्दों का भी उपयोग किया है। सभी आचार-दर्शनों मे जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ, स्थितात्मा, वीतराग आदि शब्द पर्यायवाची हैं। सभी आचार-दर्शनों के अनुसार जीवन्मुक्त वह है जो राग-द्वेष और वासनाओं से ऊपर उठ चुका है एवं वीतराग, अनासक्त और समभाव से युक्त है। अरस्तू के आदर्श पुरुष का विवेचन और आधुनिक मनोविज्ञान में किया गया परिपक्व व्यक्तित्व का विवेचन भी कुछ अर्थों में जीवन्मुक्त के प्रत्यय के निकट है। जीवन्मुक्त के देह छोड़ने पर जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे विदेह-मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण कहा गया है। हाँ, समालोच्य दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ मत-वैभिन्न्य अवश्य है।

---

१. गीता, १२।१३–१९ २. विवेकचूड़ामणि, ४२९–४३५
३. अरस्तू, पृ० १२५–१२९

जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

जैन तत्त्व-मीमांसा के अनुसार संवर के द्वारा कर्मों के आगमन का निरोध हो जाने पर और निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा की जो निष्कर्म शुद्धावस्था होती है, वह मोक्ष है।[१] कर्ममलों के अभाव में कर्म बन्धन भी नहीं रहता और बन्धन का अभाव ही मुक्ति है।[२] मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है।[३] अनात्मा में ममत्व आसक्तिरूप आत्माभिमान का दूर हो जाना ही मुक्ति है।[४]

बन्धन और मुक्ति की यह समग्र व्याख्या पर्यायदृष्टि का विषय है। आत्मा का विरूप पर्याय ही बन्धन है और स्वरूप पर्याय मोक्ष है। पर-पदार्थ या पुद्गल परमाणुओं के निमित्त से आत्मा में जो पर्याएँ उत्पन्न होती हैं और जिसके कारण 'पर' में आत्मभाव (मेरापन) उत्पन्न होता है, वही विरूपपर्याय है, परपरिणति है, 'स्व' की 'पर' मे अवस्थिति है, यही बन्धन है और इसका अभाव ही मुक्ति है। बन्धन और मुक्ति दोनों आत्म-द्रव्य या चेतना की ही दो अवस्थाएँ है। विशुद्ध तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाये तो बन्धन और मुक्ति की व्याख्या करना संभव नहीं है। क्योंकि आत्म तत्त्व स्वस्वरूप का परित्याग कर परस्वरूप में कभी भी परिणत नही होता। विशुद्ध तत्त्व-दृष्टि से तो आत्मा नित्यमुक्त है। लेकिन जब तत्त्व की पर्यायों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है तो बन्धन और मुक्ति की सम्भवानाएँ स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि बन्धन और मुक्ति पर्याय अवस्था में ही सम्भव होती है। मोक्ष को तत्त्व कहा गया है, लेकिन वस्तुतः मोक्ष तो बन्धन का अभाव ही है। जैनागमों में मोक्ष तत्त्व पर तीन दृष्टियों से विचार हुआ है—(१) भावात्मक दृष्टिकोण, (२) अभावात्मक दृष्टिकोण और (३) अनिर्वचनीय दृष्टिकोण।

(अ) भावात्मक दृष्टिकोण

जैन दार्शनिकों ने भावात्मक दृष्टिकोण से विचार करते हुए मोक्षावस्था को निर्बाध अवस्था कहा है।[५] मोक्ष अवस्था में समस्त बन्धनों के अभाव के कारण आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। मोक्ष बाधक तत्त्वों की अनुपस्थिति और आत्मशक्तियों का पूर्ण प्रकटन है। जैन दर्शन के अनुसार मोक्षावस्था में मनुष्य की अव्यक्त शक्तियाँ व्यक्त हो जाती हैं। उसमें निहित ज्ञान, भाव और संकल्प आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष की भावात्मक अवस्था का चित्रण करते हुए उसे "शुद्ध, अनन्तचतुष्टय युक्त, शाश्वत, अविनाशी, निर्बाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, नित्य,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १०।३　　२. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ६, पृ० ४३१
३. वही, पृ० ४३१　　४. आत्ममीमांसा, पृ० ६६–६७
५. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ६, पृ० ४३१

अविचल, अनालम्ब कहा है।"[1] आचार्य आगे चलकर मोक्ष में निम्न बातों की विद्यमानता की सूचना करते हैं[2]—(१) पूर्णसौख्य, (२) पूर्णज्ञान, (३) पूर्णदर्शन, (४) पूर्णवीर्य (शक्ति), (५) अमूर्तत्व, (६) अस्तित्व और (७) सप्रदेशता। ये सात भावात्मक तथ्य सभी भारतीय दर्शनों को स्वीकार नहीं हैं। वेदान्त सप्रदेशता को अस्वीकार करता है। सांख्य सौख्य एवं वीर्य को और न्याय-वैशेषिक ज्ञान और दर्शन को भी अस्वीकार कर देते हैं। बौद्ध-शून्यवाद अस्तित्व का भी निरसन करता है और चार्वाक दर्शन मोक्ष की धारणा को ही स्वीकार नही करता। वस्तुतः मोक्षावस्था को अनिर्वचनीय मानते हुए भी विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के प्रत्युत्तर के लिए ही इस भावात्मक अवस्था का वर्णन किया गया है। भावात्मक दृष्टि से जैन विचारणा मोक्षावस्था में अनन्त-चतुष्टय अर्थात् अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सौख्य और अनन्त-शक्ति की उपस्थिति पर बल देती है। बीजरूप में यह अनन्त-चतुष्टय सभी जीवों में स्वाभाविक गुण के रूप में विद्यमान है। मोक्ष-दशा में इनके अवरोधक कर्मों का क्षय हो जाने से यह पूर्ण रूप में प्रकट हो जाते हैं। अनन्त-चतुष्टय के अतिरिक्त अष्टकर्मों के क्षय के आधार पर सिद्धों में आठ गुण भी जैन दर्शन में मान्य हैं। (१) ज्ञानावरण कर्म के नष्ट हो जाने से मुक्तात्मा अनन्त-ज्ञान या पूर्ण ज्ञान से युक्त होता है, (२) दर्शनावरण कर्म के नष्ट हो जाने से अनन्त-दर्शन प्रकट होता है। (३) वेदनीय कर्म के क्षय हो जाने से विशुद्ध अनश्वर आध्यात्मिक सुखों से युक्त होता है। (४) मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने से यथार्थ दृष्टि (क्षायिक सम्यक्त्व) से युक्त होता है। मोह कर्म के दर्शनमोह और चारित्रमोह ऐसे दो भाग किए जाते हैं। दर्शनमोह के प्रहाण से यथार्थ दृष्टि और चारित्रमोह के क्षय से यथार्थ चारित्र (क्षायिकचारित्र) प्रकट होता है। लेकिन मोक्ष-दशा में क्रिया-रूप चारित्र नहीं होता, मात्र दृष्टि-रूप चारित्र होता है। अतः उसे क्षायिक सम्यक्त्व के अन्तर्गत ही माना जा सकता है। वैसे आठ कर्मों की ३१ प्रकृतियों के क्षय होने के आधार पर सिद्धों के ३१ गुण माने गये हैं, उनमें यथाख्यात चारित्र को स्वतंत्र गुण माना गया है। (५) आयुकर्म के क्षय हो जाने से मुक्तात्मा अशरीरी होता है, अतः वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता। (६) गोत्र कर्म के नष्ट हो जाने से वह अगुरुलघु होता है अर्थात् सभी सिद्ध समान होते हैं, उनमें छोटा-बड़ा या ऊंच-नीच का भेद नहीं होता। (७) अन्तरायकर्म का प्रहाण हो जाने से आत्मा बाधा रहित होता है अर्थात् अनन्त-शक्ति सम्पन्न होता है।[3] अनन्त-शक्ति का यह विचार मूलतः निषेधात्मक ही है। यह मात्र बाधाओं का अभाव है। लेकिन इस प्रकार अष्ट-कर्मों के प्रहाण के आधार से मुक्तात्मा के आठ गुणों की व्याख्या मात्र एक व्यावहारिक संकल्पना ही है। उसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन

१. नियमसार, १७६-१७७ २. वही, १८१
३. प्रवचनसारोद्धार, २७६।१५९३-१५९४

नहीं है, व्यावहारिक दृष्टि से उसे समझने का प्रयास भर है। वस्तुतः वह अनिर्वचनीय है। आचार्य नेमिचन्द्र स्पष्ट रूप से कहते हैं "सिद्धों के इन गुणों का विधान मात्र सिद्धान्त के स्वरूप के सम्बन्ध में जो ऐकान्तिक मान्यताएं हैं, उनके निषेध के लिए है।"[1] मुक्तात्मा में केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के रूप में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को स्वीकार करके मुक्तात्मा को जड़ मानने वाली वैभाषिक बौद्धों और न्याय-वैशेषिकों की धारणा का प्रतिषेध किया गया है। मुक्तात्मा के अस्तित्व या अक्षयता को स्वीकार कर मोक्ष को अभावात्मक रूप में मानने वाले जड़वादी तथा सौत्रान्तिक बौद्धों की मान्यता का निरसन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्षदशा का यह समग्र चित्रण अपना निषेधात्मक मूल्य ही रखता है। यह विधान भी निषेध के लिए है।

(ब) **अभावात्मक दृष्टिकोण**—जैनागमों में मोक्षावस्था का चित्रण निषेधात्मक रूप से भी हुआ है। आचारांग में मुक्तात्मा का निषेधात्मक चित्रण इस प्रकार हुआ है— मोक्षावस्था में समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्तात्मा में समस्त कर्मजन्य उपाधियों का भी अभाव होता है; अतः मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमण्डल संस्थानवाला है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत वर्ण वाला भी नहीं है। वह सुगन्ध और दुर्गन्ध वाला भी नहीं है। न वह तीक्ष्ण, कटुक, खट्टा, मीठा एवं अम्ल रस वाला है। उसमें गुरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रुक्ष, शीत एवं उष्ण आदि स्पर्श-गुणों का भी अभाव है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, "मोक्षदशा में न सुख है, न दुःख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न जन्म है, न मरण है, न वहाँ इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न व्यामोह है, न निद्रा है, न वहाँ चिन्ता है, न आर्त और रौद्र विचार ही हैं। वहाँ तो धर्म (शुभ) और शुक्ल (शुद्ध) विचारों का भी अभाव है।"[3] मोक्षावस्था तो सर्व संकल्पों का अभाव है। वह बुद्धि और विचार का विषय नहीं है, वह पक्षातिक्रांत है। इस प्रकार मुक्तावस्था का निषेधात्मक विवेचन उसकी अनिर्वचनीयता को बताने के लिए है।

(स) **अनिर्वचनीय दृष्टिकोण**—मोक्षतत्त्व का निषेधात्मक निर्वचन अनिवार्य रूप से हमें अनिर्वचनीयता की ओर ही ले जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हुए जैनदार्शनिकों ने उसे अनिर्वचनीय ही माना है।

आचारांगसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है, "समस्त स्वर वहाँ से लौट आते हैं। अर्थात् ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का वह विषय नहीं है। वाणी उसका

---

१. गोम्मटसार-जीवकाण्ड, ६९ २. आचारांग, १।५।६।१७१

३. नियमसार, १७८-१७९

निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता। वह अनुपम है, अरूपी है, सत्तावान् है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।"[1]

बौद्ध-दर्शन में निर्वाण का स्वरूप—भगवान् बुद्ध की दृष्टि में निर्वाण का स्वरूप क्या है? यह विवाद का विषय रहा है। बौद्ध-दर्शन के अवान्तर सम्प्रदायों में भी निर्वाण के स्वरूप को लेकर आत्यन्तिक विरोध पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले हैं, जो एक तुलनात्मक अध्येता को अधिक कठिनाई में डाल देते हैं। वस्तुतः इस कठिनाई का मूल कारण पालि निकाय में निर्वाण का विभिन्न दृष्टियों से, अलग-अलग प्रकार से विवेचन किया जाना है। श्री पुंसें[2] एवं प्रो० नलिनाक्षदत्त ने[3] बौद्ध निर्वाण के सम्बन्ध में विद्वानों के दृष्टिकोणों को इस प्रकार वर्गीकृत किया है—

१. निर्वाण एक अभावात्मक तथ्य है।

२. निर्वाण अनिवर्चनीय अव्यय अवस्था है।

३. निर्वाण की बुद्ध ने कोई व्याख्या नहीं दी है।

४. निर्वाण भावात्मक, विशुद्ध एवं पूर्ण-चेतना की अवस्था है।

बौद्ध-दर्शन के अवान्तर प्रमुख सम्प्रदायों का निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से दृष्टि-भेद है—

१. **वैभाषिक सम्प्रदाय**—इनके अनुसार निर्वाण संस्कारों या संस्कृत धर्मों का अभाव है। क्योंकि संस्कृतधर्मता ही अनित्यता है, यही बन्धन एवं दुःख है। लेकिन निर्वाण तो दुःख-निरोध है, बन्धनाभाव है और इसलिए वह एक असंस्कृत धर्म है और असंस्कृत धर्म के रूप में उसकी भावात्मक सत्ता है। वैभाषिक मत के निर्वाण के स्वरूप को अभिधर्मकोष की व्याख्या में इस प्रकार से बताया गया है—निर्वाण नित्य, असंस्कृत, स्वतंत्र-सत्ता, पृथक्भूत सत्य पदार्थ (द्रव्यसत्) है।[4] निर्वाण में संस्कार या पर्यायों का अभाव होता है, लेकिन यहां संस्कारों के अभाव का अर्थ अनस्तित्व नहीं है, वरन् एक भावात्मक अवस्था ही है। निर्वाण असंस्कृत धर्म है। प्रो० शारवात्स्की ने[5] वैभाषिक निर्वाण को अनन्त मृत्यु कहा है। उनके अनुसार निर्वाण आध्यात्मिक अवस्था नहीं, वरन्

१. आचारांग, १।५।६।१७१ तुलना कीजिए—तैत्तिरीय २।९, मुण्डक ३।१।८
२. इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स, खण्ड, ९ पृ० ३७९-७७
३. आस्पेक्टस् आफ महायान इन रिलेशन टू हीनयान, पृ० १४५
४. अभिधर्म कोष व्याख्या, पृ० १७ ५. कान्सेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण, पृ० २७

चेतना एवं क्रिया-शून्य जड़ अवस्था है। लेकिन एस० के० मुकर्जी, प्रो० नलिनाक्षदत्त[१] और प्रो० मूर्ति[२] ने प्रो० शारवात्स्की के इस दृष्टिकोण का विरोध किया है। इन विद्वानों के अनुसार वैभाषिक निर्वाण निश्चित रूप से एक भावात्मक अवस्था है। इसमें यद्यपि संस्कारों का अभाव होता है फिर भी उसकी असंस्कृत धर्म के रूप में भावात्मक सत्ता है। वैभाषिक निर्वाण में चेतना का अस्तित्व होता है या नहीं होता है? यह प्रश्न भी विवादास्पद है। प्रो० शारवात्सकी निर्वाण-दशा में चेतना का अभाव मानते हैं, लेकिन प्रो० मुकर्जी इस सम्बन्ध में एक परिष्कृत दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं कि यशोमित्र की अभिधर्मकोष की टीका के आधार पर निर्वाण की दशा में विशुद्ध मानस या चेतना रहती है।[3] डा० लाड ने अपने शोध-प्रबन्ध में एवं पं० बलदेव उपाध्याय ने बौद्धदर्शन-मीमांसा में वैभाषिक बौद्धों के एक तिब्बतीय उपसम्प्रदाय का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था में केवल वासनात्मक एवं क्लेशोत्पादक (सास्रव) चेतना का ही अभाव होता है। इसका तात्पर्य यह है कि निर्वाण की दशा में अनास्रव विशुद्ध चेतना का अस्तित्व बना रहता है।[४] वैभाषिकों के इस उपसंप्रदाय का यह दृष्टिकोण जैन-दर्शन-सम्मत निर्वाण के अति समीप आ जाता है। क्योंकि यह जैन-दर्शन के समान निर्वाणावस्था मे सत्ता (अस्तित्व) और चेतना (ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग) दोनों को स्वीकार करता है। वैभाषिक दृष्टिकोण—निर्वाण को संस्कारों की दृष्टि से अभावात्मक, द्रव्य-सत्यता की दृष्टि से भावात्मक एवं बौद्धिक विवेचना की दृष्टि से अनिर्वचनीय मानता है। फिर भी उसकी व्याख्याओं में निर्वाण का भावात्मक या सत्तात्मक पक्ष अधिक उभरा है।

२. **सौत्रान्तिक सम्प्रदाय**—सौत्रान्तिक वैभाषिकों के समान यह मानते हुए भी कि निर्वाण संस्कारों का अभाव है, यह स्वीकार नहीं करते हैं कि असंस्कृत धर्म की कोई भावात्मक सत्ता होती है। इनके अनुसार केवल परिवर्तनशीलता ही तत्त्व का यथार्थ स्वरूप है। अतः सौत्रान्तिक निर्वाण की दशा में किसी असंस्कृत अपरिवर्तनशील नित्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता में ऐसा करना बुद्ध के अनित्यवाद और क्षणिकवाद की अवहेलना करना है। शारवात्स्की के अनुसार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में निर्वाण का अर्थ है जीवन की प्रक्रिया का समाप्त हो जाना, जिसके पश्चात् ऐसा कोई जीवन-शून्य तत्त्व शेष नहीं रहता, जिसमें जीवन की प्रक्रिया समाप्त हो गयी हो।[५] निर्वाण क्षणिक चेतना-प्रवाह का समाप्त हो जाना है, जिसके बाद कुछ भी शेष

१. आस्पेक्टस् आफ महायान इन रिलेशन टू हीनयान, पृ० १६२
२. सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृ० २७२-२७३
३. बुद्धिस्ट फिलासफी, पृ० २५१ ४. (अ) लिबरेशन, पृ० ६९
(ब) बौद्ध-दर्शनमीमांसा, पृ० १४७ ५. कन्सेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण, पृ० २९

नहीं रहता। क्योंकि इनके अनुसार परिवर्तन ही सत्य है। परिवर्तनशीलता के अतिरिक्त तत्त्व की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है और निर्वाण-दशा में परिवर्तनों की शृंखला समाप्त हो जाती है। अतः उसके परे कोई सत्ता शेष नहीं रहती। इस प्रकार सौत्रांतिक-निर्वाण अभावात्मक अवस्था मात्र है। सम्प्रति बर्मा और लंका के बौद्ध भी निर्वाण को अभावात्मक या अनस्तित्व के रूप में देखते हैं। निर्वाण के भावात्मक, अभावात्मक और अनिर्वचनीय पक्षों की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक विचारधारा निर्वाण के अभावात्मक पक्ष पर अधिक जोर देती है। यद्यपि इस प्रकार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के निर्वाण का अभावात्मक दृष्टिकोण जैन-विचार के विरोध में जाता है, तथापि सौत्रान्तिकों में भी एक ऐसा उपसम्प्रदाय था जिसके अनुसार निर्वाण पूर्णतया अभावात्मक दशा नहीं थी। उनके अनुसार निर्वाण अवस्था में भी विशुद्ध चेतना-पर्यायों का प्रवाह रहता है। यह दृष्टिकोण जैन-विचार की इस मान्यता के निकट है, जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था में भी आत्मा में परिणामीपन बना रहता है अर्थात् मोक्षदशा में आत्मा में चैतन्य ज्ञान-धारा सतत रूप से प्रवाहित होती रहती है।

३. **विज्ञानवाद (योगाचार)**—महायान के प्रमुख ग्रन्थ लंकावतारसूत्र के अनुसार निर्वाण सप्त प्रवृत्तिविज्ञानों की अप्रवृत्तावस्था है, चित्त-प्रवृत्तियों का निरोध है।[1] स्थिरमति के अनुसार निर्वाण क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय है।[2] असंग के अनुसार निवृत्त चित्त (निर्वाण) अचित्त है, क्योंकि वह विषयों का ग्राहक नहीं है। वह अनुपलब्ध है। क्योंकि उसका कोई बाह्य आलम्बन नहीं है और इस प्रकार आलम्बन-रहित होने से लोकोत्तर ज्ञान है। दोष्ठुल्य अर्थात् आवरण (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) के नष्ट हो जाने से निवृत्तचित्त (आलयविज्ञान) परावृत्त नहीं होता, प्रवृत्त नहीं होता।[3] वह अनावरण और अनास्रवधातु है। लेकिन असंग केवल इस निषेधात्मक विवेचन से सन्तुष्ट नहीं होते हैं, वे निर्वाण की अनिर्वचनीय एवं भावात्मक व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। निर्वाण अचिन्त्य है। क्योंकि तर्क से उसे जाना नही जा सकता। लेकिन अचिन्त्य होते हुए भी वह कुशल है, शाश्वत है, सुखरूप है, विमुक्तकाय है और धर्माख्य है।[4] इस प्रकार विज्ञानवादी मान्यता में निर्वाण की अभावपरक और भावपरक व्याख्याओं के साथ-साथ उनकी अनिर्वचनीयता को भी स्वीकार किया गया है। वस्तुतः निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप के विकास का श्रेय विज्ञानवाद और शून्यवाद को ही है।

१. लंकावतारसूत्र, २।६२
२. त्रिंशिका-विज्ञप्तिभाष्य, पृ० १५ उद्धृत-बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृ० १५८
३. वही, २९   ४. वही, ३०

लंकावतारसूत्र में निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप का सर्वोच्च विकास देखा जा सकता है। उसके अनुसार निर्वाण विचार की कोटियों से परे है।

विज्ञानवादी निर्वाण का जैन-विचार से इन अर्थों में साम्य है—(१) निर्वाण चेतना का अभाव नहीं है, वरन् विशुद्ध चेतना की अवस्था है, (२) निर्वाण समस्त संकल्पों का क्षय है, वह चेतना की निर्विकल्पावस्था है, (३) निर्वाणावस्था में भी चैतन्य धारा सतत प्रवाहमान (आत्मपरिणामीपन) रहती है (यद्यपि डा० चन्द्रधर शर्मा ने आलयविज्ञान को अपरिवर्तनीय या कूटस्थ माना है[1])। पं० बलदेव उपाध्याय ने भी इस प्रवाहमानता या परिवर्तनशीलता का समर्थन किया है।[2] (४) निर्वाणावस्था सर्वज्ञता की अवस्था है। जैन विचारणा के अनुसार भी मोक्ष की अवस्था में केवलज्ञान और केवलदर्शन होते हैं, (५) असंग ने महायानसूत्रालंकार में धर्मकाय को, जो निर्वाण की पर्यायवाची है, स्वाभाविक-काय कहा है।[3] जैन विचारणा में भी मोक्ष को स्वभावदशा कहा जाता है। स्वाभाविक-काय और स्वभावदशा में अर्थसाम्य है।

४. **शून्यवाद**—बौद्ध-दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय में निर्वाण के अनिवर्चनीय स्वरूप का सर्वाधिक विकास हुआ है। जैन तथा जैनेतर दार्शनिकों ने शून्यता का अभावात्मक अर्थ ग्रहण कर माध्यमिक निर्वाण को अभावात्मक रूप में देखा है। लेकिन यह उस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण को समझने में सबसे बड़ी भ्रान्ति ही है। माध्यमिक दृष्टि से निर्वाण अनिवर्चनीय है, चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है और वही परमतत्त्व है। वह न भाव है न अभाव है।[4] यदि वाणी से उसका निर्वचन करना ही आवश्यक हो तो मात्र यह कहा जा सकता है कि निर्वाण अप्रहाण, असम्प्राप्त, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनिरुद्ध, अनुत्पन्न है।[5] निर्वाण को भावरूप इसलिए नहीं माना जा सकता है कि भावात्मक वस्तु या तो नित्य होगी या अनित्य। नित्य मानने पर निर्वाण के लिए प्रयासों का कोई अर्थ नहीं होगा। अनित्य मानने पर बिना प्रयास ही मोक्ष होगा। निर्वाण को अभाव भी नहीं कहा जा सकता, अन्यथा तथागत के द्वारा उसकी प्राप्ति का उपदेश क्यों दिया जाता? निर्वाण को प्रहाण और सम्प्राप्त भी नहीं कहा जा सकता, अन्यथा निर्वाण कृतक एवं कालिक होगा और यह मानना पड़ेगा कि वह काल-विशेष में उत्पन्न हुआ और यदि वह उत्पन्न हुआ तो वह जरामरण के समान अनित्य ही होगा। निर्वाण को उच्छेद या शाश्वत भी नही कहा जा सकता, अन्यथा शास्ता के मध्यममार्ग का उल्लंघन होगा और हम उच्छेदवाद या शाश्वतवाद की मिथ्यादृष्टि से ग्रसित होंगे। इसलिए माध्यमिक

---

१. ए क्रिटिकल सर्वे आफ इंडियन फिलासफी, पृ० ३२२
२. बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृ० २४४
३. महायानसूत्रालंकार, ९।६०, उद्धृत महायान, पृ० ७३
४. माध्यमिककारिकावृत्ति, पृ० ५२४ (सेन्ट्रल० बुद्धिज्म, पृ० २७४)
५. वही, पृ० ५२१

मत में निर्वाण भाव और अभाव दोनों नहीं है। वह तो सर्व संकल्पनाओं का क्षय है, प्रपञ्चोपशमता है।

बौद्ध दार्शनिकों एवं वर्तमान विद्वानों में बौद्ध-दर्शन में निर्वाण के स्वरूप को लेकर जो मतभेद दृष्टिगत होता है, उसका मूल कारण बुद्ध द्वारा निर्वाण का विविध दृष्टि-कोणों के आधार पर विविध रूप से कथन किया जाना है। पालि-निकाय में निर्वाण के इन विविध स्वरूपों का विवेचन उपलब्ध होता है। उदान नामक एक लघु ग्रन्थ में ही निर्वाण के इन विविध रूपों को देखा जा सकता है।

निर्वाण भावात्मक तथ्य—

इस सन्दर्भ में बुद्ध-वचन इस प्रकार है—"भिक्षुओ! निर्वाण अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत है। भिक्षुओ! यदि वह अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत नहीं होता तो जात, भूत, कृत, और संस्कृत का व्युपशम नहीं हो सकता। भिक्षुओ! क्योंकि वह अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है, इसलिए जात, भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम जाना जाता है।"[१२] धम्मपद में निर्वाण को परम सुख[३], सुत्तनिपात में प्रणीत एवं अमृत पद[४] कहा गया है, जिसे प्राप्त कर लेने पर न च्युति का भय होता है, न शोक होता है। उसे शान्त, संसारोपशम, एवं सुखपद भी कहा गया है।[५] इतिवुत्तक में कहा गया है कि वह ध्रुव, न उत्पन्न होने वाला, शोक और रागरहित है। सभी दुःखों का वहाँ निरोध हो जाता है। वह संस्कारों की शान्ति एवं सुख है।[६] आचार्य बुद्धघोष निर्वाण की भावात्मकता का समर्थन करते हुए विशुद्धिमार्ग में लिखते हैं—"निर्वाण नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। भव और जरामरण के अभाव से वह नित्य है, अशिथिल-पराक्रम-सिद्ध, विशेषज्ञान से प्राप्त किये जाने से और सर्वज्ञ के वचन तथा परमार्थ से निर्वाण विद्यमान है।"[७]

निर्वाण अभावात्मक तथ्य—

निर्वाण की अभावात्मकता के सम्बन्ध में उदान में निम्न बुद्ध-वचन हैं—"लोहे के घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियाँ उठती हैं वे तुरन्त ही बुझ जाती हैं, कहाँ गई कुछ पता नहीं चलता। इसी प्रकार काम-बन्धन से मुक्त हो निर्वाण प्राप्त पुरुष की गति का कोई भी पता नहीं लगा सकता।"[८]

> शरीर छोड़ दिया, संज्ञा निरुद्ध हो गई,
> सारी वेदनाओं को भी, बिलकुल जला दिया।
> संस्कार शान्त हो गए, विज्ञान अस्त हो गया॥[९]

१-२. उदान ८।३, इतिवुत्तक, २।२।६ ३. धम्मपद, २०३-२०४
४. सुत्तनिपात, १३।४ ५. धम्मपद, ३६८
६. इतिवुत्तक, २।२।६ ७. विसुद्धिमग्ग, भाग २, पृ० ११९-१२१
८. उदान, ८।१० ९. उदान, ८।९

लेकिन दीप-शिखा और अग्नि के बुझ जाने अथवा संज्ञा के निरुद्ध हो जाने का अर्थ अभाव नहीं माना जा सकता। आचार्य बुद्धघोष विशुद्धिमार्ग में कहते हैं कि निर्वाण का वास्तविक अर्थ तृष्णाक्षय अथवा विराग है।[१] प्रो० कीथ एवं प्रो० नलिनाक्षदत्त अग्गि-वच्छगोत्तसुत्त के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि बुझ जाने का अर्थ अभावात्मकता नहीं है, वरन् अस्तित्व की रहस्यमय एवं अवर्णनीय अवस्था है। प्रो० कीथ के अनुसार निर्वाण अभाव नहीं, वरन् चेतना का अपने मूल (वास्तविक शुद्ध) स्वरूप में अवस्थित होना है। प्रो० नलिनाक्षदत्त के शब्दों में निर्वाण की अग्नि-शिखा के बुझ जाने से की जानेवाली तुलना समुचित है, क्योंकि भारतीय चिन्तन में आग के बुझ जाने से तात्पर्य उसके अनस्तित्व से न होकर उसका स्वाभाविक, शुद्ध, अदृश्य, अव्यक्त अवस्था में चला जाना है, जिसमें कि वह अपने दृश्य-प्रकटन के पूर्व थी। बौद्ध दार्शनिक संघ-भद्र का भी यही निरूपण है कि अग्नि की उपमा से हमको यह कहने का अधिकार नहीं है कि निर्वाण अभाव है।[२] मिलिन्दप्रश्न के अनुसार भी निर्वाणधातु अस्ति-धर्म (अत्थिधम्म), एकान्त सुख एवं अप्रतिभाग है। उसका लक्षण स्वरूपतः नहीं बताया जा सकता, किन्तु गुणतः दृष्टान्त के रूप में कहा जा सकता है कि जैसे जल प्यास शान्त करता है, वैसे ही निर्वाण तृष्णा को शान्त करता है। निर्वाण को अकृत कहने से भी उसकी एकान्त अभावात्मकता सिद्ध नहीं होती। आर्य (साधक) निर्वाण का उत्पाद नहीं करता, फिर भी वह उसका साक्षात्कार (साक्षीकरोति) एवं प्रतिलाभ (प्राप्नोति) करता है। वस्तुतः निर्वाण को अभावात्मक इसीलिए कहा जाता है कि अनिवर्चनीय का निर्वचन करने में भावात्मक भाषा की अपेक्षा अभावात्मक भाषा अधिक युक्तिपूर्ण होती है।

निर्वाण की अनिर्वचनीयता

इस सम्बन्ध में निम्न बुद्ध-वचन उपलब्ध हैं—"भिक्षुओ! न तो मैं उसे अगति और न गति कहता हूँ, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ, उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता हूँ। वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है, यही दुःखों का अन्त है।[३] भिक्षुओ! अनन्त[४] का समझना कठिन है, निर्वाण का समझना आसान नहीं, जिस ज्ञानी की तृष्णा नष्ट हो जाती है उसे (रागादिक्लेश) कुछ नहीं है।"[५] उदान में निर्वाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि "जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु वहाँ नहीं ठहरती, वहाँ न तो शुक्र और न आदित्य प्रकाश करते हैं। वहाँ चन्द्रमा की प्रभा भी नहीं है, न वहाँ अंधकार ही होता है। जब क्षीणास्रव भिक्षु अपने आपको जान लेता है तब रूप-अरूप तथा सुख-दुःख से छूट जाता है।"[६] उदान का यह वचन

---

१. विसुद्धिमग्ग, १६।६४ २. उद्धृत-बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २९४ ३. उदान, ८।१
४. यहाँ पाठान्तर है ५. उदान, ८।३ ६. वही, १।१०

हमें गीता के उस कथन की याद दिला देता है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं "जहाँ न पवन बहता है, न चन्द्र, सूर्य प्रकाशित होते हैं। जहाँ जाने पर पुनः इस संसार में आया नहीं जाता। वहीं मेरा (आत्मा का) परमधाम (स्वस्थान) है।"[1]

बौद्ध-निर्वाण की यह विशद विवेचना हमें इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि प्रारम्भिक बौद्ध-दर्शन का निर्वाण अभावात्मक तथ्य नहीं था। इसके लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

१. निर्वाण यदि अभाव मात्र होता तो वह तृतीय आर्य-सत्य कैसे होता ? क्योंकि अभाव आर्यचित्त का आलम्बन नहीं हो सकता।

२. यदि तृतीय आर्य-सत्य का विषय द्रव्य सत्य नहीं है तो उसके उपदेश का क्या मूल्य होगा ?

३. यदि निर्वाण मात्र अभाव है तो उच्छेददृष्टि सम्यग्दृष्टि होगी। लेकिन बुद्ध ने तो सदैव ही उच्छेददृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहा है।

४. महायान की धर्मकाय की अवधारणा और उसकी निर्वाण से एकरूपता तथा विज्ञानवाद के आलयविज्ञान की अवधारणा निर्वाण को अभावात्मक व्याख्या के विपरीत पड़ती हैं। अतः निर्वाण का तात्त्विक स्वरूप 'अभाव' सिद्ध नहीं होता। उसे अभाव या निरोध कहने का तात्पर्य यही है कि उसमें वासना या तृष्णा का अभाव है। लेकिन जिस प्रकार रोग का अभाव अभाव मात्र है, फिर भी सद्भूत है, उसे आरोग्य कहते हैं। उसी प्रकार तृष्णा का अभाव भी सद्भूत है, उसे सुख कहा जाता है। दूसरे, उसे अभाव इसलिए भी कहा जाता है कि साधक में शाश्वतवाद की मिथ्यादृष्टि भी उत्पन्न न हो। राग का प्रहाण होने से निर्वाण में मैं (अत्त) और मेरापन (अत्ता) नहीं होता। इसी से उसे अभाव कहा जाता है। निर्वाण राग का, अहं का पूर्ण विगलन है, लेकिन अहं या ममत्व की समाप्ति को अभाव नहीं कह सकते। निर्वाण की अभावात्मक कल्पना 'अनत्त' का गलत अर्थ समझने से उत्पन्न हुई है। बौद्धदर्शन में अनात्म (अनत्त) शब्द आत्म (तत्त्व) का अभाव नहीं बताता, वरन् यह बताता है कि जगत् में अपना या मेरा कोई नही है। अनात्म का उपदेश आसक्ति के प्रहाण के लिए, तृष्णा के क्षय के लिए है।[2] निर्वाण तत्त्व का अभाव नहीं, वरन् अपनेपन या अहं का अभाव है। अनत्त (अनात्म) वाद की पूर्णता यह बताने में है कि जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मेरा या अपना कहा जा सके। सभी अनात्म हैं, इस शिक्षा का सच्चा अर्थ यही है कि मेरा कुछ भी नहीं है। क्योंकि जहाँ मेरापन (आत्मभाव) आता है—वहाँ राग एवं तृष्णा का उदय होता है। 'स्व' की 'पर' में अवस्थिति होती है। आत्मदृष्टि (ममत्व) उत्पन्न

१. गीता, १५।६ २. शास्त्रवार्तासमुच्चय, ४६४-४६५

होती है। लेकिन यही आत्म-दृष्टि, 'स्व' का 'पर' में अवस्थित होना, रागभाव एवं तृष्णा की वृत्ति बन्धन है। जो तृष्णा है, वही राग है और जो राग है, वही अपनापन है। निर्वाण में तृष्णा का क्षय होने से राग नहीं होता, राग नहीं होने से अपनापन (अत्ता) भी नहीं होता। बौद्ध-निर्वाण की अभावात्मकता का सही अर्थ इस अपनेपन का अभाव है, तत्त्व का अभाव नहीं है। वस्तुतः तत्त्व-लक्षण की दृष्टि से निर्वाण भावात्मक अवस्था है। वासनात्मक पर्यायों के अभाव के कारण ही वह अभाव कहा जाता है। अतः प्रो० कीथ और नलिनाक्षदत्त की यह मान्यता कि बौद्ध-निर्वाण अभाव नहीं है, बौद्ध विचारणा की मूल विचार दृष्टि के निकट ही है। यद्यपि बौद्ध-निर्वाण भावात्मक है, तथापि भावात्मक भाषा उसका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि भाव किसी पक्ष को बताता है और पक्ष के लिए प्रतिपक्ष अनिवार्य है, जबकि निर्वाण तो पक्षातिक्रांत है। निषेधमूलक कथन की यह विशेषता होती है कि उसके लिए प्रतिपक्ष आवश्यक नहीं। अतः अनिर्वचनीय का निर्वचन करने में निषेधात्मक भाषा का प्रयोग ही अधिक समीचीन है। इस निषेधात्मक विवेचनाशैली ने निर्वाण की अभावात्मक कल्पना को अधिक प्रबल बनाया है। वस्तुतः तो निर्वाण अनिर्वचनीय है।

§ ११. **गीता में मोक्ष का स्वरूप**—गीता में भी नैतिक साधना का लक्ष्य है परमतत्त्व, ब्रह्म, अक्षरपुरुष अथवा पुरुषोत्तम की प्राप्ति। गीताकार प्रसंगान्तर से उसे ही मोक्ष, निर्वाणपद, अव्यय-पद, परमपद, परमगति और परमधाम कहता है। जैन एवं बौद्ध विचारणा के समान गीताकार की दृष्टि में भी संसार पुनरागमन या जन्म-मरण की प्रक्रिया से युक्त है, जबकि मोक्ष पुनरागमन या जन्म-मरण का अभाव है। गीता का साधक यही प्रेरणा लेकर आगे बढ़ता है (जरामरणमोक्षाय ७.२९) और कहता है "जिसको प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार मे नहीं लौटना होता है, उस परम पद की गवेषणा करना चाहिए।"[१] गीता का ईश्वर भी साधक को आश्वस्त करते हुए यही कहता है कि "जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में आना नहीं होता, वही मेरा परमधाम (स्वस्थान) है। परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा जन मेरे को प्राप्त होकर, दुःखों के घर, इस अस्थिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त समग्र जगत् पुनरावृत्ति-युक्त है। लेकिन जो भी मुझे प्राप्त कर लेता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।"[२] मोक्ष के अनावृत्तिरूप लक्षण को बताने के साथ ही मोक्ष के स्वरूप का निर्वचन करते हुए गीता कहती है, "इस अव्यक्त से भी परे अन्य सनातन अव्यक्त तत्त्व है जो सभी प्राणियों में रहते हुए भी उनके नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता है अर्थात् चेतना-पर्यायों में जो अव्यक्त है उनसे भी परे उनका आधारभूत आत्मतत्त्व है। चेतना की अवस्थाएँ नश्वर हैं, लेकिन उनसे परे रहनेवाला यह

१. गीता, १५।४   २. वही ८।१५-२०, १५।६

आत्मतत्त्व सनातन है जो प्राणियों में चेतना (ज्ञान पर्यायों) के रूप में प्रकट होते हुए भी उन प्राणियों तथा उनकी चेतना-पर्यायों (चेतन अवस्थाओं) के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। उसी आत्मा को अक्षर और अव्यक्त कहा गया है और उसे ही परमगति भी कहते हैं, वही परमधाम भी है, वही मेरा परमात्मस्वरूप या आत्मा का निजस्थान है, जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः निवर्तन नहीं होता।"[१] "उसे अक्षर, ब्रह्म, परमतत्त्व, स्वभाव (आत्मा की स्वभावदशा) और अध्यात्म भी कहा जाता है (८।३)।" गीता की दृष्टि मे मोक्ष निर्वाण है, परमशान्ति का अधिस्थान है।[२] जैन दर्शन की भाँति गीता भी यह स्वीकार करती है कि मोक्ष सुखावस्था है। गीता के अनुसार "मुक्तात्मा ब्रह्मभूत होकर अत्यन्त सुख (अनन्तसौख्य) का अनुभव करता है।"[३] यद्यपि गीता एवं जैन दर्शन में "मुक्तात्मा में जिस सुख की कल्पना की गयी है, वह न ऐन्द्रिय-सुख है, न वह मात्र दुःखाभावरूप सुख है, वरन् वह अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य अनश्वर सुख है।[४]"

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्यतया भारतीय दर्शन में मोक्ष या निर्वाण का प्रत्यय नैतिक जीवन का साध्य रहा है और नैतिक साध्य सम्बन्धी अनेक पहलुओं पर प्रकाश डालता है। राग और द्वेष के प्रहाण के रूप में वह पूर्ण चैत्तसिक समत्व की अवस्था है। इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्वों का उसमें पूर्ण अभाव होने से वह परम शान्ति है। तृष्णा और वेदनाजन्य दुःखों का पूर्ण अभाव होने से वह परम आनन्द है। जन्ममरण के चक्र से मुक्ति के रूप में वह अमृतपद है। मोह या अज्ञान की पूर्ण निवृत्ति के रूप में वह निरपेक्ष ज्ञान की अवस्था है। चेतना की ज्ञानात्मक, भावात्मक और-संकल्पात्मक शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति एवं उनके पूर्ण सामञ्जस्य के रूप में वह आत्मपूर्णता एवं आत्मसाक्षात्कार है। इस प्रकार पाश्चात्य आचार दर्शनों में नैतिक साध्य के रूप में जिन विभिन्न तथ्यों की चर्चा की गयी है, वे सभी समवेत रूप में मोक्ष की भारतीय-धारणा में उपस्थित हैं।

§ १२. साध्य, साधक और साधना-पथ का पारस्परिक सम्बन्ध

साध्य और साधक

जैन आचार-दर्शन में साध्य (मोक्ष) और साधक में अभेद ही माना गया है। समयसारटीका में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं कि पर द्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है।[५] आचार्य हेमचन्द्र साध्य और साधक में अभेद

१. गीता, ८।२०-२१
२. वही, ६।१५
३. वही, ६।२८
४. वही, ६।२१
५. समयसार टीका, ३०५ तुलनीय योगसूत्र, १।३

बताते हुए लिखते हैं कि कषायों और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और उनको विजित करनेवाला आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मोक्ष कहा जाता है।[1] मुनि न्यायविजय जी लिखते हैं कि "आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है। जहाँ तक आत्मा कषाय और इन्द्रियोंके वशीभूत है, संसार है और उनको ही जब अपने वशीभूत कर लेता है, मोक्ष कहा जाता है।"[2] इस प्रकार नैतिक साध्य और साधक दोनों ही आत्मा हैं। दोनों में मौलिक अन्तर यही है कि आत्मा जब तक विषयों और कषायों के वशीभूत रहता है, तब तक साधक होता है और जब उन पर विजय पा लेता है तब वही साध्य बन जाता है। आत्मा की वासनाओं के मल से युक्त अवस्था ही उसका बन्धन कही जाती है और विशुद्ध आत्म-तत्त्व की अवस्था ही मुक्ति कही जाती है।

जैन आचार-दर्शन में साध्य और साधक दोनों में अन्तर इस बात को लेकर है कि आत्मा की अपूर्ण अवस्था ही साधक अवस्था है और आत्मा की पूर्ण अवस्था ही साध्य है। जैन नैतिक-साधना का लक्ष्य अथवा आदर्श कोई बाह्य तत्त्व नहीं, वह तो साधक का अपना ही स्वरूप है। उसकी ही अपनी पूर्णता की अवस्था है। साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं, वरन् उसके अन्दर ही है। साधक को उसे पाना भी नहीं है, क्योंकि पाया तो वह जाता है जो व्यक्ति के भीतर नहीं हो अथवा अपने से बाह्य हो। नैतिक साध्य बाह्य उपलब्धि नहीं, आन्तरिक उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में वह निज गुणों का पूर्ण प्रकटन है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा के निज गुण या स्व लक्षण तो सदैव ही उसमें उपस्थित हैं। साधक को केवल उन्हें प्रकट करना है। हमारी मूलभूत क्षमताएँ साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में वही हैं। साधक और सिद्ध अवस्था में अन्तर क्षमताओं का नहीं, वरन् क्षमताओं को योग्यताओं में बदल देने का है। जैसे बीज वृक्ष के रूप में प्रकट होता है, वैसे ही आत्मा के निज गुण पूर्णरूप में प्रकट हो जाते हैं। साधक आत्मा के ज्ञान, भाव (अनुभूति), और संकल्प के तत्त्व ही मोक्ष की अवस्था में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसौख्य और अनन्तशक्ति के रूप में प्रकट हो जाते हैं। वह आत्मा जो कषाय और योग से युक्त है और इस कारण बद्ध, सीमित और अपूर्ण है, साधक है और वही आत्मा अपने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसौख्य और अनन्तशक्ति के रूप में साध्य है। उपाध्याय अमरमुनिजी कहते हैं कि जैन साधना स्व में स्व को उपलब्ध करना है, निज में जिनत्व की शोध करना है, अन्तस् में पूर्णरूपेण रममाण होना है, आत्मा के बाहर एक कण में भी साधना की उन्मुखता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-विचारणा तात्त्विक दृष्टि से साध्य

१. योगशास्त्र, ४।५ २. अध्यात्मतत्त्वालोक, ४।६

और साधक में अभेद ही मानती है। द्रव्यार्थिकदृष्टि से साध्य और साधक दोनों एक ही हैं, यद्यपि पर्यायार्थिक दृष्टि या व्यवहारनय से उनमें भेद है। आत्मा की स्वभाव दशा साध्य है और आत्मा की विभावपर्याय ही साधक है। विभाव से स्वभाव की ओर गति ही साधना है।

गीता का दृष्टिकोण—

गीता में भी साध्य और साधक में अभेद माना गया है। गीता के अनुसार साधक जीवात्मा और साध्य परमात्मा दोनों में अभेद ही सिद्ध होता है, यद्यपि गीता के कुछ टीकाकार भिन्न मत भी रखते हैं। गीता के अनुसार नैतिक आदर्श या परम साध्य परमात्मा की उपलब्धि ही है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही अव्यय मोक्ष का, शाश्वत धर्म का और अनन्त सुख का मूल स्थान हूँ।[1] दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि 'यह जीवात्मा—जो कि साधक है, मेरा ही सनातन अंश है।'[2] इस प्रकार गीता के अनुसार अंश के रूप में जीवात्मा साधक है और अंशी के रूप में परमात्मा साध्य है। क्योंकि अंश और अंशी में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं होता, इसलिए साधक जीवात्मा और साध्य परमात्मा में भी कोई भेद नहीं है। उनमें भेद मानना केवल व्यावहारिक बात है।

साधना-पथ और साध्य—जिस प्रकार साधक और साध्य में अभेद माना गया है, उसी प्रकार साधना-मार्ग और साध्य में भी अभेद है। जीवात्मा अपने ज्ञान, अनुभूति और संकल्प के रूप में साधक कहा जाता है। उसके यही ज्ञान, अनुभूति और संकल्प सम्यक् दिशा में नियोजित होने पर साधना-पथ बन जाते हैं। यही जब अपनी पूर्णता को प्रकट कर लेते हैं तो साध्य बन जाते हैं। जैन आचार-दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप यह साधना-पथ है और जब ये सम्यक् चतुष्टय अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसौख्य और अनन्तशक्ति को उपलब्ध कर लेते हैं तो वही अवस्था साध्य बन जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो साधक चेतना का स्वरूप है वही सम्यक् बनकर साधनापथ बन जाता है और वही पूर्ण के रूप में साध्य होता है। साधनापथ और साध्य दोनों ही आत्मा की अवस्थाएँ हैं। आत्मा की सम्यक् अवस्था साधना-पथ है और पूर्ण अवस्था साध्य है।

गीता के अनुसार भी साधना मार्ग के रूप में जिन सद्गुणों का विवेचन उपलब्ध है, उन्हें परमात्मा की ही विभूति माना गया है। यदि साधक आत्मा परमात्मा का

१. गीता. १४।२७ २. वही, १५।७।

अंश है और साधना-मार्ग परमात्मा की विभूति है और साध्य वही परमात्मा है तो फिर इनमें अभेद ही माना जायेगा। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अभेद तात्त्विक है, व्यावहारिक नहीं। व्यावहारिक जीवन में साध्य, साधक और साधना-पथ तीनों अलग-अलग हैं : क्योंकि यदि उनमें यह भेद स्वीकार नहीं किया जायेगा, तो नैतिक जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। आचार-दर्शन का कार्य यही है कि वह इस बात का निर्देश करे कि साधक आत्मा को साधना-मार्ग के माध्यम से सिद्धि की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

१५

नैतिकता, धर्म और ईश्वर

नैतिकता, धर्म और ईश्वर

धर्म और नैतिकता का सम्बन्ध—भारतीय चिन्तन में धर्म और नैतिकता के प्रत्यय साथ-साथ रहे हैं। किसी भी विभाजक रेखा के आधार पर वे अलग नहीं किये जा सकते। जो नैतिक शुभ है, वही धर्म है, और जो धर्म है वही नैतिक शुभ है। भारतीय चिन्तन में 'धर्म' शब्द नैतिक सद्गुण और कर्तव्य के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। जब हम यह कहते हैं कि यह धर्म है तो हमारा तात्पर्य नैतिक कर्तव्य की धारणा से होता है। धर्म शब्द का धर्म के अर्थ में और नैतिक कर्तव्य के अर्थ में होने वाला प्रयोग यह बताता है कि हमारी विचार-परम्परा में धर्म और नीति अलग-अलग न होकर, एक रहे हैं। भारतीय परम्परा का यह दृढ़ विश्वास है कि कोई भी धार्मिक होकर अनैतिक नहीं हो सकता और न कोई अनैतिक आचरण करने वाला धार्मिक हो सकता है। जैन-दर्शन के अनुसार धार्मिक होने के पूर्व नैतिक होना आवश्यक है। सम्यक्त्व की उपलब्धि नैतिक जीवन या वासनाओं के नियमन के द्वारा ही सम्भव है और जब कोई सच्चे अर्थों में धार्मिक (सम्यग्दृष्टि) बन जाता है तो वह अनैतिक भी नहीं रहता। जैन-परम्परा के समान बौद्ध और गीता की परम्परा में भी धर्म और नैतिकता के प्रत्यय साथ-साथ रहे हैं।

लेकिन पाश्चात्य परम्परा में धर्म और नैतिकता को अलग-अलग रूप में देखा गया है। पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में धर्म और नैतिकता के आधार भिन्न-भिन्न हैं। धर्म का सम्बन्ध भावना से है जबकि नैतिकता का सम्बन्ध कर्तव्य से। धर्म का आधार विश्वास या श्रद्धा है जबकि नैतिकता का आधार बौद्धिकता या विवेक है। धर्म का सम्बन्ध हमारे भावनात्मक पक्ष से है जबकि नैतिकता का सम्बन्ध संकल्पात्मक पक्ष से है। सेम्युअल अलेग्जेण्डर का कथन है कि "वास्तव में धार्मिक होना इससे अधिक कर्तव्य नहीं, यदि भूखा होना कोई कर्तव्य है[1]।" जिस प्रकार भूखा होने में कर्तव्यभाव नहीं है, वरन् मात्र एक सांवेगिक अवस्था है। उसी प्रकार धर्म भी कर्तव्य-भाव नहीं है, वरन् सांवेगिक अवस्था है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में धर्म और नैतिकता अलग-अलग हैं। विलियम जेम्स भी धर्म को नैतिकता से अलग मानते हैं और कहते हैं कि जब हम धर्म को उसके सही अर्थ में लेते हैं तो उसमें नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं होता। उनका कथन है कि "यदि हमें धर्म का कोई निश्चित अर्थ लेना है, तो हमें

१. उद्धृत—नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३८

उसे भाव के अतिरेक और उत्साहपूर्ण आलिंगन के अर्थ में लेना चाहिए, जहाँ कठोर अर्थों में तथाकथित नैतिकता केवल सिर झुका देती है और राह छोड़ देती है।[१]"

धर्म और नैतिकता के इस गठबन्धन को, जिसे भारतीय विचारकों ने स्वीकार कर लिया था, तोड़ देने पर नैतिक विचारणा की दृष्टि से अनेक वैचारिक कठिनाइयों की उद्भावना सम्भव थी। अतः अनेक विचारकों ने इस सम्बन्ध को बनाये रखा। यद्यपि इस बात को लेकर विचारकों में मतभेद रहा कि धर्म और नैतिकता में कौन प्राथमिक है। देकार्त, लाक प्रभृति विचारक ईश्वरीय आदेश से नैतिक नियमों की उत्पत्ति मानने के कारण धर्म को नैतिकता से पहले मानते हैं। उधर कांट, मैथ्यू आर्नल्ड, मार्टिन आदि नैतिकता पर धर्म को अधिष्ठित करते हैं। कांट के अनुसार धर्म नैतिकता पर आधारित है और ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता के अस्तित्व के कारण है। ईश्वर नीतिशास्त्र की आधारभूत मान्यता है। मैथ्यू आर्नल्ड का कथन है कि "भावना से युक्त नैतिकता ही धर्म है।[२]"

धर्म और नैतिकता को अलग-अलग मानकर उनके सम्बन्धों की व्याख्या करना अपने में असंगत है। ज्ञान और श्रद्धा जिनके आधार पर इन्हें अलग-अलग किया जाता है, निरपेक्ष रूप में अलग-अलग नहीं हैं। गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म, बौद्ध-दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा तथा जैन-दर्शन में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र को निरपेक्षरूपेण भिन्न-भिन्न नहीं माना गया है। भारतीय चिन्तन की इस सही दिशा के समान पश्चिम में भी ब्रेडले और प्रिंगल पेटीसन आदि कुछ विचारकों ने सोचने का प्रयास किया है। ब्रेडले का कथन है कि नैतिकता से परे जाना नैतिक कर्तव्य है और वह कर्तव्य है धार्मिक होना। यहाँ पूर्व और पश्चिम के नैतिक चिन्तन में धर्म और नैतिकता की एकरूपता या विभिन्नता का यह विचार-भेद समाप्त हो जाता है।

ब्रेडले नैतिकता और धर्म के लिए दो अलग शब्दों का प्रयोग करते हैं। जब वे कहते हैं कि नैतिकता धर्म में समाप्त हो जाती है, तो उनका अर्थ नैतिकता के अस्तित्व का निषेध नहीं है। धर्म न तो नैतिकता-विहीन है, न नैतिकता धर्म-विहीन है। नैतिकता और धर्म आत्मपूर्णता दिशा में दो अवस्थाएँ हैं। नैतिक पूर्णता का आदर्श वास्तविक नहीं होता वरन् वह पूर्णता की दिशा में मात्र प्रक्रिया है, जबकि धार्मिक आदर्श वास्तविक पूर्ण होता है।[३] ब्रेडले के अनुसार यह असम्भव है कि एक व्यक्ति धार्मिक होते हुए भी अनैतिक आचरण करे। ऐसी स्थिति में या तो वह धर्म का ढोंग कर रहा है अथवा उसका धर्म ही मिथ्या है।[४] ब्रेडले शुभाशुभ की सीमारेखा तक नैतिकता का क्षेत्र

---

१. वेराइटीज आफ रिलीजियस एक्सपीरियंसेज; उद्धृत—नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३९ २. उद्धृत—नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३८

३. एथिकल स्टडीज, पृ० ३१४, ३१९ ४. वही, पृ० ३१४

मानते हैं और उसके आगे धर्म का। उनकी मान्यता के अनुसार धर्म के क्षेत्र में शुभाशुभ का विचार समाप्त हो जाता है। भारतीय चिन्तन यद्यपि नैतिकता और धर्म के बीच ऐसी कोई सीमारेखा नहीं खींचता। फिर भी वह यह स्वीकार करता है कि व्यक्ति का अंतिम साध्य शुभाशुभ की सीमारेखा से ऊपर उठने में है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन भी स्वीकार करते हैं कि मनुष्य का परमसाध्य शुभाशुभ से ऊपर उठने में है। इस प्रकार ब्रेडले के उपर्युक्त चिन्तन से भारतीय विचार अधिक दूर नहीं है। फिर भी पाश्चात्य परम्परा में ऐसे अनेक चिन्तक हैं, जो यह मानते हैं कि बिना धार्मिक हुए भी कोई व्यक्ति सदाचारी हो सकता है। सदाचारी जीवन के लिए धार्मिकता अनिवार्य नहीं है। साम्यवादी देशों मे इसी धर्म-विहीन नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाता है। यदि धर्म का अर्थ किसी वैयक्तिक ईश्वर के प्रति आस्था या पूजा-उपचार के कुछ क्रियाकांडों तक सीमित है तब तो यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति अधार्मिक होकर भी नैतिक हो सकता है। लेकिन धर्म का सम्बन्ध सिद्धान्त या आदर्श के प्रति निष्ठा या श्रद्धा से है, तो उसके अभाव में कोई भी व्यक्ति सच्चा नैतिक नहीं हो सकता। श्रद्धा या निष्ठा के अभाव में नैतिक जीवन उस भवन के समान होगा, जिसकी नींव नहीं है। जिस प्रकार बिना नींव का भवन कब धाराशायी हो जायेगा, यह नही कहा जा सकता उसी प्रकार श्रद्धा या निष्ठा-विहीन नैतिक जीवन में पतन की सम्भावनाएँ सदैव बनी रहती हैं। धर्म जिसका पर्याय श्रद्धा या निष्ठा है, नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। धर्म नैतिकता की आत्मा है और नैतिकता धर्म का शरीर है। एक-दूसरे के अभाव में दोनों नहीं टिकते।

आचरण के लिए निष्ठा और निष्ठा के लिए आचरण आवश्यक है। जो लोग सदाचरण और नैतिक जीवन के लिए धर्म को अनावश्यक मानते हैं उनकी दृष्टि में धर्म पूजा-उपासना के विधिविधानों से अधिक नहीं है। लेकिन धर्म के केन्द्रीय तत्त्व निष्ठा और सहानुभूति तो उन्हें भी मान्य हैं। स्वयं साम्यवादी विचारक जो धर्म को अफीम की गोली कहने का साहस करते हैं, वे भी साम्यवाद के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान् होना आवश्यक मानते हैं। निष्ठा चाहे किसी सिद्धान्त या आदर्श के प्रति हो, चाहे राष्ट्र या राष्ट्रनेता के प्रति हो, चाहे मानवता के प्रति हो, चाहे अति-मानवीय सत्ता के प्रति हो, नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। निष्ठा के होने पर ही सदाचरण सम्भव है। भूमि में पानी है यह विश्वास ही किसी को कुआ खोदने के लिए प्रयत्नशील बनाता है। उच्च मानवीय मूल्यों या आध्यात्मिक मूल्यों पर निष्ठा रखे बिना नैतिक जीवन सम्भव ही नहीं हो सकता। निष्ठा या श्रद्धा ही नैतिक जीवन का प्रेरक सूत्र है और वही नैतिकता के लिए ठोस और स्थायी आधार प्रस्तुत करती है। नैतिक जीवन का प्रारम्भ और अन्त दोनों ही धर्म में होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म और नैतिक जीवन सहगामी रहे हैं। भारतीय चिन्तकों ने जो साधना-मार्ग बताये हैं, उनमें श्रद्धा और आचरण दोनों का ही समान मूल्य है। श्रद्धा जो धर्म का केन्द्रीय तत्त्व है और आचरण जो नैतिकता का केन्द्रीय तत्त्व है, दोनों मिलकर ही जीवन के विकास को सही दिशा में गति देते हैं। यद्यपि हमें यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रद्धा का अर्थ अन्धश्रद्धा नहीं है। धर्म के रूप में जिस निष्ठा और श्रद्धा को आवश्यक माना गया है, वह वस्तुतः उच्च एवं आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति निष्ठा ही है जो पूरी तरह विवेक या प्रज्ञा से समन्वित है। श्रद्धा और कर्म या धर्म और नैतिकता के मध्य स्थित ज्ञान, विवेक या प्रज्ञा का तत्त्व न केवल दोनों को जोड़ता है वरन् उन्हें गलत दिशाओं में जाने से बचाता भी है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन की कुछ प्रबुद्ध विचारणाओं में धर्म केवल अन्धविश्वास के रूप में विकसित नहीं हुआ है। धर्म के लिए श्रद्धा आवश्यक है, लेकिन वह श्रद्धा, विवेक और कर्म से समन्वित ही होना चाहिए और सम्भवतः जैन और बौद्ध विचारणाओं ने इस दृष्टिकोण को विकसित ही किया है।

श्रद्धा या निष्ठा मानव-जीवन या मानवीय चेतना का एक भावात्मक पक्ष है और उसके समुचित विकास एवं पूर्णता के लिए धर्म आवश्यक है। न कोई ऐसा युग रहा और न आगे रहेगा जिसमें धर्म का स्थान न हो। जबतक मानव-जीवन में भावात्मक पक्ष उपस्थित है, तबतक धर्म एक अनिवार्य तत्त्व है। यह सम्भव है कि तथाकथित धर्मों के नाम पर मानव की इस भावात्मक चेतना को उभाड़ा गया हो और उसका गलत दिशा में निर्देश भी हुआ हो। यही कारण है कि वर्तमान युग में धर्म के प्रति तीव्र विरोध परिलक्षित होता है, लेकिन इस विरोध के परिणामस्वरूप भी कोई नया दिशा-निर्देश नहीं हो पाया है। पुराने धर्मों के स्थान पर आज ये राजनैतिक धर्म खड़े हो रहे हैं। राष्ट्रवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद आदि के नाम पर खड़े होने वाले ये नए धर्म मानवीय चेतना के उस भावात्मक पक्ष का शोषण और गलत दिशा-निर्देश आज भी कर रहे हैं। इतना ही नहीं, वर्तमान युग की यह स्थिति उससे भी अधिक दारुण और मानव जाति के लिए विनाशकारक है। आवश्यकता यह है कि मानव की निष्ठा किन्हीं ऐसे उच्च आध्यात्मिक मूल्यों पर केन्द्रित की जाये जिससे वह अपनी क्षुद्रताओं, संकुचित विचार-दृष्टियों और स्वार्थमय जीवन से ऊपर उठकर मानव-जाति के कल्याण की साधक बन सके।

धर्म और ईश्वर—धर्म का प्रत्यय ईश्वर की धारणा से सम्बन्धित है। मानवीय श्रद्धा का कोई केन्द्र होना आवश्यक है और श्रद्धा के केन्द्र के रूप में ईश्वर का विचार सामने आया है। यद्यपि सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में ईश्वर का प्रत्यय स्वीकृत रहा है, तथापि उसके स्वरूप में सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों में अलग-अलग दृष्टिकोण हैं।

यहाँ उन सभी की चर्चा में उतरना संभव नहीं है। हम अपनी इस विवेचना में ईश्वर के सम्बन्ध में केवल उन्हीं दृष्टिकोणों से विचार करेंगे जोकि नैतिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में नैतिक दृष्टिकोण से विचार करने पर हमारे सामने दो प्रश्न आते हैं—

१. ईश्वर कर्म नियम के व्यवस्थापक के रूप में।

२ ईश्वर नैतिक साध्य के रूप में।

कर्म-सिद्धान्त और ईश्वर—नैतिक जीवन के लिए कर्म-सिद्धान्त में आस्था आवश्यक है। लगभग सभी धार्मिक परम्पराएँ नैतिक शुभाशुभ कृत्यों के प्रतिफल में विश्वास प्रकट कर कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार करती है, लेकिन उसमें से कुछ कर्मों में स्वतः अपने फल देने की क्षमता का अभाव मानती हैं, जबकि दूसरी कर्मों में फल देने की स्वतः क्षमता को स्वीकार करती हैं। भारतीय-दर्शनों में सांख्य, योग, जैन, बौद्ध और मीमांसक कर्मों को फल देने में स्वतः सक्षम मानते हैं जबकि न्याय, वैशेषिक और वेदान्त कर्मों में स्वतः फल देने की क्षमता का अभाव मानकर ईश्वर को फल प्रदाता स्वीकार करते हैं। जैन, बौद्ध, सांख्य और मीमांसा दर्शनों में किसी वैयक्तिक ईश्वर का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया गया है। योग दर्शन में ईश्वर का अस्तित्व तो मान्य है, लेकिन वह केवल उपासना का विषय एवं श्रद्धा का केन्द्र है। कर्म नियम का व्यवस्थापक या शुभाशुभ कर्मों का फलप्रदाता नहीं है। ब्रह्मसूत्र पर आधारित वेदान्त-दर्शन में 'ईश्वर को शुभाशुभ कर्मों का फल प्रदाता स्वीकार किया गया है[1]।' फिर भी शांकर दर्शन की तत्त्व विवेचना में पारमार्थिक दृष्टि से यह धारणा अत्यन्त निर्बल पड़ जाती है। उसमें फलप्रदाता ईश्वर और उसकी व्यवस्था की व्यावहारिक सत्ता मात्र शेष रहती है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को कर्म-नियम का व्यवस्थापक एवं कर्म-फल का प्रदाता स्वीकार किया गया है।

बौद्ध-दर्शन एवं पूर्वमीमांसा-दर्शन में कर्म को चेतन और स्वयं फल देने की क्षमता से युक्त माना गया है। सांख्य, योग एवं जैन दर्शन कर्म को जड़ मानते हैं। जड़ कर्म अपना स्वतः फल कैसे दे सकते हैं, इस समस्या के प्रति न्याय-वैशेषिक दर्शन में निम्न आक्षेप प्रस्तुत किए गए हैं—

१. जड़कर्म अचेतन होने के कारण स्वतः फल प्रदान नहीं कर सकते, क्योंकि फल प्रदान की क्रिया चेतन की प्रेरणा के बिना नहीं हो सकती।

२. कर्म का कर्ता जो चैतन्य है, वह भी फलप्रदाता नहीं माना जा सकता, क्योंकि कर्ता कभी भी स्वेच्छा से अशुभ कर्मों का फल प्राप्त करना नहीं चाहता। अतः फल प्रदाता ईश्वर को मानना आवश्यक है।

१. ब्रह्मसूत्र, ३।२।२८

जैन दर्शन का समाधान—जैन विचारकों ने इन आक्षेपों के प्रत्युत्तर में कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार भांग, शराब आदि नशीली जड़ वस्तुएँ उपभोग के पश्चात् एक निश्चित समय पर स्वतः अपने प्रभाव से चैतन्य को बिना उसकी इच्छा की अपेक्षा किए, प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार जड़ कर्म भी स्वतः ही अपना फल प्रदान करते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र भाई लिखते हैं[1]—

> झेर सुधासमजे नहीं, जीव खाय फल थाय।
> एम शुभाशुभ कर्म नो, भोक्तापणुं जणाय।।

अर्थात् जैसे विष खाने वाला उसके प्रभाव से बच नहीं सकता, वैसे ही कर्मों का कर्त्ता भी उनके प्रभाव से नहीं बच सकता।

गीता का दृष्टिकोण—गीता में फल-प्रदाता के रूप में तो नहीं, लेकिन कर्म नियम के व्यवस्थापक अथवा कर्मों के फल का निश्चय करने वाले के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया गया है। गीता में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि "मैं जिसका निश्चय कर दिया करता हूँ वह इच्छित फल मनुष्य को मिलता है[2]।" यह माना जा सकता है कि कर्मों में स्वतः फल देने की क्षमता गीताकार को स्वीकार है। इस सम्बन्ध में गीता के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं कि कर्म का चक्र जब एक बार आरम्भ हो जाता है तब उसे ईश्वर भी नहीं रोक सकता। कर्मफल निश्चित कर देने का काम यद्यपि ईश्वर का है, तथापि वेदान्त-शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि वे फल हर एक के खरे-खोटे कर्मों की अर्थात् कर्म अकर्म की योग्यता के अनुसार दिये जाते हैं। इसलिए परमेश्वर इस सम्बन्ध में वस्तुतः उदासीन ही है—"कर्म के भावी परिणाम या फल केवल कर्म के नियमों से ही उत्पन्न हुआ करते हैं[3]।"

इन शब्दों का गहन विश्लेषण हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि गीताकार की दृष्टि में कर्म स्वतः अपना फल देने की सामर्थ्य से युक्त है, गीता के अनुसार ईश्वर ने तो केवल यह निश्चय कर दिया है कि किस कर्म का क्या फल होगा। दूसरे शब्दों में ईश्वर मात्र कर्म-नियम का निर्माता है, कर्मफल प्रदाता नहीं; लेकिन तार्किक दृष्टि से देखें तो यह धारणा भी अधिक सबल नहीं, क्योंकि जो कर्मफल-निश्चय का कार्य गीताकार ईश्वर से कराता है वह कर्मफल-निश्चय का कार्य कर्मों की प्रकृति (स्वभाव) स्वतः भी कर सकती है। यह कहने की अपेक्षा कि ईश्वर ने शुभ का प्रतिफल शुभ और और अशुभ का प्रतिफल अशुभ निश्चित किया है, यह कहना अधिक उचित है कि स्वभावतः शुभ से शुभ और अशुभ से अशुभ की निष्पत्ति होती है। गीताकार स्वयं एक स्थान पर स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि "कर्म और उनके प्रतिफल के संयोग

---

१. आत्मसिद्धिशास्त्र, ८३ २. गीता, ७।२२ ३. गीतारहस्य, पृ० २६९

का कर्ता ईश्वर नहीं है, वरन् वह तो (कर्मों के) स्वभाव या प्रकृति से होता रहता है।"[1]

फिर भी गीता में कुछ स्थल ऐसे हैं जो इस प्रश्न पर अधिक विवेचन की अपेक्षा करते हैं। कर्मवाद के सिद्धान्त में कर्म को जो सर्वोच्च स्थान दिया गया है, उससे गीता का स्पष्ट विरोध है। गीता में ईश्वर का स्थान कर्म-नियम के ऊपर है। गीता में कर्म-सिद्धान्त की वह कठोरता नहीं है, जो जैन-विचार में है। गीता का कर्म-नियम उसके कारुणिक ईश्वर के इस उद्‌घोष से कि 'मैं तुझे सर्व पापों से मुक्त कर दूँगा' शिथिल हो जाता है। ईश्वरीय कृपा की अपेक्षा और उसमें विश्वास कर्म-सिद्धान्त की व्यवस्था को चुनौती है। ईश्वर को कर्म-नियम से ऊपर मान लेने से कर्म-सिद्धान्त खंडित हो जाता है।

यदि कर्म-नियम के बिना ईश्वर मात्र अपनी स्वच्छन्द इच्छा से किसी को मूर्ख और किसी को विद्वान्, किसी को राजा और किसी को रंक, किसी को संपन्न और किसी को विपन्न बनाये तो उसे न्यायी नहीं कहा जा सकता। लेकिन ईश्वर कभी भी अन्यायी नहीं हो सकता। यही कारण हैं कि जो दर्शन ईश्वर को फल प्रदाता मानते हैं वे भी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर जीवों के कर्मानुसार ही उनके सुख-दुःख की व्यवस्था करता है। जैसे व्यक्ति के भले-बुरे कर्म होते हैं उसके अनुसार ही ईश्वर उन्हें प्रतिफल देता है। ईश्वरीय व्यवस्था पूरी तरह कर्म-नियम से नियन्त्रित है। ईश्वर अपनी इच्छा से उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता लेकिन यह सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर का उपहास है। वह एक ऐसा व्यवस्थापक है जिसको पद तो दिया गया है, लेकिन अधिकार कुछ भी नहीं। अमरमुनि जी के शब्दों में निश्चय ही यह सर्वशक्तिमान् ईश्वर के साथ खिलवाड़ है। एक तरफ उसे सर्वशक्तिमान् मानना और दूसरी ओर उसे स्वतंत्र होकर अणुमात्र भी परिवर्तन का अधिकार नहीं देना निश्चय ही ईश्वर की महती विडम्बना है।[2] यदि कारुणिक ईश्वर का कार्य कर्म-नियम से अनुशासित है तो फिर न तो ऐसे ईश्वर का कोई महत्त्व रहता है और न उसकी करुणा का कोई अर्थ। एक ओर ईश्वरीय व्यवस्था को कर्म-नियम के अधीन मानना और दूसरी ओर कर्म-व्यवस्था के लिए ईश्वर की आवश्यकता बताना, कर्म-नियम और ईश्वर दोनों का ही उपहास करना है। अच्छा तो यही है कि कर्मों में स्वयं ही अपना फल देने की शक्ति मान ली जाए, जिससे ईश्वर का ईश्वरत्व भी सुरक्षित रहे और कर्म-सिद्धान्त में कोई बाधा भी न आये।

जो विचारक कर्म-नियम के चालक के रूप में ईश्वर का स्थान स्वीकार करते हैं, वे भी भ्रांत धारणा में हैं। यदि ईश्वर कर्म-प्रवाह का चालक है तो कर्म-प्रवाह अनादि

१. गीता, ५।१४ २. समाज और संस्कृति, पृ० १८५

नहीं हो सकता। लेकिन तिलक स्वयं स्वीकार करते हैं कि "कर्म प्रवाह अनादि है और जब एक बार कर्म का चक्कर शुरू हो जाता है तब परमेश्वर भी उसमें हस्तक्षेप नहीं करता[1]।" तिलक एक ओर कर्म प्रवाह को अनादि मानना चाहते हैं और दूसरी ओर उसके चालक के रूप में ईश्वर को भी स्थान देना चाहते हैं तथा इस प्रयास में एक साथ आत्मविरोधी कथन करते हैं। 'कर्म-प्रवाह अनादि है और जब एक बार कर्म का चक्कर शुरू हो जाता है', यह वाक्य आत्म-विरोधी है। जो अनादि है उसका आरम्भ नहीं हो सकता और जिसका आरम्भ नहीं है उसका कोई चालक भी नहीं हो सकता।

जैन मान्यता यह है कि यद्यपि जड़-कर्म चेतन-शक्ति के अभाव में स्वतः फल नहीं दे सकते, लेकिन इसके साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि कर्मों को अपना फल प्रदान करने के लिए कर्ता से भिन्न अन्य चेतन सत्ता की अथवा ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। कर्मों के कर्ता चेतन आत्मा के द्वारा स्वयं ही वासना एवं कषायों की तीव्रता के आधार पर कर्म-विपाक का प्रकार, कालावधि, मात्रा और तीव्रता का निश्चय हो जाता है। यह आत्मा स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता है और स्वयं ही उनका फल प्रदाता बन जाता है। यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा ही है तो फिर हम चाहे ईश्वर को कर्म-नियम का नियामक और फल प्रदाता कहें या जीवात्मा को स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता और फल प्रदाता मानें, स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। आचार्य हरिभद्र इसी समन्वयात्मक भूमिका का स्पर्श करते हुए कहते हैं कि "जीव मात्र तात्त्विक दृष्टि से परमात्मा ही है और वही स्वयं अपने अच्छे-बुरे कर्मों का कर्ता और फलप्रदाता भी है। इस तात्त्विक दृष्टि से कर्म नियंता के रूप में ईश्वरवाद भी निर्दोष और व्यवस्थित सिद्ध हो जाता है।[2]" इस प्रकार जैन-दर्शन और गीता की विचार-दृष्टि में भी सामान्यतया वह अन्तर नहीं है जो मान लिया गया है।

कर्म नियंता ईश्वर का विचार बौद्ध-परम्परा में भी प्रायः उसी रूप में अस्वीकृत रहा है, जिस रूप में वह जैन-परम्परा में अस्वीकृत रहा है। बौद्ध-परम्परा भी जैन परम्परा के समान कर्म-नियम के निर्माता और कर्मों के फल प्रदाता ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। गीता के कृष्ण के समान महावीर और बुद्ध भी महा कारुणिक हैं। वे प्राणियों को दुःखों से उबारने की भावना रखते हैं, लेकिन उनकी यह करुणा कर्म-नियम से ऊपर नहीं है। प्राणियों की दुःख विमुक्ति के लिए वे केवल दिशा-निर्देशक हैं, विमुक्त कर्ता नहीं। दुःखों से विमुक्ति तो प्राणी स्वयं अपने ही पुरुषार्थ से पाता है। वे मार्ग बतानेवाले हैं, गति तो स्वयं व्यक्ति को ही करना है।

१. गीतारहस्य, पृ० २७२ २. शास्त्रवार्तासमुच्चय, २०७

नैतिक साध्य के रूप में ईश्वर—जैन और बौद्ध विचारणाओं में कर्म-नियामक के रूप में ईश्वर का प्रत्यय अस्वीकृत रहा है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें ईश्वर या परमात्मा का प्रत्यय नहीं है। योग दर्शन के समान जैन और बौद्ध परम्पराओं में साधना के आदर्श के रूप में ईश्वर का विचार उपस्थित है। जैन-साधना का आदर्श भी गीता के समान परमात्मा की उपलब्धि ही रहा है। बौद्ध-दर्शन में साधना के आदर्श के रूप में तथागत-काय या धर्मकाय को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता तीनों ही परम्पराओं में साधना के आदर्श के रूप में ईश्वर का विचार स्वीकृत है।

जैन-परम्परा में नैतिक जीवन का साध्य जिस सिद्धावस्था की प्राप्ति माना गया है, वह उसमें स्वीकृत परमात्मा के प्रत्यय को स्पष्ट कर देती है। जैन विचारणा के अनुसार यह आत्मा अपने तात्त्विक शुद्ध स्वरूप में परमात्मा ही है और इसी शुद्ध स्वरूप या परमात्मा की उपलब्धि नैतिक जीवन का साध्य है। यद्यपि जैन परम्परा और गीता दोनों में ही परमात्मा की उपलब्धि को नैतिक जीवन का साध्य बताया गया है, तथापि दोनों में थोड़ा तात्त्विक अन्तर है। जैन परम्परा के अनुसार यह परमात्मत्व व्यक्ति में स्वयं ही प्रसुप्त है और साधना के द्वारा हमें उसे प्रकट करना है। तत्त्वतः प्रत्येक आत्मा परमात्मा है और मात्र उसे प्रकट करना है। साध्य के रूप में परमात्मा हमसे भिन्न नहीं है, वरन् वह हमारी ही शुद्ध सत्ता की अवस्था है। साधना के आदर्श के रूप में जिस परमात्मा को स्वीकार करते हैं, वह हमारी ही शुद्ध, तात्त्विक एवं राग-द्वेष और कर्ममल से रहित स्थिति है। साध्य परमात्मा भी हममें ही निहित है। जैन-दर्शन में प्रत्येक आत्मा का साध्य अपने में निहित परमात्मत्व को प्रकट करना है और इस रूप में उसमें प्रत्येक आत्मा ही परमात्मा मानी गई है। अतः परमात्मा ऐसा कोई बाह्य आदर्श या साध्य नहीं है, जो व्यक्ति से भिन्न हो। हमें वही पाना है जो हममें विद्यमान है और हमारी सत्ता का सार है। इस प्रकार जैन-दर्शन में प्रत्येक व्यक्ति का साध्य या परमात्मा अलग-अलग है। यद्यपि स्वरूप दृष्टि से सभी में निहित परमात्मत्व समान है, तथापि सत्ता की दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न है।

गीता के अनुसार भी नैतिक जीवन का साध्य परमात्मा की उपलब्धि ही है और परमात्मा को हमारी सत्ता का सार बताया गया है, फिर भी गीता का विचार जैन-दर्शन से इस अर्थ में भिन्न है कि गीता में प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा का अंश है जबकि जैन दर्शन में प्रत्येक जीवात्मा स्वयं ही परमात्मा है। गीता के अनुसार नैतिक साध्य के रूप में हमें जिसे प्राप्त करना है, वह पूर्ण है; जिसके हम अंश हैं। गीता का नैतिक साध्य या परमात्मा आधार है और साधक जीवात्मा आधारित है, जबकि जैन-दर्शन में साध्य परमात्मा और साधक जीवात्मा दोनों एक ही हैं। उनमें न तो अंश और

पूर्ण का सम्बन्ध है और न आधार और आधारित का सम्बन्ध है। गीता में नैतिक साध्य के रूप में स्वीकृत परमात्मा प्रत्येक साधक के लिए वही है, जबकि जैन-दर्शन में प्रत्येक साधक का साध्य परमात्मा, तात्त्विक सत्ता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न है। गीता का परमात्मा एक ही है, जबकि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। इन दार्शनिक सामान्य अन्तरों के होते हुए भी जहाँ तक नैतिक साध्य के रूप में परमात्मा की स्वीकृति का प्रश्न है, दोनों के दृष्टिकोण समान हैं। दोनों के अनुसार परमात्मा पूर्णता की अवस्था है और वही पूर्णता नैतिक जीवन का साध्य है। साधना के आदर्श की दृष्टि से दोनों में परमात्मा का स्वरूप वही माना गया है। पूर्ण वीतराग, निष्काम, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा गीता का नैतिक आदर्श है तो वही वीतराग, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसौख्य और अनन्तशक्ति से युक्त परमात्मा जैन-दर्शन की नैतिक साधना का आदर्श है।

जहाँ तक बौद्ध-दर्शन में नैतिक साध्य के रूप में अथवा नैतिक आदर्श के रूप में परमात्मा अथवा ईश्वर के प्रत्यय का प्रश्न है, उसमें हीनयान और महायान सम्प्रदायों में साधना के अलग-अलग आदर्श रहे हैं। हीनयान का नैतिक साध्य अर्हतावस्था रहा है, जबकि महायान की नैतिक साधना में उपास्य या नैतिक साध्य के रूप में बुद्ध का स्वाभाविककाय या धर्मकाय स्वीकृत रहा है। फिर भी सामान्यरूप से हम यह कह सकते हैं कि बुद्धत्व की प्राप्ति दोनों में ही नैतिक साध्य है और बुद्ध परमात्मा के रूप में नैतिक जीवन के आदर्श हैं।

अर्हत् के आदर्श के रूप में हीनयान सम्प्रदाय में जिस बुद्धत्व के प्रत्यय को स्वीकार किया गया है, वह जैन-परम्परा के निकट है। लेकिन महायान में स्वीकृत धर्मकाय या स्वाभाविककाय के प्रत्यय गीता के निकट आते हैं। धर्मकाय गीता के वैयक्तिक ईश्वर के समान ही है। महायान सम्प्रदाय में बुद्ध का चार व्यूहों के रूप में निरूपण है। प्रत्येक व्यूह को पारिभाषिक भाषा में काय कहते हैं। बुद्ध के चार काय माने गये हैं—१. स्वाभाविककाय, २. धर्मकाय, ३. सम्भोगकाय और ४. निर्माणकाय।[1]

१. स्वाभाविककाय—स्वाभाविककाय निरास्रव विशुद्धि प्राप्त धर्मों की प्रकृति है। इसे गीता के परब्रह्म के समान माना जा सकता है। यह अकारित्र है। जिस प्रकार ब्रह्म निर्विशेष एवं निरपेक्ष है, उसी प्रकार यह भी निर्विशेष है।

२. धर्मकाय—धर्मकाय भी परिशुद्ध धर्मों की प्रकृति है। स्वाभाविककाय से यह इस अर्थ में भिन्न है कि यह सकारित्र है। धर्मकाय सर्वदा सर्वभूतहितरत है। यद्यपि इसे भी निर्वैयक्तिक ही माना गया है। इसे हम निर्गुण ईश्वर कह सकते हैं।

---

१. देखिए, बोधिचर्यावतार, परिशिष्ट, पृ० १४३-१४४

३. सम्भोगकाय—सर्वभूतहितरत धर्मकाय जब पुरुषविद् (वैयक्तिक) होकर लोक-कल्याण करने लगता है, तब उसे सम्भोगकाय कहते हैं। जो कारित्र (कर्म) धर्मकाय का है वही इसका है। पर धर्मकाय अरूपी है, यह रूपवान् है। धर्मकाय अपुरुषविद् है, यह पुरुषविद् है। धर्मकाय निराकार है, यह साकार है। धर्मकाय अव्यक्त है, यह व्यक्त है। इसकी तुलना गीता के वैयक्तिक ईश्वर से की जा सकती है।

४. निर्माणकाय—जिन शाक्य मुनि बुद्ध का व्यक्त दर्शन हम करते हैं उसका नाम निर्माणकाय है। निर्माणकायों के द्वारा ही बुद्ध जगत् का बहुविध साधन (कल्याण) करते हैं। निर्माणकाय की तुलना गीता के ईश्वर के अवतार से हो सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि हीनयान और महायान सम्प्रदायों में साधना का आदर्श बुद्धत्व रहा है तथापि दोनों ने अपने दृष्टिकोणों के आधार पर उसकी व्याख्या भिन्न रूप में की है। हीनयान ने उसके वीतराग और वीततृष्ण स्वरूप को स्वीकार किया, जबकि महायान ने उसके स्वरूप में लोकमंगल की उद्भावना की। हीनयान का दृष्टिकोण जैन परम्परा के निकट है जबकि महायान का दृष्टिकोण कुछ अर्थों में गीता के निकट है।

उपास्य के रूप में ईश्वर—भारतीय नैतिक चिन्तन में धर्म और नैतिकता एक-दूसरे के अभिन्न रहे हैं। धार्मिक जीवन में श्रद्धा के लिए किसी उपास्य की स्वीकृति आवश्यक है। जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओं में उपास्य के रूप में ईश्वर का प्रत्यय स्वीकृत रहा है।

जैन-परम्परा में उपास्य के रूप में अरिहंत और सिद्ध माने गये हैं। सिद्ध वे आत्माएँ हैं जो निर्वाण-लाभ कर चुकी हैं, जबकि अरिहंत वे जीवन्मुक्त आत्माएँ हैं जो नैतिक पूर्णता को प्राप्त कर इस जगत् में लोक-मंगल के लिए कार्य करती हैं। जैन-परम्परा में अरिहंत और सिद्ध उपास्य अवश्य हैं, फिर भी वे गीता के ईश्वर से भिन्न हैं। गीता का ईश्वर सदैव ही उपास्य है जबकि अरिहंत और सिद्ध उपासक से उपास्य बने हैं। जहाँ तक करुणा का प्रश्न है, सिद्ध जो केवल उपासना के आदर्श हैं स्वयं अपनी ओर से उपासक के लिए कुछ भी नहीं करते। उपासना के आदर्श के रूप में अरिहंत यद्यपि साधना-मार्ग का उपदेश करते हैं, फिर भी यह माना गया है कि साधक की जो भी उपलब्धि है, वह स्वयं उसके प्रयत्नों का फल है। उपास्य के स्वरूप का ज्ञान तथा उपासना अपने में निहित परमात्मत्व को प्रकट करने के लिए है।

बौद्ध-परम्परा में उपास्य के रूप में बुद्ध अथवा बुद्ध के सम्भोगकाय और धर्मकाय स्वीकृत हैं। हीनयान सम्प्रदाय बुद्ध को शाक्य मुनि के रूप में उपास्य अवश्य मानता है लेकिन वह जैन-परम्परा के समान यह मानता है कि उपासक स्वयं के प्रयत्नों से ही

किसी दिन उपास्य बन सकता है। जहाँ तक महायान सम्प्रदाय का प्रश्न है उसमें बुद्ध के सम्भोगकाय और निर्माणकाय उपास्य रहे हैं, लेकिन वे ऐसे उपास्य हैं जो अपने उपासक का मंगल भी करते हैं।

गीता में उपास्य के रूप में वैयक्तिक ईश्वर की धारणा स्वीकृत रही है। श्रीकृष्ण स्वयं ही अपने को उपास्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं और लोगों से अपनी उपासना की अपेक्षा भी करते हैं। गीता का उपास्य अपने भक्त का उद्धारक भी है। यदि भक्त अपने को निश्छल रूप में उसके सामने प्रस्तुत कर देता है तो वह उसकी मुक्ति की जिम्मेदारी भी वहन करता है।

ईश्वर मूल्यों के अधिष्ठान के रूप में[1]—वर्तमान युग में ईश्वर सम्बन्धी विचार ने एक नई दिशा ग्रहण की है। प्राचीन युग एवं मध्य युग तक ईश्वर का प्रत्यय जगत् के तात्त्विक आधार के रूप में, उसके निर्माता एवं नियामक के रूप में अथवा धार्मिक श्रद्धा के केन्द्र एवं उपास्य के रूप में विवेचित होता रहा, लेकिन वर्तमान युग में ईश्वर-सम्बन्धी विचार प्रमुख रूप से नैतिक आधारों पर विकसित हुआ है। वर्तमान युग में ईश्वर परममूल्यों का अधिष्ठान और उनका स्रोत माना जाता है। कांट ने ईश्वर के अस्तित्व के सन्दर्भ में नैतिक तर्क प्रस्तुत किये हैं। कांट का तर्क है कि एक सर्वोच्च सत्ता अथवा ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ेगा, जो धर्म को सुख से पुरस्कृत कर सके तथा बुराई को दुःख द्वारा किसी अगले जीवन में दण्डित कर सके। मार्टिन्यू नैतिक बाध्यता और नैतिक आदर्श के आधार पर ईश्वर के प्रत्यय को खड़ा करता है। उसकी दृष्टि में नैतिक बाध्यता ईश्वर के आधार पर ही आ सकती है। ईश्वर ही नैतिक बाध्यता का स्रोत है। मार्टिन्यू नैतिक आदर्श से भी ईश्वर के अस्तित्व का निष्कर्ष निकालता है। उसका तर्क है कि क्या नैतिक आदर्श केवल आदर्श है, वास्तविक नहीं? यदि वह वास्तविक नहीं है तो उसमे हमारे चरित्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। लेकिन नैतिक आदर्श का प्रभाव हमारे चरित्र पर पड़ता है। वह हमें श्रद्धाभिभूत कर सकता है और हमें ऊँचा उठा सकता है। इसलिए वह वास्तविक है और ईश्वर हमारे नैतिक आदर्श का अमर मूर्तरूप है, जिसका हमारी नैतिक चेतना में अस्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

मुनस्टर बर्ग, रायस और प्रिंगल-पैटीसन ईश्वर को मूल्यों के अधिष्ठान के रूप में देखते हैं। मुनस्टर बर्ग मूल्यों का अधिष्ठान परमात्मा को मानता है। उसके विचार में साध्यों का अनुसरण अगर अचेतन रूप से होता है, तो वे साध्य ही नहीं हैं। इसलिए परमात्मा को चेतन और बुद्धियुक्त मानना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि तार्किक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक और धार्मिक मूल्य परमात्मा में निवास करते हैं। मूल्य

---

१. देखिए—पश्चिमी दर्शन, पृ० २४८-२४९

ईश्वर के अन्दर पहले से ही परिनिष्पन्न हैं और ईश्वर सत्य, शिव, सौन्दर्य, न्याय, शील और प्रेम की शाश्वत प्रतिमा है जो विश्व में व्याप्त है और मनुष्य को एक अच्छी विश्व-व्यवस्था का निर्माण करने के लिए प्रेरणा देता है।[1] प्रिंगल पैटीसन का कथन है कि सत्य, शुभत्व और सौन्दर्य स्वयंभू नहीं हैं। चेतन अनुभव के बाहर वे कोई अर्थ नहीं रखते। इसलिए हमें एक ऐसी आदि बुद्धि को मानना पड़ता है जिससे वे नित्य-निष्पन्न हों। ईश्वर स्वयं सर्वोच्च सत्ता और सर्वोच्च मूल्य है[2]।

समकालीन विचारक डब्ल्यू० आर० सार्ली नैतिकता एवं नैतिक मूल्यों को ईश्वर में अधिष्ठित मानते हैं। उनका कथन है कि धर्म केवल सामान्य नैतिकता का पूरक नहीं है। वह उसे और कुछ अधिक देता है। वह मनुष्य की दृष्टि को, इस विषय में पैनी बनाता है कि शुभ क्या है ? नैतिक नियम और नैतिक आदर्श ईश्वरीय प्रकृति में निवास करते हैं और ईश्वरीय पूर्णता में कुछ रूपों में उनका साक्षात्कार होता है। ईश्वरीय इच्छा केवल नैतिक आदेश नहीं है, जैसाकि धार्मिक अनुमोदन के सिद्धान्त उसे स्वीकार करते हैं। लेकिन वह एक उच्चतम शुभत्व है। नैतिक पूर्णता ईश्वर के समान बनने में उपलब्ध होती है[3]। नैतिक मूल्य सन्तोषप्रद रूप में ईश्वरवाद में अधिष्ठित हैं। इस प्रकार समकालीन विचारक ईश्वर को मूल्यों के अधिष्ठान के रूप में देखते हैं।

जहाँ तक इस सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण का सवाल है, जैन दार्शनिकों ने ज्ञान, भाव, आनन्द और शक्ति के रूप में चार मूल्य स्वीकार किए हैं। इसे अपनी वे पारिभाषिक शब्दावली में अनन्त चतुष्टय कहते हैं। जैन दर्शन के सिद्ध या ईश्वर में ये चारों गुण अपनी पूर्णता के साथ होते हैं और इस रूप में उसे मूल्यों का अधिष्ठान मान लिया गया है।

गीता के आचार-दर्शन में भी ईश्वर मूल्यों के अधिष्ठान के रूप में स्वीकृत रहा है। भारतीय परम्परा में ईश्वर को सत्, चित् और आनन्दमय माना गया है। सत् के रूप में ज्ञानात्मक, चित् के रूप में सौन्दर्यात्मक और आनन्द के रूप में वह नैतिक मूल्यों का अधिष्ठान है। ईश्वर को सत्य, शिव और सुन्दर भी कहा गया है और इस रूप में भी उसमें तार्किक, सौन्दर्यात्मक और नैतिक मूल्यों का निवास है।

१. पश्चिमी दर्शन, पृ० २६७
२. दि आइडिया आफ इम्मार्टेलिटी, पृ० २९० उद्धृत–पश्चिमी दर्शन, पृ० २६७
३. कॉन्टेम्पॅररी एथिकल थ्योरीज, पृ० २८०

१६

जैन आचारदर्शन का मनोवैज्ञानिक पक्ष

●

मनोविज्ञान और आचार-दर्शन का सम्बन्ध—आचार-दर्शन का कार्य जीवन के साध्य के संदर्भ में आचरण की दिशा का निर्धारण और मूल्यांकन करना है। औचित्य और अनौचित्य के सारे निर्णय आचरण से सम्बन्धित होते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएँ ही, जिन्हें जैन परिभाषा में 'योग' कहा जाता है, आचार-दर्शन की विषयवस्तु हैं। मनोविज्ञान की अध्ययन सामग्री भी यही कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएँ हैं। उडवर्थ ने मनोविज्ञान को मानसिक और शारीरिक क्रियाओं का विज्ञान कहा है।[1] इस प्रकार मनोविज्ञान और आचार-दर्शन की विषय वस्तु एक ही है। आचार-दर्शन जीवन के आदर्श के सन्दर्भ में उनका मूल्यांकन करता है और मनोविज्ञान उनकी वास्तविक प्रकृति का अन्वेषण करता है।

व्यवहार के तथ्यात्मक स्वरूप को समझना मनोविज्ञान का कार्य है और व्यवहार के आदर्श का निर्धारण करना आचार-दर्शन का कार्य है। लेकिन किसी भी आदर्श का निर्धारण तथ्यों की अवहेलना करके नहीं होता; 'हमें क्या होना चाहिए', यह बहुत-कुछ इस पर निर्भर करता है कि हमारी क्षमताएँ क्या हैं? मनोवैज्ञानिक अध्ययन हमें यह बताता है कि हम क्या हैं अथवा हमारी क्षमताएँ क्या हैं और उसी आधार पर आचार-दर्शन कहता है कि हमें क्या होना चाहिए? आचार-दर्शन मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना करके आगे नहीं बढ़ सकता। मनोवैज्ञानिक तथ्यों या मानवीय प्रकृति की अवहेलना करके नैतिक दर्शन का निर्धारण करना व्यर्थ होगा। ऐसा आदर्श जिसे मानव यथार्थ (Real) नहीं बना सके, मात्र छलना है। जिस आदर्श (साध्य) को उपलब्ध करने की क्षमताएँ मानव में निहित न हों, उसे मानस-जीवन का साध्य नहीं बनाया जा सकता।

मनोविज्ञान का आचार-दर्शन से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस विषय से इतना कहना ही पर्याप्त है कि आचार-दर्शन मनोविज्ञान से पृथक् होकर अपने अस्तित्व को ही खतरे में डाल देता है। आचार-दर्शन 'आचरण कैसा होना चाहिए' इस प्रश्न को हाथ में लेता है, लेकिन 'आचरण क्या है? तथा क्यों और कैसे होता है?' इन प्रश्नों का उत्तर मनोविज्ञान देता है। आचरण की इन बातों को समझे बिना आचरण के दर्शन का निर्धारण करना, मात्र वैचारिक उड़ान ही होगी। आचार-दर्शन के

१. मनोविज्ञान-उडवर्थ एण्ड मार्क्विस, पृ० २

लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययन इसलिए भी आवश्यक है कि अनेक नैतिक प्रत्ययों (उदाहरणार्थ—इच्छा, प्रेरणा, संकल्प, सुख, दुःख आदि) के यथार्थ स्वरूप का विश्लेषण मनोविज्ञान ही प्रदान करता है। कांट एक ऐसा पाश्चात्य दार्शनिक था जिसने मनोवैज्ञानिक तथ्यों को परवाह किये बिना बौद्धिक आधार पर आचार-दर्शन के निर्माण की कल्पना की थी, लेकिन यही बात उसके आचार-दर्शन को आलोचना का प्रमुख कारण भी बनी। इतना ही नहीं, कांट के बाद पुनः आचार दर्शन की दिशा मनोवैज्ञानिक तथ्यों की ओर गयी। कांट ने मनोविज्ञान और आचार-दर्शन में जो मेलजोल अरस्तू के युग से ह्यूम और सुखवादी विचारकों के समय तक चला आया था, उसे समाप्त करने की कोशिश की थी, लेकिन कांट के बाद के विचारकों में हेगल ने उसे फिर से जोड़ने की कोशिश की और सम्भवतः ब्रेडले ने पुनः उसे मधुर बना दिया। रिचर्ड वोलह्यम लिखते हैं, "निकट भूत के नैतिक-दर्शन की यह विशेषता की थी कि उसने दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्नों को अलग-अलग कर दिया, लेकिन अब नैतिक दर्शन का सबसे अच्छा कार्य यही होगा कि वह निकट भविष्य में मानव-व्यवहार के इन दो पक्षों को इस प्रकार अलग-अलग करके न रखें"।[1] यद्यपि यह सही है कि आचार-दर्शन और मनोविज्ञान की प्रकृति भिन्न-भिन्न है, एक नियामक है तो दूसरा विधायक, और यह भी सही है कि आचार-दर्शन के मनोवैज्ञानिक आधारों को ही सब-कुछ मान लेने पर हम तार्किक भाववादी अथवा मनोवैज्ञानिक नैतिक सन्देहवाद की भ्रान्तियों से ग्रसित होंगे। मनोविज्ञान और आचार-दर्शन को एक दूसरे से नितान्त स्वतंत्र मान लेना और आचार-दर्शन को मनोविज्ञान का ही एक अंग बना देना, दोनों दृष्टियाँ भ्रान्तिपूर्ण हैं। वस्तुतः नैतिक आदर्श के निर्धारण में मनोवैज्ञानिक आधारों पर मानवीय प्रकृति को समझना ही सम्यक् दृष्टिकोण है।

जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना नहीं हुई है। जैन चिन्तकों ने तो मनोवैज्ञानिक तथ्यों को बड़ी गहराई से समझा है। उन्होंने अपने नैतिक आदर्श और नैतिक साधना-पथ का निर्माण ठोस मनोवैज्ञानिक नींव पर किया है। जैन आचार-दर्शन व्यक्ति की यथार्थ मनोवैज्ञानिक प्रकृति से भिन्न नैतिक आदर्श की कल्पना नहीं करता। स्व-स्वरूप से भिन्न नैतिकता यथार्थ नहीं हो सकती। जो हमारी आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है वही हमारे नैतिक जीवन का परम आदर्श हो सकता है। ऐसी नैतिकता जो व्यक्ति का अपना अंग न होकर, उसकी मनोवैज्ञानिक प्रकृति से प्रतिकूल हो, जीवन का आदर्श नहीं बन सकती।

जैन आचार-दर्शन और मनोविज्ञान—जैन आचार-दर्शन ठोस मनोवैज्ञानिक आधार पर अपने नैतिक आदर्श एवं साधना-पथ का निर्माण करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से

१. एथिकल स्टडीज, भूमिका, पृ० १६

चेतन जीवन के तीन अंग हैं—१. ज्ञान, २. भाव, और ३. संकल्प। जैन विचारकों की दृष्टि में ये तीन अंग जैन आचार-दर्शन में नैतिक आदर्श एवं नैतिक साधना-मार्ग से निकट रूप से सम्बन्धित हैं। जैन आचार-दर्शन में चेतना के इन तीन अंगों के आधार पर ही नैतिक आदर्श का निर्धारण किया गया है। जैन नैतिक आदर्श अनन्तचतुष्टय रूप है, जो जीवन के इन तीन अंगों की पूर्णता का द्योतक है। जीवन के ज्ञानात्मक अंग की पूर्णता अनन्तज्ञान एवं अनन्तदर्शन में, भावात्मक अंग की पूर्णता अनन्तसौख्य में और संकल्पात्मक अंग की पूर्णता अनन्तशक्ति में मानी गई है। जैन नैतिक साधना-पथ भी ज्ञान, भाव और संकल्प (कर्म) के सम्यक् रूपों से ही निर्मित है। ज्ञान से सम्यग्ज्ञान, भाव से सम्यक्दर्शन (श्रद्धा), संकल्प से सम्यक्चारित्र का निर्माण हुआ है। ज्ञान, भाव और संकल्प सम्यक् बनकर ही जैन नैतिकता का साधना पथ बना देते हैं।

चेतन-जीवन के विविध पक्ष और नैतिकता—चेतना के तीन पक्षों ज्ञान, वेदना और संकल्प का नैतिकता से क्या सम्बन्ध है, यह विचारणीय है। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि क्या हमारा ज्ञान और वेदना भी नैतिकता से सम्बन्धित है? जैन विचारकों एवं गीताकार की दृष्टि मे व्यक्ति के ज्ञान एवं वेदना का नैतिकता से सीधा सम्बन्ध तो नहीं है, लेकिन सामान्य व्यक्ति का ज्ञान और वेदना मात्र विशुद्ध नहीं रहते, वरन् वे किसी राग-द्वेष और आसक्ति रूपी मानसिक संकल्प में बदल जाते हैं। जैसे रूप या सौन्दर्य का बोध कोई पाप या अनैतिकता नहीं है, लेकिन जब उसी रूप या सौन्दर्य को राग-भाव से देखा जाता है अथवा उसे देखकर मन में राग या आसक्ति उत्पन्न होती है, वह देखना उसी क्षण नैतिकता की परिधि में आ जाता है। साधारण प्राणियों का ज्ञान या अनुभूतियाँ अपने विशुद्ध रूप में नहीं रह कर 'संकल्प से युक्त होती हैं'—वे या तो किसी पूर्ववर्ती राग-द्वेष से सम्बन्धित होती हैं अथवा अन्त में किसी राग, द्वेष अथवा आसक्ति की मनोवृत्ति में परिणत हो जाती हैं और ऐसी अवस्था में वे सभी क्रियाएँ नैतिकता की परिसीमा में आ जाती हैं। इसी प्रकार मात्र शारीरिक क्रियाएँ भी जब तक संकल्प से युक्त नहीं होतीं, नैतिकता की परिसीमा में नहीं आती हैं लेकिन संकल्प से युक्त होने पर वे भी नैतिकता की परिधि में आ जाती है। जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शन और गीता की नैतिकता का आदर्श यही है कि ज्ञानात्मक एवं वेदनात्मक चेतनाएँ तथा शारीरिक क्रियाएँ (अनैच्छिक क्रियाएँ) विशुद्ध रूप में रहें और संकल्पात्मक पक्ष अर्थात् रागादि भावों से प्रभावित न हों। क्योंकि रागादि संकल्पों से युक्त कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय बनते हैं। जब तक ज्ञान और वेदना एवं शारीरिक क्रिया संकल्प में परिणत या संकल्प से परिचालित नहीं होतीं वे नैतिकता की परिसीमा में नहीं जाती।

§ नैतिकता का क्षेत्र संकल्पयुक्त कर्म

पाश्चात्य दृष्टिकोण—म्यूरहेड कहते हैं कि हम आचार को ऐच्छिक क्रियाओं के रूप में परिभाषित कर सकते हैं[1], अतः पाश्चात्य चिन्तन के अनुसार नैतिक निर्णय केवल उन ऐच्छिक कर्मों पर ही दिये जा सकते हैं, जो किसी विवेकबुद्धि-सम्पन्न कर्ता द्वारा स्वतंत्र संकल्पपूर्वक सम्पादित किये गये हों। अचेतन प्राकृतिक घटनाएँ नैतिकता की परिधि में नहीं आतीं, क्योंकि उनका कोई चेतन-कर्ता नहीं होता। इसी प्रकार पशु, बालक, पागल और मूर्ख लोगों के कर्म भी नैतिक निर्णय के विषय नहीं माने गये हैं, क्योंकि इनमें शुभाशुभ का विवेक नही होता। इसी प्रकार बाध्यतामूलक कर्म, चाहे उनकी वह बाध्यता भौतिक हो, अन्य व्यक्तियों की अधीनता की हो अथवा भावना ग्रन्थियों या सम्मोहनजनित हो, नैतिक निर्णय की परिधि में नही आते; क्योंकि उनमें स्वतंत्र संकल्प का अभाव होता है। इस प्रकार पाश्चात्य आचार-दर्शन में नैतिकता की परिधि में आनेवाले कर्म के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—१. शुभाशुभ विवेक-क्षमता, २. कर्म-संकल्प और ३. कर्म-संकल्प का स्वतंत्र होना। इन तीन बातों में किसी एक का अभाव होने पर कर्म नैतिक निर्णय का विषय नहीं बनता। पाश्चात्य आचार-दर्शन के अनुसार निम्न अनैच्छिक क्रियाएँ सामान्यतया नैतिक निर्णय का विषय नहीं मानी जाती हैं—१. स्वतःचालित क्रियाएं—जैसे खून की गति, पाचन क्रिया आदि, २. प्रतिवर्त क्रियाएं—जैसे छींक, पलक झपकना, ३. अनियमित क्रियाएँ—जैसे बच्चे का हाथ-पैर मारना, ४. मूलप्रवृत्तिजन्यक्रियाएँ—जो मनोशारीरिक विन्यास के कारण होती हैं, ५. विचारप्रेरित कर्म—जो विचार से प्रेरित होते हुए भी विचार नियन्त्रित नहीं होते हैं।

जैन दृष्टिकोण—सामान्यतया जैन आचार-दर्शन भी ऐच्छिक कर्मों को उचित अथवा अनुचित की श्रेणी में मानता है और उनके औचित्य एवं अनौचित्य का निर्धारण भी कर्म के संकल्प के आधार पर ही करता है। फिर भी जैन दर्शन कुछ अनैच्छिक कही जानेवाली क्रियाओं को भी नैतिकता की श्रेणी में ले आता है। जैन विचारक यह तो मानते हैं कि अधिकांश अनैच्छिक शारीरिक क्रियाओं का करना शरीर का अनिवार्य धर्म होने के कारण भी आवश्यक होता है। उन्हें रोकने अथवा करने या नहीं करने की सामर्थ्य तो वैयक्तिक संकल्प में नहीं है, फिर भी उनके सम्पन्न करने का ढंग व्यक्ति की इच्छा के अधीन है। मनोवैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करते हैं कि मनुष्य में अनैच्छिक और अनर्जित कहा जानेवाला मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार वस्तुतः अर्जित और ऐच्छिक ही होता है। अनिवार्य शारीरिक क्रियाओं के करने और नहीं करने का प्रश्न तो

---

1. We may define conduct as volentary action.

—The Elements of Ethics, p. 46.

जैन-दृष्टि से नैतिकता की सीमा में नहीं आता, लेकिन इनके सम्पन्न करने का ढंग नैतिक विचार की परिसीमा में आ जाता है और उसका नैतिक मूल्यांकन भी किया जा सकता है। भोजन अथवा मलमूत्र का विसर्जन करना उचित है या अनुचित है, यह प्रश्न तो जैन नैतिकता में नहीं उठता है; लेकिन भोजन कैसे करना, क्या भोजन करना, मलमूत्र का विसर्जन कैसे और कहां करना, ये प्रश्न नैतिकता के सीमा-क्षेत्र में आते हैं। इतना ही नहीं, कुछ मूलप्रवृत्यात्मक मानोजानेवाली क्रियाएँ तो स्पष्ट रूप से जैन नैतिकता के क्षेत्र में समाविष्ट हैं, जैसे कामवृत्ति, संग्रह-वृत्ति और आक्रमण-वृत्ति आदि। जैन नैतिक विचारणा व्यक्ति को जीवन-प्रणाली को अत्यन्त निकट से परखती है। जैन विचारकों ने जीवन की सामान्य क्रियाओं, जैसे चलना, बैठना, सोना, खाना और बोलना सभी को नैतिक दृष्टि से समझने की कोशिश की है। दशवैकालिकसूत्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि "साधक कैसे चले, कैसे बैठे, कैसे शयन करे, कैसे भोजन करे और कैसे भाषण करे ताकि पाप-कर्म का बंध न हो[1] ?" जैन विचारकों ने साधु के लिए लिए जिन आचार-नियमों का प्रतिपादन किया है, उनमें गमन, भाषण, भोजन, वस्तुओं का आदान-प्रदान एवं उपयोग तथा मलमूत्रादि का विसर्जन आदि सभी क्रियाओं को समाविष्ट कर लिया है।

लेकिन इस कारण हमें इस भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिए कि जैनाचार प्रणाली में जीवन की सामान्य क्रियाओं पर ही अधिक विचार किया गया है और उनके पीछे कोई गहन दृष्टि नहीं है। वह यह तो स्वीकार करती है कि हमारे समग्र जीवन का व्यवहार नैतिकता से सम्बधित है, लेकिन यह व्यवहार अपने आपमें न तो नैतिक होता है न अनैतिक। दशवैकालिकसूत्र की भूमिका में संतबाल लिखते हैं कि ग्रन्थकार यह बात साधक के मन में जँचा देना चाहता है कि कोई अमुक क्रिया स्वयमेव पाप नहीं है, पाप यदि कुछ है तो वह है आत्मा की उपयोगहीनता (प्रमत्तता); सजग आत्मा कोई भी क्रिया क्यों न करे उसे पाप का बन्ध नहीं होता और उपयोगरहित (अजाग्रत) आत्मा कुछ भी न करे, फिर भी वह पाप की भागी है[2]। जैन-दृष्टि में जो कुछ अनैतिक है—वह है, विवेकाभाव अथवा आत्मा की प्रमत्त या अजाग्रत अवस्था। कोई भी क्रिया इसी आधार पर शुभ और अशुभ बनती है। संक्षेप मे जैन नैतिक चिन्तन में क्रिया स्वतः शुभ और अशुभ नहीं होती, वरन् उसके पीछे रही हुई आत्म-सजगता की उपस्थिति या अनुपस्थिति ही उसे शुभ अथवा अशुभ बनाती है। दशवैकालिक में जो यह प्रश्न उठाया गया कि यदि बैठना, उठना, सोना तथा खान-पान, भाषण आदि सभी क्रियाएँ नैतिकता के क्षेत्र में आती हैं तो फिर उन्हें किस प्रकार सम्पादित किया जाए, जिससे अनैतिकता की या पाप-बन्ध की सम्भावना न हो? ग्रन्थकार ने इसका जो

---

१. दशवैकालिक, ४।७ २. दशवैकालिक भूमिका, पृ० १२

समाधान दिया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह कहता है, जीवन की इन सामान्य क्रियाओं को यदि विवेकपूर्वक सम्पादित किया जाता है तो वे पाप-बन्ध का कारण नहीं हैं[1]। क्रियाएँ अनैतिक नहीं होतीं, उनके पीछे जो राग-दृष्टि है, प्रमत्तता है या विवेका-भाव है, वही अशुभ या बन्धन है। क्रियाओं के विषय में नैतिक दृष्टिकोण का यही सार है। जैन-दर्शन के अनुसार मात्र वे अनैच्छिक कर्म जो ज्ञानपूर्वक सम्पादित नहीं किए जाते हैं अर्थात् जिनके पीछे साधक की जागरूकता का अभाव है, नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं। यदि साधक पूर्णतः जाग्रत है तो उसके आहार-विहार आदि अनैच्छिक एवं स्वाभाविक कर्म, नैतिक निर्णय का विषय नहीं बनते। आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि केवली (जीवन्मुक्त) का बैठना, उठना आदि कर्म अनैच्छिक होते है, अतः वे बन्धन का कारण नहीं होते हैं, लेकिन मोहयुक्त व्यक्ति के वे ही स्वाभाविक अनैच्छिक कर्म बन्धन का कारण होते हैं[2]। जैन विचारक केवल उन अनैच्छिक एवं स्वाभाविक कर्मों को नैतिक दृष्टि से शुभाशुभ के क्षेत्र में नहीं मानते जो विवेकपूर्ण सम्पादित हों और जिनमें कर्ता का रागभाव न हो। जैन-दृष्टि में अनैच्छिक एवं अनिवार्य शारीरिक कर्म वे है जिनका करना शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक है। इन्हें छोड़कर शेष सभी कर्म बन्धन का कारण होते हैं, इसलिए वे नैतिकता के क्षेत्र में भी आते है।

आधुनिक नीति-विज्ञान ऐच्छिक कर्म में भावना, कामना, विमर्श, चयन और कार्यान्वियन ऐसे पाँच अंग मानता है और इनमें से किसी एक के अभाव मे भी ऐच्छिक कर्म को अधूरा माना जाता है। जैन-विचार में ऐसा विवेचन देखने में नहीं आया फिर भी नियमसार में कर्म के बन्धन की चर्चा में ईहापूर्वक और परिणामपूर्वक ऐसे दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस आधार पर सम्भवतः यह माना जा सकता है कि परिणामपूर्वक कर्म वे हैं जिनमें कामना का क्रियान्वयन विमर्श एवं चयन के बाद होता है तथा ईहा-पूर्वक कर्म वे हैं जिनमें कामना के तत्काल बाद ही क्रियान्वयन हो जाता है उनमें विमर्श और चयन का अभाव होता है। परिणामपूर्वक कर्म ईहापूर्वक से भिन्न है। ईहा-पूर्वक कर्म में फल का विचार नहीं होता, मात्र वासना या इच्छा ही कर्म प्रेरक होती है। जैन आचार-दर्शन उपर्युक्त विमर्शपूर्वक सम्पादित कर्म और मात्र वासना प्रेरित कर्म, दोनों का ही शुभाशुभत्व की दृष्टि से विचार करता है। नियमसार[3] में कहा है कि वचन आदि क्रियाएँ यदि फल के संकल्पपूर्वक की जाती हैं तो वे शुभाशुभ बन्धन का कारण होती हैं लेकिन फल के संकल्पपूर्वक नहीं की जाती हैं तो उनसे कोई बन्धन नहीं होता। इसी प्रकार वचन आदि क्रियाएँ इच्छापूर्वक की जाती हैं तो बन्धन का कारण हैं, इच्छा रहित हैं तो बन्धन का कारण नहीं हैं।

१. दशवैकालिक, ४।८ २. नियमसार, १७४ ३. वही, १७२-१७३

जैन आचार-दर्शन में नैतिक निर्णय की दृष्टि से क्रियाएँ दो प्रकार की मानी गयी हैं—१. साम्परायिक और २. ईर्यापथिक। साम्परायिक क्रियाएँ वे हैं जो राग-द्वेष मूलक, मानसिक संकल्पों एवं प्रमाद सहित होती हैं। साम्परायिक क्रियाएँ ही नैतिक निर्णय का विषय हैं। इनके विपरीत जो क्रियाएँ राग-द्वेष मूलक मानसिक संकल्पों से रहित होकर विवेकपूर्वक एवं अप्रमत्तभाव से सम्पादित होती हैं, ईर्यापथिक कही जाती हैं। ये अति-नैतिक (Amoral) होती हैं। क्रियाओं के सामान्य वर्गीकरण की दृष्टि से जैन-दर्शन में क्रियाएँ तीन प्रकार की हैं—१. मानसिक, २. वाचिक और ३. शारीरिक। क्रियाओं के तीन स्तर होते हैं, जिनमें होकर वे पूर्ण होती हैं—१. सरम्भ, २. समारम्भ और आरम्भ[१]। सरम्भ क्रिया का मानसिक स्तर है, यह प्राथमिक स्थिति है, इसमें मन में क्रिया का विचार उत्पन्न होता है। समारम्भ क्रिया का वह स्तर है, जिसमें क्रिया की दिशा में प्रथम प्रयास होते हैं, लेकिन क्रिया पूर्ण नहीं होती है। आरम्भ क्रिया के सम्पन्न होने की अवस्था है। यह विश्लेषण हमें यह बताता है कि क्रिया का मूल उसके मानसिक स्तर पर है, वही क्रिया का मूल स्रोत है और इसलिए क्रिया के सम्बन्ध में नैतिक दृष्टि से विचार करने पर वही महत्त्वपूर्ण होता है।

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध-दर्शन को भी यह स्वीकार है कि अनैच्छिक या तृष्णा-रहित कर्म बन्धनकारक नहीं होते, तृष्णासहित कर्म ही बन्धनकारक होते हैं। वह यह भी स्वीकार करता है कि अनिवार्य शारीरिक कर्मों के प्रति भी जिसकी चेतना जागृत है उस स्मृतिमान व्यक्ति के चित्तमल नष्ट हो जाते हैं, उसे आस्रव नहीं होता है[२]। जैसे सामान्यजन, वैसे अर्हत भी दानादि पुण्यकर्म करते ही हैं, किन्तु उनके वे कर्म कुशल-कर्म नहीं होते, किसलिये? विपाक न होने से। वे जो भी कुशल करते हैं, वह क्रिया मात्र होता है, उसका 'विपाक' नहीं होता[3]।

गीता का दृष्टिकोण—गीता में अर्जुन ने यह प्रश्न उठाया है कि नैतिक दृष्टि से आदर्श पुरुष के जीवन का सामान्य व्यवहार कैसा होता है और उसका उसके नैतिक जीवन पर क्या प्रभाव होता है? गीता में भी जैन-दर्शन के समान इसी विचार का समर्थन है कि कामना रहित होकर अनेक क्रियाओं को सम्पादित करनेवाला शान्ति प्राप्त करता है[४]। जो पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित सदा परमानन्द परमात्मा में तृप्त है, वह कर्मों के फल और आसक्ति का त्याग कर कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है। जिसने अन्तःकरण और शरीर जीत लिया है तथा सम्पूर्ण भोगों की सामग्री को त्याग दिया है ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं होता[५]।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन

---

१. उत्तराध्ययन, २४।२१-२५ २. धम्मपद, २९२-२९३ ३. अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० १०
४. गीता, २।२४; २।२१; २।७१ ५. वही, ४।२०-२१

संकल्पयुक्त कर्म ही को नैतिक विवेचन का विषय बनाते हैं। किन्तु उससे आगे बढ़कर वे मात्र कामना या इच्छा को भी नैतिक विवेचना का विषय बनाते हैं। उनके अनुसार अक्रियान्वित इच्छा एवं संकल्प भी नैतिक विवेचन का महत्त्वपूर्ण विषय है। नैतिकता की सीमा में आने वाले संकल्पयुक्त कर्म के मूल में इच्छा या कामना का तत्त्व रहा हुआ है, जिससे समग्र व्यवहार होता है। अतः यह विचार करना आवश्यक है कि यह कामना और इच्छा क्या है? कैसे उत्पन्न होती है? और किस प्रकार हमारे व्यवहार को प्रेरित करती है?

प्राणीय व्यवहार के प्रेरक तत्त्व

वासना का उद्भव तथा विकास—वासना, कामना या इच्छा से ही समग्र व्यवहार का उद्भव होता है। यह वासना, कामना या इच्छा से प्रसूत समस्त व्यवहार ही नैतिक विवेचन का विषय है। स्मरण रखना चाहिए कि समालोच्य आचार-दर्शनों में वासना, कामना, कामगुण, इच्छा, आशा, लोभ, तृष्णा और आसक्ति समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जिनका सामान्य अर्थ मन और इन्द्रियों की अपने विषयो की चाह से है। पाश्चात्य आचार-दर्शन में जीववृति (Want), क्षुधा (Appetite), इच्छा (Desire), अभिलाषा (Wish) और संकल्प (Will) में अर्थ वैभिन्य एवं क्रम माना गया है। पाश्चात्यों के अनुसार इस सम्पूर्ण क्रम में चेतना की स्पष्टता के आधार पर विभेद किया जा सकता है। जीववृत्ति चेतना के निम्नतम स्तर वनस्पति जगत् में भी पायी जाती है, पशुजगत् में जीववृत्ति के साथ-साथ क्षुधा का भी योग होता है लेकिन चेतना के मानवीय स्तर पर आकर तो जीववृत्ति से संकल्प तक के सारे ही तत्त्व उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः जीववृत्ति से लेकर संकल्प तक के सारे स्तरों में वासना के मूलतत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, अन्तर है केवल चेतना में उसके स्पष्ट बोध का। यही कारण है कि भारतीय दर्शनों में इस क्रम के सम्बन्ध में कोई विवेचन उपलब्ध नहीं होता। भारतीय साहित्य में वासना, कामना, तृष्णा और इच्छा आदि शब्द तो अवश्य मिलते हैं और उनमें वासना की तीव्रता की दृष्टि से अन्तर भी किया जा सकता है, फिर भी साधारणतया उनका समान अर्थ में ही प्रयोग हुआ है। भारतीय दर्शन में तीव्रता के तारतम्य की दृष्टि से वासना, कामना, तृष्णा और इच्छा में एक क्रम माना जा सकता है। हमें यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पाश्चात्य विचारक जहाँ वासना के उस रूप को, जिसे वे संकल्प (will) कहते हैं नैतिक निर्णय का विषय बनाते हैं, वहाँ भारतीय चिन्तन में वासना के अन्य रूप भी नैतिकता की परिसीमा में आ जाते हैं। चेतना में वासना के स्पष्ट बोध का अभाव वासना का अभाव नहीं है और इसलिए जैन और बौद्ध विचारणा ने पशु-जगत् आदि चेतना के निम्न स्तरों को भी नैतिकता की परिसीमा में माना है। वहाँ पाशविक स्तर पर पायी जानेवाली वासना की अन्ध-प्रवृत्ति को भी नैतिक निर्णयों का विषय माना गया है।

वासना आचरण का प्रेरक सूत्र—वासना, कामना, तृष्णा या संकल्प ही सभी नैतिक विवेचना की परिसीमा में आनेवाले व्यवहारों के मूल में निहित है, इसी से उनका उद्भव होता है; अतः इसे नैतिकता की परिसीमा में आने वाले कर्मों का प्रेरक तथ्य भी कहा जा सकता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि यह पुरुष कामनामय है[1], व्यक्ति की जैसी कामनाएँ होती हैं वैसा उसका चरित्र बनता है। व्यक्ति के समग्र भूत, वर्तमान एवं भविष्यकालिक कर्म, जिनसे उसका चरित्र बनता है, काम से ही प्रवृत्त होते हैं और उसी में उनका निवर्तन होता है।[2] व्यक्ति क्यों दुष्कर्मों या अनाचार में प्रवृत्त होता है, यह आचार-दर्शन का एक गम्भीर प्रश्न है। समालोच्य आचार-दर्शनों ने इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया है।

जैन दृष्टिकोण—जैन-दर्शन में राग और द्वेष ये दो कर्म-बीज या कर्ममय जीवन के प्रेरकसूत्र माने गये हैं।[3] इनमें भी राग ही प्रमुख है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि काम में जो आसक्ति है वह कर्म का प्रेरक तथ्य है।[4] सम्पूर्ण जगत् में जो कायिक वाचिक और मानसिक कर्म (दुःख) है, वह काम-भोगों की अभिलाषा से उत्पन्न होता है।[5] जैन-दर्शन के अनुसार यह कामवासना या रागभाव जो कि पूर्व कर्म-संस्कारों के कारण उत्पन्न होता है, प्राणी के व्यवहार का प्रेरक-सूत्र है। पूर्व कर्म-संस्कारों से रागादि के संकल्प होते हैं और उनसे ही कर्म की परम्परा बढ़ती है।

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध-दर्शन में कर्म-प्रेरक के रूप में काम, तृष्णा, इच्छा (छन्द) एवं राग माने गये हैं, जो वस्तुतः एक ही अर्थ के बोधक हैं। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि तृष्णा से युक्त होकर प्राणी बन्धन में पड़े हुए खरगोश की भाँति संसार परिभ्रमण करता रहता है।[6] काम से ही समस्त शोक और भय उत्पन्न होते हैं।[7] अंगुत्तरनिकाय में कर्मों की उत्पत्ति के कारण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि भूत, भविष्य और वर्तमान के छन्द-राग-स्थानीय विषयों को लेकर जो छन्द (इच्छा) उत्पन्न होता है, वही कर्मों की उत्पत्ति का हेतु है।[8] इस प्रकार भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमान काल के विषयों के सम्बन्ध में जो इच्छा है, वही कर्मों की उत्पत्ति का कारण है। वैसे भगवान् बुद्ध ने लोभ, द्वेष और मोह इन तीनों को अशुभ कर्मों की और अलोभ, अद्वेष और अमोह को शुभ कर्मों की उत्पत्ति का हेतु भी कहा है।[9] बौद्ध-दर्शन ने इस तथ्य को भी समझने का प्रयास किया कि वासना की उत्पत्ति का कारण क्या है?

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।४।५
२. शिवपुराण उद्धृत-अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन, पृ० १२४
३. उत्तराध्ययन, ३२।७
४. आचारांग, १।३।२
५. उत्तराध्ययन, ३२।१९
६. धम्मपद, ३४३
७. वही, २१५
८. अंगुत्तरनिकाय, ३।१०९
९. वही, ३।१०७

माध्यमिककारिकावृत्ति में कहा गया है कि काम मैं तेरे मूल को जानता हूँ, तू संकल्पों से उत्पन्न होता है। न मैं तेरा संकल्प करूँगा और न तू उत्पन्न होगा। वस्तुतः काम और संकल्प परस्पराश्रित हैं। काम संकल्पजनित और संकल्प कामजनित है। काम अव्यक्त संकल्प है और संकल्प व्यक्त काम है।

गीता का दृष्टिकोण—गीता में अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण के सम्मुख जब यह प्रश्न उपस्थित किया कि हे कृष्ण, वह क्या वस्तु है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप करता है, जैसे कोई उससे बलपूर्वक पाप करवा रहा हो? कृष्ण ने यही कहा कि हे अर्जुन, रजोगुण से उत्पन्न होनेवाले काम और क्रोध ही प्रेरक कारण है[1]। वस्तुतः काम और क्रोध में भी क्रोध तो काम से ही उत्पन्न होता है।[2] इस प्रकार काम ही एक मात्र प्रेरक तत्त्व है जो मनुष्य को पापाचरण मे नियोजित करता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि प्राणी काम से प्रेरित होकर ही पाप करता है।[3] प्रवृत्तजनों का यही प्रलाप सुना जाता है कि तृष्णा के कारण ही मैं यह कार्य करता हूँ[4]।

यही काम या संकल्प आचरण को नैतिक मूल्य प्रदान करता है। इसी के आधार पर कर्मों का नैतिक मूल्यांकन किया जाता है और यही समग्र नैतिक निर्णय की परिसीमा में आनेवाले कर्मों की उत्पत्ति का मूल हेतु या प्रेरक तथ्य है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने भी व्यवहार का मूलभूत प्रेरक तथ्य काम ही माना है। प्रयोजनवाद के प्रणेता डा० मेकड्यूगल प्रेरक तथ्य को हार्मी, अर्ज या मूलप्रवृत्ति (Instinct) कहते है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में व्यवहार के मूलभूत प्रेरकों का वर्गीकरण—पौर्वात्य एवं पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक इस विषय मे एकमत है कि व्यवहार का प्रेरकतत्त्व वासना या काम है, फिर भी इस प्रश्न को लेकर कि वासना के मूलभूत प्रकार कितने हैं, उनमें मतैक्य नहीं है। फ्रायड जहाँ काम को ही मूल प्रेरक मानते हैं, वहाँ दूसरे विचारकों ने मूलभूत प्रेरकों की संख्या १०० तक मान ली है। यह निश्चय कर पाना कि व्यवहार के मूलभूत प्रेरक या मूल-प्रवृत्तियाँ कितनी हैं, एक जटिल समस्या है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक जगत् मे मूलप्रवृत्ति की परिष्कृत धारणा को प्रस्तुत करनेवाले डा० मेकड्यूगल स्वयं भी अपने लेखन मे इनकी संख्या के बारे में स्थिर नही रह पाये, उन्होंने स्वयं ही अपने प्रारम्भिक लेखन में इनकी संख्या ७ मानी थी, जो बाद में १४ तक हो गयी। मूलभूत १४ मूलप्रवृत्तियाँ निम्न है—१. पलायनवृत्ति (भय), २. घृणा, ३. जिज्ञासा, ४. आक्रामकता (क्रोध), ५. आत्म-गौरव की भावना (मान), ६. आत्म-

१. गीता, ३।३६ २. वही, २।६२ ३-४. गीता (शां०) ३।३७

हीनता, ७. मातृत्व की संप्रेरणा, ८. समूह-भावना, ९. संग्रहवृत्ति, १०. रचनात्मकता, ११. भोजनान्वेषण, १२. काम, १३. शरणागति और १४. हास्य (आमोद)। भारतीय चिन्तन में इस सम्बन्ध में कोई मतैक्य नहीं है कि मूलभूत व्यवहार के प्रेरक तत्त्व कितने हैं।

जैन-दर्शन में व्यवहार के प्रेरक तत्त्वों (संज्ञाओं) का वर्गीकरण—जहाँ तक जैन-विचारणा का प्रश्न है, उसमें भी हमें इनकी संख्या के सम्बन्ध में एकरूपता नहीं मिलती। जैनागमों में सण्णा चेतनापरक व्यवहार के प्रेरक तथ्यों के अर्थ में रूढ़ हो गया है। संज्ञा शारीरिक आवश्यकताओं एवं भावों की मानसीक संचेतना है, जो परवर्ती व्यवहार की प्रेरक बनती है। किसी सीमा तक जैन 'संज्ञा' शब्द को मूलप्रवृत्ति का समानार्थक माना जा सकता है। जैनागमों में संज्ञा का वर्गीकरण अनेक प्रकार से मिलता है। जिनमें तीन वर्गीकरण प्रमुख हैं।

(अ) चतुर्विध वर्गीकरण—१. आहार-संज्ञा, २. भय-संज्ञा, ३. परिग्रह-संज्ञा और ४. मैथुनसंज्ञा।[1]

(ब) दशविध वर्गीकरण—१. आहार, २. भय, ३. परिग्रह, ४. मैथुन, ५. क्रोध ६. मान, ७. माया, ८. लोभ ९. लोक और १०. ओघ।[2]

(स) षोडषविध वर्गीकरण—१. आहार, २. भय, ३. परिग्रह, ४. मैथुन, ५. सुख, ६. दुःख, ७. मोह, ८. विचिकित्सा, ९. क्रोध, १०. मान, ११. माया, १२. लोभ, १३. शोक, १४. लोक, १५. धर्म और १६. ओघ।[3]

इन वर्गीकरणों में प्रथम वर्गीकरण केवल शारीरिक प्रेरकों को प्रस्तुत करता है, जबकि अन्तिम वर्गीकरण में शारीरिक या जैविक (Biological), मानसिक एवं सामाजिक (Social) प्रेरकों का भी समावेश है। दूसरे एवं तीसरे वर्गीकरण में क्रोधादि कुछ कषायों एवं नोकषायों को भी संज्ञा के वर्गीकरण में समाविष्ट कर लिया गया है। संज्ञा और कषाय में अन्तर ठीक उसी आधार पर किया जा सकता है जिस आधार पर पाश्चात्य मनोविज्ञान में मूलप्रवृत्ति और उसके संलग्न संवेग में किया जाता है। क्रोध की संज्ञा क्रोध कषाय से ठीक उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार आक्रामकता की मूलप्रवृत्ति से क्रोध का संवेग भिन्न है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर संज्ञा एवं मूलप्रवृत्तियों के वर्गीकरण में बहुत कुछ एकरूपता पायी जाती है।

बौद्ध-दर्शन के बावन चैतसिक धर्म[4]—बौद्ध-दर्शन में कर्म-प्रेरकों के रूप में चैत्तसिक धर्म माने जा सकते हैं। सभी चैत्तसिक धर्म वे तथ्य हैं जो चित की प्रवृत्ति के हेतु हैं।

---

१. समवायांग, ४।४ २. प्रज्ञापना पद, ८ ३. अभिधानराजेन्द्र खण्ड ७, पृ० ३०१
४. अभिधम्मत्थसंगहो—चैतसिक संग्रह विभाग, पृ० १०-३१

हेतु के आधार पर चित्त दो प्रकार का माना गया है—१. अहेतुक चित्त–जिस चित्त की प्रवृत्ति का लोभ, द्वेष आदि कोई हेतु नहीं है, वह अहेतुक चित्त है और २. सहेतुक चित्त-जिस चित्त की प्रवृत्ति का लोभ-द्वेष और मोह तथा अलोभ (परोपकार वृत्ति), अद्वेष (हित-चिन्ता) और अमोह (प्रज्ञा) इन छह हेतुओं में से कोई भी हेतु होता है। वह सहेतुक चित्त है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार मनुष्य जिस किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, वह इन छह हेतुओं में से किसी एक को लेकर प्रवृत्त होता है। सहेतुक चित्त तीन प्रकार का होता है—१. अकुशल २. कुशल और ३. अव्यक्त। इनमें लोभ, द्वेष और मोह ये तीन अकुशल चित्त के प्रेरक हैं। जब वह अलोभ, अद्वेष और अमोह से प्रवृत्त होता है तो कुशल चित्त कहा जाता है। अव्यक्त चित्त दो प्रकार का होता है—१. विपाक सहेतुक चित्त और २. क्रिया सहेतुक चित्त। जब सहेतुक चित्त की प्रवृत्ति पूर्वकृत-कर्म के फल भोग के रूप में मात्र वेदनात्मक (विपाक चेतना के रूप में) होती है तो वह विपाक सहेतुक चित्त होता है और वीतराग, वीततृष्ण अर्हत् को अपने क्रिया-व्यापार की जो चेतना है, वह क्रिया सहेतुक चित्त कहा जाता है। यद्यपि क्रिया-सहेतुक चित्त में क्रिया प्रेरक अलोभ, अद्वेष और अमोह के तत्त्व तो उपस्थित रहते हैं तथापि तृष्णा के अभाव के कारण उस क्रिया का शुभ या अशुभ फल विपाक नहीं होता (ईर्यापथिक क्रिया के समान) है। यह चित्त केवल अर्हत् का है। इस प्रकार सहेतुक चित्त अकुशल, कुशल तथा अव्यक्त तीन प्रकार होता है। सहेतुक कुशल में अलोभ, अद्वेष और अमोह के कर्म-प्रेरक होते हैं सहेतुक अव्यक्त चित्त में भी अलोभ अद्वेष और अमोह के कर्म-प्रेरक होते हैं, लेकिन उसमें तृष्णा (राग भाव) का अभाव होता है। इन तीन सहेतुक चित्तों के बावन चैत्तसिक धर्म (चित्त अवस्थाएँ) माने गये हैं, जिनमें तेरह अन्य-समान, चौदह अकुशल और पच्चीस कुशल होते हैं।

(अ) **अन्य समान चैत्तसिक**—जो चैत्तसिक कुशल, अकुशल और अव्यक्त सभी चित्तों में समान रूप से रहते हैं, वे अन्य समान कहे जाते हैं। अन्य समान चैत्तसिक भी दो प्रकार के हैं—

(क) साधारण अन्य समान चैत्तसिक-जो प्रत्येक चित्त में सदैव उपस्थित रहते हैं। ये सात हैं—१. स्पर्श २. वेदना ३. संज्ञा, ४. चेतना, ५. एकाग्रता (आंशिक) ६. जीवितेन्द्रिय और ७. मनोविकार।

(ख) प्रकीर्ण अन्य समान चैत्तसिक—जो प्रत्येक चित्त में यथावसर उत्पन्न होते रहते हैं। ये छह हैं--१. वितर्क, २. विचार, ३. अधिमोक्ष (आलम्बन में स्थिति), ४. वीर्य (साहस) ५. प्रीति (प्रसन्नता) और ६. छन्द (इच्छा)।

(ब) **अकुशल चैत्तसिक**— ये चौदह हैं—१. मोह, २. निर्लज्जता, ३. अभीरुता (पाप करने में भय नहीं खाना,) ४. चंचलता, ५. लोभ, ६. मिथ्यादृष्टि, ७. मान, ८. द्वेष, ९. ईर्ष्या, १०. मात्सर्य (कष्ट), ११. कौकृत्य (पश्चात्ताप या शोक),

१२. स्त्यान (चित्त का तनाव), १३. मृद्ध (चैत्तसिकों का तनाव) और १४. विचिकित्सा (संशयालुपन)।

(स) **कुशल चेतसिक**—ये पच्चीस हैं—१. श्रद्धा, २. स्मृति (अप्रमत्तता), ३. पाप-कर्म के प्रति लज्जा, ४. पाप कर्म के प्रति भय, ५. अलोभ (त्यागभाव) ६. अद्वेष (मैत्री), ७. तत्र मध्यस्थता (अनासक्ति, उपेक्षा या समभाव), ८. काय-प्रश्रब्धि (प्रसन्नता) ९. चित्त-प्रश्रब्धि, १०, काय लघुता (अहंकार का अभाव), ११. चित्त-लघुता, १२. काय विनम्रता; १३. चित्त-विनम्रता, १४. काय-सरलता, १५. चित्त-सरलता, १६. काय-कर्मण्यता, १७. चित्त-कर्मण्यता, १८. काय-प्रागुण्य (समर्थता) १९. चित्त-प्रागुण्य, २०. सम्यक्वाणी, २१. सम्यक्-कर्मण्यता (कर्मान्त), २२. सम्यक्-जीविका, २३. करुणा, २४. मुदिता और २५. प्रज्ञा।

जैन-दर्शन में स्वीकृत लगभग सभी कर्मप्रेरक (संज्ञाएँ) बौद्ध-दर्शन के इस वर्गीकरण में आ जाते हैं। इतना ही नहीं, वरन् बौद्ध-दर्शन उनका काफी गहन विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है, लेकिन मूलभूत धारणाओं के विषय में दोनों का दृष्टिकोण समान ही है।

गीता में कर्म-प्रेरकों का वर्गीकरण—गीता में कर्म-प्रेरकों का विस्तृत वर्गीकरण उपलब्ध नहीं है। सामान्यतया गीता में काम और क्रोध, जिन्हें प्रकारान्तर से इच्छा और द्वेष भी कहा गया है, कर्म प्रेरक हैं। दूसरे दृष्टिकोण से गीता में सत्व, रज और तम ये तीन गुण और इनके कारण उत्पन्न होने वाली चित्त की संकल्पात्मक अवस्थाएँ भी कर्म-प्रेरक मानी जा सकती हैं। गीता का यह विश्लेषण संक्षिप्त होते हुए भी मूलतः जैन और बौद्ध मन्तव्य के समान है।

कामनाओं के विभिन्न प्रकारों के विश्लेषण के बाद भी यह प्रश्न रह जाता है कि चित्त में कामना कैसे उत्पन्न होती है और कैसे उसका विकास होता है।

कामना का उद्भव एवं विकास—इन्द्रियों के माध्यम से चेतना का बाह्य विषयों से सम्पर्क होता है। गणधरवाद में कहा गया है कि जिस प्रकार देवदत्त अपने महल की खिड़कियों से बाह्य जगत् को देखता है उसी प्रकार प्राणी इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों से अपना सम्पर्क करता है।[1] कठोपनिषद् में कहा गया है कि इन्द्रियों को बहिर्मुख कर दिया गया है इसलिए जीव बाह्य विषयों की ओर ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं।[2] इन्द्रियों के बहिर्मुख होने से जीव की रुचि बाह्य विषयों में होती है और इसी से उनको पाने की कामना और संकल्प का जन्म होता है। इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर कुछ विषय अनुकूल और कुछ विषय प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। अनुकूल विषयों में पुनः-पुनः प्रवृत्त होना और प्रतिकूल विषयों से बचना, यही वासना है। अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति तथा प्रतिकूल विषय से निवृत्ति का विचार

---

१. गणधरवाद-वायुभूति से चर्चा, २. कठोपनिषद्, २।१।१

(संकल्प) ही वासना या काम का मुख्य आधार है। इन्द्रियों के लिए अनुकूल विषय सुखद और प्रतिकूल विषय दुःखद माने जाते हैं। अतः सुखद की ओर प्रवृत्ति करना और दुःखद से निवृत्ति चाहना—यही वासना की चालना के दो केन्द्र बन जाते हैं, जिनमें सुखद विषय धनात्मक तथा दुःखद विषय ऋणात्मक चालना-केन्द्र हैं।

जैन दृष्टिकोण—जैन-दर्शन के अनुसार भी सुख सदैव अनुकूल और दुःख सदैव ही प्रतिकूल होता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने यह भी बताया है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिए होता है कि उसका जीवन-शक्ति को बनाये रखने की दृष्टि से मूल्य है और दुःख इसलिए प्रतिकूल होता है कि वह जीवन-शक्ति का ह्रास करता है। यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक है। जैन-दार्शनिक भी प्राणीय व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करते हैं।[१] अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण यह इन्द्रिय-स्वभाव है। अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति यह एक नैसर्गिक तथ्य है। क्योंकि सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल होता है, इसलिए प्राणी सुख प्राप्त करना चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। वस्तुतः वासना ही अपने विधायक रूप में सुख और निषेधक रूप में दुःख का रूप ले लेती है। जिससे वासना की पूर्ति हो, वही सुख और जिसमें वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना-पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो, वह दुःख।

अनुकूल सुखद विषयों की ओर आकृष्ट होना और उन्हें ग्रहण करना इन्द्रियों की सहज प्रवृत्ति है। मन के अभाव में यह अन्ध इन्द्रिय-प्रवृत्ति होती है। लेकिन जब इन्द्रियों के साथ मन का योग हो जाता है तो सुखद अनुभूतियों को पुनः-पुनः प्राप्ति का तथा दुःखद अनुभूति से बचने का संकल्प होता है। यहीं इच्छा या संकल्प का जन्म होता है। जैनाचार्यों ने मन और इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की पुनः प्राप्ति की प्रवृत्ति को ही इच्छा कहा है।[२] भविष्य में इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति की अभिलाषा का अतिरेक ही इच्छा है।[३] सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की लालसा या इच्छा ही तीव्र होकर आसक्ति या राग का रूप ले लेती है। दूसरी ओर दुःखद अनुभूतियों से बचने की अभिवृत्ति घृणा एवं द्वेष का रूप ले लेती है। भगवान् महावीर ने कहा है कि मनोज्ञ, प्रिय या अनुकूल विषय ही राग का कारण होते हैं और प्रतिकूल या अमनोज्ञ विषय द्वेष का कारण होते हैं।[४] सुखद विषयों से राग और दुःखद विषयों से द्वेष तथा अन्यान्य कषाय और अशुभ वृत्तियाँ कैसे प्रतिफलित होकर नैतिक पतन की

---

१. दशवैकालिक, ६।११, विशेषावश्यक भाष्य, १६५८
२. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड २, पृ० ५७५   ३. वही, खण्ड २, पृ० ५७५
४. उत्तराध्ययन, ३२।२३

दिशा में ले जाती हैं, इसे उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट किया गया है। इन्द्रियों तथा मन से विषयों के सेवन की लालसा पैदा होती है। सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की इच्छा और दुःख से बचने की इच्छा से ही राग या आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से प्राणी मोह या जड़ता के समुद्र में डूब जाता है। काम-गुण (इन्द्रियों के विषयों) में आसक्त होकर जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, घृणा, हास्य, भय, शोक तथा स्त्री, पुरुष और नपुंसक सम्बन्धी वासनाएँ आदि अनेक प्रकार के शुभाशुभ भावों को उत्पन्न करता है। उन भावों की पूर्ति के प्रयास में अनेक रूपों (शरीरों) को धारण करता है। इस प्रकार इन्द्रियों और मन के विषयों में आसक्त प्राणी जन्म-मरण के चक्र में फँसकर विषयासक्ति से अवश, दीन, लज्जित और करुणा जनकस्थिति को प्राप्त हो जाता है।[1]

बौद्ध दृष्टिकोण—इच्छा की उत्पत्ति का विश्लेषण करते हुए बुद्ध कहते हैं—राग-स्थानीय विषयों को लेकर चित्त में वितर्क पैदा होते हैं, उनसे छन्द (इच्छा) की उत्पत्ति होती है। छन्द (इच्छा) के उत्पन्न होने पर चित्त उन विषयों से संयुक्त हो जाता है, यही चित्त की आसक्ति है।[2] यही आसक्ति राग है। भगवान् बुद्ध के अनुसार राग की उत्पति के दो हेतु हैं—१. शुभ (अनुकूल) करके देखना और २. अनुचित विचार। द्वेष की उत्पति के दो हेतु हैं—१. प्रतिकूल करके देखना और २. अनुचित विचार।[3] यहां यह अवश्य स्मरण रखने की बात है कि बौद्ध-विचारणा चेतना को प्रमुखता देने के कारण इच्छा या राग-द्वेष की उत्पत्ति के कारण को भी मूलतः चैत्तसिक मानती है। सुत्तनिपात में शूचिलोमयक्ष बुद्ध से पूछता है कि राग-द्वेष, रति-अरति और चित्तवितर्क या संकल्प का उद्गम क्या है? बुद्ध कहते हैं कि जिस प्रकार वृक्ष के तने से प्ररोह निकल आते हैं, वैसे ही ये सभी आत्मा के इष्ट-भाव के कारण उत्पन्न होते हैं। यह इष्टभाव या तृष्णा दो प्रकार की मानी गई है—१. भवतृष्णा और २. विभवतृष्णा। ये दोनों तृष्णाएँ ही बौद्ध-दर्शन में व्यवहार की नियामक हैं।

गीता का दृष्टिकोण—गीता-भाष्य में आचार्य शंकर लिखते हैं कि इन्द्रियों के अनुकूल सुखदायक विषयों के अनुभव की चाह ही तृष्णा, आसक्ति या काम है।[4] गीता में भी जैन-दर्शन के समान यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है कि मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करने पर उन विषयों के सम्पर्क की इच्छा उत्पन्न होती है और उस से आसक्ति का जन्म होता है। आसक्ति के विषयों की प्राप्ति मे जब बाधा उत्पन्न होती है तो क्रोध (घृणा) उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में मूढ़ता या अविवेक, अविवेक से स्मृतिनाश और स्मृतिनाश से बुद्धि-नाश हो जाता है और बुद्धि के विनष्ट होने से व्यक्ति विनाश की ओर चला जाता है।[5]

---

१. उत्तराध्ययन, ३२।१०२-१०५ २. अंगुत्तरनिकाय, २।११।६-७
३ वही, २।११।६-७ ४. गीता (शां०), २५ ५. गीता, २।६२-६३

निष्कर्ष—इस प्रकार वासना, काम या तृष्णा से राग-द्वेष के प्रत्यय निर्मित होते हैं। राग और द्वेष वासना या तृष्णा की ही आकर्षणात्मक और विकर्षणात्मक शक्तियाँ हैं। गीताकार का स्पष्ट मत है कि काम से ही क्रोध उत्पन्न होता है। तृष्णा की इन आकर्षणात्मक और विकर्षणात्मक शक्तियों को जैन-दर्शन में राग और द्वेष कहा गया है। बौद्ध-दर्शन में राग और द्वेष के साथ-साथ इनके लिए अधिक समुचित पर्याय है—भवतृष्णा और विभवतृष्णा। आधुनिक मनोविज्ञान में फ्रायड ने इन्हें ही जीवनवृत्ति (Eros)· और मृत्युवृत्ति (Thenatos) कहा है, कर्टलेविन ने इन्हें आकर्षण-शक्ति (Positive valence) और विकर्षण-शक्ति (Negative valence) कहा है। इस प्रकार इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होने पर संस्कारों के कारण मन में विषयों के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल भाव बनते हैं, जिनसे राग-द्वेष का जन्म होता है और वे प्राणी के समग्र क्रिया-कलापों का नियमन करने लगते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कामना, संकल्प या राग-द्वेष की प्रवृत्तियों की उत्पत्ति के मूलभूत आधार हमारी इन्द्रियाँ और मन हैं, अतः उनके सम्बन्ध में भी थोड़ा विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

'इन्द्रिय' शब्द का अर्थ—'इन्द्रिय' शब्द के अर्थ की विशद् विवेचना न करते हुए यहाँ हम केवल यही कहेंगे कि जिन-जिन साधनों की सहायता से जीवात्मा विषयों की ओर अभिमुख होता है अथवा विषयों के उपभोग में समर्थ होता है, वे इन्द्रियाँ हैं[1]। इस अर्थ को लेकर जैन, बौद्ध और गीता की विचारणा में कहीं कोई विवाद नहीं पाया जाता[2]।

इन्द्रियों की संख्या—(अ) **जैन दृष्टिकोण**–जैन-दर्शन में इन्द्रियाँ पाँच मानी गयी हैं। १. श्रोत्र, २. चक्षु, ३. घ्राण, ४. रसना और ५. स्पर्शन (त्वचा)। जैन-दर्शन में मन को नोइन्द्रिय (Quasi sense organ) कहा गया है। जैन-दर्शन में कर्मेन्द्रियों का विचार उपलब्ध नहीं है, फिर भी पाँच कर्मेन्द्रियाँ उसकी १० बल की धारणा में से वाक्बल, शरीरबल एवं श्वासोच्छ्वास-बल में समाविष्ट हो जाती हैं।

(ब) **बौद्ध दृष्टिकोण**—बौद्ध ग्रन्थ विसुद्धिमग्ग में इन्द्रियों की संख्या २२ वर्णित है। बौद्ध-विचारधारा उक्त पाँच इन्द्रियों एवं मन के अतिरिक्त पुरुषत्व, स्त्रीत्व, सुख-दुःख तथा शुभ एवं अशुभ मनोभावों को भी इन्द्रियों में मान लेती है[3]।

(स) **गीता का दृष्टिकोण**—गीता में भी जैन दर्शन के समान पाँच इन्द्रियों एवं छठें मन को स्वीकार किया गया है। शांकर-वेदान्त एवं सांख्य-दर्शन में इन्द्रियों की संख्या ११ मानी गई है। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और १ अन्तःकरण।

१. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड २, पृ० ५४७
२. दर्शन और चिन्तन, भाग १, पृ० १३४-३५
३. विसुद्धिमग्ग, भाग २, पृ० १०३-१२८

जैन-दर्शन में इन्द्रिय-स्वरूप—जैन-दर्शन में उक्त पाँचों इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—१. द्रव्येन्द्रिय २. भावेन्द्रिय। इन्द्रियों का बाह्य संरचनात्मक पक्ष (Structural aspect) द्रव्येन्द्रिय है और उनका आन्तरिक क्रियात्मक पक्ष (Functioual aspect) भावेन्द्रिय है। इनमें से प्रत्येक के पुनः उपविभाग किये गये हैं, जैसाकि निम्न सारणी से स्पष्ट है :
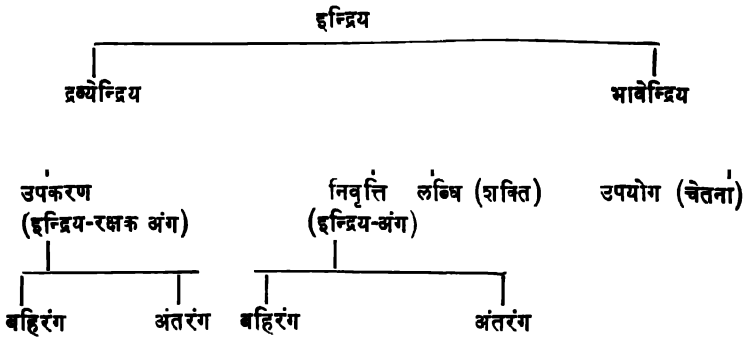
जैन-दर्शन में इन्द्रियों के विषय—(१) श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द तीन प्रकार का माना गया है। जीव-शब्द, अजीव-शब्द और मिश्र-शब्द। कुछ विचारक ७ प्रकार के शब्द भी मानते हैं। (२) चक्षु-इन्द्रिय का विषय रूप-संवेदना है। रूप पाँच प्रकार का है—काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत। शेष रंग इन्हीं के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। (३) घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध-संवेदना है। गन्ध दो प्रकार की है—१. सुगन्ध और २. दुर्गन्ध। (४) रसना का विषय रसास्वादन है। रस पाँच हैं—कटु, अम्ल, लवण, तिक्त और मधुर। (५) स्पर्शन्-इन्द्रिय का विषय स्पर्शानुभूति है। स्पर्श आठ प्रकार का है—उष्ण, शीत, रुक्ष, चिकना, हल्का, भारी, कर्कश, कोमल। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के ३, चक्षुरेन्द्रिय के ५, घ्राणेन्द्रिय के २, रसना के ५ और स्पर्शेन्द्रिय के ८, कुल मिलाकर पाँचों इन्द्रियों के तेईस विषय हैं।

सामान्य रूप से इन्हीं पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जीवात्मा इन विषयों का सेवन करता है। गीता में भी कहा गया है कि यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के आश्रय से ही विषयों का सेवन करता है।[1] इन्द्रियाँ अपने विषयों से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करती हैं और जीवात्मा को उन विषयों से कैसे प्रभावित करती है, इसका विस्तृत विवरण प्रज्ञापनासूत्र और अन्य जैन ग्रन्थों में मिलता है। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि द्रव्य-इन्द्रिय का विषय से सम्पर्क होकर वह भाव-इन्द्रिय को प्रभावित करती है और भाव-इन्द्रिय जीवात्मा की शक्ति होने के

१. गीता, १५।९

कारण उससे जीवात्मा प्रभावित होता है। वस्तुतः यह इन्द्रियों का विषय-सम्पर्क ही व्यक्ति के नैतिक पतन का कारण बन जाता है। अतः समालोच्य आचार-दर्शनों ने संयम पर जोर दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब इन्द्रियों का अनुकूल या सुखद विषयों से सम्पर्क होता है तब उन विषयों में आसक्ति तथा तृष्णा के भाव जागृत होते हैं और जब इन्द्रियों का प्रतिकूल या दुःखद विषयों से संयोग होता है अथवा अनुकूल विषयों की प्राप्ति में कोई बाधा आती है तो घृणा या विद्वेष के भाव जागृत होते हैं। इस प्रकार सुख-दुःख का प्रेरक नियम एक-दूसरे के रूप में बदल जाता है। सुख का स्थान राग आसक्ति या तृष्णा का भाव ले लेता है और दुःख का स्थान घृणा या द्वेष का भाव ले लेता है। राग-द्वेष की ये वृत्तियाँ ही व्यक्ति के नैतिक अधःपतन एवं जन्म-मरण की परम्परा का कारण हैं। सभी समालोच्य आचार-दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। जैन विचारक कहते हैं कि राग और द्वेष दोनों ही कर्म-परम्परा के बीज हैं और कर्म-परम्परा अविद्या (मोह) और जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही दुःख है।[१] गीता में कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, इच्छा (राग) और द्वेष के द्वन्द्व में मोह से आवृत होकर प्राणी इस संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। रजोगुण से उद्भूत होने वाले काम (राग) और क्रोध ही प्राणी को दुराचरण में प्रवृत्त करते हैं।[२] भगवान् बुद्ध कहते हैं जिसने राग द्वेष और मोह को छोड़ दिया है वह फिर माता के गर्भ में नहीं पड़ता।[3]

इस समग्र विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं कि विविध इन्द्रियों एवं मन के द्वारा उनके विषयों के ग्रहण की चाह में वासना के प्रत्यय का निर्माण होता है। वासना का प्रत्यय पुनः अपने विधेयात्मक एवं निषेधात्मक पक्षों के रूप में सुख और दुःख की भावनाओं को जन्म देता है। यही सुख और दुःख की भावनाएँ राग और द्वेष की वृत्तियों का कारण बन जाती हैं। यही राग-द्वेष की वृत्तियाँ क्रोध, मान, माया, लोभादि विविध प्रकार के अनैतिक व्यापार का कारण होती हैं। इन सबके मूल में तो ऐन्द्रिक एवं मनोजन्य व्यापार ही हैं और इसलिए साधारण रूप से यह माना गया कि नैतिक आचरण एवं नैतिक विकास के लिए इन्द्रिय और मन की वृत्तियों का निरोध कर दिया जाये। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि इन्द्रियों पर काबू किये बिना राग-द्वेष एवं कषायों पर विजय पाना सम्भव नहीं होता।[४] अतः इस सम्बन्ध में विचार करना उपयोगी होगा कि क्या इन्द्रिय और मन के व्यापारों का निरोध सम्भव है और यदि सम्भव है तो उसका वास्तविक रूप क्या है?

१. उत्तराध्ययन, ३२।६
२. गीता, ७।२७।३।३७
३. संयुत्तनिकाय, १।२।१०
४. योगशास्त्र, ४।२४

जैन-दर्शन में इन्द्रिय-निरोध—इन्द्रियों के विषय अपनी पूर्ति के प्रयास में किस प्रकार नैतिक पतन की ओर ले जाते हैं, इसका सजीव चित्रण उत्तराध्ययन के ३२ वें अध्याय में मिलता है। यहां उसके कुछ अंश प्रस्तुत हैं।

रूप को ग्रहण करनेवाली चक्षु इन्द्रिय है, और रूप चक्षु इन्द्रिय का विषय है। प्रिय रूप राग का और अप्रिय रूप द्वेष का कारण है।[१] जिस प्रकार दृष्टि के राग में आतुर पतंग मृत्यु पाता है, उसी प्रकार रूप में अत्यंत आसक्त होकर जीव अकाल में ही मृत्यु पाते हैं।[२] रूप की आशा के वश पड़ा हुआ अज्ञानीजीव, त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंमा करता है, परिताप उत्पन्न करता है तथा पीड़ित करता है[३]। रूप में मूच्छित जीव उन पदार्थों के उत्पादन रक्षण एवं व्यय में और वियोग की चिन्ता में लगा रहता है। उसे सुख कहां है? वह संभोग काल में भी अतृप्त रहता है[४]। रूप में आसक्त मनुष्य को थोड़ा भी सुख नहीं होता, जिस वस्तु की प्राप्ति में उसने दुःख उठाया, उसके उपभोग के समय भी वह दुःख पाता है।[५]

श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करने वाली और शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का ग्राह्य विषय है। प्रिय शब्द राग का और अप्रिय शब्द द्वेष का कारण है।[६] जिस प्रकार राग में गृद्ध मृग मारा जाता जाता है, उसी प्रकार शब्दों के विषय मे मूच्छित जीव अकाल में ही नष्ट हो जाता है।[७] मनोज्ञ शब्द की लोलुपता के वशवर्ती भांरीकर्मी जीव अज्ञानी होकर त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, परिताप उत्पन्न करता है और पीड़ा देता है।[८] शब्द में मूच्छित जीव मनोहर शब्द वाले पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण एवं वियोग की चिता में लगा रहता है। वह संभोग काल के समय में भी अतृप्त ही रहता है, फिर उसे सुख कहां है[९]? तृष्णा के वश में पड़ा हुआ वह जीव चोरी करता है तथा झूठ और कपट की वृद्धि करता हुआ अतृप्त ही रहता है और दुःख से नहीं छूट पाता।[१०]

गन्ध को नासिका ग्रहण करती है और गन्ध नासिका का ग्राह्य विषय है। सुगन्ध राग का कारण है और दुर्गन्ध द्वेष का कारण है।[११] जिस प्रकार सुगन्ध में मूच्छित सर्प बिल से बाहर निकलकर मारा जाता है, उसी प्रकार गन्ध में अत्यन्त आसक्त जीव अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।[१२] सुगन्ध के वशीभूत होकर बालजीव अनेक प्रकार से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, उन्हें दुःख देता है।[१३] सुगन्ध में

---

१. उत्तराध्ययन, ३२।२३ २. वही, ३२।२४ ३. वही, ३२।२७
४. वही, ३२।२८ ५. वही, ३२।३२ ६. वही, ३२।३६
७. वही, ३२।३७ ८. वही, ३२।४० ९. वही, ३२।४१
१०. वही, ३२।४३ ११. वही, ३२।४९ १२. वही, ३२।५०
१३. वही, ३२।५३

आसक्त जीव सुगन्धित पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण, व्यय तथा वियोग की चिन्ता में लगा रहता है, यह संभोग काल में भी अतृप्त रहता है। फिर उसे सुख कहां है ?[1] गंध में आसक्त जीव को कुछ भी सुख नहीं होता, वह सुगन्ध के उपभोग के समय भी दुःख एवं क्लेश ही पाता है।[2]

रस को रसनेन्द्रिय ग्रहण करती है और रस रसनेन्द्रिय का ग्राह्य विषय है। मन-पसन्द रस राग का कारण और मन के प्रतिकूल रस द्वेष का कारण है।[3] जिस प्रकार मांस खाने के लालच में मत्स्य कांटे में फँसकर मारा जाता है, उसी प्रकार रसों मे अत्यन्त गृद्ध जीव अकाल में मृत्यु का ग्रास बन जाता है।[4] रसों में आसक्त जीव को कुछ भी सुख नहीं होता, वह रसभोग के समय दुःख और क्लेश ही पाता हैं।[5] इसी प्रकार अमनोज्ञ रसों मे द्वेष करने वाला जीव भी दुःख-परम्परा बढाता है और कलुषित मन से कर्मों का उपार्जन करके दुःखद फल भोगता है।[6]

स्पर्श को शरीर ग्रहण करता है और स्पर्श स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य विषय है। सुखद स्पर्श राग का तथा दुःखद स्पर्श द्वेष का कारण है।[7] जो जीव सुखद स्पर्शों में अति आसक्त होता है, वह जंगल के तालाब के ठंडे पानी में पड़े हुए और मकर द्वारा ग्रसे हुए भैंसे की तरह अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।[8] स्पर्श की आशा मे पड़ा हुआ भारीकर्मी जीव चराचर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उन्हें दुःख देता है।[9] सुखद स्पर्शों से मूच्छित प्राणी उन वस्तुओं की प्राप्ति, रक्षण, व्यय एवं वियोग की चिन्ता में ही घुला करता है। भोग के समय भी वह तृप्त नहीं होता, फिर उसके लिए सुख कहाँ ?[10] स्पर्श में आसक्त जीवों को किंचित् भी सुख नहीं होता। जिस वस्तु की प्राप्ति क्लेश एवं दुःख से हुई, उसके भोग के समय भी कष्ट ही मिलता है।[11]

आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र में कहते हैं कि स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी, रसनेन्द्रिय के वशीभूत मछली, घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर भ्रमर, चक्षु-इन्द्रिय के वशीभूत होकर पतंगा और श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत होकर हरिण मृत्यु का ग्रास बनता है। जब एक इन्द्रिय के विषयों में आसक्ति मृत्यु का कारण बनती है तो फिर पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन में आसक्त मनुष्य की क्या गति होगी ?

बौद्ध-दर्शन में इन्द्रिय निरोध—इतिवुत्तक में बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओ, दो बातों से युक्त भिक्षु इसी जन्म में दुःख, पीड़ा, परेशानी और सन्ताप के साथ विहरता है

---

१. उत्तराध्ययन, ३२।५४ २. वही, ३२।५८ ३. वही, ३२।६२
४ वही, ३२।६३ ५. वही, ३२।७१ ६. वही, ३२।७२
७. वही, ३२।७२ . ८. वही, ३२।७६. ९. वही, ३२।७०
१०. वही, ३२।८७ ११. वही, ३२।८४

तथा शरीर छूटने पर उसकी दुर्गति जाननी चाहिए। कौन-सी दो ?—इन्द्रियों में संयम न करना और भोजन की मात्रा न जानना।

जिस के चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना काय, और मन इतने द्वार गुप्त नहीं हैं, भोजन करने में मात्रा नही जानने वाला और इन्द्रियों में असंयमी भिक्षु शारीरिक दुःख तथा चैत्तसिक दुःख को प्राप्त होता है, उसी प्रकार भिक्षु जलती हुई काया और जलते हुए चित्त से दुःखपूर्वक विहरता है।

भिक्षुओ, दो बातों से युक्त भिक्षु इसी जन्म में सुख, पीड़ा-रहित, परेशानी रहित और सन्ताप रहित विहरता है तथा शरीर छूटने पर उसकी सुगति जाननी चाहिए। किन दो ?—इन्द्रियों में संयम करना और भोजन करने में मात्रा जानना।

जिसके चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, काय और मन इनके द्वार भली प्रकार गुप्त हैं, भोजन करने में मात्रा जानने वाला और इन्द्रियों में संयमी है, वह भिक्षु सुखपूर्वक शरीर-सुख तथा चैत्तसिक-सुख को प्राप्त होता है उस प्रकार का भिक्षु न जलती हुई काया और न जलते हुए चित्त से युक्त सुखपूर्वक विहरता है।[1]

धम्मपद में भी कहा है कि जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में असंयत रहता है उसे मार (काम) साधना से उसी प्रकार गिरा देता है, जैसे कमजोर वृक्ष को वायु गिरा देती है। लेकिन जो इन्द्रियों के प्रति सुसंयत रहता है उसे मार (काम) उसी प्रकार साधना से विचलित नहीं कर सकता, जैसे वायु पर्वत को विचलित नहीं कर सकता।[2] प्राज्ञ भिक्षु के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रियों का निरोध कर सन्तुष्ट हो, भिक्षु-अनुशासन में संयम से रहे।[3]

गीता में इन्द्रिय-निरोध—गीता में भी भगवान् कृष्ण ने इन्द्रिय-दमन के सम्बन्ध में कहा है कि जिस प्रकार जल में नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही मन-सहित विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय इस पुरुष की बुद्धि को हरण कर लेने में समर्थ है[4]। जिस पुरुष की इन्द्रियाँ सब प्रकार से इन्द्रियों के विषयों से वश में की हुई होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है[5]। साधना में प्रयासशील बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ जबरदस्ती हर लेती हैं और उसे साधना के पथ से च्युत कर देती हैं। अतः सब इन्द्रियों को अपने अधिकार में करके चित्त को मुझ परमात्मा में नियोजित करे। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ अपने अधिकार में हैं, वही वस्तुतः प्रज्ञावान् है[6]। अन्यत्र कहा गया है कि सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करके

१. इतिवुत्तक, २।१।१ २. धम्मपद, ७-८ ३. धम्मपद, ३७५
४. गीता, २।६७ ५. वही, २।६८ ६. वही, २।६०-६१

ज्ञान का विनाश करने वाले इस काम का परित्याग कर[1] और यदि तू यह समझे कि इन्द्रियों को रोक कर कामरूप वैरी को मारने की मेरी शक्ति नहीं है तो तेरी यह भूल है, क्योंकि इस शरीर से तो इन्द्रियों को परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं और इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है, अतः आत्मा के द्वारा इनका निरोध करना ही चाहिए[2]।

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित होती हैं और ये इन्द्रियों के विषय जीवात्मा में विकार उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार आत्मा का आतंरिक समत्व भंग हो जाता है। इसलिए कहा गया है कि साधक शब्द, रूप, रस, गंध तथा स्पर्श इन पांचों इन्द्रिय-विषयों के सेवन को सदा के लिए छोड़ दे।[3]

क्या इन्द्रिय-दमन संभव है?—सभी आचार-दर्शन इन्द्रिय-संयम पर बल देते हैं। लेकिन क्या इनका निरोध संभव है? विचार करने पर ज्ञात होता है कि जब तक जीव देह-धारण किये है, उसके द्वारा इन्द्रिय-व्यापार का पूर्ण निरोध संभव नहीं। कारण यह है कि वह जिस परिवेश में रहता है, उसमें इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क रखना ही पड़ता है। जैसे, आँख के समक्ष उसका विषय प्रस्तुत होने पर वह उसे देखने से वंचित नहीं रख सकता। भोजन करते समय आस्वाद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापार का निरोध असम्भव तथ्य है।

यदि इन्द्रिय-व्यापारों का पूर्ण निरोध सम्भव नहीं तो फिर इन्द्रिय-संयम का क्या अर्थ है? इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है।

जैन-दर्शन में इन्द्रिय-दमन—जैन-दर्शन के अनुसार इन्द्रिय-व्यापारों के निरोध का अर्थ इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख करना नहीं वरन् विषय-सेवन के मूल में निहित राग-द्वेष का समाप्त करना है। इस विषय पर आचारांगसूत्र में सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। उसमें कहा गया है कि यह शक्य नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जायें, अतः शब्दों का नहीं, शब्द के प्रति जाग्रत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि आँखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप देखा न जाये, अतः रूप का नहीं, रूप के प्रति जाग्रत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि नाक के समक्ष आयी हुई सुगन्धि या दुर्गन्धि सूँघने में न आये, अतः गंध का नहीं, गंध के प्रति जगने वाली राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि रसना पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आये, अतः रस का नहीं, रस के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि शरीर से स्पर्श होने वाले अच्छे या

---

१. गीता, ३।४१ २. वही, ३।४२ ३. उत्तराध्ययन, १६।१०

बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, अतः स्पर्श का नहीं, स्पर्श के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए।[१] जैन-दार्शनिक कहते हैं कि इन्द्रियों के शब्दादि मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए ही रागद्वेष के कारण बनते हैं, वीतराग के लिए नहीं।[२] इन्द्रियों और मन के विषय, रागी पुरुषों के लिए ही दुःख (बन्धन) के कारण होते हैं। ये विषय वीतरागियों के बन्धन या दुःख का कारण नहीं हो सकते हैं।[३] काम भोग न किसी को बन्धन में डालते हैं और न किसी मे विकार ही पैदा कर सकते हैं, किन्तु जो विषय में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है।[४]

बौद्ध दर्शन में इन्द्रिय-दमन—इस विषय में बौद्ध आचार-परम्परा का दृष्टिकोण भी जैन-परम्परा और गीता के समान ही है। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि न चक्षु रूपों का बन्धन है और न रूप ही चक्षु का बन्धन है। किंतु जो जहाँ दोनों के निमित्त से छन्द (राग) उत्पन्न है, वस्तुतः वही बन्धन है।[५] ज्ञानी साधक के देखने में देखना भर होगा, सुनने में सुनना भर होगा, जानने में जानना भर होगा अर्थात् वह रूपादि का ज्ञाता-दृष्टा होगा, उनमें रागासक्त नहीं होगा। अप्रमत्त साधक रूप आदि में राग नहीं करता; रूपों को देखकर स्मृतिवान् रहता है, विरक्त चित्त से वेदन करता है, उनमें अनासक्त रहता है। रूप को देखने और जानने से उसका रागबन्धन घटता ही है, बढ़ता नहीं, क्योंकि वह स्मृतिवान् होकर विहरता है।[६] बुद्ध की दृष्टि में भी सारा बन्धन इन्द्रिय व्यापार में नही, वरन् मन की दशा पर निर्भर है।[७]

गीता में इन्द्रिय-दमन—गीता में भी हम इसी प्रकार का निर्देश पाते है। उसमें कहा गया है कि इन्द्रियों के अर्थों में अर्थात् सभी इन्द्रियों के विषयों में स्थित जो राग और द्वेष है उन दोनों के वश में नही होये, क्योंकि वे दोनों ही कल्याण-मार्ग में विघ्न डालने वाले महान् शत्रु हैं।[८] जो मूढ़-बुद्धि पुरुष इन्द्रियों को उनके विषयों से बलात् रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है, उस पुरुष के राग-द्वेष निवृत्त नहीं होने के कारण वह मिथ्याचारी या दम्भी कहा जाता है।[९] इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु राग निवृत्त नहीं होता।[१०] ऐसा व्यक्ति सच्चे अर्थों में निवृत्त नहीं कहा जाता। वास्तविकता यह है कि इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध नहीं, वरन् उनमें निहित राग-द्वेष का

१. आचारांग, २।३।१५।१३१-१३५
२. उत्तराध्ययन, ३२।१०९
३. वही, ३२।१००
४. वही, ३२।१०१
५. संयुत्तनिकाय, ४।३५।२३२
६. वही, ४।६५।९५
७. वही, ४।३५।९४
८. गीता, ३।३४
९. वही, ३।६
१०. वही, २।५९

निरोध करना होता है, क्योंकि बन्धन का वास्तविक कारण इन्द्रिय-व्यापार नहीं, वरन् राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ हैं। गीता कहती है कि राग, द्वेष से विमुक्त मनुष्य इन्द्रिय-व्यापार करता हुआ भी पवित्रता को ही प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता इन्द्रिय-निरोध के स्थान पर मनोवृत्तियों के निरोध पर ही जोर देती है।

जैन, बौद्ध और गीता के समालोच्य आचार-दर्शन इन्द्रिय-निरोध का वास्तविक अर्थ इन्द्रिय-व्यापार का निरोध नहीं, वरन् उनके पीछे रही राग-द्वेष की वृत्तियों का निरोध बताते हैं। नैतिक दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापारों के स्थान पर मन की वृत्तियाँ ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। अतः यह विचार करना आवश्यक है कि यह मन क्या है और उसका नैतिक जीवन से क्या सम्बन्ध है ?

१. गीता, २।६४,५।८-९

१७

मन का स्वरूप तथा नैतिक जीवन में उसका स्थान

१७ मन का स्वरूप तथा नैतिक जीवन में उसका स्थान

समग्र संकल्प, इच्छाएँ, कामनाएँ, एवं राग-द्वेष की वृत्तियाँ आदि अधिकांश नैतिक प्रत्यय मनःप्रसूत हैं, मन ही सद्-असद् का विवेक करता है। यही हमारे शुभाशुभ भावों का आधार है, अतः मन के स्वरूप पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

§ मन का स्वरूप

मन के स्वरूप-विश्लेषण की प्रमुख समस्या यह है कि मन भौतिक तत्त्व है अथवा चेतन तत्त्व है ? जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन इस विषय में तीन भिन्न-भिन्न विचार रखते हैं—१. बौद्ध-दर्शन मन को चेतन तत्त्व मानता है। २. गीता सांख्य-दर्शन के अनुरूप मन को जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न और त्रिगुणात्मक मानती है।[1] ३. जैन-दर्शन मन को भौतिक और अभौतिक दोनों मानता है। जैन-परम्परा से मिलता-जुलता दृष्टिकोण योग-वाशिष्ठ में मिलता है। यद्यपि योगवाशिष्ठके निर्वाण-प्रकरण में मन को जड़ कहा गया है और उसकी गतियों को जड़ पाषाण खण्ड के समान अन्य से नियंजित माना गया है, तथापि मन को जैन-विचारणा के समान जड़-चेतन उभयरूप भी माना गया है।[2]

द्रव्यमन और भावमन—जैन-विचार में मन के भौतिक रूप को द्रव्य-मन और चेतनरूप को भावमन कहा गया है[3]। द्रव्य-मन मनोवर्गणा नामक परमाणुओं से बना हुआ है। यह मन का आंगिक एवं संरचनात्मक पक्ष है। साधारणतया इसमें शरीर के सभी ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक अंग आ जाते हैं। मनोवर्गणा के परमाणुओं से निर्मित उस भौतिक-रचना-तन्त्र में प्रवाहित होनेवाली चैतन्यधारा भावमन है। दूसरे शब्दों में इस रचना-तंत्र को आत्मा से मिली हुई ज्ञान, वेदना एवं संकल्प की चैतन्य-शक्ति ही भावमन है।

मन शरीर के किस भाग में स्थित है ?—एक प्रश्न यह भी उठता है कि द्रव्यमन और भावमन शरीर के किस भाग में स्थित हैं ? दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ गोम्मटसार जीवकाण्ड में द्रव्यमन का स्थान हृदय माना गया है, जबकि श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में ऐसा कोई निर्देश नहीं है कि मन शरीर के किस विशेष भाग में स्थित है। पं० सुखलालजी यह मानते हैं कि श्वेताम्बर-परम्परा को समग्र स्थूल-शरीर ही द्रव्यमन का

१. गीता, ७।४, १३।५

२. योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण, ७८।२१, ३।९१।३१३।९१।३७, ३।९५।४०,३।९६।४१

३. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ६, पृ० ७४

स्थान इष्ट है। जहां तक भावमन के स्थान का प्रश्न है उसका स्थान आत्मा ही है, क्योंकि आत्मप्रदेश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। अतः भावमन का स्थान भी सम्पूर्ण शरीर ही सिद्ध होता है।[1] बौद्ध-दर्शन में मन को हृदय प्रदेशवर्ती माना गया है, जो कि दिगम्बर सम्प्रदाय की द्रव्यमन विषयक मान्यता के निकट है। सांख्य-परम्परा श्वेताम्बर-परम्परा के निकट है। पं० सुखलालजी का कथन है कि सांख्य-परम्परा के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस परम्परा के अनुसार मन सूक्ष्म या लिङ्ग-शरीर में जो अष्टादश तत्त्वों का विशिष्ट निकाय रूप है, प्रविष्ट है और सूक्ष्म शरीर का स्थान समस्त स्थूल शरीर ही मानना उचित जान पड़ता है। अतएव उस परम्परा के अनुसार मन का स्थान समग्र स्थूल शरीर सिद्ध है।[2]

जैन-दर्शन में द्रव्यमन और भावमन की कल्पना—जैन नैतिक विचारणा में बन्धन के लिए अमूर्त चेतन आत्म-तत्त्व और जड़ कर्म-तत्त्व का जो सम्बन्ध स्वीकृत है, उसकी व्याख्या के लिए मन के स्वरूप का यही सिद्धान्त अभिप्रेत है; अन्यथा जैन-दर्शन की बन्धन और मुक्ति की धारणा ही असम्भव होगी। वेदान्तिक अद्वैतवाद, बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के निरपेक्ष दर्शनों में सम्बन्ध की समस्या ही नहीं आती। सांख्य-दर्शन आत्मा को कूटस्थ मानता है। अतः वहाँ भी पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की कोई समस्या नहीं है। इसलिए वे मन को एकांत जड़ अथवा चेतन मानकर अपना काम चला लेते हैं लेकिन जड़ और चेतन के मध्य सम्बन्ध मानने के कारण जैन-दर्शन के लिए मन को उभयरूप मानना आवश्यक है। जैन-विचार में मन उभयात्मक होने के कारण ही जड़ कर्मवर्गणा और चेतन-आत्मा के मध्य योजक कड़ी बन गया है। मन की शक्ति चेतना में है और उसका कार्य-क्षेत्र भौतिक जगत् है। जड़ पक्ष की ओर से वह भौतिक पदार्थों से प्रभावित होता है और चेतन-पक्ष की ओर से आत्मा को प्रभावित करता है। इस प्रकार जैन-दार्शनिक मन के द्वारा आत्मा और जड़ तत्त्व के मध्य अपरोक्ष सम्बन्ध बना देते हैं और इस सम्बन्ध के आधार पर ही अपनी बन्धन की धारणा को सिद्ध करते हैं। मन, जड़ और चेतन के मध्य अवस्थित एक ऐसा माध्यम है जो दोनों स्वतंत्र सत्ताओं में सम्बन्ध बनाये रखता है। जब तक यह माध्यम रहता है, तभी तक जड़ एवं चेतन जगत् में पारस्परिक प्रभावकता रहती है, जिसके कारण बन्धन का सिलसिला चलता रहता है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए पहले मन के इन उभय पक्षों को अलग करना होता है। इससे मन की शक्ति क्षीण होने लगती है और अन्त में मन का विलय हो जाने पर निर्वाण प्राप्त हो जाता है। निर्वाण-दशा में उभयात्मक मन का ही अभाव होने से बन्धन की सम्भावना नहीं रहती।

द्रव्यमन और भावमन का सम्बन्ध—जैन विचारधारा मन के अभौतिक और भौतिक पक्षों को स्वीकार करके ही संतोष नहीं मान लेती, वरन् उभयात्मक मन के

१-२. दर्शन और चिन्तन, भाग १, पृ० १४०

द्वारा चेतन (आत्मा) और जड़ (कर्म-परमाणुओं) के बीच पारस्परिक प्रतिक्रिया भी स्वीकार करती है। लेकिन उभयात्मक मन के माध्यम से जड़ और चेतन में पारस्परिक प्रतिक्रिया मान लेने मात्र से समस्या का पूर्ण समाधान नहीं होता। प्रश्न यह है कि बाह्य भौतिक तथ्य चेतन आत्मा को कैसे प्रभावित करते हैं, जबकि दोनों स्वतंत्र हैं। यदि उभय-रूप मन को उनका योजक तत्त्व मान लिया जाये तो भी इससे समस्या हल नहीं होती। यह तो समस्या का खिसकाना मात्र है। जो सम्बन्ध की समस्या भौतिक जगत् और आत्मा के मध्य थी, उसे केवल द्रव्यमन और भावमन के नाम से मनोजगत् में स्थानांतरित कर दिया गया है। द्रव्यमन और भावमन कैसे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं यह समस्या अभी बनी हुई है। चाहे यह सम्बन्ध की समस्या भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के मध्य हो, चाहे जड़ कर्म-परमाणु और चेतन आत्मा के मध्य हो अथवा मन के आधिभौतिक और भौतिक स्तरों पर हो, समस्या अवश्य बनी रहती है। उसके निराकरण के तीन ही मार्ग हो सकते हैं या तो भौतिक और आध्यात्मिक सत्ताओं में से किसी एक के अस्तित्व का निषेध कर दिया जाये अथवा उनमें एक प्रकार का समानान्तरवाद मान लिया जाये या फिर उनमें क्रिया-प्रतिक्रिया को मान लिया जाये। जैन दार्शनिकों ने पहले विकल्प में यह दोष पाया कि यदि केवल चेतन तत्त्व की सत्ता मानी जाये तो समस्त भौतिक जगत् को मिथ्या कहकर अनुभूति के तथ्यों को ठुकरा देना होगा, जैसे कि विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्ध-दार्शनिकों तथा अद्वैतवादी आचार्य शंकर ने किया। दूसरी ओर यदि चेतन की स्वतंत्र सत्ता का निषेध कर मात्र जड़ तत्त्व की सत्ता को ही माना जाये, तो भौतिकवाद में जाना होगा, जिसमें नैतिक जीवन के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार जैन-विचारकों ने समानान्तरवाद को ही स्वीकार किया है। वे लिखते हैं कि जैन दार्शनिकों ने मन एवं शरीर का द्वैत स्वीकार किया है और इसलिए वे समानान्तरवाद को भी उसकी समस्त सीमाओं सहित स्वीकार कर लेते हैं। वे चैत्तसिक और अचैत्तसिक तथ्यों में एक पूर्व संस्थापित सामञ्जस्य स्वीकार करते हैं,[1] लेकिन जैन-विचारणा द्रव्यमन और भावमन के मध्य केवल समानान्तरवाद या पूर्व संस्थापित सामञ्जस्य ही नहीं मानती। व्यावहारिक दृष्टि से तो जैन विचारक उनमें वास्तविक सम्बन्ध भी मानते हैं। समानान्तरवाद या पूर्व-संस्थापित सामञ्जस्य तो केवल पारमार्थिक या द्रव्यार्थिक दृष्टि से स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जैन-दार्शनिक तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में जड़ और चेतन में नितान्त भिन्नता मानते हुए भी अनुभव के स्तर पर या मनोवैज्ञानिक स्तर पर उनमें वास्तविक सम्बन्ध को स्वीकार कर लेते हैं। डा० कलघाटगी लिखते हैं कि जैन चिन्तकों ने मानसिक भावों को जड़ कर्मों से प्रभावित होने के सन्दर्भ में एक परिष्कृत समानान्तरवाद प्रस्तुत किया है, जो व्यक्ति के मन और शरीर के सम्बन्ध में एक प्रकार का मनोभौतिक समानान्तरवाद

१. भारतीय दर्शन, पृ० २८४-८५

है, जबकि वे मानसिक और शारीरिक तथ्यों के मध्य होनेवाली पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया को उपेक्षित नहीं करते। उनका सिद्धान्त समानान्तरवाद से भी परे जाता है और शरीर तथा आत्मा के मध्य अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध की अवधारणा को स्वीकार करता है। उनका द्रव्यमन और भावमन का सिद्धान्त इस क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है। जैन-दृष्टिकोण जड़ और चैतन्य के मध्य पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा को संस्थापित करता है।[1]

नैतिक चेतना में मन का स्थान—भारतीय आचार-दर्शन जीवात्मा के बन्धन और मुक्ति की समस्या की एक विस्तृत व्याख्या है। भारतीय चिन्तकों ने केवल मुक्ति की उपलब्धि के हेतु आचरण-मार्ग का उपदेश ही नहीं दिया, वरन् उन्होंने यह बताने का भी प्रयास किया कि बन्धन और मुक्ति का मूल कारण क्या है? अपने चिन्तन और अनुभूति के प्रकाश मे उन्होंने इस प्रश्न का जो उत्तर पाया, वह है—मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।[2] जैन, बौद्ध तथा वैदिक आचार-दर्शनों मे यह तथ्य सर्वसम्मत रूप से ग्राह्य है।

जैन दृष्टिकोण—जैन-दर्शन मे बन्धन और मुक्ति की दृष्टि से मन की अपार शक्ति मानी गई है। बन्धन की दृष्टि से वह पौराणिक ब्रह्मास्त्र से भी भयंकर है। कर्म-सिद्धान्त का एक विवेचन है कि मात्र काययोग से मोहनीय जैसे कर्म का बन्ध उत्कृष्ट रूप मे एक सागर[3] की स्थिति का हो सकता है। वचनयोग मिलते ही पच्चीस सागर की स्थिति का उत्कृष्ट बन्ध हो सकता है। घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका के मिलने पर पचास सागर, और चक्षु के मिलते ही सौ सागर की स्थिति का बन्ध हो सकता है और जब अमनस्क पंचेन्द्रिय की दशा में कान मिलते हैं तो हजार सागर तक का बन्ध हो सकता है। लेकिन यदि मन मिल गया और उत्कृष्ट मोहनीय कर्म का बन्ध होने लगा तो वह लाख और करोड़ सागर को पार कर जाता है। सत्तर क्रोडाक्रोडी (७० करोड़ × ७० करोड़) सागरोपम का सर्वोत्कृष्ट मोहनीय कर्म का बन्ध मन मिलने पर ही होता है। यह है बन्धन की दृष्टि से मन की अपार शक्ति। इसलिए मन को खुला छोड़ने से पहले मनन करना चाहिए कि वह आत्मा को किसी गहन गर्त मे तो नही धकेल रहा है?

जैन-विचारणा मे मन मुक्ति के मार्ग का प्रथम प्रवेशद्वार है। वहाँ केवल समनस्क प्राणी ही इस मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। अमनस्क प्राणियों को तो इस राजमार्ग पर चलने का अधिकार ही प्राप्त नही है। सम्यग्दृष्टि केवल समनस्क प्राणियों को ही

१. सम प्राब्लेम्स आफ जैन साइकोलाजी, पृ० २९
२. (अ) मैत्राण्युपनिषद्, ४।११ (ब) ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, २
३. सागर-समय का माप-विशेष

प्राप्त हो सकती है और वे ही अपनी साधना के द्वारा मोक्षमार्ग की ओर बढ़ने के अधिकारी हैं। सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए तीव्रतम क्रोधादि आवेगों का संयमन आवश्यक है, क्योंकि मन के द्वारा ही आवेगों का संयमन सम्भव है। इसीलिए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए की जानेवाली ग्रन्थभेद की प्रक्रिया में यथाप्रवृत्तिकरण तब होता है जब मन का योग होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में महावीर कहते हैं कि मन के संयमन से एकाग्रता आती है, जिससे ज्ञान (विवेक) प्रकट होता है और उस विवेक से सम्यक्त्व अथवा शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि होती है और अज्ञान (मिथ्यात्व) समाप्त हो जाता है।[१] इस प्रकार अज्ञान का निवर्तन और सत्य दृष्टिकोण की उपलब्धि जो मुक्ति (निर्वाण) की अनिवार्य शर्त है, बिना मनःशुद्धि के सम्भव नहीं है। अतः जैन-विचारणा में मन मुक्ति का आवश्यक हेतु है। शुद्ध संयमित मन निर्वाण का हेतु बनता है, जब कि अनियंत्रित मन ही अज्ञान अथवा मिथ्यात्व का कारण होकर प्राणियों के बन्धन का हेतु है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं 'मन का निरोध हो जाने पर कर्म (बन्धन) भी पूरी तरह रुक जाते हैं, क्योंकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है, लेकिन जो पुरुष मन का निरोध नहीं करता है उसके कर्मों (बन्धन) की अभिवृद्धि होती रहती है।[२]'

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध-दर्शन में चित्त, विज्ञप्ति आदि मन के पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान् बुद्ध का कथन है कि सभी प्रवृत्तियों का आरम्भ मन से होता है, मन की उनमें प्रधानता है। वे प्रवृत्तियाँ मनोमय हैं। जो सदोष मन से आचरण करता है, भाषण करता है, उसका दुःख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे रथ का पहिया घोड़े के पैरों का अनुगमन करता है।[3] जो स्वच्छ (शुद्ध) मन से भाषण एवं आचरण करता है, उसका सुख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे साथ नहीं छोड़ने वाली छाया।[४] कुमार्ग पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक अहितकारी[५] और सन्मार्ग पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक हितकारी है।[६] जो इसका संयम करेंगे, वे मार के बन्धन से मुक्त हो जायेंगे।[७] महायान सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ लंकावतारसूत्र में कहा है 'चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है'।[८]

गीता एवं वेदान्त का दृष्टिकोण—वेदान्त-परम्परा में भी सर्वत्र यही दृष्टिकोण मिलता है कि बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। मैत्राण्युपनिषद् एवं तेजोबिन्दूपनिषद् में भी कहा गया है कि 'मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण मन है।

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २९।५६ २. योगशास्त्र, ४।३८ ३. धम्मपद, १
४. वही, २ ५. वही, ४२ ६. वही, ४३
७. वही, ३७ ८. लंकावतारसूत्र, १४५

उसके विषयासक्त होने पर बन्धन और उसका निर्विषय होना ही मुक्ति है'।[१] गीता में कहा गया है 'इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही इस (वासना) के वासस्थान कहे गये हैं और (वासना) इन के द्वारा ही ज्ञान को आवृत्त कर जीवात्मा को मोहित करती है (बन्धन में डाले रखती है)'।[२] 'जिसका मन प्रशान्त है, पाप (वासना) से रहित है, जिसके मन की चंचलता समाप्त हो गई है, उस ब्रह्मभूत योगी को उत्तम आनन्द प्राप्त होता है'।[3] आचार्य शंकर भी विवेक चूड़ामणि में लिखते कि हैं मन से ही बन्धन की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की। मन ही देहादि विषयों में राग कर बाँधता है और फिर विषवत् विषयों में विरसता उत्पन्न कर मुक्त कर देता है। इसीलिए इस जीव के बन्धन और मुक्ति के विधान में मन ही कारण है, रजोगुण से मलिन हुआ मन बन्धन का हेतु होता है तथा रज-तम से रहित शुद्ध सात्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।[४]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि सभी आचार-दर्शनों में मन ही बन्धन और मुक्ति का प्रबलतम कारण है।

मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण क्यों?—प्रश्न यह है कि मन ही को क्यों बन्धन और मुक्ति का कारण माना गया? जैन-तत्त्वमीमांसा में जड़ और चेतन दो मूल तत्त्व हैं, शेष आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष और निर्जरा इन दो मूल तत्त्वों के सम्बन्ध की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। शुद्ध आत्मा तो बन्धन का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें मानसिक वाचिक, और कायिक क्रियाओं (योग) का अभाव है। दूसरी ओर मनो-भाव से रहित कायिक और वाचिक कर्म एवं जड़ कर्म-परमाणु भी बन्धनकारक नहीं होते है। बन्धन के कारण राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव आत्मिक अवश्य माने गये हैं, लेकिन इन्हे आत्मगत इसलिए कहा गया है कि बिना चेतन-सत्ता के ये उत्पन्न नहीं होते हैं। चेतन-सत्ता रागादि के उत्पादन का निमित्त कारण अवश्य है, लेकिन बिना मन के वह रागदि-भाव उत्पन्न नहीं कर सकती। इसीलिए यह कहा गया कि मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।

मन आत्मा के बन्धन और मुक्ति में किस प्रकार अपना भाग सम्पन्न करता है, इसे निम्न रूपक से समझा जा सकता है। मान लीजिए कर्मावरण से कुंठित शक्ति वाला आत्मा उस आँख के समान है, जिसकी देखने की क्षमता क्षीण हो चुकी है। जगत् एक श्वेत वस्तु है और मन ऐनक (चश्मा) है। आत्मा को मुक्ति के लिए जगत् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करना है, लेकिन अपनी स्वशक्ति के कुंठित होने पर वह स्वयं तो सीधे रूप में यथार्थ ज्ञान नहीं पा सका। उसे मनरूपी ऐनक की सहायता आवश्यक होती है, लेकिन यदि ऐनक रंगीन काँच का हो तो वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान

---

१. मैत्राण्युपनिषद्, ४।११, तेजोबिन्दूपनिषद्, ५।९५ २. गीता, ३।४०
३. वही, ३।२७ ४. विवेक चूड़ामणि, १७५-१७६

न देकर भ्रात ज्ञान देता है। उसी प्रकार यदि मन, राग-द्वेषादि वृत्तियों से दूषित (रंगीन) है, तो वह यथार्थज्ञान नहीं देता और बन्धन का कारण बनता है। लेकिन यदि मन रूपी ऐनक निर्मल है तो वह वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान देकर हमे मुक्त कर देता है। जिस प्रकार ऐनक मे बिना किसी चेतन आँख के देखने की कोई शक्ति नही होती, उसी प्रकार जड मन-परमाणुओं में भी बिना किसी चेतन आत्मा के संयोग के बंधन-मुक्ति की शक्ति नही होती। वस्तुस्थिति यह है कि जिस प्रकार ऐनक में देखनेवाले नेत्र है लेकिन विकार या रंगीनता नेत्र मे न होकर ऐनक मे है उसी प्रकार अविद्या और राग-द्वेषादि विकार आत्मा से नही वरन मन से होते है और वे ही बन्धन के हेतु है। अतः मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।

मन अविद्या का वासस्थान—जैन, बौद्ध और वैदिक आचार-दर्शन इस बात मे एक मत है कि बन्धन का कारण अविद्या (मोह) है। अब प्रश्न यह है कि इस अविद्या का वासस्थान क्या है ? आत्मा को इसका वासस्थान मानना भ्रान्ति होगी, क्योकि जैन और वेदान्त दोनों परम्पराओं मे आत्मा का स्वरूपभाव तो सम्यग्ज्ञानमय है अथवा वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, मिथ्यात्व, मोह किंवा अविद्या आत्माश्रित हो सकते है, लेकिन वे आत्मगुण नही है और इसलिए उन्हें आत्मगत मानना युक्तिसगत नही है। अविद्या को जड़-प्रकृति का गुण मानना भी भ्रान्ति होगी, क्योकि यह ज्ञानाभाव ही नही वरन् विपरीत ज्ञान भी है। अतः अविद्या का वासस्थान मन को ही माना जा सकता है जो जड़-चेतन की योजक कड़ी है। अतः मन मे ही अविद्या निवास करती है और मन का निवर्तन होने पर शुद्ध आत्मदशा मे अविद्या की सम्भावना किसी भी स्थिति मे नही हो सकती है।

जैन परम्परा के समान गीता मे भी यह कहा गया है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के वासस्थान है। इनके आश्रयभूत होकर ही यह काम ज्ञान को आच्छादित कर जीवात्मा को मोहित करता है।[1] ज्ञान आत्मा का कार्य है, लेकिन ज्ञान मे जो विकार आता है वह आत्मा का कार्य न होकर मन का कार्य है। फिर भी हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि जहां गीता मे विकार या काम का वासस्थान मन को माना गया है, वहाँ जैन-विचार मे कामादि का वासस्थान आत्मा को ही माना गया है। वे मन के कार्य अवश्य है, लेकिन उनका वासस्थान आत्मा ही है। जैसे रंगीनता ऐनक मे है, लेकिन रंगीनता का ज्ञान तो चेतना मे ही होगा।

यहाँ शंका होती है कि जैन-विचारणा मे तो अनेक बद्ध प्राणियों को अमनस्क माना गया है, फिर उनमे जो अविद्या या मिथ्यात्व है, वह किसका कार्य है ? इसका उत्तर यह है कि जैन-दर्शन में प्रथम तो सभी प्राणियों मे भावमन की सत्ता स्वीकार की गयी है।

---

१. गीता, ३।४०

दूसरे श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यदि मन को सम्पूर्ण शरीरगत मानें[1] तो वहाँ द्रव्यमन भी है, लेकिन वह केवल ओघ संज्ञा है। दूसरे शब्दों में उन्हें केवल विवेकशक्ति विहीन मन (Irrational Mind) प्राप्त है। जैन-दर्शन में जो समनस्क और अमनस्क प्राणियों का भेद वर्णित है वह विवेक-शक्ति (Reason) की अपेक्षा से है। समनस्क प्राणी का अर्थ विवेक-शक्ति युक्त प्राणी। अनमस्क प्राणियों में यह विवेकक्षमता नहीं होती, वे न तो सुदीर्घ भूत की स्मृति रख सकते हैं और न भविष्य का एवं शुभाशुभ का विचार कर सकते हैं। उनमें मात्र कालिक संज्ञा होती है और मात्र अंध-वासनाओं (मूलप्रवृत्ति) से उनका व्यवहार चालित होता है। अमनस्क प्राणियों में सत्तात्मक मन तो है लेकिन उनमें शुभाशुभ का विवेक नहीं होता। विवेकाभाव के कारण ही इन्हें अमनस्क कहा जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार नैतिक विकास का प्रारम्भ विवेकक्षमतायुक्त मन की उपलब्धि से ही होता है। जब तक विवेकक्षमतायुक्त मन प्राप्त नहीं होता तब तक शुभाशुभ का विभेद नहीं किया जा सकता और जब तक शुभाशुभ का ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक नैतिक विकास की सही दिशा का निर्धारण और नैतिक प्रगति नहीं हो पाती है।

नैतिक प्रगति एवं नैतिक उत्तरदायित्व और मन—इस प्रकार जैन-दर्शन में विवेक-क्षमता युक्त मन (Rational Mind) नैतिक प्रगति की अनिवार्य शर्त माना गया है। ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारकों ने भी बौद्धिक क्षमता या शुभाशुभ विवेक को नैतिक प्रगति के लिए आवश्यक माना है। फिर भी जैन-विचारणा का उनसे प्रमुख मतभेद यह है कि वे नैतिक उत्तरदायित्व और नैतिक प्रगति दोनों के लिए विवेकक्षमता को आवश्यक मानते हैं, जबकि जैन-विचार में नैतिक प्रगति के लिए तो विवेक आवश्यक है, लेकिन नैतिक उत्तरदायित्व के लिए विवेकशक्ति आवश्यक नहीं है। यदि कोई प्राणी विवेकाभाव में भी कोई अनैतिक कर्म करता है, तो जैन-दृष्टि से वह नैतिक रूप से उत्तरदायी होगा। क्योंकि, १. प्रथमतः विवेकाभाव ही प्रमत्तता है और यही अनैतिक-कता का कारण है। अतः विवेकपूर्वक कार्य न करने वाला नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं है। २. विवेक-शक्ति तो सभी आत्माओं में है, जिनमें वह प्रसुप्त है उस के लिए भी वे स्वयं ही उत्तरदायी हैं। ३. अनेक प्राणी तो ऐसे हैं जिनमें विवेक प्रकट हो चुका था, जो कभी समनस्क या विवेकवान् प्राणी थे, लेकिन उन्होंने उस विवेक-शक्ति का सम्यक् उपयोग नहीं किया। फलस्वरूप उनमें वह विवेकशक्ति पुनः कुण्ठित हो गयी। अतः ऐसे प्राणियों को नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं माना जा सकता।

सूत्रकृतांग में स्पष्ट उल्लेख है कि कई जीव ऐसे भी हैं जिनमें जरा भी तर्कशक्ति, प्रज्ञाशक्ति या मन या वाणी की शक्ति नहीं होती। वे मूढ जीव सबके प्रति समान दोषी हैं। उसका कारण यह है कि सब योनियों के जीव एक जन्म में संज्ञा (विवेक)

१. दर्शन और चिन्तन, भाग १, पृ० १४० तथा भाग २, पृ० ३११

वाले हो, अपने किए हुए कर्मों के कारण दूसरे जन्म में असंज्ञी (विवेकशून्य) बन कर जन्म लेते हैं। अतएव विवेकवान् होना या न होना अपने ही कृत कर्मों का फल होता है। इससे विवेकाभाव की दशा में जो कुछ पाप-कर्म होते हैं इसका उत्तरदायित्व भी उनका है।[1]

जैन तत्त्वज्ञान में जीवों की अव्यवहार राशि की जो कल्पना की गई है, उस वर्ग के जीवों के नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या सूत्रकृतांग के इस आधार पर नहीं हो सकती, क्योंकि अव्यवहार-राशि के जीवों में तो विवेक कभी प्रकट ही नही हुआ। वे तो केवल इस आधार पर ही उत्तरदायी माने जा सकते हैं कि उनमे जो विवेकक्षमता प्रसुप्त है, वे उसको प्रकट नहीं कर रहे हैं।

एक प्रश्न यह भी है कि यदि नैतिक प्रगति के लिए 'सविवेकमन' आवश्यक है तो फिर जैन-विचारणा के अनुसार वे सभी प्राणी, जिनमे ऐसे मन का अभाव है, नैतिक प्रगति के पथ पर कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। जैन-दर्शन के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि विवेक के अभाव में भी कर्म का बन्धन और कर्म-भोग तो चलता है, फिर भी जब विचारक मन का अभाव होता है तो प्राणी कर्मवासना से युक्त होते हुए भी वैचारिक संकल्प से युक्त नहीं होता और इस कारण बन्धन में वह तीव्रता भी नहीं होती है। इस प्रकार नवीन कर्मों का बन्ध होते हुए भी तीव्र बन्ध नहीं होता है और पुराने कर्मों का भोग चलता रहता है। अतः नदी-पाषाण-न्याय के अनुसार संयोग से कभी न कभी वह अवसर उपलब्ध हो जाता है, जब प्राणी विवेक को प्राप्त कर लेता है और नैतिक विकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन आचार-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन मन को नैतिक जीवन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार मन ही नैतिक उत्थान और नैतिक पतन का महत्त्वपूर्ण साधन है। यही कारण है कि समालोच्य सभी आचार-दर्शन मन के संयम पर जोर देते हैं।

मनोनिग्रह—भारतीय आचार-दर्शन में इच्छा-निरोध या वासनाओं के दमन का स्वर काफी मुखरित हुआ है। आचार-दर्शन के अधिकांश विधि-निषेध इच्छाओं के दमन से सम्बन्धित हैं। क्योंकि इच्छाएँ तृप्ति चाहती हैं और तृप्ति बाह्य साधनों पर निर्भर है। यदि बाह्य परिस्थिति प्रतिकूल हो तो अतृप्त इच्छा मन में ही क्षोभ उत्पन्न करती है और इस प्रकार चित्त-शान्ति या आध्यात्मिक समत्व का भंग हो जाता है। अतः यह माना गया कि समत्व के नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए इच्छाओं का दमन कर दिया जाये। मन ही इच्छाओं एवं संकल्पों का उत्पादक है, अतः इच्छा-निरोध का अर्थ मनोनिग्रह भी मान लिया गया। पतंजलि ने तो यहाँ तक कह दिया कि चित्त-वृत्ति का

---

१. सूत्रकृतांग, २।४

निरोध ही योग है।[1] यह माना जाने लगा कि मन स्वयं ही समग्र क्लेशों का धाम है, उसमें जो भी वृत्तियाँ उठती हैं, वे सभी बन्धनरूप हैं। अतः उन मनोव्यापारों का सर्वथा निरोध कर देना ही निर्विकल्प समाधि है और यही नैतिक जीवन का आदर्श है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों मे इच्छा-निरोध और मनोनिग्रह के प्रत्यय को स्वीकार किया गया है।

जैन-दर्शन में मनोनिग्रह—उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है, यह मन दुष्ट और भयंकर अश्व के समान चारों दिशाओं में भागता है,[2] अतः साधक संरम्भ, समारम्भ और आरंभ में प्रवृत्त होते हुए इस मन का निग्रह करे।[3] आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि आंधी की तरह चंचल मन मुक्ति के इच्छुक एवं तप करने वाले मनुष्य को भी कही का कहीं ले जाकर पटक देता है। अतः मन का निरोध किये बिना जो मनुष्य योगी होने का निश्चय करता है, वह उसी प्रकार हँसी का पात्र बनता है, जैसे कोई पंगु पुरुष एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की इच्छा करके हास्यास्पद बनता है। मन का निरोध होने पर कर्मास्रव भी पूरी तरह रुक जाता है, क्योंकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है। किन्तु, जो पुरुष मन का निरोध नहीं कर पाता, उसके कर्मों की अभिवृद्धि होती रहती है। अतएव जा मनुष्य कर्मों से अपनी मुक्ति चाहते हैं, उन्हे समग्र विश्व में भटकने वाले लम्पट मन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।[4]

बौद्ध-दर्शन में मनोनिग्रह—धम्मपद में कहा गया है कि यह चित्त अत्यन्त ही चंचल है, इसपर अधिकार कर कुमार्ग से इसकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है, इसकी वृत्तियों का कठिनता से ही निवारण किया जा सकता है, अतः बुद्धिमान् इसे ऐसे ही सीधा करे, जैसे इषुकार (बाण बनाने वाला) बाण को सीधा करता है। यह चित्त कठिनता से निग्रहित होता है, अत्यन्त शीघ्रगामी और यथेच्छ विचरण करने वाला है, इसलिए इसका दमन करना ही श्रेयस्कर है, दमित किया हुआ चित्त ही सुखवर्धक होता है।[5]

गीता में मनोनिग्रह—गीता में कहा गया है कि यह मन अत्यन्त चंचल, विक्षोभ उत्पन्न करने वाला और बड़ा बलवान् है, इसका निरोध करना वायु को रोकने के समान अत्यन्त दुष्कर है[6]। कृष्ण कहते हैं कि निस्संदेह मन का निग्रह कठिनता से होता है, फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसका निग्रह सम्भव है[7] और इसलिए हे अर्जुन, तू मन की वृत्तियों का निरोध कर इस मन को मेरे में लगा।[8] योगवासिष्ठ में कहा है कि मन की उपेक्षा से ही दुःख पहाड़ की चोटी के समान बढ़ते जाते हैं और

१. योगसूत्र, १।२ २. उत्तराध्ययन, २३।५८ ३. वही, २४।२१
४. योगशास्त्र, ४।३६-३९ ५. धम्मपद, ३३-३५ ६. गीता, ६।३४
७. वही, ६३५ ८. वही, ६।१४

मन को वश में करने पर वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्य के सम्मुख हिम नष्ट हो जाता है।[1]

आधुनिक मनोविज्ञान में मनोनिग्रह; एक अनुचित धारणा—मनोनिग्रह के उक्त संदर्भों के आधार पर भारतीय नैतिक चिन्तन पर यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि वह आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। आधुनिक मनोविज्ञान इच्छाओं के दमन एवं मनोनिग्रह को मानसिक समत्व का हेतु न मानकर उसके ठीक विपरीत उसे चित्त-विक्षोभ का कारण मानता है। दमन, निग्रह, निरोध आज की मनोवैज्ञानिक धारणा में मानसिक संतुलन को भंग करनेवाले माने गये हैं। फ्रायड, एडलर, युंग आदि ने व्यक्तित्व के विघटन एवं मनोविकृतियों का कारण दमन और प्रतिरोध ही माना है। आधुनिक मनोविज्ञान की इस मान्यता को झुठलाया भी नहीं जा सकता कि इच्छा-निरोध और मनोनिग्रह मानसिक स्वास्थ्य के लिए अहितकर हैं। यही नही, इच्छाओं के दमन में जितनी अधिक तीव्रता होती है, वे दमित इच्छाएँ उतने ही वेग से विकृत रूप में प्रकट होकर केवल अपनी ही पूर्ति का प्रयास ही नही करती है, वरन् मनुष्य के व्यक्तित्व को भी विकृत बना देती हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं, तो फिर नैतिक जीवन से इस दमन की धारणा को ही समाप्त कर देना होगा।

समालोच्य आचार-दर्शनों में दमन की अनौचित्यता—प्रश्न उठता है कि क्या भारतीय नीति-निर्माताओं की दृष्टि से यह तथ्य ओझल था ? बात ऐसी नहीं है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन की दृष्टि में दमनों के अनौचित्य की धारणा अत्यन्त स्पष्ट थी, जिसे सप्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है।

जैन-दर्शन में मनोनिग्रह का अनौचित्य—जैन-परम्परा अपने पारिभाषिक शब्दों में स्पष्ट रूप से कहती है कि साधना का सच्चा मार्ग औपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है। जैन दृष्टिकोण के अनुसार औपशमिक मार्ग वह मार्ग है, जिसमें मन की वृत्तियों या निहित वासनाओं को दबाकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ा जाता है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग ही औपशमिक मार्ग है। जैसे आग को राख से ढक दिया जाता है, वैसे ही उपशम में कर्म-संस्कार या वासना-संस्कार को दबाते हुए नैतिकता के मार्ग पर आगे बढ़ा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में यह दमन का मार्ग है। साधना के क्षेत्र में भी वासना-संस्कार को दबाकर आगे बढ़ने का मार्ग दमन का मार्ग है। यह मन की शुद्धि का वास्तविक मार्ग नहीं है। यह तो मानसिक गंदगी को ढकना या छिपाना मात्र है। जैन-विचारकों ने गुणस्थान प्रकरण में बताया है कि वासनाओं को दबाकर आगे बढ़ने की यह अवस्था नैतिक विकास में आगे तक नहीं चलती है। ऐसा साधक विकास की अग्रिम कक्षाओं से अनि-

१. योगवासिष्ठ, ३।९९। ४६

वार्यतया पदच्युत हो जाता है। जिस दमन को आधुनिक मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के विकास में बाधक माना गया है, वही विचारणा जैनदर्शन में भी मौजूद थी। जैन विचारणा के अनुसार यदि कोई साधक उपशम (दमन) के आधार पर नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति करता है, तो वह अपने लक्ष्य के अत्यधिक निकट पहुँचकर भी पुनः पतित हो जाता है। जैन-दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो उपशम एवं क्षयोपशम मार्ग का साधक आध्यात्मिक पूर्णता के १४ गुणस्थानों में से ११ वें गुणस्थान तक पहुंच कर वहां से गिरता है और पुनः प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है।[1] यह तथ्य जैन साधना में दमन के अनौचित्य को स्पष्ट कर देता है।

बौद्ध-दर्शन में दमन का अनौचित्य—बुद्ध के मध्यममार्ग के उपदेश का सार यही है कि आध्यात्मिक विकास के मार्ग मे वासनाओं का दमन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना उनसे ऊपर उठ जाना। वासनाओं के दमन का मार्ग और वासनाओं के भोग का मार्ग दोनों ही बुद्ध की दृष्टि में साधना के सच्चे मार्ग नहीं हैं। भगवान् बुद्ध ने जिस मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया, उसका आशय यही था कि साधना मे दमन पर जो अत्यधिक जोर दिया जा रहा था, उसे कम किया जाये। बौद्ध-साधना का आदर्श तो चित्तशान्ति है, जबकि दमन तो चित्त-क्षोभ या मानसिक द्वन्द्व को ही जन्म देता है। बौद्धाचार्य अनंगवज्र कहते हैं कि चित्त क्षुब्ध होने से कभी भी मुक्ति नहीं होती। अतः इस तरह बरतना चाहिए कि जिससे मानसिक क्षोभ उत्पन्न न हो[2]। दमन की प्रक्रिया चित्त-क्षोभ की प्रक्रिया है—चित्त-शान्ति की नहीं। शान्तिभिक्षुशास्त्री बोधिचर्यावतार की भूमिका में लिखते हैं कि "बुद्ध के धर्म में जहाँ दूसरे को पीड़ा पहुँचाना पाप माना गया है, वहाँ अपने को पीड़ा देना भी अनार्य-कर्म कहा गया है। सौगततन्त्र ने भी आत्म-पीड़न के मार्ग को ठीक नहीं समझा। क्या दमन मात्र से चित्त-विक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा? दबायी हुई वृत्तियाँ जागृतावस्था में न सही स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होंगी[3]।" जब तक भोगलिप्सा है तब तक चित्त-क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार बौद्ध-विचारणा को दमन का प्रत्यय अभिप्रेत नहीं है। दमन के विरोध में उठी खड़ी बौद्ध-विचारणा की चरम परिणति चाहे वामाचार के रूप में हुई हो, लेकिन उसका दमन का विरोध तो अवास्तविक नहीं कहा जा सकता है। चित्त-शान्ति के साधना-मार्ग में दमन का महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता।

गीता में दमन का अनौचित्य—यदि गहराई से देखें तो गीता भी दमन या निग्रह के अनौचित्य को स्वीकार करती है। गीता में कहा गया है कि प्राणी अपनी प्रकृति के

१. देखिए—गुणस्थानारोहण

२. प्रज्ञोपायविनिश्चय ५।४० उद्धृत-बोधिचर्यावतार भूमिका, पृ० २०

३. बोधिचर्यावतार भूमिका, पृ० २०

अनुसार ही व्यवहार करते हैं वे निग्रह कैसे कर सकते है[1]। इतना ही नही, श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जो शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को अर्थात् शरीर, मन और इन्द्रिय आदि के रूप में परिणत हुए पंच महाभूतों को तथा अन्त करण में स्थित सूक्ष्म परमात्मा को कृश करनेवाले हैं, वे सब आसुरी स्वभाववाले है[2]। योगवासिष्ठ मे भी यह बात और अधिक स्पष्ट रूप से कही गयी है कि हे राजर्षि ! तीनों लोकों मे जितने भी प्राणी हैं स्वभाव से ही उनकी देह द्वयात्मक है, जब तक शरीर है, शरीर-धर्म स्वभाव से ही अनिवार्य है, प्राकृतिक वासना का दमन या निरोध नहीं होता[3]। गीताकार का स्पष्ट निर्देश है कि यद्यपि विषयों को ग्रहण नही करने वाले अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों के उपभोग करने से रोक देने वाले व्यक्तियों के द्वारा विषयों के भोग का तो निग्रह हो जाता है, तथापि उनका रस बना रहता है अर्थात् भोग-संस्कार मूलतः नष्ट नहीं हो पाते और अनुकूल परिस्थितियों मे पुनः उत्पन्न हो जाते हैं[4]। 'रसवर्जं-सोऽप्यस्य' का पद स्पष्ट रूप से यह संकेत करता है कि गीता में नैतिक विकास का वास्तविक मार्ग, निग्रह या निरोध का मार्ग नहीं है। इस प्रकार गीता तो इच्छाओं के द्वन्द्व को समाप्त करना चाहती है,[5] लेकिन दमन में द्वन्द्व समाप्त नहीं होता वरन् उल्टा बढ़ जाता है। अतः उसे यह दमन का मार्ग स्वीकार्य नही हो सकता। इस प्रकार न केवल जैन आचार-दर्शन में दमन को अनुचित माना गया है, वरन् बौद्ध और गीता की विचारणा में भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया है।

जैन-दर्शन का साधना-मार्ग, वासनाओं का दमन नहीं, वासना का क्षय—जैन-दृष्टि में विकास का सच्चा मार्ग वासनाओं का दमन नही है, उनका क्षय करना है। प्रश्न यह है कि वासनाओं के क्षय और निरोध मे क्या अंतर है ?

निरोध से चित्त मे वासना उठती है और फिर उसे दबाया जाता है, जबकि क्षय में वासना का उठना ही शनैः शनैः कम होकर, समाप्त हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि मे दमन मे वासना (Id) और नैतिकमन (Super ego) में संघर्ष चलता रहता है। लेकिन क्षय मे यह संघर्ष नहीं होता है, वहां तो वासना उठती ही नही है। दमन या उपशम मे हमें क्रोध आता है और हम उसे दबाते हैं या उसे अभिव्यक्त होने से रोकते हैं। जब कि क्षायिकभाव मे क्रोधादि के भाव ही समाप्त हो जाते हैं। जिसे साधारण भाषा में गुस्सा पी जाना कहते है, वही उपशम है। इसमे लोक-मर्यादा आदि बाह्य तत्त्व ही उसके निरोध का कारण बनते है, इसलिए यह आत्मिक विकास नहीं है वरन् उसका ढोंग है, एक आरोपित आवरण है।

१. गीता, ३।३३ २. वही, १७।६ ३. योगवासिष्ठ, १०५।१०९
४. गीता, २।५९ ५. वही, ४।२२, ७।२८, ५।५५

यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि आगम ग्रन्थों में मन-निरोध की बात अनेक स्थानों पर कही गई है, उसका क्या अर्थ है? लेकिन वहाँ पर निरोध का अर्थ दमन नहीं लगाना चाहिए, अन्यथा औपशमिक और क्षायिक दृष्टियों का कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा। अतः वहाँ पर निरोध का अर्थ क्षायिक दृष्टि से ही करना समुचित है। प्रश्न होता है कि क्षायिक दृष्टि से मन का शुद्धिकरण कैसे किया जाए? उत्तराध्ययनसूत्र में मन के निग्रह के विषय में जो रूपक प्रस्तुत किया गया है, उसमें श्रमण केशी गौतम से पूछते है कि 'आप एक भयानक दुष्ट अश्व पर सवार हैं, जो बड़ी तीव्र गति से भागता है, वह आप को उन्मार्ग की ओर न ले जाकर सन्मार्ग पर कैसे ले जाता है? गौतम इस लाक्षणिक चर्चा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह मन ही साहसिक दुष्ट अश्व है जो चारों ओर भागता है। जातिवान अश्व की तरह श्रुतरूपी रस्सियों से बांधकर समत्व एवं धर्म शिक्षा से उसका निग्रह करता हूँ[1]।

इस गाथा में दो शब्द महत्वपूर्ण है 'सम्मे' तथा 'धम्मसिक्खाये'। धर्म-शिक्षण द्वारा मन का निग्रह करने का अर्थ दमन नहीं, वरन् उसका उदात्तीकरण है। धर्म-शिक्षण का अर्थ है मन को सद् प्रवृत्तियों में लगा देना, ताकि वह अनर्थ के मार्ग पर जाये ही नहीं। ऐसे ही श्रुतरूप रस्सी से बांधने का अर्थ है विवेक एवं ज्ञान के द्वारा उसे ठीक मार्ग पर चलाना। समत्व के द्वारा किया गया निग्रह दमन नहीं है, वरन् उसे संतुलित बनाना है। मन का संतुलन दमन से तो संभव ही नहीं, क्योंकि वह तो संघर्ष की अवस्था है। जब तक वासनाओं का संघर्ष है, तब तक समत्व हो ही नहीं सकता। जैन साधना-पद्धति तो समत्व (समभाव) की साधना है। वासनाओं के दमन का मार्ग तो चित्त-क्षोभ उत्पन्न करता है, अतः वह उसे स्वीकार नहीं है। जैनसाधना का आदर्श क्षायिक साधना है, जिसमें वासना का दमन नहीं वरन् वासनाशून्यता ही साधक का लक्ष्य है। गीता में भी हम देखते है कि मन के निग्रह का जो उपाय बताया गया है, वह है—वैराग्य और अभ्यास। वैराग्य मनोवृत्तियों तथा वासनाओं का दमन नहीं है, वह तो भोगों की अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों में अनासक्त वृत्ति है। दूसरी ओर अभ्यास शब्द भी दमन का समर्थक नहीं है। यदि गीताकार को दमन ही इष्ट होता तो फिर वह अभ्यास की बात ही नही करता। अभ्यास की आवश्यकता दमन में नहीं होती, वासनाओं को दमित ही करना हो तो फिर क्रमिक प्रयास किस लिए? अभ्यास तो वासनाओं के विलयन, परिष्कार या उदात्तीकरण के लिए है। नैतिक विकास के लिए मात्र वासना की वृत्तियों का विलयन आवश्यक है।

वासनाक्षय एवं मनोजय का सम्यक् मार्ग—चित्त-वृत्तियों का विलयन कैसे हो, इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र में कहते हैं कि मन जिन-जिन विषयों में

१. उत्तराध्ययन, २३।५८

प्रवृत्त होता हो, उनसे उसे बलात् नहीं रोकना चाहिए। क्योंकि बलात् रोकने से वह उस ओर और अधिक दौड़ने लगता है और न रोकने से शान्त हो जाता है। जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोका जाए तो वह उस ओर अधिक प्रेरित होता है और उसे न रोका जाये तो वह अपने इष्ट विषयों को प्राप्त करके शान्त हो जाता है। यही स्थिति मन की है। साधक अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हुई इन्द्रियों को न तो रोके और न उन्हें प्रवृत्त करे। वह केवल इतना ध्यान रखे कि विषयों के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न न हो। वह प्रत्येक स्थिति में तटस्थ बना रहे। वह अपनी वृत्ति को उदासीन बना ले और किंचित् भी चिन्तन या संकल्प-विकल्प न करे। जो चित्त-संकल्पों से व्याकुल होता है, उसमें स्थिरता नहीं आ सकती।[१]

इस प्रकार कमनीय रूप को देखता हुआ भी, सुन्दर और मनोज्ञ वाणी को सुनता हुआ भी, सुगंधित पदार्थों को सूंघता हुआ भी, रस का आस्वादन करता हुआ भी, कोमल पदार्थों का स्पर्श करता हुआ भी और चित्त के व्यापारों को न रोकता हुआ भी उदासीन भाव से युक्त, पूर्ण समभावी तथा आसक्ति का परित्याग कर बाह्य और आन्तरिक चिन्ताओं एवं चेष्टाओं से रहित होकर वह एकाग्रता को प्राप्त करके अतीव उन्मनीभाव (अनासक्त भाव) को प्राप्त कर लेता है।[२]

उदासीनभाव में निमग्न, सब प्रकार के प्रयत्न से रहित और परमानन्द दशा की भावना करनेवाला योगी किसी भी जगह मन को नहीं जोड़ता है। इस प्रकार आत्मा जब मन की उपेक्षा कर देता है, तो वह उपेक्षित मन इन्द्रियों का आश्रय नहीं करता अर्थात् इन्द्रियों में प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता। ऐसी स्थिति में इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति करना छोड़ देती हैं। जब आत्मा मन में प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता और मन इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करता, तब दोनों तरफ से भ्रष्ट बना हुआ मन अपने आप विलीन हो जाता है। जब मन प्रेरक नहीं रहता तो पहले राख से आवृत्त अग्नि की तरह शान्त हो जाता है और फिर पूर्ण रूप से उसका क्षय हो जाता है अर्थात् चिन्ता, स्मृति आदि उसके सभी व्यापार नष्ट हो जाते हैं। तब वायु-विहीन स्थान में स्थापित दीपक जैसे निराबाध प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार मनोवृत्तियों की चंचलता रूपी वायु का अभाव हो जाने से आत्मा में कर्म-मल से रहित शुद्ध आत्म-ज्ञान का प्रकाश होता है।[३]

जैनाचार्यों ने इस प्रकार वासनाओं एवं मन के विलयन की जो अवस्था बतायी, वह सहज ही साध्य नहीं है। उसके लिए मन को अनेक अवस्थाओं में से गुजरना होता है। अतः मन की इन अवस्थाओं पर भी थोड़ा विचार कर लिया जाये।

१. योगशास्त्र, १२।२७-२८, १२।२६, १२।१९ २. वही, १२।२३-२५
३. वही, १२।३३-३६

जैन-दर्शन में मन की चार अवस्थाएँ—जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में मन नैतिक जीवन की आधारभूमि है, अतः चित्त की विभिन्न अवस्थाओं पर व्यक्ति के नैतिक विकास को आँका जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं—१. विक्षिप्त मन, २. यातायात मन, ३. श्लिष्ट मन और, ४. सुलीन मन।[1]

१. **विक्षिप्त मन**—यह चंचल होता है, इधर-उधर भटकता रहता है, इसका आलम्बन प्रमुखतया बाह्य विषय होता है। यह मन की अस्थिर अवस्था है। इसमें संकल्प-विकल्प या विचारों की भाग-दौड़ मची रहती है, अतः इस अवस्था में मानसिक शान्ति का अभाव होता है। यह चित्त पूरी तरह बहिर्मुखी होता है।

२ **यातायात मन**—यातायात मन कभी बाह्य विषयों की ओर जाता है तो कभी अन्दर स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अपने पूर्वाभ्यास के कारण बाहरी विषयों की ओर दौड़ता रहता है, वैसे थोड़े बहुत प्रयत्न से उसे स्थित कर लिया जाता है। कुछ समय उस पर स्थिर रहकर पुनः बाह्य विषयों के संकल्प-विकल्प में उलझ जाता है। जब-जब कुछ स्थिर होता है तब मानसिक शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करने लगता है। यातायात चित्त कथंचित् अन्तर्मुखी और कथंचित् बहिर्मुखी होता है।

३. **श्लिष्टमन**—यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आधार या आलम्बन प्रशस्त विषय होता है। इसमें जैसे-जैसे स्थिरता आती है, आनन्द भी बढ़ता जाता है।

४. **सुलीन मन**—यह मन की वह अवस्था है, जिसमें संकल्प-विकल्प एवं मानसिक वृत्तियों का लय हो जाता है। इसे मन की निरुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। यह परमानन्द की अवस्था है, क्योंकि इसमें सभी वासनाओं का विलय हो जाता है।

बौद्ध-दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ—अभिधम्मत्थसंगहो के अनुसार बौद्ध-दर्शन में भी चित्त चार प्रकार का है—१. कामावचर, २. रूपावचर, ३. अरूपावचर और ४. लोकोत्तर।[2]

१. **कामावचर चित्त**—यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें कामनाओं और वासनाओं का प्राधान्य होता है। इसमें वितर्क एवं विचारों की अधिकता होती है। मन सांसारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

२. **रूपावचर चित्त**- इस अवस्था मे वितर्क-विचार तो होते हैं, लेकिन एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। चित्त का आलम्बन बाह्य स्थूल विषय ही होते हैं। यह योगाभ्यासी चित्त की प्राथमिक अवस्था है।

---

१. योगशास्त्र, १२।२ २. अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० १

३. **अरूपावचर चित्त**--इस अवस्था में चित्त का आलम्बन रूपवान् बाह्य पदार्थ नहीं है। इस स्तर पर चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नहीं होती। उसके विषय अत्यन्त सूक्ष्म जैसे अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिञ्चनता होते हैं।

४. **लोकोत्तर चित्त**—इस अवस्था में वासना-संस्कार; राग-द्वेष एवं मोह का प्रहाण हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हत् पद एवं निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पांच अवस्थाएँ—योगदर्शन में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार हैं—१. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध।[1]

१. **क्षिप्त चित्त**--इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है। स्थिरता नहीं रहती। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है, क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर संयम नहीं रहता।

२. **मूढ़ चित्त**--इस अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इससे निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के लिए तिरोभाव हो जाता है। परन्तु यह अवस्था योगावस्था नहीं है।

३. **विक्षिप्त चित्त**—विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिए एक विषय में लगता है, पर तुरन्त ही अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है और पहला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है।

४. **एकाग्र चित्त**—यह वह अवस्था है, जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करता रहता है। इसलिए इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता, तथापि यह योग की पहली सीढ़ी है।

५. **निरुद्ध चित्त**—इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का (ध्येय-विषय तक का भी) लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर, शांत अवस्था में आ जाता है। जैन, बौद्ध और योग दर्शन में मन की इन विभिन्न अवस्थाओं के नामों में चाहे अन्तर हो, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है, जैसाकि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

१. भारतीय दर्शन (दत्ता), पृ० १९०

जैनदर्शन	बौद्धदर्शन	योगदर्शन
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ़
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैनदर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध दर्शन का कामावचर चित्त और योगदर्शन के क्षिप्त और मूढ़ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं एवं कामनाओं की बहुलता होती है। इसी प्रकार जैनदर्शन का यातायात मन, बौद्ध दर्शन का रूपावचर चित्त और योगदर्शन का विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक है, सामान्यतया सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में अल्पकालिक स्थिरता होती है तथा वासनाओं के वेग में थोड़ी कमी अवश्य हो जाती है। इसी प्रकार जैन दर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्धदर्शन का अरूपावचर चित्त और योगदर्शन का एकाग्र चित्त भी समान ही है। सभी ने इसको मन की स्थिरता की अवस्था कहा है। चित्त की अन्तिम अवस्था जिसे जैनदर्शन में सुलीन मन, बौद्ध-दर्शन में लोकोत्तर चित्त और योगदर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है, भी समान अर्थ के द्योतक हैं। इसमें वासना, संस्कार एवं संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव हो जाता है। समग्र नैतिक साधना का लक्ष्य चित्त की इस वासना-संस्कार एवं संकल्प-विकल्प से रहित अवस्था को प्राप्त करना है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि क्रम से अभ्यास बढ़ाते हुए अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समत्व प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह बहिरात्म-भाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।[1]

इस प्रकार चित्त-वृत्तियों या वासनाओं का विलयन ही समालोच्य आचार-दर्शनों का प्रमुख लक्ष्य रहा है। इनके द्वारा ही मन-क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे चेतना के समत्व का भंग होता है। अतः आगे इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि ये चित्त-क्षोभ को उत्पन्न करने वाली मनोवृतियाँ कौनसी हैं और इनका नैतिक जीवन से क्या सम्बन्ध है।

१. योगशास्त्र, १२।५-६

१८

मनोवृत्तियां (कषाय एवं लेश्याएँ)

जैन-दर्शन में मनोवृत्तियों के विषय में दो प्रमुख सिद्धान्त हैं—१. कषाय-सिद्धान्त और २. लेश्या-सिद्धान्त। कषाय-सिद्धात में चित्त-क्षोभ को उत्पन्न करनेवाली अशुभ मनोवृत्तियों या मनोवेगों का प्रतिपादन है और लेश्या-सिद्धान्त का सम्बन्ध शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों से है।

कषाय-सिद्धान्त

समूचा जगत् वासना से उत्पन्न कषाय की अग्नि से झुलस रहा है। अतएव शान्ति-मार्ग के पथिक साधक के लिए कषाय का त्याग आवश्यक है। जैन-सूत्रों में साधक को कषायों से सर्वथा दूर रहने के लिए कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि अनिग्रहित क्रोध और मान तथा बढ़ती हुई माया तथा लोभ—ये चारों संसार बढ़ानेवाली कषायें पुनर्जन्म रूपी वृक्ष का सिंचन करती हैं, दुःख का कारण हैं अतः शान्ति का साधक उन्हें त्याग दे।[1]

कषाय का अर्थ—कषाय जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है। यह 'कष' और 'आय' इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'कष' का अर्थ है संसार, कर्म अथवा जन्ममरण। जिसके द्वारा प्राणी कर्मों से बांधा जाता है, अथवा जिससे जीव पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है, वह कषाय है[2]। जो मनोवृत्तियां आत्मा को कलुषित करती हैं उन्हें जैन-मनोविज्ञान की भाषा में कषाय कहा जाता है। कषाय अनैतिक मनोवृत्तियां हैं।

कषाय की उत्पत्ति—वासना या कर्म-संस्कार से राग, द्वेष और राग-द्वेष से कषाय उत्पन्न होते हैं। स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि पाप-कर्म के दो स्थान हैं—राग और द्वेष। राग से माया और लोभ तथा द्वेष से क्रोध और मान उत्पन्न होते हैं।[3] राग-द्वेष का कषायों से क्या सम्बन्ध है इसका वर्णन विशेषावश्यकभाष्य में विभिन्न नयों (दृष्टिकोणों) के आधार पर किया गया है। संग्रह नय के विचार से क्रोध और मान द्वेष रूप हैं, जबकि माया और लोभ राग रूप हैं। क्योंकि प्रथम दो में दूसरे की अहित-भावना है और अन्तिम दो में अपनी स्वार्थ-साधना का लक्ष्य है। व्यवहारनय की दृष्टि से क्रोध, मान और माया तीनों द्वेष रूप हैं, क्योंकि माया भी दूसरे के विघात का

१. दशवैकालिक, ८।४० २. देखिए—अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ३, पृ० ३९५

३. स्थानांग, २-२

विचार ही है। केवल लोभ अकेला रागात्मक है, क्योंकि उसमें ममत्वभाव है। ऋजुसूत्र-नय की दृष्टि से केवल क्रोध ही द्वेषरूप है। शेष कषाय-त्रिक को ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से न तो केवल राग-प्रेरित कहा जा सकता है न केवल द्वेष-प्रेरित। राग-प्रेरित होने पर वे राग-रूप हैं और द्वेष-प्रेरित होने पर द्वेष रूप होती हैं।[1] चारों कषायें वासना के राग-द्वेषात्मक पक्षों की आवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। वासना का तत्त्व अपनी तीव्रता की विधेयात्मक अवस्था में राग और निषेधात्मक अवस्था में द्वेष हो जाता है। ये ही राग और द्वेष के भाव बाह्य आवेगात्मक अभिव्यक्ति में कषाय कहे जाते हैं।

कषाय के भेद—आवेगों की अवस्थाएँ भी तीव्रता (Intenstiy) की दृष्टि से समान नहीं होती हैं, अतः तीव्र आवेगों को कषाय और मंद आवेग या तीव्र आवेगों के प्रेरकों को नो-कषाय (उप कषाय) कहा गया है। कषायें चार हैं—१. क्रोध २. मान, ३ माया और ४. लोभ। आवेगात्मक अभिव्यक्तियों की तीव्रता के आधार पर इनमें से प्रत्येक को चार-चार भागों में बाँटा गया है—१. तीव्रतम, २. तीव्रतर, ३. तीव्र और ४. अल्प। नैतिक दृष्टि से तीव्रतम क्रोध आदि व्यक्ति के सम्यक् दृष्टिकोण में विकार ला देते हैं। तीव्रतर क्रोध आदि आत्म-नियन्त्रण की शक्ति को छिन्न-भिन्नकर डालते हैं। तीव्रक्रोध आदि आत्म-नियन्त्रण की शक्ति के उच्चतम विकास में बाधक होते हैं। अल्प क्रोध आदि व्यक्ति को पूर्ण वीतराग नहीं होने देते[2]। चारों कषायों के तीव्रता के आधार पर चार-चार भेद हैं। अतः कषायों की संख्या १६ हो जाती हैं। निम्न नौ उप-आवेग, उप-कषाय या कषाय-प्रेरक माने गये हैं—१. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. शोक, ५. भय, ६ घृणा, ७. स्त्रीवेद (पुरुष-सम्पर्क की वासना), ८. पुरुषवेद (स्त्री-सम्पर्क की वासना), ९. नपुंसकवेद (दोनो के सम्पर्क की वासना)। इस प्रकार कुल २५ कषायें हैं[3]।

क्रोध

यह एक मानसिक किन्तु उत्तेजक आवेग है। उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है। उसकी विचार-क्षमता और तर्क-शक्ति लगभग शिथिल हो जाती है। भावात्मक स्थिति में बढ़े हुए आवेश की वृत्ति युयुत्सा को जन्म देती है। युयुत्सा से अमर्ष और अमर्ष से आक्रमण का भाव उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार क्रोध और भय में यही मुख्य अन्तर है कि क्रोध के आवेश में आक्रमण का और भय के आवेश में आत्म-रक्षा का प्रयत्न होता है।

जैन-विचार में सामान्यतया क्रोध के दो रूप मान्य हैं—१. द्रव्य-क्रोध २. भाव-क्रोध[4]। द्रव्य-क्रोध को आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्रोध का आंगिक पक्ष कहा जा सकता है, जिसके कारण क्रोध में होनेवाले शारीरिक परिवर्तन होते हैं। भावक्रोध क्रोध की

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, २६६८—२६७१ २. तुम अनन्तशक्ति के स्रोत हो, पृ० ४७
३. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ३, पृ० ३९५ ४. भगवती सूत्र, १२।५।२

मानसिक अवस्था है। क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष भाव-क्रोध है, जबकि क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक या शरीरात्मक पक्ष द्रव्य-क्रोध है। क्रोध के विभिन्न रूप हैं। भगवतीसूत्र में इसके दस समानार्थक नाम वर्णित हैं—१. **क्रोध**—आवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था, २. **कोप**—क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता, ३. **दोष**—स्वयं पर या दूसरे पर दोष थोपना, ४. **रोष**—क्रोध का परिस्फुट रूप, ५. **संज्वलन**—जलन या ईर्ष्या की भावना, ६. **अक्षमा**—अपराध क्षमा न करना, ७. **कलह**—अनुचित भाषण करना, ८. **चण्डिक्य**—उग्ररूप धारण करना, ९. **भंडन**—हाथापाई करने पर उतारू होना, १०. **विवाद**—आक्षेपात्मक भाषण करना।

क्रोध के प्रकार—क्रोध के आवेग की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर चार भेद किए गए हैं। वे इस भांति हैं—

१, **अनन्तानुबंधी क्रोध (तीव्रतम क्रोध)**—पत्थर में पड़ी दरार के समान क्रोध जो किसी के प्रति एक बार उत्पन्न होने पर जीवन पर्यन्त बना रहे, कभी समाप्त न हो।

२. **अप्रत्याख्यानी क्रोध (तीव्रतर क्रोध)**—सूखते हुए जलाशय की भूमि में पड़ी दरार जैसे आगामी वर्षा होते ही मिट जाती है, वैसे ही अप्रत्याख्यानी क्रोध एक वर्ष से अधिक स्थाई नहीं रहता और किसी के समझाने से शान्त हो जाता है।

३. **प्रत्याख्यानी क्रोध (तीव्र क्रोध)**—बालू की रेखा जैसे हवा के झोकों से जल्दी ही मिट जाती है। वैसे ही प्रत्याख्यानी क्रोध चार मास से अधिक स्थायी नहीं होता।

४ **संज्वलन क्रोध (अल्पक्रोध)**—शीघ्र ही मिट जाने वाली पानी में खींची गयी रेखा के समान इस क्रोध में स्थायित्व नहीं होता है।

बौद्ध-दर्शन में क्रोध के तीन प्रकार—बौद्ध-दर्शन में भी क्रोध को लेकर व्यक्तियों के तीन प्रकार माने गये हैं—१. वे व्यक्ति जिनका क्रोध पत्थर पर खींची रेखा के समान चिरस्थायी होता है, २. वे व्यक्ति जिनका क्रोध पृथ्वी पर खींची हुई रेखा के समान अल्प-स्थायी होता है, ३. वे जिनका क्रोध पानी पर खींची रेखा के समान अस्थायी होता है। दोनों परम्पराओं मे प्रस्तुत दृष्टान्त—साम्य विशेष महत्त्वपूर्ण है।[1]

मान (अहंकार)

अहंकार करना मान है। अहंकार कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, जाति, ज्ञान आदि किसी भी विशेषता का हो सकता है। मनुष्य में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है ही, परन्तु जब स्वाभिमान की वृत्ति दम्भ या प्रदर्शन का रूप ले लेती है, तब मनुष्य अपने गुणों एवं योग्यताओं का बढ़े-चढ़े रूप में प्रदर्शन करता है और इस प्रकार उसके अन्तःकरण में मानवृत्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। अभिमानी मनुष्य अपनी अहंवृत्ति का पोषण करता रहता है। उसे अपने से बढ़कर या अपनी बराबरी का गुणी व्यक्ति कोई दिखता ही नहीं।

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।१३०

जैन परम्परा में प्रकारान्तर से मान के आठ भेद मान्य हैं—१. जाति, २. कुल, ३. बल (शक्ति), ४. ऐश्वर्य, ५. बुद्धि (सामान्य बुद्धि,) ५. ज्ञान (सूत्रों का ज्ञान,) ७. सौन्दर्य और ८. अधिकार (प्रभुता)। इन आठ प्रकार की श्रेष्ठताओं का अहंकार करना गृहस्थ एवं साधु दोनों के लिए सर्वथा वर्जित है। इन्हें मद भी कहा गया है।

मान निम्न बारह रूपों में प्रकट होता है[1] : **मान**—अपने किसी गुण पर अहंवृत्ति, २. **मद**—अहंभाव मे तन्मयता, ३. **दर्प**—उत्तेजना पूर्ण अहंभाव, ४. **स्तम्भ**—अविनम्रता ५. **गर्व**—अहंकार, ६. **अत्युक्रोश**—अपने को दूसरे से श्रेष्ठ कहना, ७. **परपरिवाद**—परनिन्दा, ८. **उत्कर्ष**—अपना ऐश्वर्य प्रकट करना, ९. **अपकर्ष**—दूसरों को तुच्छ समझना, १०. **उन्नतनाम**—गुणी के सामने भी न झुकना, ११. **उन्नत**—दूसरों को तुच्छ समझना, १२. **पुर्नाम**—यथोचित रूप से न झुकना।

अहंभाव की तीव्रता और मन्दता के अनुसार मान के भी चार भेद है—

१. **अनंतानुबन्धी मान**—पत्थर के खम्बे के समान जो झुकता नहीं, अर्थात् जिसमें विनम्रता नाममात्र को भी नहीं है।

२. **अप्रत्याख्यानी मान**—हड्डी के समान कठिनता से झुकने वाला अर्थात् जो विशेष परिस्थितियों में बाह्य दबाव के कारण विनम्र हो जाता है।

३. **प्रत्याख्यानी मान**—लकड़ी के समान थोड़े से प्रयत्न से झुक जाने वाला अर्थात् जिसके अन्तर में विनम्रता तो होती है लेकिन जिसका प्रकटन विशेष स्थिति में ही होता है।

४. **संज्वलन मान**—बेंत के समान अत्यन्त सरलता से झुक जानेवाला अर्थात् जो आत्म-गौरव को रखते हुए भी विनम्र बना रहता है।

माया

कपटाचार माया कषाय है। भगवतीसूत्र के अनुसार इसके पन्द्रह नाम हैं।[2]—१. **माया**—कपटाचार, २. **उपाधि**—ठगने के उद्देश्य से व्यक्ति के पास जाना, ३. **निकृति**—ठगने के अभिप्राय से अधिक सम्मान देना, ४. **वलय**—वक्रतापूर्ण वचन, ५. **गहन**—ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ़ भाषण करना, ६. **नूम**—ठगने के हेतु निकृष्टकार्य करना, ७. **कल्क**—दूसरों को हिंसा के लिए उभारना, ८. **कुरूप**—निन्दित व्यवहार करना, ९. **निह्नता**—ठगाई के लिए कार्य मन्द गति से करना, १०. **किल्विषिक**—भांडों के समान कुचेष्टा करना, ११. **आदरणता**—अनिच्छित कार्य भी अपनाना, १२. **गूहनता**—अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करना, १३. **वंचकता**—ठगी, १४. **प्रति-कुंचनता**—किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों

१. भगवती सूत्र, १२।४३ २. वही, १२।५४

का खण्डन करना, १५. **सातियोग**—उत्तम वस्तु में हीन वस्तु की मिलावट करना। यह सब माया की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

माया के चार प्रकार—१. **अनंतानुबन्धी माया** (तीव्रतम कपटाचार)—अतीव कुटिल जैसे बांस की जड़, २. **अप्रत्याख्यानी माया** (तीव्रतर कपटाचार)—भैंस के सींग के समान कुटिल, ३. **प्रत्याख्यानी माया** (तीव्र कपटाचार)—गोमूत्र की धारा के समान कुटिल, ४. **संज्वलन माया** (अल्प-कपटाचार)—बांस के छिलके के समान कुटिल।

लोभ

मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होनेवाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है। लोभ की सोलह अवस्थाएँ हैं[1]—१. **लोभ**—संग्रह करने की वृत्ति, २. **इच्छा**—अभिलाषा, ३. **मूर्च्छा**—तीव्र संग्रह-वृत्ति, ४. **कांक्षा**—प्राप्त करने की आशा, ५. **गृद्धि**—आसक्ति ६. **तृष्णा**—जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति, ७. **मिध्या**—विषयों का ध्यान, ८. **अभिध्या**—निश्चय से डिग जाना या चंचलता, ९. **आशंसना**—इष्ट-प्राप्ति की इच्छा करना, १०. **प्रार्थना**—अर्थ आदि की याचना, ११. **लालपनता**—चाटुकारिता, १२. **कामाशा**—काम की इच्छा, १३. **भोगाशा**—भोग्य-पदार्थों की इच्छा, १४. **जीविताशा**—जीवन की कामना, १५. **मरणाशा**—मरने की कामना,[2] १६. **नन्दिराग**—प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग।

लोभ के चार भेद—१. **अनंतानुबन्धी लोभ**—मजीठिया रंग के समान जो छूटे नहीं, अर्थात् अत्यधिक लोभ। २. **अप्रत्याख्यानी लोभ**—गाड़ी के पहिये के औगन के समान मुश्किल से छूटने वाला लोभ। ३. **प्रत्याख्यानी लोभ**—कीचड़ के समान प्रयत्न करने पर छूट जाने वाला लोभ। ४. **संज्वलन लोभ**—हल्दी के लेप के समान शीघ्रता से दूर हो जानेवाला लोभ।

नोकषाय—नोकषाय शब्द दो शब्दों के योग से बना है नोकषाय। जैन-दार्शनिकों ने 'नो' शब्द को साहचर्य के अर्थ में ग्रहण किया है।[3] इस प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ इन प्रधान कषायों के सहचारी भावों अथवा उनकी सहयोगी मनोवृत्तियाँ जैन परिभाषा में नोकषाय कही जाती हैं।[3] जहाँ पाश्चात्य मनोविज्ञान में काम-वासना को प्रमुख मूलवृत्ति तथा भय को प्रमुख आवेग माना गया है, वहाँ जैन-दर्शन में उन्हें सहचारी कषाय या उप-आवेग कहा गया है। इसका कारण यही हो सकता है कि जहाँ पाश्चात्य विचारकों ने उन पर मात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है, वहाँ जैन विचारणा में जो मानसिक तथ्य नैतिक दृष्टि से अधिक अशुभ थे, उन्हें कषाय कहा गया है और उनके सहचारी अथवा कारक मनोभाव को नोकषाय कहा गया है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर नोकषाय वे प्राथमिक स्थितियाँ हैं, जिनसे कषायें उत्पन्न होती हैं,

१. भगवतीसूत्र, १२।५।५ २. तुलना कीजिए—जीवनवृत्ति और मृत्युवृत्ति (फ्रायड)

३-४. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ४, पृ० २१६१

तथापि आवेगों की तीव्रता की दृष्टि से नोकषाय कम तीव्र होते हैं, और कषायें अधिक तीव्र होती हैं। इन्हें कषाय कारक भी कहा जा सकता है। जैन ग्रन्थों मे इनकी संख्या ९ मानी गई है—

१. **हास्य**—सुख या प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हास्य है। जैन-विचारणा के अनुसार हास्य का कारण पूर्व-कर्म या वासना-संस्कार है।

२. **शोक**—इष्टवियोग और अनिष्टयोग से सामान्य व्यक्ति में जो मनोभाव जागृत होते हैं, वे शोक कहे जाते हैं।[1] शोक चित्तवृत्ति की विकलता का द्योतक है[2] और इस प्रकार मानसिक समत्व का भंग करनेवाला है।

३. **रति (रुचि)**—अभीष्ट पदार्थों पर प्रीतिभाव अथवा इन्द्रिय-विषयों में चित्त की अभिरतता ही रति है। इसके कारण ही आसक्ति एवं लोभ की भावनाएँ प्रबल होती हैं।[3]

४. **अरति**—इन्द्रिय-विषयों में अरुचि ही अरति है। अरुचि का भाव ही विकसित होकर घृणा और द्वेष बनता है। राग और द्वेष तथा रुचि और अरुचि में प्रमुख अन्तर यही है कि राग और द्वेष मनस् की सक्रिय अवस्थाएँ हैं जबकि रुचि और अरुचि निष्क्रिय अवस्थाएँ हैं। रति और अरति पूर्व कर्म-संस्कारजनित स्वाभाविक रुचि और अरुचि का भाव है।

५. **घृणा**—घृणा या जुगुप्सा अरुचि का ही विकसित रूप है। अरुचि और घृणा में केवल मात्रात्मक अन्तर ही है। अरुचि की अपेक्षा घृणा में विशेषता यह है कि अरुचि में पदार्थ-विशेष के भोग की अरुचि होती है, लेकिन उसकी उपस्थिति सह्य होती हैं, जबकि घृणा में उसका भोग और उसकी उपस्थिति दोनों ही असह्य होती है। अरुचि का विकसित रूप घृणा और घृणा का विकसित रूप द्वेष है।

६. **भय**—किसी वास्तविक या काल्पनिक तथ्य से आत्मरक्षा के निमित्त बच निकलने की प्रवृत्ति ही भय है। भय और घृणा में प्रमुख अन्तर यह है कि घृणा के मूल में द्वेष-भाव रहता है, जबकि भय में आत्म-रक्षण का भाव प्रबल होता है। घृणा क्रोध और द्वेष का एक रूप है जबकि भय लोभ या राग की ही एक अवस्था है। जैनागमों में भय सात प्रकार का माना गया है। जैसे—१. **इहलोक भय**—यहाँ लोक शब्द संसार के अर्थ में न होकर जाति के अर्थ में भी ग्रहीत है। स्वजाति के प्राणियों से अर्थात् मनुष्यों के लिए मनुष्यों से उत्पन्न होने वाला भय, २. **परलोक भय**—अन्य जाति के प्राणियों से होने वाला भय, जैसे मनुष्यों के लिए पशुओं का भय, ३. **आदान भय**—धन की रक्षा के निमित्त चोर-डाकू आदि भय के बाह्य कारणों से उत्पन्न भय,

---

१. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ७, पृ० ११५७

२. वही, खण्ड ६, पृ० ४६७

४. **अकस्मात् भय**—बाह्य-निमित्त के अभाव में स्वकीय कल्पना से निर्मित भय या अकारण भय। भय का यह रूप मानसिक ही होता है, जिसे मनोविज्ञान में असामान्य भय कहते हैं। ५. **आजीविका भय**—आजीविका या धनोपार्जन के साधनों की समाप्ति (विच्छेद) का भय। कुछ ग्रन्थों में इसके स्थान पर वेदना-भय का उल्लेख है। रोग या पीडा का भय वेदना भय है। ६. **मरण भय**—मृत्यु का भय; जैन और बौद्ध विचारणा में मरण-धर्मता का स्मरण तो नैतिक दृष्टि से आवश्यक है, लेकिन मरण भय (मरणाशा एवं जीविताशा) को नैतिक दृष्टि से अनुचित माना गया है। ७. **अश्लोक (अपयश) भय**—मान-प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचने का भय।[1]

७. **स्त्रीवेद**—स्त्रीत्व संबंधी काम-वासना अर्थात् पुरुष से संभोग की इच्छा। जैन-विचारणा में लिंग और वेद में अन्तर किया गया है। लिंग आंगिक संरचना का प्रतीक है, जबकि वेद तत्सम्बन्धी वासनाओं की अवस्था है। यह आवश्यक नही है कि स्त्री-लिंग होने पर स्त्रीवेद हो ही। जैन-विचारणा के अनुसार लिंग (आंगिक रचना) का कारण नाम-कर्म है, जबकि वेद (वासना) का कारण चारित्रमोहनीय कर्म है।

८. **पुरुषवेद**—पुरुषत्व सम्बन्धी काम वासना अर्थात् स्त्री-संभोग की इच्छा।

९. **नपुंसकवेद**—प्राणी में स्त्रीत्व सम्बन्धी और पुरुषत्व सम्बन्धी दोनों वासनाओं का होना नपुंसकवेद कहा जाता है। दोनों के संभोग की इच्छा ही नपुंसकवेद है।

काम-वासना की तीव्रता की दृष्टि से जैन-विचारकों के अनुसार पुरुष की काम-वासना शीघ्र ही प्रदीप्त हो जाती है और शीघ्र ही शान्त हो जाती है। स्त्री की काम-वासना देरी से प्रदीप्त होती है लेकिन एक बार प्रदीप्त हो जाने पर काफी समय तक शान्त नही होती। नपुंसक की काम-वासना शीघ्र प्रदीप्त हो जाती है, लेकिन शान्त देरी से होती है।[2] इस प्रकार भय, शोक, घृणा, हास्य, रति, अरति, और काम-विकार ये उप-आवेग हैं। ये भी व्यक्ति के जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। क्रोध आदि की शक्ति तीव्र होती है, इसलिए वे आवेग है। ये व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक स्थिति को प्रभावित करने के अतिरिक्त उसके आन्तरिक गुणों—सम्यक् दृष्टिकोण, आत्म-नियन्त्रण आदि को भी प्रभावित करते है। भय आदि उप-आवेग व्यक्ति के आन्तरिक गुणों को उतना प्रत्यक्षतः प्रभावित नही करते, जितना शारीरिक और मानसिक स्थिति को करते है। उनकी शक्ति अपेक्षाकृत क्षीण होती है, इसलिए वे उप-आवेग कहलाते है।[3]

कषाय-जय नैतिक प्रगति का आधार—जैन आचार-दर्शन के अनुसार उक्त १६ आवेगों (कषाय) और ९ उप आवेगों (नो-कषाय) का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र से है। नैतिक जीवन के लिए इन वासनाओं एव आवेगों से ऊपर उठना आवश्यक है।

१. श्रमण आवश्यक सूत्र—भयसूत्र २. जैन साइकोलाजी, पृ० १३१-१३४

३. तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो, पृ० ४७

जब तक व्यक्ति इनसे ऊपर नहीं उठता है, वह नैतिक प्रगति नहीं कर सकता। गुणस्थान आरोहण में यह तथ्य स्पष्ट रूप से वर्णित है कि नैतिक विकास की किस अवस्था में कितनी कषायों का क्षय हो जाता है और कितनी शेष रहती हैं। नैतिकता की सर्वोच्च भूमिका समस्त कषायों के समाप्त होने पर ही प्राप्त होती है।

जैन-सूत्रों में इन चार प्रमुख कषयों को 'चंडाल चौकडी' कहा गया है। इनमे अनन्तानुबन्धी आदि जो विभाग है उनको सदैव ध्यान में रखना चाहिए और हमेशा यह प्रयत्न करना चाहिए कि कषायों में तीव्रता न आये, क्योंकि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान माया, लोभ के होने पर साधक अनन्तकाल तक संसारपरिभ्रमण करता है और सम्यग्दृष्टि नहीं बन पाता है। यह जन्म मरण के रोग की असाध्यावस्था है। अप्रत्याख्यानी कषाय के होने पर साधक, श्रावक या गृहस्थ साधक के पद में गिर जाता है। यह साधक के आंशिक चारित्र का नाश कर देती है। यह विकारों की दुःसाध्यावस्था है। इसी प्रकार प्रत्याख्यानी कषाय की अवस्था में साधुत्व प्राप्त नहीं होता। इसे विकारों की प्रयत्नसाध्यावस्था कहा जा सकता है। साधक को अपने जीवन में उपर्युक्त तीनों प्रकार की कषायों को स्थान नहीं देना चाहिए, क्योंकि इससे उसकी साधना या चारित्र धर्म का नाश हो जाता है। इतना ही नहीं, साधक को अपने अन्दर संज्वलन कषाय को भी स्थान नहीं देना चाहिए, क्योंकि जब तक चित्त में सूक्ष्मतम क्रोध, मान, माया, और लोभ रहते हैं, साधक अपने लक्ष्य-निर्वाण की प्राप्ति नही कर सकता। संक्षेप में अनन्तानुबन्धी चौकड़ी या कषायों की तीव्रतम अवस्था यथार्थ दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक है। अप्रत्याख्यानी चौकड़ी या कषायों की तीव्रतर अवस्था आत्म-नियन्त्रण में बाधक है। प्रत्याख्यानी चौकड़ी या कषायों की तीव्र अवस्था श्रमण जीवन की घातक है। इसी प्रकार संज्वलन चौकड़ी या अल्प-कषाय पूर्ण निष्काम या वीतराग जीवन की उपलब्धि में बाधक है। इसलिए साधक को सूक्ष्मतम कषायों को भी दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इनके होने पर उसकी साधना में पूर्णता नहीं आ सकती। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि आत्म-हित चाहनेवाला साधक पाप की वृद्धि करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार दोषों को पूर्णतया छोड़ दे।[1]

नैतिक जीवन की साधना करने वाला इनको क्यों छोड़ दे? इस तर्क के उत्तर में दशवैकालिक सूत्र में इनकी सामाजिक एवं वैयक्तिक सद्गुणों का घात करनेवाली प्रकृति का भी विवेचन किया गया है—क्रोध प्रीति का, मान विनय (नम्रता) का, माया मित्रता का और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।[2] आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि

१. दशवैकालिक, ८।३७ २. वही, ८।३८

मान, विनय, श्रुत, शील-सदाचार एवं त्रिवर्ग का घातक है, वह विवेकरूपी नेत्रों को नष्ट करके मनुष्य को अन्धा बना देता है। क्रोध जब उत्पन्न होता है तो प्रथम आग की तरह उसी को जलाता है, जिसमे वह उत्पन्न होता है। माया, अविद्या और असत्य की जनक है और शीलरूपी वृक्ष को नष्ट करने मे कुल्हाड़े के समान तथा अधोगति की कारण है। लोभ समस्त दोषों की उत्पत्ति की खान है, समस्त सद्‌गुणों को निगल जानेवाला राक्षस है, सारे दुःखों का मूल कारण और धर्म तथा काम-पुरुषार्थ का बाधक है।[1] यहाँ पर विशेष द्रष्टव्य यह भी है कि कषायों मे जहाँ क्रोध मानादि को एक या अधिक सद्‌गुणों का विनाशक कहा गया है, वहाँ लोभ को सर्व सद्‌गुणों का विनाशक कहा गया है। लोभ सभी कषायों मे निकृष्टतम इसलिए है कि वह रागात्मक है और राग या आसक्ति ही समस्त असत्‌वृत्तियों की जनक है। मुनि नथमलजी सामाजिक जीवन पर होने वाले कषायों के परिणामों की चर्चा करते हुए लिखते है कि हमारे मतानुसार (सामाजिक) सम्बन्ध-शुद्धि की कसौटी है—ऋजुता, मृदुता, शान्ति और त्याग से समन्वित मनोवृत्ति। हर व्यक्ति म चार प्रकार की वृत्तियाँ (कषाय) होती है :—१. संग्रह, २. आवेश, ३. गर्व (बड़ा मानना) और ४ माया (छिपाना)। चार वृत्तियाँ और होती है। वे उक्त चार प्रवृत्तियो की प्रतिपक्षी है :—१. त्याग या विसर्जन, २ शान्ति, ३. समानता या मृदुता, ४. ऋजुता या स्पष्टता। ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक है, इसलिए इन्हें अनैतिक और नैतिक नहीं कहा जा सकता। इन्हे आध्यात्मिक (वैयक्तिक) दोष और गुण कहा जा सकता है। इन वृत्तियों के परिणाम समाज में संक्रान्त होते है। उन्हे अनैतिक और नैतिक कहा जा सकता है।

पहले प्रकार की वृत्तियों के परिणाम—

१. संग्रह की मनोवृत्ति के परिणाम—शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात।

२. आवेश की मनोवृत्ति के परिणाम—गाली-गलौज, युद्ध, आक्रमण, प्रहार, हत्या।

३. गर्व (अपने को बड़ा मानने) की मनोवृत्ति के परिणाम—घृणा, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार, क्रूर-व्यवहार।

४. माया (छिपाने) की मनोवृत्ति के परिणाम—अविश्वास, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार।

दूसरे प्रकार की वृत्तियों के परिणाम—

१. त्याग (विसर्जन) की मनोवृत्ति के परिणाम—प्रामाणिकता, सापेक्ष व्यवहार, अशोषण।

२. शान्ति की मनोवृत्ति के परिणाम—वाक्-संयम, अनाक्रमण, समझौता, समन्वय।

---

१. योगशास्त्र, ४।१०, १८

३. समानता की मनोवृत्ति के परिणाम—सापेक्ष-व्यवहार, प्रेम, मृदु व्यवहार।
४. ऋजुता की मनोवृत्ति के परिणाम—मैत्रीपूर्ण व्यवहार, विश्वास।[१]

अतः आवश्यक है कि सामाजिक जीवन की शुद्धि के लिए प्रथम प्रकार की वृत्तियों का त्याग कर जीवन में दूसरे प्रकार की प्रतिपक्षी वृत्तियों को स्थान दिया जाये। इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही जीवन की दृष्टियों से कषाय जय आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है, क्रोध से आत्मा अधोगति को जाता है और मान से भी, माया से अच्छी गति (नैतिक विकास) का प्रतिरोध हो जाता है, लोभ से इस जन्म और अगले जन्म दोनों में ही भय प्राप्त होता है।[२] जो व्यक्ति यश, पूजा या प्रतिष्ठा की कामना करता है, मान और सम्मान की अपेक्षा करता है, वह व्यक्ति अपने मान की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के पाप-कर्म करता है और कपटाचार का प्रश्रय लेता है।[3] दुष्पूर्य लोभ की पूर्ति मे लगा हुआ व्यक्ति सदैव ही दुःख उठाया करता है, अतः इन जन्म-मरण रूपी वृक्ष का सिंचन करनेवाली कषायों का परित्याग कर देना चाहिए।

कषाय-जय कैसे?—प्रश्न यह है कि मानसिक आवेगों (कषायों) पर विजय कैसे प्राप्त की जाये? पहली बात यह कि तीव्र कषायोदय में तो विवेक बुद्धि प्रसुप्त ही हो जाती है, अत विवेक बुद्धि से कषायों का निग्रह सम्भव नहीं रह जाता। दूसरे इच्छा-पूर्वक भी उनका निरोध सम्भव नहीं, क्योंकि इच्छा तो स्वतः उनसे ही शासित होने लगती है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा के अनुसार आवेगों का नियंत्रण संकल्पों से भी संभव नहीं। क्योंकि संकल्प तो आवेगात्मक स्वभाव के आधार पर ही बनते हैं और उसके ही एक अंग होते हैं।[४] तीसरे, आवेगों का निरोध भी मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अहितकर माना गया है और उनकी किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति आवश्यक मानी गयी है। तीव्र आवेगों के निरोध के लिए तो एक ही मार्ग है कि उन्हें उनके विरोधी आवेगों के द्वारा शिथिल किया जाये। स्पीनोजा की मान्यता यही है कि कोई भी आवेग अपने विरोधी और अधिक शक्तिशाली आवेग के द्वारा ही नियंत्रित या समाप्त किया जा सकता है।[५] जैन एवं अन्य भारतीय चिन्तकों ने इस सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण अपनाया है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।[६] आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य हेमचन्द्र भी यही कहते हैं।[७] धम्मपद में कहा है कि

---

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० २ २. उत्तराध्ययन, ९।५४
३. दशवैकालिक, ५।२।३५
४. स्पीनोजा इन दी लाईट आफ वेदान्त, पृ० २६६ ५. स्पीनोजा नीति, ४।७
६. दशवैकालिक, पृ० ८।३९ ७. (अ) नियमसार, ११५ (ब) योगशास्त्र, ४।२३

अक्रोध से क्रोध को, साधुता से असाधुता को जीते तथा कृपणता को दान से और मिथ्या भाषण को सत्य से पराजित करे।[1] महाभारत में भी लगभग इन्हीं शब्दों में इन वृत्तियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का निर्देश है।[2] महाभारत और धम्मपद का यह शब्द-साम्य और दशवैकालिक एवं धम्मपद का यह विचार-साम्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुतः कषाय ही आत्म-विकास में बाधक है। कषायों का नष्ट हो जाना ही भव-भ्रमण का अंत है। एक जैनाचार्य का कथन है, 'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'—कषायों से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि साधक को हमेशा यही विचार करना चाहिए कि मैं न तो क्रोध हूँ, न मान, न माया, न लोभ ही हूँ अर्थात् ये मेरी आत्मा के गुण नहीं हैं। अतएव मैं न तो इनका कर्ता हूँ, न करवाता हूँ, और न करने वालों का अनुमोदन (समर्थन) करता हूँ।[3]

इस प्रकार कषायों को विकृति समझकर साधक शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए इनसे दूर हो कर शीघ्र निर्वाण प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इन चारों दोषों का त्याग कर देने वाला पाप नहीं करता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार महादोषों को छोड़ देने वाला महर्षि न तो पाप करता है, न तो करवाता है[4]। कषाय-जय से जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर वह निष्काम जीवन जीता है।

बौद्ध-दर्शन और कषाय-जय—धम्मपद में कषाय शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। एक तो उसका जैन-परम्परा के समान दूषित चित्तवृति के अर्थ में प्रयोग हुआ है और दूसरे संन्यस्त जीवन के प्रतीक गेरूए वस्त्रों के अर्थ में। तथागत कहते हैं—'जो व्यक्ति (रागद्वेषादि) कषायों को छोड़े बिना काषाय वस्त्रों (गेरूए कपड़ों) को अर्थात् संन्यास धारण करता है वह संयम के यथार्थ स्वरूप से पतित व्यक्ति काषाय-वस्त्रों (संन्यास मार्ग) का अधिकारी नहीं है। लेकिन जिसने कषायों (दूषित चित्तवृत्तियों) को वमित कर दिया (तज दिया) है, वह संयम के यथार्थ स्वरूप से युक्त व्यक्ति काषाय-वस्त्रों (संन्यास मार्ग) का अधिकारी है'।[5] बौद्ध-विचार में कषाय शब्द के अन्तर्गत कौन-कौन दूषित वृत्तियाँ आती हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख हमें नहीं मिला। क्रोध, मान, माया और लोभ को बौद्ध-विचारणा में दूषित चित्त-वृत्ति के रूप में ही माना गया है और नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए उनके परित्याग का निर्देश है। बुद्ध कहते हैं कि क्रोध को छोड़ दो और अभिमान का त्याग कर दो; समस्त संयोजनों को तोड़ दो, जो पुरुष नाम तथा रूप में आसक्त नहीं होता, (लोभ नहीं करता), जो अकिंचन है, उस पर क्लेशों का आक्रमण नहीं होता। जो उठते हुए क्रोध को उसी तरह निग्रहित कर लेता है, जैसे सारथी घोड़े को; वही सच्चा सारथी है (नैतिक जीवन का सच्चा साधक है), शेष सब तो मात्र लगाम पकड़ने वाले हैं[6]। भिक्षुओ! लोभ, द्वेष और मोह पापचित्त वाले मनुष्य को अपने भीतर ही

---

१. धम्मपद, २२३ २. महाभारत, उद्योग पर्व—उद्धृत धम्मपद भूमिका
३. नियमसार, ८१ ४. सूत्रकृतांग, १।६।२६ ५. धम्मपद, ९-१० ६. वही, २२१-२२२

उत्पन्न होकर नष्ट कर देते हैं जैसे केले के पेड़ को उसी का फल (केला)[१]। मायावी मर कर नरक में उत्पन्न हो दुर्गति को प्राप्त होता है[२]। सुत्तनिपात में कहा गया है कि जो मनुष्य जाति, धन और गोत्र का अभिमान करता है और अपने बन्धुओं का अपमान करता है, वह उसके पराभव का कारण है[3]। जो क्रोध करता है, वैरी है तथा जो मायावी है उसे वृषल (नीच) जानो[४]। इस प्रकार बौद्ध दर्शन इन अशुभ-चित्त वृत्तियों का निषेध कर साधक को इनसे ऊपर उठने का संदेश देता है।

गीता और कषाय-निरोध—यद्यपि गीता में कषायों का ऐसा चतुर्विध वर्गीकरण तो नहीं मिलता, तथापि कषायों के रूप में जिन अशुभ मनोवृत्तियों का चित्रण जैनागमों में है, उन सभी अशुभ मनोवृत्तियों का उल्लेख गीता में भी है। हिन्दू आचार-दर्शन में कषाय शब्द का अशुभ मनोवृत्तियों के अर्थ में प्रयोग विरल ही हुआ है। छान्दोग्य-उपनिषद् में कषाय शब्द राग-द्वेष के अर्थ में व्यवहृत हुआ है[५]। महाभारत के शान्तिपर्व में भी कषाय शब्द का प्रयोग अशुभ मनोवृत्तियों के अर्थ में हुआ है। वहाँ कहा गया है कि मनुष्य-जीवन की तीन सीढ़ियों अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ-आश्रम में कषायों को विजित कर फिर संन्यास का अनुसरण करें[६]। गीता में कषाय शब्द का प्रयोग नहीं है। फिर भी गीता में कषाय-वृत्तियों का विवेचन है। गीता कहती है कि 'दम्भ, दर्प, मान, क्रोध आदि आसुरी सम्पदा हैं[७]। अहंकार, बल, दर्प (मान), काम (लोभ) और क्रोध के आश्रित होकर मनुष्य अपने और दूसरों के शरीर में स्थित परमात्मा (आत्मा) से द्वेष करनेवाले होते हैं[८] अर्थात् मान, क्रोध, लोभ आदि विकारों के वशीभूत होकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाते हैं। यह काम, क्रोध और लोभ आत्मा का नाश करनेवाले (आत्मा को विकारी बनाकर उसके स्व-लक्षणों को आवरित करनेवाले) नरक के द्वार हैं। अतः इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए। जो इन नरक के द्वारों से मुक्त होकर अपने कल्याण-मार्ग का आचरण करता है, वह परमगति को प्राप्त करता है[९]।

इस प्रकार क्रोध, मान और लोभ इन तीन कषायों का विवेचन हमें गीता में मिल जाता है। गीता में माया शब्द का प्रयोग तो हुआ है, लेकिन जिस निम्नस्तरीय कपट-वृत्ति के अर्थ में जैन दर्शन में उसका प्रयोग किया गया है, उस अर्थ में उसका प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ तो वह दैवी माया (७।१४) है, फिर भी वह नैतिक विकास में बाधक अवश्य मानी गयी है। गीता में कृष्ण कहते हैं कि माया के द्वारा जिनके ज्ञान का

१. संयुत्तनिकाय, ३।३।३ २. वही, ४०।१३।१ ३. सुत्तनिपात, ७।१
४. वही, ६।१४ ५. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।२६।२ ६. महाभारत शांतिपर्व, २४४।३
७. गीता, १६।४ ८. वही, १६।१८ ९. वही, १६।२१-२२

अपहरण हो गया है, ऐसे आसुरी स्वभाव से युक्त, दूषित कर्मों का आचरण करनेवाले, मनुष्यों में नीच, मूर्ख मुझ परमात्मा को प्राप्त नहीं होते[1]।

सारांश यह कि मनोवृत्तियों के चारों रूप, जिन्हें जैन विचारणा कषाय कहती है, गीता में भी निकृष्ट माने गये हैं और नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए इनका परित्याग करना आवश्यक है। गीताकार की दृष्टि में जो मनुष्य इस शरीर के नाश होने के पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न आवेगों (संवेगों) को सहन करने में समर्थ है अर्थात् जो काम एवं क्रोध की भावनाओं से ऊपर उठ गया है, वही योगी है और वही सुखी है। काम-क्रोधादि (कषाय-वृत्तियों) से रहित, विजित-चित्त एवं विकाररहित आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सभी ओर से ब्रह्म-निर्वाण में ही निवास करता है अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है[2]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में भी जैनदर्शन के समान क्रोध (आवेश), मान (अहंकार), माया (छिपाने की वृत्ति) और लोभ (संग्रह-वृत्ति) आदि आवेगों को वैयक्तिक आध्यात्मिक विकास एवं सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि की दृष्टि से अनुचित माना गया है। यदि व्यक्ति इन आवेगात्मक मनोवृत्तियों को अपने जीवन में स्थान देता है तो एक ओर वैयक्तिक दृष्टि से वह अपने आध्यात्मिक विकास को अवरुद्ध करता है और यथार्थ बोध से वंचित रहता है, दूसरी ओर उसकी इन वृत्तियों के परिणाम सामाजिक जीवन में संक्रान्त होकर क्रमशः संघर्ष (युद्ध), शोषण, घृणा (ऊँच-नीच का भाव) और अविश्वास को उत्पन्न करते हैं और परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन-व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती है। अतः वैयक्तिक-आध्यात्मिक विकास और सामञ्जस्यपूर्ण सामाजिक जीवन प्रणाली के लिए आवेगात्मक मनोवृत्तियों का त्याग आवश्यक है और इनके स्थान पर इनकी प्रतिपक्षी शान्ति, समानता, सरलता (विश्वसनीयता) और विसर्जन (त्याग) की मनोवृत्तियों को जीवन में स्थान देना चाहिए ताकि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का विकास हो सके।

व्यक्ति जैसे-जैसे इन आवेगात्मक मनोवृत्तियों से ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे उसका व्यक्तित्व परिपक्व बनता जाता है और जब इन आवेगात्मक मनोभावों से पूर्णतया ऊपर उठ जाता है, तब वीतराग, अर्हत् या जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जो कि नैतिक जीवन का साध्य है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इसे परिपक्व व्यक्तित्व (MATURED PERSONALITY) की अवस्था कहा जा सकता है।

आवेग, नैतिकता एवं व्यक्तित्व—हमारे व्यक्तित्व का सीधा सम्बन्ध हमारे आवेगों से है। आवेगों की जितनी अधिक तीव्रता होगी, व्यक्तित्व में उतनी ही अधिक अस्थिरता

---

१. गीता, ७।१५ २. वही, ५।२३

होगी। व्यक्ति जितना आवेगों से ऊपर उठेगा, उसके व्यक्तित्व में स्थिरता एवं परिपक्वता आती जायेगी। इसी प्रकार व्यक्ति मे अनैतिक आवेगों (कषायों) की जितनी अधिकता होगी, नैतिक दृष्टि से उसका व्यक्तित्व उतना ही निम्नस्तरीय होगा। आवेगों (मनोवृत्तियों) की तीव्रता और उनकी अशुभता दोनों ही व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। वस्तुतः आवेगों में जितनी अधिक तीव्रता होगी, उतनी व्यक्तित्व मे अस्थिरता होगी और व्यक्तित्व मे जितनी अधिक अस्थिरता होगी उतनी ही अनैतिकता होगी। आवेगात्मक अस्थिरता अनैतिकता की जननी है। इस प्रकार आवेगात्मकता, नैतिकता और व्यक्तित्व तीनों ही एक- दूसरे से जुड़े हैं। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति के सन्दर्भ में न केवल आवेगों की तीव्रता पर विचार करना चाहिए, वरन् उनकी प्रशस्तता और अप्रशस्तता पर भी विचार करना आवश्यक है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति के आवेगों तथा मनोभावों के शुभत्व एवं अशुभत्व का सम्बन्ध हमारे व्यक्तित्व मे जोड़ा गया है। आचारदर्शन में व्यक्तित्व के वर्गीकरण या श्रेणी-विभाजन का आधार व्यक्ति की प्रशस्त और अप्रशस्त मनोवृत्तियाँ ही हैं। जिस व्यक्ति में जिस प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती हैं, उसी आधार पर उसके व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया जाता है। मनोवृत्तियों के नैतिक आधारों पर व्यक्तित्व के वर्गीकरण की परम्परा बहुत पुरानी है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में ऐसा वर्गीकरण या श्रेणी-विभाजन उपलब्ध है। जैन-दर्शन में इस वर्गीकरण का आधार लेश्या-सिद्धान्त है। बौद्ध-दर्शन में लेश्या का स्थान अभिजाति ने लिया है, जबकि गीता में इसे दैवी एवं आसुरी सम्पदा के रूप में वर्णित किया गया है। आगे हम नैतिक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इसी लेश्या-सिद्धान्त की चर्चा करेंगे। नैतिक व्यक्तित्व की चर्चा करते समय हमें कषाय-सिद्धान्त के स्थान पर लेश्या-सिद्धान्त की ओर आना होता है। कषाय-सिद्धान्त केवल अशुभ आवेगों की तीव्रता के आधार पर चर्चा करता है, जबकि लेश्या-सिद्धान्त में शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार के मनोभावों की चर्चा आती है।

लेश्या-सिद्धान्त और नैतिक व्यक्तित्व

जैन-विचारकों के अनुसार लेश्या की परिभाषा यह है कि जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है, जिसके द्वारा आत्मा कर्मों मे लिप्त होती है या बन्धन में आती है, वह लेश्या है।[1] जैनागमों में लेश्या दो प्रकार की मानी गयी है--१. द्रव्य-लेश्या और २. भाव-लेश्या।

१. **द्रव्य-लेश्या**—द्रव्य-लेश्या सूक्ष्म भौतिकी तत्त्वों से निर्मित वह आंगिक संरचना है, जो हमारे मनोभावों एवं तज्जनित कर्मों का सापेक्ष रूप मे कारण अथवा कार्य बनती है। जिस प्रकार पित्तद्रव्य की विशेषता से स्वभाव में क्रोधीपन आता है और क्रोध के

१. अभिधान राजेन्द्र खण्ड ६, पृ० ६७५

कारण पित्त का निर्माण बहुल रूप में होता है, उसी प्रकार इन सूक्ष्म भौतिक तत्वों से मनोभाव बनते हैं और मनोभाव के होने पर इन सूक्ष्म संरचनाओं का निर्माण होता है। इनके स्वरूप के सम्बन्ध में पं० सुखलाल जी एवं राजेन्द्रसूरिजी ने निम्न तीन मतों को उद्धृत किया है :—

१. लेश्या-द्रव्य कर्म-वर्गणा से बने हुए है। यह मत उत्तराध्ययन की टीका में है।

२ लेश्या-द्रव्य बध्यमान कर्म प्रवाह रूप है। यह मत भी उत्तराध्ययन की टीका में वादिवैताल शान्तिसूरि का है।

३. लेश्या-योग परिणाम है अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का परिणाम है। यह मत आचार्य हरिभद्र का है।[1]

भाव-लेश्या—भाव-लेश्या आत्मा का अध्यवसाय या अन्तःकरण की वृत्ति है। पं० सुखलालजी के शब्दों में भाव-लेश्या आत्मा का मनोभाव विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से लेश्या (मनोभाव) वस्तुतः अनेक प्रकार की है। तथापि संक्षेप मे छह भेद करके (जैन) शास्त्र मे उसका स्वरूप वर्णन किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र[2] में लेश्याओं के स्वरूप का निर्वचन विविध पक्षों के आधार पर विस्तृत रूप मे हुआ है, लेकिन हम अपने विवेचन को लेश्याओं के भावात्मक पक्ष तक ही सीमित रखना उचित समझेंगे। मनोदशाओं मे संक्लेश की न्यूनाधिकता अथवा मनोभावों की अशुभत्व मे शुभत्व की ओर बढ़ने की स्थितियों के आधार पर ही उनके विभाग किये गये है। अप्रशस्त और प्रशस्त इन द्विविध मनोभावों के उनकी तारतम्यता के आधार पर छह भेद वर्णित हैं।

अप्रशस्त मनोभाव	प्रशस्त मनोभाव
१. कृष्ण-लेश्या—तीव्रतम अप्रशस्त मनोभाव	४. तेजोलेश्या—प्रशस्त मनोभाव
२. नील-लेश्या—तीव्र अप्रशस्त मनोभाव	५. पद्मलेश्या—तीव्र प्रशस्त मनोभाव
३. कापोत-लेश्या—अप्रशस्त मनोभाव	६. शुक्ललेश्या—तीव्रतम प्रशस्त मनोभाव

लेश्याएँ एवं नैतिक व्यक्तित्व का श्रेणी-विभाजन—लेश्याएँ मनोभावों का वर्गीकरण मात्र नही हैं, वरन् ये चरित्र के आधार पर किये गये व्यक्तित्व के प्रकार भी है।

१. दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ० २९७ (ब) अभिधान राजेन्द्र खण्ड ६, पृ० ६७५
२. उत्तराध्ययन, ३४।३

मनोभाव अथवा संकल्प आन्तरिक तथ्य ही नहीं हैं, वरन् वे क्रियाओं के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति भी चाहते हैं। वस्तुतः संकल्प ही कर्म मे रूपान्तरित होते हैं। ब्रेडले का यह कथन उचित है कि कर्म संकल्प का रूपान्तरण है।[1] मनोभूमि या संकल्प व्यक्ति के आचरण का प्रेरक सूत्र है, लेकिन कर्म-क्षेत्र मे संकल्प और आचरण दो अलग-अलग तत्त्व नहीं रहते। आचरण से संकल्पों की मनोभूमिका का निर्माण होता है और संकल्पों की मनोभूमिका पर ही आचरण स्थित होता है। मनोभूमि और आचरण अथवा चरित्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इतना ही नही, मनोवृत्ति स्वयं मे भी एक आचरण है। मानसिक कर्म भी कर्म ही है। अतः जैन-विचारकों ने जब लेश्या-परिणाम की चर्चा की, तो वे मात्र मनोदशाओं की चर्चाओं तक ही सीमित नही रहे, वरन् उन्होंने उस मनोदशा से प्रत्युत्पन्न जीवन के कर्म-क्षेत्र मे घटित होनेवाले व्यवहारो की चर्चा भी की और इस प्रकार जैन लेश्या-सिद्धान्त व्यक्तित्व के नैतिक पक्ष के आधार पर व्यक्तित्व के नैतिक प्रकारों के वर्गीकरण का ही सिद्धान्त बन गया। जैन-विचारकों ने इस सिद्धान्त के आधार पर यह बताया कि नैतिक दृष्टि से व्यक्तित्व या तो नैतिक होगा या अनैतिक होगा और इस प्रकार दो वर्ग होंगे—१. नैतिक और २. अनैतिक। इन्हे धार्मिक और अधार्मिक अथवा शुक्ल-पक्षी और कृष्ण-पक्षी भी कहा गया है। वस्तुतः एक वर्ग वह है जो नैतिकता अथवा शुभ की ओर उन्मुख है। दूसरा वर्ग वह है जो अनैतिकता या अशुभ की ओर उन्मुख है। इस प्रकार नैतिक गुणात्मक अन्तर के आधार पर व्यक्तित्व के ये दो प्रकार बनते है। लेकिन जैन-विचारक मात्र गुणात्मक वर्गीकरण से सन्तुष्ट नही हुए और उन्होंने उन दो गुणात्मक प्रकारों को तीन-तीन प्रकार के मात्रात्मक अन्तरों (जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट) के आधार पर छह भागों में विभाजित किया। जैन लेश्या-सिद्धान्त का षट्विध वर्गीकरण इसी आधार पर हुआ है। यद्यपि जैन-विचारकों ने मात्रात्मक अन्तरों के आधार पर इस वर्गीकरण में तीन, नव, इक्यासी और दो सौ तैंतालीस उपभेद भी गिनायें है, लेकिन हम अपने को नैतिक व्यक्तित्व के इस षट्विध वर्गीकरण तक ही सीमित रखेंगे।

कृष्ण-लेश्या (अशुभतम मनोभाव) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण—यह नैतिक व्यक्तित्व का सबसे निकृष्ट रूप है। इस अवस्था में प्राणी के विचार अत्यन्त निम्न कोटि के एवं क्रूर होते हैं। वासनात्मक पक्ष जीवन के सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र पर हावी रहता है। प्राणी अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करने में अक्षम रहता है। वह अपनी इन्द्रियों पर अधिकार न रख पाने के कारण बिना किसी प्रकार के शुभाशुभ विचार के उन इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति में सदैव निमग्न बना रहता है। इस प्रकार भोग-विलास में आसक्त हो, वह उनकी पूर्ति के लिए हिंसा, असत्य,

१. एथिकल स्टडीज, पृ० ६५

चोरी, व्यभिचार और संग्रह मे लगा रहता है। स्वभाव से वह निर्दय एवं नृशंस होता है और हिंसक कर्म करने मे उसे तनिक भी अरुचि नहीं होती तथा अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त दूसरे का बडा से बडा अहित करने में वह सकोच नही करता।[1] कृष्णलेश्या से युक्त प्राणी वासनाओं के अन्ध-प्रवाह मे ही शासित होता है और इसलिए भावावेश मे उसमे स्वयं के हिताहित का विचार करने की क्षमता भी नही होती। वह दूसरे का अहित मात्र इसलिए नहीं करता कि उसमे उसका स्वयं का कोई हित होगा, वरन् वह तो अपने क्रूर स्वभाव के वशीभूत हो ऐसा किया करता है अपने हित के अभाव में भी वह दूसरे का अहित करता रहता है।

नील-लेश्या (अशुभतर मनोभाव) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण—यह नैतिक व्यक्तित्व का प्रकार पहले की अपेक्षा कुछ ठीक होता है, लेकिन होता अशुभ ही है। इस अवस्था में भी प्राणी का व्यवहार वासनात्मक पक्ष से शासित होता है। लेकिन वह अपनी वासनाओं की पूर्ति मे अपनी बुद्धि का उपयोग करने लगता है। अतः इसका व्यवहार प्रकट रूप मे तो कुछ प्रमार्जित-सा रहता है, लेकिन उसके पीछे कुटिलता ही काम करती है। यह विरोधी का अहित अप्रत्यक्ष रूप से करता है। ऐसा प्राणी ईर्ष्यालु, असहिष्णु, असंयमी, अज्ञानी, कपटी, निर्लज्ज, लम्पट, द्वेष-बुद्धि से युक्त, रसलोलुप एवं प्रमादी होता है।[2] फिर भी वह अपनी सुख-सुविधा का सदैव ध्यान रखता है। यह दूसरे का अहित अपने हित के निमित्त करता है, यद्यपि यह अपने अल्प हित के लिए दूसरे का बडा अहित भी कर देता है। जिन प्राणियों से इसका स्वार्थ सधता है उन प्राणियो के हित का अज-पोषण-न्याय के अनुसार वह कुछ ध्यान अवश्य रखता है, लेकिन मनोवृत्ति दूषित ही होती है। जैसे, बकरा पालने वाला बकरे को इसलिए नही खिलाता कि उससे बकरे का हित होगा, वरन् इसलिए खिलाता है कि उसे मारने पर अधिक मांस मिलेगा। ऐसा व्यक्ति दूसरे का बाह्य रूप मे जो भी हित करता सा दिखाई देता है, उसके पीछे उसका गहन स्वार्थ छिपा रहता है।

३. कापोत-लेश्या (अशुभ मनोवृति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण—यह मनोवृत्ति भी दूषित है। इस मनोवृत्ति मे प्राणी का व्यवहार मन, वचन, कर्म से एक रूप नही होता। उसकी करनी और कथनी भिन्न होती है। मनोभावों मे सरलता नही होती, कपट और अहंकार होता है। वह अपने दोषों का सदैव छिपाने की कोशिश करता है। उसका दृष्टिकोण अयथार्थ एवं व्यवहार अनार्य होता है। वह वचन से दूसरे की गुप्त बातों को प्रकट करनवाला अथवा दूसरे के रहस्यो को प्रकट कर उससे अपना हित साधने वाला, दूसरे के धन का अपहरण करने वाला एवं मात्सर्य भावो से युक्त होता है। ऐसा व्यक्ति दूसरे का अहित तभी करता है, जब उससे उसकी स्वार्थ-सिद्धि होती है।[3]

---

१. उत्तराध्ययन, ३४।२१-२२   २. वही, ३४।२३-२४   ३. वही, ३४।२५-२६

४. **तेजो-लेश्या** (शुभ मनोवृत्ति) **से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण**—यहाँ मनोदशा पवित्र होती है। इस मनोभूमि में प्राणी पापभीरु होता है अर्थात् वह अनैतिक आचरण की ओर प्रवृत्त नहीं होता। यद्यपि वह सुखापेक्षी होता है, लेकिन किसी अनैतिक आचरण द्वारा उन सुखों की प्राप्ति या अपना स्वार्थ साधन नहीं करता। धार्मिक एवं नैतिक आचरण में उसकी पूर्ण आस्था होती है। अतः उन कृत्यों के सम्पादन में आनन्द प्राप्त करता है, जो धार्मिक या नैतिक दृष्टि से शुभ हैं। इस मनोभूमि में दूसरे के कल्याण की भावना भी होती है। संक्षेप में इस मनोभूमि में स्थित प्राणी पवित्र आचरणवाला, नम्र, धैर्यवान्, निष्कपट, आकांक्षारहित, विनीत, संयमी एवं योगी होता है।[1] वह प्रिय एवं दृढ़धर्मी तथा पर-हितैषी होता है। इस मनोभूमि पर दूसरे का अहित तो सम्भव होता है, लेकिन केवल उसी स्थिति में जबकि दूसरा उसके हितों का हनन करने पर उतारू हो जाये।

५. **पद्म-लेश्या** (शुभतर मनोवृत्ति) **से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण**—इस मनोभूमि में पवित्रता की मात्रा पिछली भूमिका की अपेक्षा अधिक होती है। इस मनोभूमि में क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप अशुभ मनोवृत्तियाँ अतीव अल्प अर्थात् समाप्तप्राय हो जाती हैं। प्राणी संयमी तथा योगी होता है तथा योग-साधना के फलस्वरूप आत्म-जयी एवं प्रफुल्लचित्त होता है। वह अल्पभाषी, उपशांत एवं जितेन्द्रिय होता है।[2]

६. **शुक्ल-लेश्या (परमशुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण**—यह मनोभूमि शुभ मनोवृत्ति की सर्वोच्च भूमिका है। पिछली मनोवृत्ति के सभी शुभ गुण इस अवस्था मे वर्तमान रहते हैं, लेकिन उनकी विशुद्धि की मात्रा अधिक होती है। प्राणी उपशांत, जितेन्द्रिय एवं प्रसन्नचित्त होता है। उसके जीवन का व्यवहार इतना मृदु होता है कि वह अपने हित के लिए दूसरे को तनिक भी कष्ट नहीं देना चाहता है, मन-वचन-कर्म से एकरूप होता है तथा उन पर उसका पूर्ण नियंत्रण होता है। उसे मात्र अपने आदर्श का बोध रहता है। बिना किसी अपेक्षा के वह मात्र स्वकर्तव्य के परिपालन में सदैव जागरूक रहता है। सदैव स्वधर्म एवं स्वस्वरूप में निमग्न रहता है।[3]

लेश्या-सिद्धान्त और बौद्ध-विचारणा—भारत में गुण-कर्म के आधार पर यह वर्गीकरण करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। यह वर्गीकरण सामाजिक एवं नैतिक दोनों दृष्टिकोणों से किया जाता रहा है। सामाजिक दृष्टि से इसने चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का रूप ग्रहण किया था जिस पर जन्मना और कर्मणा दृष्टिकोणों को लेकर श्रमण और वैदिक परम्परा में काफी विवाद भी रहा है। यहाँ हम इस गुण-कर्म के आधार पर विशुद्ध नैतिक दृष्टिकोण के वर्गीकरण की ही चर्चा करेंगे। नैतिक

१. उत्तराध्ययन, ३४।२७-२८ २. वही, ३४।२९-३०
३. वही, ३४।३१-३२

दृष्टिकोण से गुण-कर्म के आधार पर वर्गीकरण करने का प्रयास न केवल जैन, बौद्ध और गीता की परम्परा ने किया है, वरन् अन्य श्रमण-परम्पराओं में भी ऐसे वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। दीघनिकाय में आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य मंखलिपुत्र गोशालक एवं अंगुत्तरनिकाय में पूर्ण कश्यप के नाम के साथ इस वर्गीकरण का निर्देश है। इनकी मान्यता के अनुसार कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छह अभिजातियाँ हैं। उक्त वर्गीकरण में कृष्ण अभिजाति में आजीवक सम्प्रदाय से इतर सम्प्रदायों के गृहस्थ को, नील अभिजाति में निर्ग्रन्थ और आजीवक श्रमणों के अतिरिक्त अन्य श्रमणों को, लोहित अभिजाति में निर्ग्रन्थ श्रमणों को, हरिद्र अभिजाति में आजीवक गृहस्थों को, शुक्ल अभिजाति में आजीवक श्रमणों को और परमशुक्ल अभिजाति में गोशालक आदि आजीवक सम्प्रदाय के प्रणेता वर्ग को रखा गया है।

उपर्युक्त वर्गीकरण का जैन-विचारणा से बहुत-कुछ शब्द-साम्य है, लेकिन जैन-दृष्टि से यह वर्गीकरण इस अर्थ में भिन्न है कि एक तो यह केवल मानव जाति तक सीमित है, जबकि जैन-वर्गीकरण इसमें सम्पूर्ण प्राणी-वर्ग का समावेश करता है। दूसरे, जैन दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है, जो साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर यही कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अपने गुण-कर्म के आधार पर किसी भी वर्ग या अभिजाति में सम्मिलित हो जाता है। यहाँ यह विशेष दृष्टव्य है कि जहाँ गोशालक द्वारा दूसरे श्रमणों को नील अभिजाति में रखा गया, वहाँ निर्ग्रन्थों को लोहित अभिजाति में रखना उनके प्रति कुछ समादर भाव का द्योतक अवश्य है। सम्भव है महावीर एवं गोशालक का पूर्व-सम्बन्ध इसका कारण रहा हो। जहाँ तक भगवान् बुद्ध की तत्सम्बन्धी मान्यता का प्रश्न है, वे पूर्ण कश्यप अथवा गोशालक की मान्यता से अपने को सहमत नहीं करते हैं। वे व्यक्ति के नैतिक स्तर के आधार पर वर्गीकरण तो प्रस्तुत करते हैं, लेकिन अपने वर्गीकरण को जैन विचारणा के समान मात्र वस्तुनिष्ठ ही रखना चाहते हैं। वे भी यह नहीं बताते कि अमुक वर्ग या व्यक्ति इस वर्ग का है, वरन् यही कहते हैं कि जिसकी मनोभूमिका एवं आचरण जिस वर्ग के अनुसार होगा, वह उस वर्ग में आ जायेगा। पूर्ण कश्यप के दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए भगवान् बुद्ध आनन्द से कहते हैं कि मैं अभिजातियों को तो मानता हूँ, लेकिन मेरा मन्तव्य दूसरों से पृथक् है।[1] मनोदशा और आचरणपरक वर्गीकरण बौद्ध-विचारणा का प्रमुख मंतव्य था।

बौद्ध-विचारणा में प्रथमतः प्रशस्त और अप्रशस्त मनोभाव तथा कर्म के आधार पर मानव-जाति को कृष्ण और शुक्लवर्ग में रखा गया। जो क्रूर कर्मी हैं वे कृष्ण अभिजाति के हैं और जो शुभ कर्मी हैं वे शुक्ल अभिजाति के हैं। पुनः कृष्ण प्रकार वाले और शुक्ल प्रकार वाले मनुष्यों को गुण-कर्म के आधार पर तीन-तीन भागों में

१. अंगुत्तरनिकाय, ६।५७

बाँटा गया।[1] जैनागम उत्तराध्ययन में भी लेश्याओं को प्रशस्त और अप्रशस्त इन दो भागों में बाँटकर प्रत्येक के तीन विभाग किये गये हैं। बौद्ध-विचारणा ने शुभाशुभ कर्म एवं मनोभाव के आधार पर छह वर्ग तो मान लिये लेकिन इसके अतिरिक्त उन्होंने एक वर्ग उन लोगों का भी माना जो शुभाशुभ से ऊपर उठ गये हैं और इसे अकृष्ण-शुक्ल कहा। वैसे जैन-दर्शन में भी अर्हत् को अलेशी कहा गया है।

लेश्या-सिद्धान्त और गीता—गीता में भी प्राणियों के गुण-कर्म के अनुसार वर्गीकरण की धारणा मिलती है। गीता न केवल सामाजिक दृष्टि से प्राणियों का गुण-कर्म के अनुसार वर्गीकरण करती है, वरन् वह नैतिक आचरण की दृष्टि से भी वर्गीकरण प्रस्तुत करती है। गीता के १६ वें अध्याय में प्राणियों की आसुरी एवं दैवी ऐसी दो प्रकार की प्रकृति बतलायी गई है और इसी आधार पर प्राणियों के दो विभाग किये गये हैं। गीता का कथन है कि प्राणियों या मनुष्यों की प्रकृति दो ही प्रकार की होती है या तो दैवी या आसुरी।[2] उसमें भी दैवीगुण मोक्ष केहेतु हैं ,और आसुरीगुण बन्धन के हेतु हेतु हैं।[3] यद्यपि गीता में हमें द्विविध वर्गीकरण ही मिलता है, लेकिन इसका तात्पर्य यही है कि मूलतः दो ही प्रकार होते हैं, जिन्हें हम चाहे दैवी और आसुरी प्रकृति कहें, चाहे कृष्ण और शुक्ल लेश्या कहें या कृष्ण और शुक्ल अभिजाति कहें। जैन-विचारणा के विवेचन में भी दो ही मूल प्रकार हैं। प्रथम तीन कृष्ण, नील और कापोत लेश्या को अविशुद्ध, अप्रशस्त और संक्लिष्ट कहा गया है और अन्तिम तीन तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या को विशुद्ध, प्रशस्त और असंक्लिष्ट कहा गया है।[4] उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है कि कृष्ण, नील एवं कापोत अधर्म लेश्याएँ हैं और इनके कारण जीव दुर्गति में जाता है और तेजो, पदम एवं शुक्ल धर्म-लेश्याएँ हैं और इनके कारण जीव सुगति में जाता है।[5] पं० सुखलालजी लिखते हैं कि कृष्ण और शुक्ल के बीच की लेश्याएँ विचारगत अशुभता और शुभता का विविध मिश्रण मात्र हैं।[6] जैन-दृष्टि के अनुसार धर्म-लेश्याएँ या प्रशस्त लेश्याएँ मोक्ष का हेतु तो होती हैं एवं जीवन्मुक्त अवस्था तक विद्यमान भी रहती हैं। लेकिन विदेह-मुक्ति उसी अवस्था में होती है जब प्राणी इनसे भी ऊपर उठ जाता है। इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि धर्म-लेश्याएँ सुगति का कारण हैं।

जैन-विचारणा विवेचना के क्षेत्र में विश्लेषणात्मक अधिक रही है। अतएव वर्गीकरण करने की स्थिति में भी उसने काफी गहराई तक जाने की कोशिश की और इसी आधार पर यह षट्विध विवेचन किया। लेकिन तथ्य यह है कि गुणात्मक अन्तर के आधार

१. अंगुत्तरनिकाय, ६।५७ २. गीता, १६।६ ३. वही, १६।५
३. अभिधान राजेन्द्र खण्ड ६, पृ० ६८७ ५. उत्तराध्ययन, ३४।५६-५७
६. दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ० ११२

पर तो दो ही भेद होते हैं, शेष वर्गीकरण मात्रात्मक ही हैं और इस प्रकार यदि मूल आधारों की ओर दृष्टि रखें तो जैन और गीता की विचारणा को अतिनिकट ही पाते हैं। जहाँ तक जैन-दर्शन की धर्म और अधर्म लेश्याओं मे और गीता की दैवी और आसुरी सम्पदा मे प्राणी की मनःस्थिति एवं आचरण का जो चित्रण किया है, उसमें बहुत-कुछ शब्द एवं भाव साम्य है।

धर्म लेश्याओं मे प्राणी की मनःस्थिति एवं चरित्र (उत्तराध्ययन के आधारपर[1]) जैन दृष्टिकोण	दैवी सम्पदा मे युक्त प्राणी की मनःस्थिति एवं चरित्र गीता का दृष्टिकोण[2]
१. प्रशांत चित्त	शातचित्त एवं स्वच्छ अन्तःकरण वाला
२. ज्ञान, ध्यान और तप मे रत	तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान में निरन्तर दृढ़ स्थिति
३. इन्द्रियों को वश में रखने वाला	इन्द्रियों का दमन करने वाला
४. स्वाध्यायी	स्वाध्यायी, दानी एवं उत्तम कर्म करने वाला
५. हितैषी	अहिंसायुक्त, दयाशील तथा अभय
६. क्रोध की न्यूनता	अक्रोधी, क्षमाशील
७. मान, माया और लोभ का त्यागी	त्यागी
८. अल्पभाषी	अपिशुनी तथा सत्यशील
९. इन्द्रिय और मन पर अधिकार रखने वाला	अलोलुप (इन्द्रिय विषयों में अनासक्त)
१०. तेजस्वी	तेजस्वी
११. दृढधर्मी	धैर्यवान्
१२. नम्र एवं विनीत	कोमल
१३. चपलतारहित तथा शांत	चपलतारहित (अचपल)
१४. पापभीरु	लोक और शास्त्र-विरुद्ध आचरण में लज्जा

१. उत्तराध्ययन ३४।२७-३२   २. गीता, १६।१-३

अप्रशस्त या अधर्म लेश्याओं में प्राणियों की मनःस्थिति एवं चरित्र (उत्तराध्ययन के आधार पर)[1] जैन-दृष्टिकोण	आसुरी सम्पदा से युक्त प्राणियों की मनःस्थिति एवं चरित्र (गीता के आधार पर)[2] गीता का दृष्टिकोण
१. अज्ञानी	कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान का अभाव
२. —	नष्टात्मा एवं चिन्ताग्रस्त
३. मन, वचन एवं कर्म से अगुप्त	मानसिक एवं कायिक शौच से रहित (अपवित्र)
४. दुराचारी	अशुद्ध आचार (दुराचारी)
५. कपटी	कपटी, मिथ्याभाषी
६. मिथ्यादृष्टि	आत्मा और जगत् के विषय में मिथ्या-दृष्टिकोण
७. अविचारपूर्वक कर्म करनेवाला	अल्प-बुद्धि
८. नृशंस	क्रूरकर्मी
९. हिंसक	हिंसक, जगत् का नाश करने वाला
१०. रसलोलुप एवं विषयी	कामभोग-परायण तथा क्रोधी
११. अविरत	तृष्णायुक्त
१२. चोर	चोर

लेश्या-सिद्धान्त एवं पाश्चात्य नीतिवेत्ता रास का नैतिक व्यक्तित्व का वर्गीकरण—पाश्चात्य नीतिशास्त्र में डब्ल्यू० रास भी एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं जिसकी तुलना जैन लेश्या-सिद्धान्त से की जा सकती है। रास कहते हैं कि नैतिक शुभ एक ऐसा शुभ है जो हमारे कार्यों, इच्छाओं, संवेगों तथा चरित्र से सम्बन्धित है। नैतिक शुभता का मूल्य केवल इसी बात में नहीं है कि उसका प्रेरक क्या है, वरन् उसकी अनैतिकता के प्रति अवरोधक शक्ति से भी है। नैतिक शुभत्व के सन्दर्भ में मनोभावों का उनके निम्नतम रूप से उच्चतम रूप तक निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है।

१. दूसरों को जितना अधिक दुःख दिया जा सकता है, देने की इच्छा।

२. दूसरों को किसी विशेष प्रकार का अस्थायी दुःख उत्पन्न करने की इच्छा।

३. नैतिक दृष्टि से अनुचित सुख प्राप्त करने की इच्छा।

१. उत्तराध्ययन, ३४।२१-३६ २. गीता, १६।७-१८

४. ऐसा सुख प्राप्त करने की इच्छा जो नैतिक दृष्टि से उचित न भी हो, लेकिन कम से कम अनुचित भी न हो।
५. नैतिक दृष्टि से उचित सुख प्राप्त करने की इच्छा।
६. दूसरों को सुख देने की इच्छा।
७. कोई शुभ कार्य करने की इच्छा।
८. अपने नैतिक कर्तव्य के परिपालन की इच्छा।[1]

रास अपने इस वर्गीकरण में जैन लेश्या-सिद्धान्त के काफी निकट आ जाते हैं। जैन-विचारक और रास दोनों स्वीकार करते है कि नैतिक शुभ का सम्बन्ध हमारे कार्यों, इच्छाओं, संवेगों तथा चरित्र से है। यही नहीं, दोनों व्यक्ति के नैतिक विकास का मूल्यांकन इस बात से करते हैं कि व्यक्ति के मनोभावों एवं आचरण में कितना परिवर्तन हुआ है और वह विकास की किस भूमिका मे स्थित है। रास के वर्गीकरण के पहले स्तर की तुलना कृष्णलेश्या की मनोभूमि से की जा सकती है, दोनों ही दृष्टिकोण के अनुसार इस स्तर में प्राणी की मनोवृत्ति दूसरों को यथासम्भव दुःख देने की होती है। जैन-विचारणा का जामुन के वृक्ष वाला उदाहरण भी यही बताता है कि कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति उस जामुन के वृक्ष को मूल से समाप्त करने को इच्छा रखता है अर्थात् जितना विनाश किया जा सकता है या जितना दुःख दिया जा सकता है, उसे देने की इच्छा रखता है। दूसरे स्तर की तुलना नीललेश्या से की जा सकती है। रास के अनुसार व्यक्ति इस स्तर में दूसरों को अस्थायी दुःख देने की इच्छा रखता है, जैन-दृष्टि के अनुसार भी इस अवस्था में प्राणी दूसरे को दुःख उसी स्थिति में देना चाहता है, जब उनके दुःख देने से उसका स्वार्थ सधता है। इस प्रकार इस स्तर पर प्राणी दूसरों को तभी दुःख देता है जब उसका स्वार्थ उनसे टकराता हो। यद्यपि जैन-दृष्टि यह स्वीकार करती है कि इस स्तर में व्यक्ति अपने छोटे से हित के लिए दूसरे का बड़ा अहित करने में नहीं सकुचाता। जैन-विचारणा के उपर्युक्त उदाहरण में बताया गया है कि नीललेश्या वाला व्यक्ति फल के लिए समूल वृक्ष का नाश तो नहीं करता, लेकिन उसकी शाखा को काट देने की मनोवृत्ति रखता है अर्थात् उस वृक्ष का पूर्ण नाश नहीं, वरन् उसके एक भाग का नाश करता है। दूसरे शब्दों में आंशिक दुःख देता है। रास के तीसरे स्तर की तुलना जैन दृष्टि की कापोतलेश्या से की जा सकती है। जैन-दृष्टि यह स्वीकार करती है कि नील और कापोत लेश्या के इन स्तरों में व्यक्ति सुखापेक्षी होता है, लेकिन जिन सुखों को वह गवेषणा करता है, वे वासनात्मक सुख ही होते हैं। दूसरे, जैन-विचारणा यह भी स्वीकार करती है कि कापोत लेश्या के स्तर तक व्यक्ति अपने स्वार्थों या सुखों की प्राप्ति के लिए किसी नैतिक शुभाशुभता

१. फाउण्डेशन ऑफ एथिक्स-उद्धृत Contemporary Ethical theories, पृ० ३३२

का विचार नहीं करता है। वह जो भी कुछ करता है वह मात्र स्वार्थ-प्रेरित होता है। रास के तीसरे स्तर मे भी व्यक्ति नैतिक दृष्टि से अनुचित सुख प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार यहाँ पर भी रास एवं जैन-दृष्टिकोण विचार साम्य रखते हैं।

रास के चौथे, पाँचवें और छठे स्तरों की संयुक्त रूप से तुलना जैन-दृष्टि की तेजोलेश्या के स्तर के साथ हो सकती है। रास चौथे स्तर मे प्राणी की प्रकृति इस प्रकार बताते हैं कि व्यक्ति सुख तो पाना चाहता है, लेकिन वह उन्ही सुखों की प्राप्ति का प्रयास करता है जो यदि नैतिक दृष्टि मे उचित नही, तो कम से कम अनुचित भी नही हों, जबकि रास के अनुसार पाँचवें स्तर पर प्राणी नैतिक दृष्टि से उचित सुखों की प्राप्त करना चाहता है तथा छठे स्तर पर वह दूसरों को सुख देने का प्रयास भी करता है। जैन-विचारणा के अनुसार भी तेजोलेश्या के स्तर पर प्राणी नैतिक दृष्टि से उचित सुखों को ही पाने की इच्छा रखता है, साथ-साथ वह दूसरे की सुख-सुविधाओं का भी ध्यान रखता है।

रास के सातवें स्तर की तुलना जैन-दृष्टि मे पद्मलेश्या से की जा सकती है, क्योंकि दोनों के अनुसार इस स्तर पर व्यक्ति दूसरों के हित का ध्यान रखता है तथा दूसरों के हित के लिए उन सब कार्यों को करने में भी तत्पर रहता है, जो नैतिक दृष्टि से शुभ हैं।

रास के अनुसार मनोभावों के आठवें सर्वोच्च स्तर पर व्यक्ति को मात्र अपने कर्तव्य का बोध रहता है, वह हिताहित की भूमिकाओं से ऊपर उठ जाता है। उसी प्रकार जैन-विचारणा के अनुसार भी नैतिकता की इस उच्चतम भूमिका में जिसे शुक्ल-लेश्या कहा जाता है, व्यक्ति को समत्व भाव की उपलब्धि हो जाती है, अतः वह स्व और पर भेद से ऊपर उठकर मात्र आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन वरन् पाश्चात्य विचारक भी इस विषय में एकमत हैं कि व्यक्ति के मनोभावों से उसका चरित्र बनता है और उसके आधार पर उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्ति का आचरण एक ओर उसके मनोभावों का परिचायक है, तो दूसरी ओर उसके नैतिक व्यक्तित्व का निर्माता भी है। मनोभाव एवं तज्जनित आचरण जैसे-जैसे अशुभ से शुभ की ओर बढ़ता है, वैसे वैसे नैतिक दृष्टि से व्यक्तित्व में भी परिपक्वता एवं विकास दृष्टिगत होता है। ऐसे शुद्ध, संतुलित, स्थिर एवं परिपक्व व्यक्तित्व का निर्माण ही आचार-दर्शन का लक्ष्य है।

...